संवत-प्रवर्त्तक सम्राट विक्रमादित्य

राजशेखर व्यास

अतीत के झरोखे से !

(उपोद्घात)

विक्रम सवत के दो हजार वर्ष का समाप्त होना भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। धूमिल अतीत मे विक्रम के स्मारक स्वरूप जिस विक्रम सवत् का प्रवर्तन हुआ था, उसके पथ की वर्तमान रेखा यद्यपि तमसाछन्न है परन्तु इस डोर के सहारे हम अपने आपको उस शृखला के क्रम मे पाते हैं, जिसके अनेक अश अत्यन्त उज्ज्वल एव गौरवमय रहे है। ये दो हजार वर्ष तो भारतीय इतिहास के उत्तरकाल के ही अश हैं। विक्रम के उद्भव तक विशुद्ध वैदिक सस्कृति का काल, रामायण और महाभारत का युग, महावीर और गौतम बुद्ध का समय, पराक्रम सूर्य चन्द्रगुप्त मौर्य एव प्रियदर्शी अशोक का काल, अतत पुष्यमित्र शुग की साहसगाथा सुदूरभूत की बातें बन चुकी थीं। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, सूत्र ग्रन्थ एव मुख्य स्मृतियो की रचना हो चुकी थी। वैयाकरण पाणिनि और पतजलि अपनी कृतियो से पण्डितो को चकित कर चुके थे और कौटिल्य की ख्याति सफल राजनीतिज्ञता के कारण फैल चुकी थी। उन पिछले दो हजार वर्षों की लम्बी यात्रा में भी भारत के शौर्य ने उसकी प्रतिभा एव विद्वत्ता ने जो मान स्थिर कर दिए हैं, वे विगत शताब्दियो के बहुत कुछ अनुरूप हैं। विक्रम सवत् के प्रथम हजारो वर्षों मे हमने मात्र शिवनागो, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य, स्कन्दगुप्त, यशोधर्मन, विष्णुवर्धन आदि के बल और प्रताप के सम्मुख विदेशी शक्तियो को थर थर कापते हुए देखा, भारत के उपनिवेश बसते देखे, भारत की सस्कृति और उसके धर्म का प्रसार बाहर के देशो मे देखा। कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ आदि की काव्य-प्रतिभा तथा दण्डि और बाणभट्ट की विलक्षण लेखन शक्ति देखी, कुमारिल भट्ट और शकराचार्य का बुद्धि-वैभव देखा और स्वतन्त्रता की अग्नि को सदैव प्रज्वलित रखने वाली राजपूत जाति के उत्थान व सगठन को देखा। हालांकि दूसरी सहस्राब्दी मे भाग्य चक्र की गति विपरीत हो गयी, उसने उपनिवेशो का उजडना दिखाया और भारतीयो की हार तथा बहुमखी पतन।

परन्तु उनकी आन्तरिक जीवन-शक्ति का ह्रास नही हुआ, और यह दिखा दिया कि गिरकर भी कैसे उठा जा सकता है।

भारतीय सस्कृति के अभिमानियो के लिए यह कम गौरव की बात नही है— आज भारतवर्ष मे प्रवर्तित विक्रम सवत्सर, बुद्ध-निर्वाण काल-गणना को छोड़-कर ससार के प्राय सभी प्रचलित ऐतिहासिक सवतो से अधिक प्राचीन है।

शुगो के शिथिल होने पर विस्मय नही कि इतिहास के इस अन्धकार वृत्तकाल मे काल के कथा जैसी कोई घटना घटित हो गयी हो और उसने मालव-मही की पावनता मे 'शको' की मलिन छाया का आवरण डाल दिया हो। धार्मिक विरोधो के दुष्परिणाम की परम्परा चिर-परिचित ही है। जैन-बौद्ध अवशेषो और जैन स्थल एव मूर्तियो की असख्यता इसी बात का परिणाम हो सकती है और उसके पश्चात शासनान्तर मे भी अद्यावधि प्रचुर अस्तित्व पर धर्म सहिष्णुता की भावना की ही आभारी हो सकती है। इसी ऐतिहासिक तिमिरावरण काल को सहसा भेदकर भारतीय क्षितिज पर अपनी रश्मि-राशि को विस्तारित करने वाले पुण्य पराक्रम के प्रकाशपुजशाली सुवर्ण सूर्य ने उदित होकर समस्त जन म विमल आलोक प्रसारित किया है। वही हमारी सुविकसित सस्कृति का सर्वोच्च शिखर, प्रकाशस्तम्भ विक्रमादित्य हैं। कृत और मालव-सवत् के प्रयोग-काल के देश मे अनेक उत्थान-पतन हुए, शासनो मे महान् परिवर्तन भी हुए, गुप्त साम्राज्य की नीव भी सुदृढ़ बनी, परन्तु काल-गणना की लोकप्रियता ने 'विक्रम सवत' को छोड किसी अन्य को न केवल उस समय ही किन्तु दो हजार वर्ष बीत जाने पर भी वह सम्मान स्मृति स्थान अर्पित नही किया। चन्द्रगुप्त को उसके अस्तित्व काल मे भी शताब्दियो तक 'मालव सवत्' काल-गणना को स्वीकृत करते रहना पडा, उसका नाम प्रत्यक्ष मे भी जब सवत् से नही जुडा तो आज इतनी लोकप्रियता क्यो होने लगी कि उसी का नाम-सवत् स्वीकार करें? चन्द्रगुप्त ने कही भी अपना नाम केवल 'विक्रम' या 'विक्रमादित्य' नही अकित करवाया है, वह चन्द्रगुप्त ही बना रहा है, चाहे इस नाम से 'विक्रम' जुडा हो, तब केवल विक्रम सवत् की सज्ञा से चिरकाल बोधित होने वाला सवत् चन्द्रगुप्त का क्यो माना जाये, जैसा कि भारतीय इतिहासकारो को भ्रम है—जिस विक्रम की रश्मि राशि से समस्त भूमण्डल ज्योतिर्मय बन रहा था और आज भी जिसके स्मरण मात्र से प्रत्येक भारतीय के मस्तक गौरवोन्नत बन जाते है, वही हमारी वदनीय विभूति है जिसकी राजधानी उज्जयिनी के वैभव का बाण भास, कालिदास आदि सरस्वती के वरद अमर पुत्रो ने हृदयग्राही रम्य वर्णन किया है। जिसकी लोकप्रियता की गगनभेदी दुदुभि की ध्वनि ने आज ढाई हजार वर्ष पूर्ण होने पर भी उस प्रतिध्वनि को अमन्द बनाये रखा है। जिसके बत्तीस पुत्तलियो वाले

सिंहासन की चारु चर्चा ने समस्त देश की अनुश्रुतियो को सजग बनाये रखा है। जिसके नवरत्न मण्डल ने सम्पूर्ण विश्व के विद्वानो को निर्वचन विवश बना रखा है। जिसकी दिग्विजय कथा, पराभव, सवत् प्रवर्तन और भारतीय सस्कृति उन्नयन की लाखो लाखो गुण गौरव-गाथा ने विद्वानो से लेकर अज्ञानियो तक, नागरिको से लेकर ग्रामवासियो तक को अपने अस्तित्व मे आश्वस्त बनाए रखा है। वह चाहे इतिहास के पण्डितो की पाश्चात्य प्रेरित मति मे सहज प्रवेश न पा सके पर जन गण के दृश्यो मे उनकी समस्त सद्भावना और श्रद्धा का आराध्य केन्द्र-विन्दु बना हुआ सादर समासीन हैं।

'विक्रम', 'यह था' या 'वह' यह विवाद केवल अनुसन्धानप्रिय पण्डितो का समीक्षार्थ विषय है। आज सम्पूर्ण विश्व मे जिस प्रकाशपुज की विमल-धवल कीर्ति फैल रही है वह कहा से और कैसे उद्भव हो गई है, वह तो इतिहासकर्ताओ की अनुसधानशाला तक मर्यादित है। उनसे उच्चकोटि के मानव समूह तो 'विक्रम' को अपने हृदय मे सजोये बैठे है। दरअसल 'विक्रम' मे हम अपने विशाल देश की परतन्त्र पाश-पीडा से मुक्ति दिलाने वाली समर्थ शक्ति की अभ्यर्थना करते हैं। जिसकी पावन स्मृति की धरोहर सवत् वर्षवाल गणना की स्मरण मणि की तरह इतिहास की शृ खलाएँ भी एक-दूसरे से जुडी चली जाती है।

विक्रम, कालिदास और उज्जयिनी हमारे स्वाभिमान, शौर्य और स्वर्णयुग के अभिमान का विषय हैं।

उसी उज्जयिनी मे महर्षि सान्दीपनी वश मे उत्पन्न पद्म-भूषण, साहित्य-वाचस्पति स्व० प० सूर्यनारायण व्यास ने विक्रम सवत् के दो हजार वर्ष पूर्ण होने पर एक मासिक पत्र 'विक्रम' का प्रकाशन आरम्भ किया। प० व्यास का अपना निजी प्रेस था जहा से वे अपने पचाग का प्रकाशन करते थे। 'विक्रम' ('वार्षिक विक्रम') का प्रकाशन एक विशेष उद्देश्य को लेकर किया गया था। विशेषकर उन दिनो जब चाद, हस, वीणा, माधुरी, सुधा, सरस्वती, जैसी प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिकाए हिन्दी मे सुस्थापित थी। प० व्यास का उज्जैन जैसे छोटे से कस्बे से 'विक्रम' का प्रकाशन दुस्साहस ही कहा जायेगा, मगर 'विक्रम' तो मानो उनके बल, विक्रम, पुरुषार्थ का परिचायक ही बन गया था।

हजारो वर्षो से हमारे इतिहास को जो विकृत धूमिल किया जा रहा था, उससे प० व्यास मानो लोहा लेने खडे हुए थे, अर्से से हमे पढाया जा रहा था, हम मुगलो के, मराठो के, अग्रेजो के गुलाम रहे हैं। हम शोषित, पीडित और गुलामो को प० व्यास ने एक प्रबल बल, विक्रम और पुरुषार्थ पराक्रमी नायक, चरित्र नायक सवत् प्रवर्तक सम्राट विक्रमादित्य दिया और बताया कि हम

आरम्भ से ही परास्त, पराजित, पराभूत और शोषित नहीं रहे है बल्कि शक और हूणो को परास्त करने वाला हमारा नायक शकारि विक्रमादित्य विजय और विक्रम का दूसरा प्रतीक है।

कालिदास समारोह के जन्म से भी पुरानी घटना है यह, जब उज्जयिनी मे प० व्यास ने विक्रम द्विसहस्राब्दि समारोह समिति का गठन कर सम्राट विक्रम की पावन स्मृति मे चार महन् उद्देश्यो की स्थापना का सकल्प लिया, वे उद्देश्य थे विक्रम के नाम पर एक ऐसे विश्वविद्यालय की स्थापना जो साहित्य-शिक्षा-कला सस्कृति की त्रिवेणी हो।

विक्रम के नाम पर एक पुरातत्व सग्रहालय और शोध सस्थान, जिसे विक्रम कीर्ति मन्दिर नाम दिया जाय। विक्रम के नाम पर एक 'स्मृति स्तम्भ' और एक ऐसे 'स्मृति-ग्रथ' का प्रकाशन हो जो अनेक भाषाओ मे प्रकाशित हो और अद्वितीय हो। अद्वितीय इन अर्थों मे कि ससार भर मे विक्रम, कालिदास और उज्जयिनी से सम्बन्धित जो भी साहित्य उपलब्ध हो, वह इनमे मौजूद हो।

स्वप्न देखना बडा आसान काम है और उसे साकार करना बडा मुश्किल। योजनाए बना लेना बहुत आसान होता है मगर उसे मूर्त रूप देना बडा कठिन होता है। मगर प० सूर्यनारायण व्यास एक बहुआयामी व्यक्तित्व थे, बहुमुखी प्रतिभा के धनी और बहु मेधा सम्पन्न ज्योतिष के क्षेत्र मे वे ससार प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रामाणिक विद्वान थे। और इन अर्थों मे वे सारे देश मे पूज्य और प्रणम्य थे। उनका सम्पर्क क्षेत्र बहु-विस्तृत था। भारत के 114 देशी नरेशो के वे राज्य ज्योतिषी थे, तो आजाद भारत मे वे सारे प्रमुख नेताओ—विशेषकर राजेन्द्र प्रसाद, डॉ० राधाकृष्णन, पटेल, गाधीजी, सुभाष आदि के अन्तरग मित्र स्नेही की तरह थे।

इसमे कोई शक नही कि विक्रम द्विसहस्राब्दी की उनकी इस योजना मे उनके सबसे अतरग स्नेह सहयोगी, महाराजा जीवाजीराव सिंधिया का विशेष सहयोग रहा। 'विक्रम-पत्र' के माध्यम से जब यह योजना देश के सम्मुख प० व्यास ने रखी थी, तब वे भी नही जानते थे कि उनकी इस योजना का इतना सम्यक्-स्वागत होगा। विशेषकर वीर सावरकर और के० एम० मुन्शी तथा सोफिया वाडिया ने उनके इस प्रस्ताव का स्वागत ही नही किया बल्कि अपने-अपने स्तर पर उसका भरपूर प्रचार भी किया, के० एम० मुन्शीजी ने अपने पत्र 'सोशल वेलफेयर' मे इस योजना का प्रारूप सम्पूर्ण विवरण के साथ विस्तार से प्रकाशित किया और सारे देश से इस पुण्य कार्य मे पूर्ण सहयोग देने की प्रर्थना की।

महाराजा देवास ने इस आयोजन के लिए सारा धन देना स्वीकार किया मगर शर्त यह रखी गयी कि सारे सूत्र उनके हाथो मे रखे जाए। मगर विधि

को कुछ और ही मन्जूर था, प० व्यास अपने व्यक्तिगत कार्यवश बम्बई गये और वहा मुन्शीजी से मिलकर योजना पर विस्तार से चर्चा की, तभी महाराजा सिंधिया का उन्हे निमन्त्रण मिला। महाराजा जीवाजीराव सिंधिया ने पण्डित व्यास को बताया कि वे इस योजना को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानते हैं और इस कार्य को एक समिति बनाकर आगे बढाना चाहिए, यह चर्चा कुछ ही क्षणो मे हो गयी। जब प० व्यास महाराज से मिलकर कक्ष से बाहर ही निकले थे कि महाराज ने पुन आवाज दी और विस्तार से चर्चा का पुन आमन्त्रण दिया। अगली मुलाकात दो-चार मिनट भी नही, लगभग ढाई घटे की हुई और इस चर्चा ने तो सारी रूपरेखा ही बदल दी, जो कल्पना की गयी थी उससे व्यापक रूप से समारोह करने की बात तय हुई और इस तरह प० व्यास सप्ताह भर ग्वालियर रुके और रोजाना घटो-घटो विचार विनिमय हुआ। महाराजा से प० व्यास का अन्तरग आत्मीय सबध यू तो सन् 1934 से था। मगर उस सबध मे ज्योतिष ही प्रमुख कडी था। यह पहला अवसर था जब उन्होने एक विशिष्ट विषय पर उनसे चर्चा की थी।

प० व्यास को इस भेंट और सहयोग से पर्याप्त बल मिला। महाराजा द्वारा प्रदत्त एक लाख रुपयो से योजना का उत्साहप्रद आरम्भ हुआ। एक व्यवस्थित समिति बनायी गयी। कुछ ही समय मे इस कार्य के लिए पाच लाख रुपये की धन-राशि इकट्ठी हो गयी। इस राशि मे ग्वालियर सभाग का उतना योगदान नही था जितना मालवा का, सर सेठ हुकुमचन्दजी ने प० व्यास के व्यक्तिगत अनुरोध पर इक्यावन हजार रुपयो की राशि का अवदान इस पावन कार्य हेतु दिया। सेठ बिडलाजी ने महाराज सिंधिया के समक्ष अपने हस्ताक्षर कर खाली चेक ही प्रदान कर दिया। महाराज जो उचित समझें, रकम भर लें महाराजा ने उस समय इकतालीस हजार (41,000) रुपये ही उनसे लिये। इस तरह सहज ही धन सग्रह हो गया।

विक्रम उत्सव के लिए प० व्यास की योजना के चारो सूत्र महाराज ने स्वीकार कर लिये थे, इसीलिए बिडलाजी से केवल इकतालीस हजार लेकर बडी रकम विश्वविद्यालय के निर्माणार्थ लेने के लिए सुरक्षित रखी थी। बाद मे बिडलाजी ने दस लाख की रकम विश्वविद्यालय के निर्माणार्थ दी भी। उसे गुप्त रहने दिया गया तथा उस रकम को महाराजा ने ग्वालियर के मेडिकल कॉलेज मे लगा दिया, जिसका उदघाटन सरदार पटेल के हाथो हुआ था।

महाराजा का विचार, विक्रम उत्सव के लिए पचास लाख की धन राशि एकत्रित कर अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य आरम्भ करना था, विश्वविद्यालय के लिए धनराशि शासन की ओर से दी जानी थी। इसके सिवा उज्जैन के प्रमुख धार्मिक स्थान और ऐतिहासिक स्थानो के सुधार के लिए शासन के अनेक

विभागो द्वारा सहयोग देने का निश्चय किया गया। तदनुसार महाकाल मन्दिर, हरसिद्धि मन्दिर और क्षिप्रातट पर सुधार कार्य आरम्भ हो गये थे। जहा-जहा ये सुधार कार्य हुए वहा प० व्यास ने, जो स्वय सस्कृत के सुकवि थे, यह श्लोक अकित करवा दिया था—

'द्वि सहस्रमिते वर्षे चैत्रे विक्रम सवत्सरे, महोत्सव सभा सम्यकः जीर्णोद्धारमकारयत्।'

जैसे-जैसे समारोह का कार्य प्रगति कर रहा था, देश के विभिन्न भागो मे एक सास्कृतिक वातावरण बन गया था। लगभग उसी समय पत्र-पत्रिकाओ मे रवीन्द्रबाबू, निराला ने भी 'विक्रम' पर कविताओ का सृजन किया था—रवीन्द्रबाबू की दूर बहुत दूर क्षिप्रातटे.........और निराला की 'द्विसहस्राब्दि' कविता पठनीय ही नही—सग्रहणीय भी है। हिन्दू महासभा के तत्कालीन अध्यक्ष के समर्थन और सहयोग मे सारे देश मे चेतना फैली थी। इसी दरम्यान 'मियाँ जिन्ना' ने अपने एक भाषण मे इस उत्सव का विरोध किया। जिन्ना के विरोध से सरकार के भी कान खडे हो गये, चूकि वह समय भी ऐसा था, विश्व-युद्ध के आसार सामने थे, ब्रिटिश सरकार चौकन्नी हो गयी। उन्हे प० व्यास के इस आयोजन मे क्रान्ति या विद्रोह की बू दिखी क्योकि एक साथ 114 देशी महाराजा एक जगह विक्रम उत्सव के नाम पर इकट्ठा हो रह थे, निस्सदेह इस पर्वरग मे प० व्यास की यह परिकल्पना भी थी। शौर्य और विक्रम उत्सव के इस उत्सव के अवसर पर हमारे खोये बल, पराक्रम की चर्चा देशी राजाओ के रक्त मे उबाल अवश्य ले आयेगी। वैसे इस आयोजन मे हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव को कोई जगह नही थी किन्तु जिन्ना के विरोध से वातावरण मे विकार पैदा हो गया। उस समय प० व्यास ने नवाब भोपाल को शासकीय स्तर पर समारोह मनाने के लिए लिखा। नवाब साहब ने अपने केबिनेट मे योग्य विचार करने का आश्वासन दिया। चेतना फैल रही थी, जागृति फैल रही थी। बम्बई मे बडे पैमाने पर यह समारोह आयोजित किया गया। देश की हजारो सभा-सस्थाओ ने समारोह की तैयारी की।

लगभग उसी समय प्रख्यात फिल्म निर्माता निर्देशक विजय भट्ट ने प० व्यास के आग्रह पर 'विक्रमादित्य' सिनेमा का निर्माण आरम्भ किया। जिसके सवाद, पटकथा और गीत-लेखन का कार्य भी उन्होने व्यासजी के परामर्श से किया। इस फिल्म मे 'विक्रमादित्य' की मुख्य भूमिका भारतीय सिनेमा जगत के महानायक पृथ्वीराज कपूर ने निभायी थी। पृथ्वीराजजी उस समय प० व्यास के आवास 'भारती-भवन' मे ही ठहरे थे। तब से जो आत्मीयता उन दोनो के मध्य स्थापित हुई थी, वह अन्त तक बनी रही। बाद के दिनों मे पृथ्वीराजजीने 'कालिदास समारोह' मे अपनी नाटक-मण्डली को लाकर स्वय

नाटक भी किये और अपने नाटको से होने वाली सारी आय कालिदास समारोह के लिए प्रदान कर दी।

उज्जयिनी के विक्रम समारोह के अवसर पर प० व्यास ने देश के प्रमुख विद्वानो को और सभी भाषाओ के निष्णात विद्वानो को 'नवरत्न' घोषित कर सम्मानित भी करने का विचार रखा। समारोह के लिए उज्जयिनी मे उस समय कई सुधार किये गये, महाकालेश्वर से हरसिद्धी तक सीधी सडक भी बनवायी गयी।

विक्रम कीर्ति मन्दिर का निर्माण कर उसमे पुरातत्त्व, सग्रहालय, चित्रकला-कक्ष, प्राचीन ग्रन्थ सग्रहालय, आदि रखने का निश्चय किया गया। कुछ समय बाद ही रियासतो का विलीनीकरण हुआ, मध्य भारत का निर्माण हुआ और क्षेत्रीय राजनीति ने प्रवेश लिया, फलत विक्रम कीर्ति मन्दिर और विक्रम वि० वि० के निर्माण को लेकर अनेक उ झन, प्रपच और अडगे लगाये गये। चूकि उस वक्त इन्दौर और भोपाल त। मे वि'वविद्यालय नही थे, अत वहा दे अखबारो और स्वार्थी राजनेताओ ने प० व्यास के इस महान कार्य में असख्य बाधाए उपस्थित की।

विक्रम कीर्ति म दिर का तो मुश्किल से 1951 मे शिलान्यास हुआ। पहले इसका शिलान्यास महाकाल मन्दिर के निकट किया गया था। भारत के महा-महिम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद द्वारा शिलान्यास के बावजूद कहने को राष्ट्रीय संगठन और देशभक्त तथा हिन्दू सगठन राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ ने ही इस स्थान को लेकर अनेक प्रपच और विवाद उत्पन्न किए। शिलान्यास की शिला ही तोड दी गयी।

इस स्थान को लेकर अनेक आन्दोलन और मुकदमे खडे किए गए। प० व्यासजी पर व्यक्तिगत छीटाकशी तक की गई और अर्से तक उसे वहा बनने नही दिया गया। म० प्र० के निर्माण के बाद ही कीर्ति मन्दिर बन सका फिर भी बाद मे आर्थिक सकटो के कारण वह अपूर्ण ही रहा, उसमे रखा जाने वाला प्राचीन ग्रन्थ सग्रहालय भी बिना किसी सूचना के शिक्षा विभाग ने यूनिवर्सिटी को दे दिया और कीर्ति म दिर आज भी अधूरा ही रहा है।

विश्वविद्यालय के लिए प० व्यास के व्यक्तिगत प्रयास पर महाराज जीवा-जीराव सिन्धिया ने पचास लाख रुपये प्रदान किए थे। बाद म लोक प्रतिनिधि शासन बन जाने पर एक करोड की रकम जमा हो गई थी। इसी बीच मध्य-भारत बना और उसमें इन्दौर के मिलते ही वि० वि० स्थापना को लेकर इन्दौर के एक शिक्षा मन्त्री एक अखबार और कुछ निहित स्वार्थी तत्त्वो ने और उज्जयिनी के अवसरवादी चापलूसों ने फिर बाधा उपस्थित कर दी। इन्दौर की सारी लडाई आरम्भ से ही उज्जैन के विकास को अवरुद्ध करने की है। सुविधा

के सारे द्वीप पैसो के बल पर और चापलूमी पत्रकारिता के बल पर प्राय इन्दौर को मिलते रहे है । आकाशवाणी भी इन्दौर मे पहले उज्जैन के लिए ही तय किया गया था । अत कागजात गायब करवा दिए । एक करोड की रकम खजाने से गायब करवा दी गई, जब कि वह 'इयर मार्क्ड' थी । उसका आज तक पता नही चला । जब पुन सतत् सघर्ष किया गया और प० व्यास के अनुरोध पर प० नेहरू ने सार्वजनिक रूप से उज्जैन मे विश्वविद्यालय की स्थापना के प्रस्ताव का अनुमोदन किया, तब विवशतापूर्वक म० प्र० शासन चेता और महाराज ग्वालियर ने गगाजली फड से 50 लाख रुपये पुन प्रदान किए । तब विक्रम विश्वविद्यालय जन्म ले पाया ।

ऊपर मैंने स्पष्ट किया है कि किस तरह विक्रम उत्सव को लेकर उसके भव्य आयोजन और विशालता को देखकर भी सरकार के कान खडे हो गए थे । युद्ध के लिए देश भर मे धन-सग्रह हो रहा था । ऐसी हालत मे विक्रम उत्सव के चन्दे की ओर भी ध्यान जाना स्वाभाविक था । महाराजा ग्वालियर उन दिनो दिल्ली मे ही थे । लार्ड वेवल ने उन्हे इसका सकेत दिया, तब महाराजा विवश होकर प० व्यास और तत्कालीन उज्जैन कलेक्टर बैरिस्टर चतुर्वेदी को सारी स्थिति समझायी, समारोह की प्रगति और प्रयास मे सहसा गतिरोध आ गया । अन्तत यह तय किया गया कि विक्रम कीर्ति मन्दिर का निर्माण किया जाय, स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित हो और विश्वविद्यालय निर्माण कार्य शासन के अन्तर्गत रहे । किन्तु कीर्ति स्तभ का कार्य रोक दिया जाय । इस तरह उज्जयिनी मे विक्रम उत्सव के बहाने जो सुधार कार्य हो रहे थे, अभी प्रगति मे भी रुकावट आ गयी । महाकालेश्वर मन्दिर के जीर्णोद्धार का कार्य भी बीच मे ही रोक दिया गया । इस तरह विक्रम द्विसहस्राब्दि के कार्य मे सहसा अवरोध आ गया।

उज्जयिनी मे प्रतिवर्ष 12 वर्षों मे सिहस्थ पर्व मनाया जाता है । 1945 मे जब सिहस्थ पर्व आया तब देश भर के असख्य आचार्य, सत, साधु, पत-महन्त उज्जयिनी आए, तब प० व्यास ने अपने व्यक्तिगत सपर्कों से प्रयास कर उन्ही के नेतृत्व मे विक्रम महोत्सव तीन रोज तक मनाया । साधु, सतो के 121 हाथियो, लाजमो, लवाजमो के साथ लाखो लोगो की उपस्थिति मे 3 दिनो तक यह भव्य आयोजन महत् पैमाने पर मनाया गया । देश भर मे विक्रमादित्य का बहुत-सा साहित्य विविध भाषाओ मे प्रकाशित हुआ । देश भर मे सास्कृतिक लहर आ गई । विक्रम द्विसहस्राब्दि समारोह समिति ने भी 'विक्रम स्मृति ग्रथ' का प्रकाशन किया जैसा कि प्राय महाभारत के बारे मे कहा जाता है कि जो महाभारत मे है, वही भारत म है और महाभारत म नही है, वह कही भी नही है ।

धम, अर्थ, काम, मोक्ष का यह सर्वोत्तम ग्रन्थ नि सन्देह दुनिया का सबसे बडा ग्रन्थ है । ठीक उसी तरह विक्रम, कालिदास और उज्जयिनी पर ससार भर मे उप-

लब्ध श्रेष्ठतम साहित्य इस 'महाकाव्य' ग्रन्थ मे सग्रहीत कर दी गई है। नि सन्देह इसके पीछे प० व्यास की अविराम, सारस्वत साधना, त्याग, तपस्या है, जिन्होने अपने जीवन की सास-सास अपने इस महत् उद्देश्य को समर्पित कर दी थी। ससार के सर्वश्रेष्ठ चित्रकारो ने इस ग्रन्थ की सज्जा के लिए अपने सर्वोत्तम चित्र भेजे थे। फ्रास के चित्रकार निकोलस डी० शेरिफ से लेकर रविशकर रावल तक के सभी समकालीन चित्रकार की तूलिका से सुसज्जित यह ग्रन्थ सचमुच आज भी अद्वितीय है।

असाधारण और लगभग 2000 पृष्ठो का यह ग्रन्थ अब इतिहास की धरोहर है। प० व्यास के कुशल सम्पादन मे सयोजित यह ग्रन्थ अब सदर्भकोश और इतिहास का अध्याय हो गया है। गतिरोध आ जाने से विक्रम कीर्ति मन्दिर का काम अवश्य कुछ समय के लिए रुक गया था किन्तु प० व्यास अपने लक्ष्य के प्रति दृढ और कृतसकल्पित थे।

सरदार पटेल जब मध्यभारत के दौरे पर आए, प० व्यास ने उनसे व्यक्तिगत रूप से अनुरोध कर इसके लिए आग्रह किया, किन्तु अर्थाभाव के कारण यह आयोजन सभव नही हो पाया, तब व्यास जी ने अपने निजी सम्पर्को से धन सग्रह कर अपने अतरग मित्र और तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद से व्यक्तिगत रूप से निवेदन किया और जैसी कि उम्मीद थी, राष्ट्रपति ने सहज भाव मे आमन्त्रण स्वीकार कर लिया। अतत मई 1952 को राष्ट्रपतिजी उज्जयिनी आये और कीर्ति मन्दिर का समारोहपूर्वक शिलान्यास किया गया। किन्तु इस शिलान्यास के बाद भी विघ्न-सतोषी तत्त्व और उज्जयिनी की साहित्यिक, सास्कृतिक गरिमा, उन्नति से ईर्ष्या रखने वालो ने असख्य कुचक्र चलाये। उस समय के अखबार इस बात के सशक्त दस्तावेज हैं कि किस तरह इस निर्माण कार्य को रोकने के लिए षड्यन्त्र रचे गए। प० व्यास के निजी और पारिवारिक जीवन तक पर कीचड उछाले गए, उनके खिलाफ सार्वजनिक विष वमन किया गया। खासकर एक ऐसे काम के लिए जिसका उसके बच्चो के भरण-पोषण से कोई नाता नही था। एक ऐसे आदमी पर कीचड उछाला गया जिसने उज्जयिनी, विक्रम और कालिदास के नाम पर अपना परिवार को बलि चढा दिया था। किन्तु अतत ये बाधाए भी अनेक अन्य बाधाओ की तरह नष्ट हो गई और आखिरकार उज्जयिनी मे विक्रम वि० वि० कीर्ति मन्दिर और सिंधिया प्राच्य विद्याशोध प्रतिष्ठान का जन्म हुआ। आज भी जीवन्त ये स्मारक प० व्यास के सपनो का साकार ज्योतिर्बिम्ब हैं।

क्या किसी नगर के इतिहास मे यह कम महत्त्वपूर्ण घटना है कि पद और अधिकार से वचित एक व्यक्ति ने एक पूरे शहर को एक युग से दूसरे युग मे रख

दिया। व्यासजी ने विक्रम, कालिदास या उज्जयिनी के नाम पर मन्दिर-मठ नही बनवाए, अपितु शिक्षा अनुसधान और कला सस्कृति के शोध सस्थान और विश्वविद्यालय का निर्माण करवाया।

डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय के शब्दो मे—'उनकी कर्मठ उपलब्धि के उदाहरण स्वरुप उज्जयिनी को ही लिया जा सकता है। आज इस नगरी का जो रूप और ठन-गन है, उसके मूल मे प० व्यास ही है। अगर व्यासजी नही होते तो मुझे शक है कि उज्जैन मे विक्रम वि० वि०, कीर्ति मन्दिर, प्राच्य विद्या शोध प्रतिष्ठान होते। यहा अखिल भारतीय स्तर पर कालिदास समारोह भी शायद ही मनता। तब उज्जैन कदाचित् मेले-ठेले की धार्मिक और दकियानूसी नगरी रह जाती। यहा पडे, पुरोहित और पचक्रोशी के यात्री तो नजर आते लेकिन भगवतशरण उपाध्यय, सुनीति कुमार चटर्जी, महादेवी वर्मा, प्रो० बाशम, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिगियोक्मिुरो, कामिल बुल्के, नन्द दुलारे वाजपेयी, डॉ० सम्पूर्णानन्द, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, पतजलि शास्त्री, डॉ० राघवन, ओकारनाथ ठाकुर, जवाहरलाल नेहरू, पृथ्वीराज कपूर, लोहिया और डॉ० सुमन जैसे प्रकृति विद्वान, राजनेता, साहित्यकार शायद ही बौद्धिक रूप म इस नगरी को अपना स्पर्श दे पाते।

धार्मिक दकियानूसी और वायवीय जीवन प्रणाली को उन्होने अतीत के उज्ज्वल इतिहास के सहारे जो बौद्धिक और सास्कृतिक मोड दिया है, वह उनके पाण्डित्य और शोध की रचनात्मक दृष्टि है। कालिदास और विक्रम के जरिये उन्होने भारतीय साहित्य और सस्कृति को समुद्र पार उतारा है। उनके इसी रूप ने उन्हे पुस्तको, कोटो, विश्वविद्यालय के परकोटो से बाहर ला खडा किया है।

हालाकि उनकी यह प्रक्रिया समाज को भरने के प्रयास मे खुद को खाली करने की रही। आज जब भारत को आजाद हुए 42 वर्ष से भी ऊपर होने जा रहे है, आज भी हम अपने सास्कृतिक-साहित्यिक मूल्यो और अवदानो से कितने अपरिचित हैं। तरस आता है हमारे राष्ट्र के कर्णधारो पर जो राष्ट्र को 21वी शताब्दी मे ले जाने की बात करते हैं। वे ईसा सन्-सवत् से सोचते है, सभवत इन शक और हूण वशजो को यह ज्ञात भी नही होगा कि हम 21वी शताब्दी मे पहले से ही मौजूद हैं। हमारे अपने 'विक्रम सवत्' ने जो आज भी भारतीय जन-मानस में पूज्य और मान्य हैं।

'पजाब केसरी' एकमात्र ऐसा इस देश मे राष्ट्रीय समाचार पत्र है जो अपने मुख पृष्ठ पर विक्रम सवत् को प्रमुखता, प्रधानता देता आया है। मेरे व्यक्तिगत अनुरोध को स्वीकार कर अब श्री राजेन्द्र माथुर स० न० भा० टा० ने भी अपने अखबार के मुख पृष्ठ पर विक्रम सवत् देना आरम्भ कर दिया है।

मगर अभी भी कानो मे कोई पिघला हुआ सीसा डालता है, जब हम प्रात आकाशवाणी से रेडियो के कान उमेठते ही सुनते हैं, आज दिनांक······ है तदनुसार शक सवत् ' ······कभी-कभी राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की वह कविता याद आती है, जो उन्होने द्विसहस्राब्दि के अवसर पर विशेष रूप से लिख भेजी थी—

दो सहस्र सवत बीते हैं
हम निज विक्रम बिना आज फिर मरे-मरे से जीते हैं।
नित्य नये शक-हूण हमारा जीवन-रस पीते हैं,
होकर भी क्या हुए आज हम उनके मनचीते हैं।
आपस के सम्बन्ध हमारे कड़ुए हैं—तीते हैं,
भरे-भरे हैं हाय हृदय किन्तु हाथ हमारे रीते हैं।

इस आयोजन के पीछे जो भी लक्ष्य रहा हो, हमारे उज्ज्वल सास्कृतिक अतीत, शौर्य और पराक्रम को, उसके गौरव को पुनर्प्रतिष्ठित करना इसका मुख्य लक्ष्य था। भारतीय स्वाधीनता सग्राम के दिनो मे ऐसे आयोजनो के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना जगाने का यह एक सफल और सार्थक प्रयास था। नि सन्देह जो काम लोकमान्य तिलक ने गणेश उत्सव के माध्यम से पुणे मे किया वही काम प० व्यास ने मालवा मे 'विक्रमोत्सव' के माध्यम से किया।

सवत् प्रवर्तक सम्राट विक्रम पावन पूज्य स्मृति मे ऐतिहासिक गवेषणा पूर्ण और भारतीय सास्कृतिक कार्य का सिहावलोकन करने के लिए, आज खेद का विषय है कि हिन्दी म कोई ऐसा प्रामाणिक ग्रन्थ फिर से मौजूद नही है।

निवेदित ग्रन्थ मे ससार भर के उत्कृष्ट लेखको, विचारको और उद्भट विद्वानो के शोधपूर्ण-गवेषणाओ और रोचक रम्य लेखो का एक जगह सग्रह कर इस रिक्ति को पाटने का प्रयास किया गया है। निवेदित ग्रन्थ मे लेखको के लेखो के सन्दर्भ मे कोई भी टिप्पणी लिखना धृष्टता ही होगी। यह अवश्य है कि लेखो मे व्यक्त किये विचार उनके लेखको के हैं। वे अपने विषय के मान्य विद्वानो के लेख हैं। ये विद्वान विदेशो के भी हैं और भारत के तो प्राय सभी प्रान्त और विश्वविद्यालयो के हैं। विक्रम सहस्राब्दि समारोह समिति को भेजे गए इन लेखो के लिए मैं विद्वान लेखको और उनके पुन प्रकाशन की स्वीकृति अनुमति के लिए उनके परिजनो, समिति और शोध सस्थाओ का आभारी हू। मैं आभारी हू मेरी बहन स्नेहमयी बीना, अलका, दिव्या और मेरी सहयोगी चि० जयिनी का जिन्होने लेखो के चयन, सयोजन, सपादन मे मुझे नि स्वार्थ स्नेह-सहयोग दिया।

निवेदित ग्रथ मे, उसके सपादन मे हुई त्रुटियो के लिए क्षमा मागते हुए मुझे

सस्कृत साहित्य की एक कहावत स्मरण आती है —'सूर्पवदोष्य मृत्यसज्य गुणा
गृहणन्ति साधव ।' आशा है उदार हृदय पाठक विद्वान पढते समय इस बात क
ध्यान मे रखेंगे। मैं यह भी निवेदन करना चाहता हू कि यदि इस ग्रन्थ से विक्रमा
दित्य की ऐतिहासिक, भारतीय सस्कृति की महानता, प० व्यास और उनक
परिवार द्वारा किए गए अवदानो पर क्षण-भर भी प्रकाश पड सका तो मैं अपन
परिश्रम को सार्थक मानूगा।

पाडुलिपि प्रकाशन के श्री हरिरामजी द्विवेदी के प्रति कृतज्ञता नही ज्ञापित
की गई, मेरे गुरुवर्य आचार्य प० दिनेशचद्र के चरणो मे अगर नमन नही ज्ञापित
किया गया तो यह धृष्टता ही होगी।

भारती-भवन उज्जयिनी, साधुवाद सहित—
विक्रम सवत् 2045 (गुडी पडवा) —राज शेखर व्यास

अनुक्रमणिका

संवत्-प्रवर्तक सम्राट विक्रमादित्य

☐ डॉक्टर सूर्यनारायण व्यास

पर-प्रेरित-मति पंडितों ने विक्रम संवत् के प्रतिष्ठाता के व्यक्तित्व को उसी प्रकार उलझन में डाल रखा है जिस प्रकार विश्वकवि कालिदास के काल को समस्या बना रखा है। वास्तव में विक्रम-संवत् भारतवर्ष की एक सजीव-संस्था है, सारे देश में वह जीवित-प्रचलित है। सर्वत्र उसी से गणना की जाती है, 1968 वर्ष पूर्ण कर लेने पर भी ईसवी सन्, विक्रम-संवत् के अस्तित्व और मयूख को विनष्ट न कर सका, सतत दो हजार वर्ष से अधिक समय की यात्रा करता हुआ वह कालजयी बना हुआ है। भगवद्गीता और मेघदूत की तरह भारत में ही नहीं, विश्व में अपना स्थान अक्षुण्ण बनाए हुए है।

इतिहास-काल में हमारे देश में एक से अधिक नरेशों ने उन्हीं कारणों से प्रेरित, प्रभावित होकर विक्रम अथवा विक्रमादित्य-विरुद् को धारण किया—जिन कारणों में संवत्सर-प्रणेता शकारि विक्रमादित्य ने 'विक्रम' नाम के साथ अपने संवत् की प्रतिष्ठा की थी। वे कारण थे—शकों का पराभव, विदेशियों का निवारण, भारतीय संस्कृति का उद्धार एवं संरक्षण आदि। वस्तुत: शकों की वह पराजय भविष्य के लिए भारतीय स्वतंत्रता की प्रतीक ही बन गई। जब हम विक्रम-संवत् अथवा विक्रम पदधारी किसी व्यक्ति का संस्मरण करते हैं तो हम ऐसे ही इतिवृत्त का स्मरण करते हैं जिसने भारतवर्ष की पद-दलित राष्ट्रीय-स्वतन्त्रता का पुनरुद्धार किया था, आश्चर्य की बात है कि जिस पुनीत कार्य की पूर्ति को दो हजार वर्ष से अधिक समय हो चुका है, उसके व्यक्तित्व के निर्णय करने में इतिहास-वेत्ता विफल हो रहे हैं।

शकारि विक्रम के पश्चात् शकाब्द के प्रतिष्ठाता—गौतमी-पुत्र शातकर्णि, गुप्त-नरेश चंद्रगुप्त द्वितीय एवं स्कंदगुप्त आदि ने भी शकों हूणों को परास्त कर अपने-अपने समय में 'विक्रम' विरुद धारण कर अपने को गौरवान्वित अनुभव किया था, यह उनकी मुद्राओं से स्पष्ट है। किन्तु इन विजेता-सम्राटों में से किसी ने भी 'शकारि' पद अपनाया नहीं था। अवश्य ही गौतमी-पुत्र शातकर्णि ने शालिवाहन के संवत् 'शाके शालिवाहन'—संज्ञा शकों के अस्तित्व को उसके

नाम के साथ जुड़ाती है। शालिवाहन ने अपनी उपाधि को विक्रमोपाधि से विभिन्न प्रकट करने के लिए 'विषमशील-विक्रम' के रूप में ग्रहण किया था। शालिवाहन समय को भी 'शक-शालिवाहन' कहा जाता है, केवल संवत् नहीं। जबकि विक्रम-संवत् केवल 'संवत' शब्द से ही सुपरिचित है। यह भी ध्यान रखने की बात है कि शालिवाहन के समय में 'शक' इसलिए रखा गया कि वह काल 'शक-काल' है। अन्य संवत् से उसकी विभिन्नता प्रतीत हो। 'संवत्' की एकता का संदेह उत्पन्न न हो।

गुप्तकाल के पश्चात् कुछ विद्वानों के अनुसार सम्राट् हर्ष ने भी इस पद को अपनाया था, वैसे मुस्लिम-शासन-काल में भी इस विक्रम पद के अपनाने की प्रवृत्ति चली आई है। फारसी इतिहास के लेखक—मुहम्मद-कासिम फरिश्ता के इस कथन से प्रमाणित है कि पठानों के सूर-वंश का सेनापति और हुमायूं को हराने वाला हेमू भी जब इन्द्रप्रस्थ में स्वतन्त्र-हिन्दू-राज्य की स्थापना के प्रयास में था—उसने अपने नाम के साथ 'विक्रमादित्य' जोड़ लिया था, (तारीख फरिश्ता—भाग 1, पृ० 349) इस प्रकार 'विक्रम' पद सहस्रों वर्षों की परम्परा लिये अपना आकर्षण बराबर बनाए रहा है। यही कारण है कि मूल-विक्रमादित्य के व्यक्तित्व को अनेक उपाधिधारियों की भूल-भुलैय्या ने इतिहासज्ञों को भी कुछ उलझन में डाल दिया है। और इसी प्रकार विक्रम-संवत् की प्रतिष्ठा का यश भी अनेक विद्वानों ने अपनी शोध और समझ के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को देने का प्रयास किया है, जैसे—

(1) राखालदास बनर्जी का कहना है कि इस संवत का प्रवर्तक नहपान था।

(2) मि० फ्लीट कहते हैं—कनिष्क ने यह चलाया था।

(3) सर जान मार्शल और रेप्स का मत है कि अयस् या अजेस (Azes) ने इस संवत् को चलाया था।

(4) भारत का समस्त समाज और सी० वी० वैद्य, डॉ० अल्तेकर, स्टीन् कोनो, व्यूलर, पिटर्सन तथा अन्य योरोपीय विद्वानों का कहना है—शकारि विक्रमादित्य ने शकों को परास्त कर यह संवत् चलाया है, यह गंधवसेन का पुत्र था।

(5) डॉ० जायसवाल एवं एकाध अन्य का कहना है कि गौतमी-पुत्र शातकर्णि ने संवत् का आरम्भ किया था।

(6) डॉ० बेणीप्रसाद शुक्ल का विचार है कि—अग्निमित्र के पिता पुष्यमित्र शुंग ने धार्मिक हेतु से प्रेरित होकर संवत् चलाया, पुष्यमित्र विदिशा का निवासी था। बृहद्रथ मौर्य का सेनापति था, इसने अपने स्वामी की हत्या कर दी थी, विदेशियों-यवनों को जीत कर, बौद्धों को हटाकर अश्वमेध-यज्ञ किया था, और यज्ञ की स्मृति में संवत् चलाया था।

इन छह् मतो का सक्षेप मे यह निष्कर्ष होगा कि—

(1) विक्रम सवत् का प्रवर्तक कोई शक राजा था, जो विदेशी होना चाहिए। (राखालदास फ्लीट सरजॉन, और रेप्सन)

(2) गर्दभिल्ल नरेश गधर्वसेन के पुत्र ने सवत् को चलाया (स्टीन कोनो, एव जैन साहित्य)

(3) पुष्यमित्र शुग ने चलाया। शुग को बौद्धो ने अत्याचारी, धार्मिक उत्पीडक तथा जैनो ने इसे कल्कि कहकर वर्णित किया है। जैसे--

"यावत पुष्यमित्रो यावत सघाराम भिक्षूश्च प्रघातयन् प्रस्थित स यावत् शाकलमनुप्राप्त तेनाभिहित यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्माह दीनारशत दास्यामि। (दिव्यावदान)'

इन चार भिन्न भिन्न मतो म से प्रथम मत तो इस कारण महत्त्व नही रखता कि भारतवासी किसी प्रकार भी विदेशी शासको द्वारा प्रचारित, परतन्त्रता के प्रतीक को किसी प्रकार भी राष्ट्रीय रूप से स्वीकार नही कर सकते थे, न वह इस तरह दीर्घकाल तक जीवित रह सकता था। इसी प्रकार कोई भी सवत् प्रवर्तक शक या हूण सम्राट् अपने को 'शकारि' नही कह सकता था।

दूसरे मत के प्रतिष्ठापक गौतमीपुत्र शातकर्णि को इस सवत का स्थापक मानते हैं, वे शायद यह भूल जाते हैं कि गौतमीपुत्र का विरद 'विषमशील-विक्रम' था। 'शकारि' नही, उसका सवत् 'शकाब्द' क नाम से प्रसिद्ध था, (इस विषय मे नागरी प्र० पत्रिका के भाग 16 के पृष्ठ 241 स 272 देखें)।

तृतीय मत की चर्चा हम आग कर रहे हैं। अतिम मतो के विषय मे कुछ विस्तार से चर्चा करना आवश्यक है—

दिव्यावदान म लिखा है—

"पुण्य धर्मरत पुष्यमित्र सोऽमात्यानां मन्त्रयते क उपाय स्यात यत् अस्माक नाम चिर तिष्ठेत् तैरभिहित देवस्य च वशादशोको नाम्ना राजा बभूवेति तेन चतुरशीतिधर्मराजिकासहस्र प्रतिष्ठापित यावद् भगवच्छासन प्राप्यते तावदस्य यश स्थास्यति। देवोऽपि चतुरशीतिधमराजिका सहस्र प्रतिष्ठापयतु। राजाह, महेशाख्यो राजाऽशोको बभूव, अन्य कश्चिदुपाय इति? तस्य ब्राह्मण पुरोहित पृथग्जनोऽमात्य, तेनाभिहित – देव, द्वाभ्या कारणाभ्या नाम चिर स्थास्यति। यावद्राजा पुष्यमित्र चतुरग बलकाय सनाहयित्वा, भगवच्छासन विनाशयिष्यामीति कुक्कुटाराम निर्गत द्वारे च सिंहनादो मुक्त। तावत्स राजा भीत पाटलिपुत्र प्रविष्ट। एव द्विरपि त्रिरपि यावद्भिक्षुश्च सघमाहूय कथयति 'भगवच्छासन नाशयिष्यामीति इच्छय? स्तूप सघाराम वा? भिक्षुभि परिगृहीतो यावत पुष्यमित्रो यावत् सघाराम भिक्षूश्च प्रघातयन् प्रस्थित स यावत शाकलमनुप्राप्त। तेनाभिहित— 'यो मे श्रमणशिर **दास्यति**

तस्याह दीनार शत दास्यामि। धर्मराजिका वाहंत बुद्धया शिरो दातुमारब्ध श्रुत्वा च राजाऽर्हत् प्रघातयितुमारब्ध', स च निरोध सम्पन्न तस्य परोपक्रमो न क्रमते। सयलमुत्सृज्य यावत्कोष्ठक गत दष्ट्र विनाशी यक्षश्चिन्तयत 'इद भगवच्छासन विनश्यति' अह च शिक्षा धारयिष्यामि न मया शक्य कस्यचिद-प्रिय कर्तुं, तस्य दुहिता कृमिसेन यक्षेण याच्यते न चानुपर्यच्छति त्व पाप कर्म-कारीति, यावत्सा दुहिता कृमिसेनस्य दत्ता भगवच्छासन परित्राणार्थं परिगृह-पावनार्थं च पुष्यमित्रस्य राज्ञ पृष्ठत यक्षो महान् प्रमाण यूप (?) तस्यानु-भावात्स राजा न प्रतिहन्यते यावद्दष्ट्राविनाशी यक्षस्त पुष्यमित्रानुबन्ध यक्ष ग्रहाय पर्वतचयेऽचरत् यावद्दक्षिणमहासमुद्र गत। कृमिसेनेन च यक्षेण महान्त पर्वत आनयित्वा पुष्यमित्रो राजा सबलवाहनोऽवष्टब्ध। तस्य 'मुनिहत' इति सज्ञा व्यवस्थापिता, यदा पुष्यमित्रो राजा प्रघातितस्तदा मौर्यवश समुच्छिन्न।

(अवदान 29, पृ० 430-34)

दिव्यावदान के उक्त उद्धरण से पुष्यमित्र मौर्यवश का ही नही, किंतु अशोक का पारिवारिक प्रतीत होता है, पर यह ऐतिहासिक तथ्यो के प्रतिकूल है। फिर बौद्ध-सम्राट् अशोक को अहिंसा की ओर प्रवृत्त करने वाली कलिंग विजय की घटना थी जब उसके वशज पुष्यमित्र के सम्मुख रही होगी तो केवल स्थाई नाम छोडने के लिए हिंसा का अवलंबन पुष्यमित्र ने स्वीकृत किया हो—यह साधारण बुद्धि मे आने जैसी बात नही है। प्रसिद्धि क्षमा, दया, उपकार, प्रजापालक, अनुग्रह आदि गुणो से प्राप्त होती है। धार्मिक उत्पीडन आदि कर्मो से ख्याति प्राप्त नही होती, यह जानकर भी पुष्यमित्र इस प्रकार बौद्धो का नाश करने लगा हो तो क्या स्थाई कीर्ति या प्रसिद्धि सुलभ सभव हो सकती थी ? सभव नही। पुराणो मे तथा वैदिक धर्मानुयायी बाण आदि ने स्पष्ट ही इसे अन्तिम सम्राट बृहद्रथ का वध करने के कारण 'अनार्य' लिखा है— प्रतिज्ञा दुर्बल च बल दर्शन व्यपदेशादृशिताशेप सैन्य सेनानीरनार्यो मौर्य बृहद्रथ पिपेष पुष्यमित्र स्वामिनम्।'

दिव्यावदान मे मौर्य सम्राटो की जो सूची दी गई है, वह सर्वथा अशुद्ध है। इतिहास मे उस कोई मूल्य नही दिया गया है। यदि वैदिकधर्म (या ब्राह्मण धर्म) का पुनर्जीवन देने वाला पुष्यमित्र वस्तुत बौद्धो का उत्पीडक होता तो उसका वणन पुराणो म प्रशसात्मक लिखा होता और बाण भी उसे अनार्य कभी नही लिखता, *बौद्धो के साथ उसने अवश्य ही जैनो को त्रस्त किया होगा,* किंतु जैनो के तत्कालीन, और उत्तर-कालीन साहित्य मे पुष्यमित्र को अत्याचारी राजा के रूप म कही अकित किया नही देखा जाता। जिस कर्की या कल्की का वर्णन जैन ग्रथो मे मिलता है वह भी पुष्यमित्र पर लागू नही होता। करकी का जन्म 'सम्भल' बतलाया गया है। जबकि पुष्यमित्र विदिशा मे उत्पन्न हुआ था।

पुराणो मे कही भी पुष्यमित्र को कल्की नही सूचित किया है। कल्कि-पुराण के अनुसार कल्कि-उपाधिकारी व्यक्ति का उद्भव सम्बलपुर मे हुआ था, जो एक देशी राज्य रहा है। वह एक सामान्य वश मे उत्पन्न होकर स्थानीय नरेश या सामान्त की सहायता से एक साम्प्रदायिक मदान्ध के रूप मे उठ खड़ा हुआ था, उसने वहा के अनेक बौद्ध-मठों का विध्वस किया था उसने जिन बौद्ध भिक्षुणियो की हत्या की थी वे मध्यप्रात के एक मठ की सरक्षिकाए थी। कल्कि पुराण मे वर्णित विवरण से जैन ग्रथो मे वर्णित कल्कि-वर्णन की सगति लगती है। किंतु पुष्यमित्र को जैन कल्कि ठहराना भी नितात भ्रामक है। पुष्यमित्र का 'मुनिवृत' उपाधि के साथ कही ओर उल्लेख नही मिलता है, इस प्रकार दिव्यावदान की कथा निराधार है, यह केवल धार्मिक द्वेष उत्पन्न करने के लिए गढी गई थी—जब भारत मे मध्य एशिया के शक-हूण-शाही बौद्ध राजा जहा-तहा शासन कर रहे थे, एव स्थानीय बौद्धो की सहायता से अपने शासन को स्थायी बनाने के प्रयत्न मे थे, मि० स्मिथ जैसे विदेशी विद्वान् भी यह स्वीकार करते हैं कि भारत मे से बौद्ध धर्म के नष्ट हो जाने के कारण पुष्यमित्र, या अन्य नरेश नही थे, (अर्लि हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 213)।

दिव्यावदान के अनुसार पुष्यमित्र का पिता पुष्यधर्मन् था, पिता तथा पुत्र दोनो ही बौद्ध थे। वह किसी ब्राह्मण मत्री के कहने मात्र से ही अशोक का वशज *अपने पूर्वजो की कीर्ति, एव उसके स्थापित-प्रवर्द्धित* तथा सम्मानित धर्म, सघ, स्तूप आदि को केवल अपनी ख्याति प्रस्थापित करने के लिए प्रध्वस्त करने को सन्नद्ध हो गया होगा, यह जरा भी बुद्धिगम्य नही हो सकता। क्षण भर के लिए यह दिव्यावदान के अनुसार मान लिया जाए तो इस रक्त-रजित सवत् प्रतिष्ठा का पुराणो मे सर्वत्र उल्लेख किया जाता। विक्रमादित्य को चाहे उसका व्यक्तित्व कुछ या कोई भी रहा हो—वे अशावतार के रूप मे *या एक धार्मिक अथवा श्रद्धा-*समवेत भक्त-राजा के रूप मे चित्रित होते, किंतु पुराण ग्रथ इस विषय मे मौन हैं। इसके विपरीत जैन-साहित्य मे विक्रमादित्य एवं उसके सवत् संस्थापक के सम्बन्ध मे यथेष्ट विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। वह सारा ही विक्रम की प्रशसा से पूर्ण है। अकेले जैन साहित्य मे 44 से अधिक पुस्तकें विक्रमादित्य की विशेषता, कथा-किंवदन्तियों से भरी हुई हैं। यदि विक्रम-सवत् किसी धार्मिक उत्पीड़न का स्मारक रहा होता अथवा किसी साम्प्रदायिक अत्याचारी से उसके सस्थापक का सबध होता तो अवश्य ही जैन-साहित्य मे ठीक विपरीत वर्णन प्राप्त होता। किन्तु जैन-साहित्य मे जिस उदारता और श्लाघा से विक्रम का उल्लेख हुआ है—उससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि विक्रम-सवत्-सर्वथा निर्दोष, एव राष्ट्रीय—सास्कृतिक एव सार्वजनिक विषय है। उसकी स्थापना का सम्बन्ध ऐसे ही *व्यक्ति से है, जो धार्मिक साम्प्रदायिक-द्वेष-भाव से रहित,* पक्षपात

से पृथक्, न्यायपरायण उदार, प्रजाप्रिय तथा सार्वजनिक सम्मान भाजन व्यक्ति विशेष है ।

बौद्ध साहित्य के सिवा अब थोडा जैन साहित्य पर भी विचार किया जाए, जो जैन विद्वान पुष्यमित्र को कल्कि सिद्ध करना चाहते है—शायद उन्होने निम्न-लिखित प्रमाणो की ओर ध्यान नही दिया है—

पहली बात तो यह है कि कल्कि का जन्म स्थान सभलपुर था (भागवत स्कध 12, अ० 2, श्लोक 12) तथा पुष्यमित्र का जन्म स्थान विदिशा है और जैन साहित्य जिसको कल्कि मानता है उसका जन्म कुसुमपुर (पटना) मे होना चाहिए—तित्थोगाली मे लिखा है—

सग वसस्सय तेरस समाई तेवीसई होती वासाइ ।
हो ही जम्म तस्सउ कुसुमपुरे दुष्ट बुद्दिस्स ॥62॥

इसमे कल्कि-जन्म सवत् भी शकाब्द 1323 (विक्रम 1452) दिया है, जब कि पुष्यमित्र विक्रम-सवत् मे पूर्ववर्ती है ।

काल सप्ततिका म कल्कि का जन्म समय ऊपर बतलाए गए सवत् से 16 वर्ष कम दिया है और कल्कि का कुल चाण्डाल बतलाया है—(धर्मघोष सूरि) इसमे कल्कि के रुद्र तथा चतुर्मुख दो नवीन नाम दिए हैं, उनम भी पुष्यमित्र नही आता है ।

जिन सुन्दर सूरि न दीपमालाकल्प म और भी दो वर्ष कम समय लिखा है, तथा म्लेच्छकुल म उत्पन्न होना बतलाया है, पिता का नाम यश एव माता का यशोदा लिखा है—

मन्निर्वृ सेर्गतेप्वब्दशतेष्वेकोनविंशतौ ।
चतुर्दशक्षुचा देवु चैत्र शुक्लाष्टमीदिने ॥231॥
विष्टौ म्लेच्छकुले कल्को पाटलीपुत्रपत्तने ।
रुद्रश्चतुर्मुखश्चेति धृतापराह्वयद्वय ॥232॥

उपाध्याय क्षमाकल्याण ने विक्रमादित्य का उल्लख कर विक्रम सवत् से 124 वर्ष के बाद कल्कि के जन्म का उल्लेख किया है—

'मत्त पञ्च सप्तत्यधिकचतु शताब्दव्यतीते सति विक्रमादित्यनामको राजा भविष्यति । तत किंचिदूनचतुर्विंशत्यधिकशतवर्षानन्तर पाटलीपुरनाम्निनगरे चतुर्मुखस्य जन्म भविष्यति । (दीपमाला कल्प)

दिगम्बर विद्वान् नेमिचन्द्र ने अपने तिलोयसार म कल्कि का जन्म 1000 वीर-निर्वाण-सवत् मे लिखा है, जो 395 शक अथवा 430 विक्रम सवत् के समसामयिक होना है ।

साराश यह कि जैन ग्रथ जिस किसी भी जैनोत्पीडक नरेश का उल्लेख कल्कि के नाम से करते हैं वह निर्विवाद विक्रम सवत् के बाद का ही है । वह

पुष्यमित्र सभव नही होगा। न वह धार्मिक किसी विषय से सम्बन्धित सवत् ही है।

मदसौर (दशपुर) से प्राप्त सवत् 461 के लेख मे इस सवत् (विक्रम-सवत्) को 'कृत' सज्ञा से ज्ञापित किया गया है, इसी तरह नगरी (माध्यमिक नगरी) के शिलालेख मे जो अजमेर के सग्रहालय मे है—सवत् 401 को भी 'कृत' शब्द से ही सूचित किया गया है। (कृतेपु चतुर्पु वर्षशतेष्वेकाशीति — उत्तरेष्वस्या मालवपूर्वायाम कार्तिक शुक्ल पचम्याम)। मदसौर से ही प्रथम कुमार गुप्त के समय मे लिखे गए सवत् 493 के शिलालेख मे इसका नाम-विशेष न देकर ऐसे पदो का प्रयोग किया गया है कि जिससे सवत् के आरभ होने का इतिवृत्त प्रकट होता है, अर्थात्—'मालवाना गणस्थित्या' और वही से प्राप्त यशोधर्मन् कालीन उत्कीर्ण-शिला लेख मे भी उसी घटना का उल्लेख है—'मालवगण स्थितिवशात्'— इन शब्दो का स्पष्ट अर्थ होता है—मालवो के गण-संघ की स्थिति (या सत्ता का स्थापना काल) से, तथा उस घटना-काल से गिना जाने वाला सवत्। इसी प्रकार कोटा के निकट शिव मन्दिर मे लगे हुए एक शिलालेख मे सवत् 795 मे 'मालवेशो का सवत्सर' कहा गया है। इसमे बहुवचन का प्रयोग किया गया है। (सवत्सर शतैर्यातै सपच नवत्यर्गलैः सप्तभिर्मालिवेशानाम्)। डॉ० फ्लीट के गुप्ता—इस्क्रिप्शन्स के पृष्ठ 243 पर इस सवत् का एक उल्लेख सवत् 426 का भी है। और पृष्ठ 74 पर सवत् 480 का भी है; दोनो स्थानो पर कृत (बहु-वचन मे) उत्कीर्ण किया गया है।

शुग-नरेश पुष्यमित्र के सम्बन्ध मे कल्पित बौद्धोत्पीड़क कहानी, और उसके दो अश्वमेध-यज्ञो मे 'कृत' की कुटिल कल्पना कर विक्रम-सवत् को धार्मिक बतलाने का प्रपच व्यर्थ और भ्रामक ही है। विक्रम-सवत् का शुगवश से सबध जुडाया नही जा सकता।

गर्दभिल्ल की चर्चा करते समय कुछ विवेचन की आवश्यकता है, आइने अकबरी मे विक्रमादित्य को गधर्वसेन का उत्तराधिकारी कहा गया है। कुछ विद्वान् शूद्रक और विक्रमादित्य को एक ही व्यक्ति बतलाते हैं, कई विद्वानो का विचार है कि विक्रमादित्य का निज नाम साहसाक था। जैन-गाथाओ के अनुसार विक्रमादित्य सुवर्ण-पुरुष था, उसे सुवर्ण बनाने की विद्या प्राप्त थी, इस कारण उसने अपनी समस्त-प्रजा को ऋण से मुक्त कर दिया था, विक्रमादित्य के व्यक्तित्व मे इन सभी बातो का समाधान प्राप्त होना चाहिए, इनसे भी अधिक यह भी आवश्यक है कि उनके नवरत्नो का भी सहयोग जुडना चाहिए।

विक्रम-सवत् के 'कृत' नाम को देखकर कुछ विद्वानो ने शकारि का नाम 'कृत' होने की सभावना भी की है। सक्षेप मे उन लोगो का यह विचार भी है कि मालवगण के विजयी व्यक्ति ने शकों को भारत से निकालकर बाहर किया

था, इसलिए उसके नाम मे यह सवत् 'कृत' ज्ञापित हुआ था। यह विचार सामान्यत स्वीकार किए जाने म कोई आपत्ति प्रतीत नही होती। कृत नाम मालव के इतिहास म नवीन नही है, कार्तवीर्यार्जुन का पिता भी कृत नामधारी था, (इस विषय पर विस्तृत विवेचन हमने अपने लेख बिहार-राष्ट्र-भाषा परिषद् की पत्रिका मे कुछ वर्ष पूर्व किया है, उसम सभी तर्क-पक्षो की समीक्षा की है) इसमे थोडी साहित्यिक आपत्ति आती है क्योकि ऐस वैयक्तिक नाम तद्धितात या समासान्त होने चाहिए। कृताब्द, कृतसवत्सर या कार्तेय आदि रूपो का प्रयोग देखने म नही आता, तथापि इस सवत् को कृत नाम से अभिहित किए जान का हेतु है। हमने अपने एक लेख मे (जो विक्रम-पत्रिका मे लिखा था) यह बतलाया था कि शालिवाहन शक चैत्रादि है, किंतु विक्रम-सवत् कार्तिकादि है, कार्तिकादि से यह भिन्न नही है। 'कृत' उसी नक्षत्र का सूचक या बोधक होता है--जिसे हम तारा कहकर कृतिका के रूप मे (स्त्री-वाची) पढत हैं, और कृत-नक्षत्र के पौर्णिमावाले मास से आरभ होने वाला सवत् स्वीकार करत है।

विक्रमादित्य को जैन आख्यायिकाओ मे गर्दभिल्ल का पुत्र कहा गया है। आइने अकबरी की मालव राज वशावलि मे भी गधर्वसेन का पुत्र कहा गया है। गर्दभिल्ल और गधर्वसन एक नाम क ही दो भेद बन गए हैं। मालवा पर शको के अधिकार होने की एक जैन-कथा बहुत प्रसिद्ध है। सक्षेप मे वह इस प्रकार है कि उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल दर्पण ने जैन आचार्य की युवती-रूपवती बहन सरस्वती का अपहरण कर अत पुर मे बद कर दिया, इस पर कालकाचार्य न प्रतिज्ञा की कि गर्दभिल्ल का राज्योन्मूलन करूगा। इसकी पूर्ति के लिए वह पारस कुल जा पहुचा, वहा का राजा 'साही' कहलाता था, कालक वही रहने लगे। एक समय साही के अधिराज साहानुसाही ने रुष्ट होकर साही के पास एक कटारी भेजकर आज्ञा दी कि इससे अपना सिर काटकर भेज दो, साही ने कालक के समक्ष यह चर्चा की, कालक ने साही को परामर्श दिया कि आत्मघात मत करो। तब साही ने बतलाया कि साहानुसाही के रुष्ट हो जाने पर हमारा जीवित रहना असम्भव है। तब कालक ने कहा, हिन्दुग-देश को चलें, साही ने कालक का कहना स्वीकार किया और अपने अन्य 95 साहियो का साथ चलने के लिए राजी कर लिया, 95 साही चलकर सौराष्ट्र पहुच गए, उन्होने वहा अधिकार करके 96 भागो मे उस खण्ड का बटवारा कर लिया, प्रत्येक साही अपने-अपने भाग पर शासन करने लगा। कालक का आश्रयदाता उन साहियो का साहानुसाही बन गया। यह साहीवर्ग वस्तुत शको का सघ था। कालक ने साही को उज्जैन पर आक्रमण करने की प्रेरणा दी, साहियो ने लाट (वर्तमान गुजरात) के राजाओ को साथ लेकर प्रयाण किया। लाट के नरेशो

को अवन्ती के पड़ोसी होने के कारण प्रतिस्पर्धा थी, गर्दभिल्ल इस आक्रमण में मारा गया और शकों का उज्जैन पर अधिकार हो गया। जैन कथा में जो वर्णन है ठीक उसी प्रकार का वर्णन कालिदास के नाम पर प्रचारित ज्योतिष ग्रंथ में भी है—उसमें भी 'नवति पंच-प्रमितान् शकगणान् हत्वा' 95 साहियों के साथ लड़ाई होने का विस्तार से वर्णन है।

ऊपर जिन लाट नरेशों का उल्लेख किया गया है—उनके नाम बलमित्र, भानुमित्र बतलाया है। आरंभ में शकों ने उनको ही उज्जयिनी का गवर्नर या शासक बना दिया था, किंतु इस कथन में ऐतिहासिक क्रम के साथ संगति नहीं लगती। कालक-सम्बन्धी घटना का जैन ग्रंथों में अब से पुरातन समय में जो उल्लेख मिलता है, वहां ये नाम नहीं मिलते हैं, ज्योतिर्विदाभरण में यह कहा गया है कि इन 95 साहियों का शासन विक्रम ने आक्रमण कर समाप्त किया था।

उज्जैन में शकों का अधिकार हो गया था और आंध्र नरेश गौतमीपुत्र ने अपने शासन के 15वें वर्ष में क्षहरात-नरेश नभोवाहन को परास्त कर क्षहरातों का समाप्त कर दिया था। यह घटना ई० पू० 132 या विक्रमपूर्व 76 की है। इसके बाद आंध्र के शातकर्णि नरेश क्रमशः निर्बल होते गए, और मालवा में गर्दभिल्लों का उदय होने लगा। पुराणों में गर्दभिल्लों की 7 पीढ़ियों का शासन 72 वर्ष तक रहने का स्पष्ट उल्लेख है (मत्स्य और ब्रह्माण्ड पुराण)। इन 72 वर्षों में गर्दभिल्लों की स्वतंत्र सत्ता का समय केवल 13 वर्ष ही था, अर्थात् वि० पूर्व 17 से वि० पू० 4 तक। इससे पहले वे शुंगों के गवर्नरों या माण्डलिकों के रूप में रहे होंगे। नभोवाहन के विदेशी शासन को लूटने, तथा गौतमीपुत्र के युद्ध-प्रयासों ने जो विदेशियों को खदेड़ने के लिए हुए थे, राष्ट्र को घोर आर्थिक-संकट में फंसा दिया होगा, और राष्ट्र के वीर-युवकों को अपने शौर्य प्रकट करने को प्रोत्साहित किया होगा। राष्ट्र में विदेशियों की लूट से उत्पन्न दरिद्रता और विदेशी पंजे से देश को स्वतन्त्र बना राष्ट्र-रक्षा करने के लिए प्रेरणा मिली होगी। मालव जाति पहिले से ही गणबद्ध रहने वाली और शौर्यशाली थी, सिकंदर जैसे योद्धा को उन्होंने इसका प्रमाण दिया था। गर्दभिल्ल भी लड़ाकू थे, उन पर मालव संस्कृति का सुन्दर प्रभाव था, ऐसे समय एक वीर युवक आगे आया था इतिहास ने इस युवक का नाम साहसाङ्क बतलाया है। साहसाङ्क, शकारि और संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य था, इसको कोशकारों ने भी बतलाया है। जैसे, अमरकोश के टीकाकार क्षीरस्वामी ने अपने से पुराने किसी कोशकार का निम्नलिखित लेख उद्धृत किया है—

विक्रमादित्यः साहसांक शकान्तक।

सरस्वतीकण्ठाभरण के निम्नश्लोक की टीका मे रत्न मिश्र ने भी एक ऐसा ही उद्धरण दिया है—

> केऽभूवन्नाढ्यराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिण ।
> काले श्रीसाहसाकस्य के न सस्कृतवादिन ॥

टीका—आढ्यराज शालिवाहन साहसाको विक्रमादित्य ।

हाल-सातवाहन की प्रसिद्ध सप्तशती के टीकाकार हरिनाथ पीताम्बर न 466वी गाथा मे विक्रमादित्य' की टीका मे 'साहसाङ्कस्य' लिखा है ।

विक्रम सवत का नाम कभी 'साहसाङ्क सवत्' भी रहा है, यह वास्तव म कम कुतूहलजनक नही है, एक से अधिक प्रमाण मिलते हैं, जैसे—

> व्योमार्णवार्क सख्याने साहसाकस्य-वत्सरे

अर्थात सवत् 1240, (महोबा दुर्ग का लेख)

> नवभिरथ मुनीन्द्रैर्वासराणामधीशैं
> परिकलयति सख्या वत्सरे साहसाकस्य ।

(स० 1279 का रोहताश गढ का शिलालख)

चतुर्भूताद्रि शीताशुभिरथ गणिते साहसाकस्य वर्षे ।

(अकबर के जलाली वर्ष का 40वा वष, साहसाक का सवत् 1652)

कनिघम ने भी यह स्वीकार किया है कि साहसाक सवत् विक्रम सवत् का ही नामान्तर है ।

इस प्रकार मालव, माल, मल्व, माड, प्रमाड, प्रमद युवक साहसाङ्क ने विदेशियो का पराभाव करके राष्ट्र को स्वाधीन बनाने के पश्चात् विक्रम पद धारण किया होगा । इसके पिता का नाम गधर्वसेन माना जाता है, जनता को शासन ग्रहण करने के पश्चात ऋण मुक्त कर दिया था इसलिए जैन साहित्य मे इनको सुवर्ण पुरुष कहा गया—

> शकानां देशमुच्छेद्य कालेन कियतापि हि ।
> राजा श्री विक्रमादित्य सार्वभौमोपमोऽभवत ॥

—चन्द्रप्रभ सूरि

> सद्योन्नतमहासिद्धि सौवर्ण पुरुषोदयात् ।
> मेदिनीमनृणा कृत्वा ध्यरचद्वत्सर निजम् ॥

यह अलबेरुनी ने अपने भारत यात्रा वर्णन मे भी विस्तार से लिखा है ।

आरभ म मालवा म गणशासन था, प्रद्योतो के समय यह पद्धति उच्छिन्न हो गई थी, बाद म प्रयास हुआ था जिसका वर्णन शूद्रक के मृच्छकटिक मे है । मालवगण का एक युवक गोपालक ने एकनय को समाप्त कर गणसत्ता स्थापित की थी और वह गणपति बन गया था । किंतु यह अधिक समय नही रहा,

मौर्यों, खारवेल, गौतमीपुत्र तथा शायद शुगो ने भी गण-सस्था को प्रोत्साहित नही किया। ये सभी एकतत्र-सत्तावादी थे। किंतु गणतत्र मालव सस्कृत का अग बन गया था, जब शुगसत्ता निर्बल बन रही थी, तब गणतत्रवादी मालव अवश्य जाग्रत सन्नद्ध हो गए होंगे। नागवशीय कर्कट गोत्रीय नाग की गाथा विदित है और इस गणपति नाग-राज की एक रचना 'भावशतक' उपलब्ध है। एक सत्तावादियो की निर्बलता ने गण-सघो को उठने का अवसर दिया होगा, गर्दभिल्लों का शको ने अत किया, और शक-शक्ति का अन्त तत्कालीन मालवो ने किया। यह सफलता प्रमद गधर्वसेन के पुत्र विक्रम को प्राप्त हुई, यह अपनी सस्कृति के समुद्धार का महत्त्वपूर्ण कार्य था, सवत् इसी महत्त्वपूर्ण घटना से सम्बन्धित होना चाहिए। जो आज परिवर्तनशील कालचक्र के दो हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी सारे देश के जन-जीवन मे दीर्घजीवी बना चला आ रहा है। इसके पूर्व और पश्चात्काल मे भी अनेक सवत् बने, चले, किंतु वे कुछ काल मे ही काल-कवलित हो गए, विक्रम-सवत् का अस्तित्व अब तक अचल बना चला आ रहा है।

हमने ऊपर विक्रम-सवत् के पूर्व मालव मे प्रचलित एव शिलालेखो मे प्राप्त जिस कृत' सवत के विषय म चर्चा की है, यह 'कृत' भी मालवगण से सलग्न रहा है, और उसी म आगे चलकर घटना विशेष के साथ विक्रम-शब्द जुडा है, यह घटना भी दो हजार वर्ष मे ऊपर की सिद्ध होती है, उसी समय जब 'कृत' सवत् प्रचलित था, और वर्षान्त होने मे कुछ समय शेष था। तब ज्योतिः-शास्त्र के सूर्यसिद्धात ग्रथ का निर्माण हुआ था, यह उस ग्रथ के प्रथम श्लोक से ही प्रमाणित है—

"अल्पावशिष्टेतु कृते मयनामा ' महासुर ॥"

इस ग्रथ के गणित और खगोल स्थिति से स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि जब 'कृत' सवत् का अल्प-काल अवशिष्ट था, उस समय की जो ग्रहस्थिति आकाश म रही है—वह समय आज से 2000 वर्ष से ऊपर का रहा है। यह गणना क्रम मे प्रमाणित है, इसलिए कृत गणना से विक्रमाब्द के आरभ का काल आज के सवत् स सुसगत है, और यही विक्रमकाल है। इसे किसी अन्य उपाधिधारी व्यक्ति से नही जोडा जा सकता।

अस्तित्व विषयक भ्रान्तिया और निराकरण

दो हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी विक्रम सवत की प्रतिष्ठा 'विक्रम' विद्वजना की विचार विश्लेषण परिधि म ही परिभ्रमण कर रही है। विद्वज्जन वास्तविक विक्रमादित्य के विषय म भीषण रूप से भ्रात हैं। इसका मुख्य कारण विसेंटस्मिथ, कीलहार्न हार्नेल प्रभृति पाश्चात्य विद्वान हैं और वे भारतीय भी जो इन विद्वानो को आराध्य आधार मानकर अपनी विमल मति को पर प्रेरित पथ पर सहसा मोड देते हैं, और विक्रम जैसी महान विभूति को ही भ्रम का विषय बना लत है, आरम्भ मे ही हमारी सस्कृति की परम्परा ही इस प्रकार परिपोषित होती चली आ रही है कि उसक लिए आधारो क नाम पर वर्तमान विज्ञान की कसौटी अपेक्षित नही है। भगवान् राम कृष्ण, शिव पाण्डवों की मुद्राए ही उनके अस्तित्व को प्रमाणित करन का माध्यम नही बनती आई है। चिरकाल से अनेक स्मृतियो की पुण्य परम्परा ने उनके अस्तित्व की सत्य सनातनता को प्रत्येक हृदय म, स्थल म, सजग-सजीव बनाये रखा है। अध्यात्म प्रधान दश के हम अधिवासी, जो मन आत्मा की अमरता का प्रबोध विश्व को चिरकाल स देते आए हैं 'मरण की कल्पना को प्रत्यक्ष रखकर वतमान युग की अनुकरणशीलता के प्रमाण के शिला मुद्रा की सृष्टि करन की आवश्यकता नही समझते है। आत्म विस्मृति और प्रसिद्धि पराडमुखता के समाराधक हाने क कारण ही वेद की 'अपौरुपेय' भावना, पुराण की व्यास-प्रणयन प्रसिद्धि और कालिदास जैसो का आत्मोल्लख म विस्मरण हुआ, और 'मद कवियश प्रार्थी लोगो की लघुता म प्रच्छन्न 'महानता चिर जीवित बनी हुई है।

एसी स्थिति मे वर्तमान युग का सशोधक विक्रम की प्राथमिकता चाहे विस्मारित कर पर उसक दो हजार वप व्यतीत हो जाने पर भी प्रत्येक सस्कृत हृदय म प्रतिष्ठित उसकी पावन स्मृति को धुधली करन का साहस नही कर सकता। यही कारण है कि आधुनिक माध्यमों के प्रमाण पथ पर पूरी तरह न उतरत हुए भी अन्त करण की विश्वस्त भावना के कारण विक्रम के अस्तित्व से मुकरन को जी नही करता।

और इस अद्वैत से यह विवाद नही रह पाता की मालव-जाति पर्यायवाची (मालवीय) अथवा मालव गणतत्रवाची सवत् के साथ 'कृत' व्यक्तिवाचक शब्द (कृत—नामक राजपुरुष व पडित अथवा अन्य कोई) जुडा होगा क्योकि मालव-गण या जाति के इस प्रदेश मे आने से पूर्व की जो कल्पना इतिहासविदो ने प्रस्थापित की है, 'कृत' उसके पूर्व की कालगणना से जुडा हुआ सवत् का नामकरण है। हमारा तो आरम्भ से ही यह अभिमत रहा है कि 'कृत' कार्तिकादि वर्षारम्भ का सूचक पर्याय है और उसके साथ मालव-प्रादेशिक नाम को जोडकर मालव-कृत सवत् के रूप मे प्रकट किया गया है। इसमे वैयक्तिक नाम और अन्य कल्पना आरोपित करने कि आवश्यकता नही। जो लोग 'मालव' को पश्चात् आगत् मानकर गणतत्रीयता की धारणा स्थापित करते है, वे इस काल से अधिक पुरातन वाल्मीकि रामायण द्वारा कथित 'मालवान्' और 'आवतकान्' को पश्चात्-कालीन नही बतला सकेंगे।

मालव-सवत् की गणतन्त्रीयता 'गण' शब्द के उल्लेख मात्र से मान लेने की आवश्यकता नही, क्योकि मन्दसौर मे पाचवी, छठी सदी के जो शिलालेख मिले हैं, वे नरवर्मन, कुमारगुप्त, बंधुवर्मन, प्रभाकर आदि एकतत्रीय राजाओ के हैं, और उन्होने भी इसी 'मालवाना गणस्थित्या' वाचक सवत् का ही प्रयोग किया है। यही क्यो, जिस प्रतापी वीर सम्राट यशोधर्मन ने शकाक्रात-मालव-मही को ही नही, समस्त-भारत को विदेशियो के पाश से मुक्त किया था उस 'राजाधिराज परमेश्वरयशोधर्मन' मे भी "पचसु शतेषु शरदा यातेष्वेका-न्नवतिसहितेषु, मालव-गण-स्थिति-वशात् कालज्ञानाय लिखितेषु" मे मालव-गण-स्थिति को ही कालज्ञान के लिए प्रयुक्त किया था। स्वत: विक्रमादित्य और 'राजाधिराज' कहे जाने पर भी उसने सवत् मे से 'मालव-गण-स्थिति' को हटाया नही था। डॉ० अल्तेकर स्वीकार करते हैं कि—मन्दसौर के लेख मे मालवगण 493 वर्ष, विक्रम-सवत् का ही लिखा है। क्योकि उस समय गुप्त-वशीय सम्राट कुमारगुप्त राज्य करते थे। उनका काल ई० सन् 414 से 454 है। डॉ० साहब इसे विक्रम का भी मानते हैं, और 'सम्राट कुमारगुप्त' का भी। परन्तु इस पर भी उसका नामकरण 'मालवगण' ही अकित रहता है। साम्राज्य काल मे भी गण-सवत् का प्रचलन स्वत' डॉ० अल्तेकर की धारणा *(Theory) को ही भ्रान्त सिद्ध कर देता है। फिर क्यो न कुमारगुप्त की तरह* वे विक्रमारम्भित सवत् प्रारम्भ से मानते है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जो इतिहासज्ञ मालवगण-स्थिति से गणतत्र का अर्थ लेना चाहते हैं, वे स्वतः 'भ्रम' मे हैं, और दूसरो को भी दिग्भ्रमित कर रहे हैं। यदि 'गण-स्थिति' से उस काल मे गणतत्रीयता मान्य होती तो एक 'राजाधिराज-परमेश्वरोपाधि' से

समलकृत नृपति कदापि उसका प्रयोग न करता। अवश्य ही इस 'गण स्थिति' का अर्थ तब 'मालव-सवत्' का 'गणना क्रम' ही रहा है क्योंकि यशोधर्मन के शिलालेख मे यही स्पष्ट प्रकट भी कर दिया गया है—"कालज्ञानाय-लिखितेषु" (अर्थात् कालज्ञान के लिए लिखा गया है।)

इसके अतिरिक्त डॉ० अल्तेकर आदि इतिहासज्ञ जब यह मान लेते हैं कि दोनो (कृत मालव) नामो से अभिहित होने वाला सवत् ई० सन् पूर्व 57 वर्ष मे ही आरम्भ हुआ है, जिसे दो हजार वर्ष हो गये है, तो इस सीमा तक पहुच जाने के पश्चात् उसे विक्रम द्वारा आरम्भ करने की परम्परा से बद्धमूल चली आने वाली कोटिकण्ठो मे सजीव मान्यता को स्वीकार करने मे क्यो व्यर्थ आपत्ति होनी चाहिए ? "विक्रीतेकरिणिकि मकुशे विवादः ?" मालव और कृत की एकता तथा उसके उद्गम (आरम्भ) के द्विसहस्राब्दी काल को स्वीकृत कर लेने के पश्चात् 'कृत' के साथ मालव शब्द का योग कब, किन कारणो से हुआ, इसका अनुसधान प्रादेशिक परिवर्तन काल के इतिहासानुसधान के श्रम-साध्य प्रयत्न पर अवलबित रह जायगा, जिसका निर्णय इस प्रदेश का रत्न-गर्भ भू-गर्भ ही कालातर मे कर सकेगा।

आरम्भिक 'कृत' कालगणना मे, गणतन्त्रीय मालवो के विजय-सूचक सवत् ने अपना सम्बन्ध जुडा लिया होगा, इस मान्यता की निरर्थकता दो प्रकार से हो जाती है। पहले तो 'कृत' शब्द चैत्रादि काल गणना मे जुडकर कार्तिकादि वर्षारम्भ का सूचक बना ही, जिसे 'कृत' मानववाची मानना तो सर्वथा डॉ० अल्तेकर जी का भ्रम है। जबकि सूर्य सिद्धान्तकार स्वत 'कृत-काल के थोडे बाकी' रह जाने का उल्लेख करता है।(यथा—अल्पावशिष्टे तु कृत) इससे स्पष्ट होता है कि यह कृत कोई व्यक्तिवाची नही किन्तु एक मर्यादा का द्योतक है। जिसकी वर्ष समाप्ति का थोडा काल शेष रह गया था, अतएव यह कार्तिकादि काल का ही द्योतक है, और इसके साथ जो 'मालवगणाम्नाते' शब्द भ्रम उत्पन्न करता है कि वह 'मालव गणो के काल का सूचक' शब्द है, यह केवल अर्थ भ्रम के ही कारण है। उसमे हम प्रा० शाम्बवणेकरजी से सहमत हैं कि वह 'गणाम्नात' मालवी गणना काल का ही पर्यायवाची है—'गणतन्त्र' का नही। "गणस्तु गणाना नाम स्यात्' की कोश परिभाषा ही उचित है। काल्पनिक 'गणतन्त्रीय'—अर्थ से भ्रम के प्रसार की आवश्यकता नही। इस प्रकार कार्तिकादि (कृत) मालव-गणना के (मालवगणाम्नात) सवत् ई० पू० के 2,000 से अधिक वर्ष पूर्ण हो जाते हैं।

अब यदि मालव और कृत के प्रयोग से अकित शिलालेखो मे विक्रम का नाम-निर्देश नही हुआ हो तो आशकित होने की आवश्यकता प्रतीत नही होती। आरम्भिक 'कृत' काल-गणना से लेकर 8वी, 9वी शताब्दी जो अनेक परिवर्तन

मालव भूमि पर हुए हैं, विक्रम के सिवा उनका भी तो वही सवत् के साथ सबध नही है और आश्चर्य तो तब होता जब स्वत चतुर्थ-पचम शताब्दी के प्रबल गुप्त साम्राज्य के प्रोज्ज्वल प्रताप-काल का भी कृत मालव के साथ कोई ससर्ग नही हो पाता है । जब द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही आदि विक्रम है तो उनका कृतादि मालवादि काल-गणना पर 8-9 शताब्दी तक प्रभाव क्यो नही पडता ? तब भी वह 2-3 सौ वर्ष पर्यन्त आगे भी मालव सवत् की सज्ञा से ही सबोधित होता रहना है। इतना ही नही किन्तु कोटा के 795 वाले शिलालेख मे गुप्तो का प्रभुत्व रहते हुए भी 'मालवेशानाम्' के नाम से ही 'मालवेश' का सवत् सूचित किया गया है । इससे स्पष्ट है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त मालवाधिपति रहते हुए भी जिस प्रकार सवत् अपने प्रादेशिक व्यापक नाम से अभिहित होता रहता है, ठीक उसी प्रकार चन्द्रगुप्त के पूर्वकाल और आदि विक्रम के समय भी वह उसी प्रादेशिक प्रतिष्ठा से प्रबोधित होता रहा है । प्रथम शती की 'हाल' कृत गाथासप्तशती म 'विक्रम' की दानशूरता का उल्लेख हुआ है, वह सर्वथा सुसगत है । साथ ही वह कृत मालवादि काल-गणना के समय मे ही विक्रम के अस्तित्व को प्रमाणित करता है और वह समकालीनता के कारण निर्विवाद है । उक्त उदाहरण से इसी बात की अधिक पुष्टि होती है कि चन्द्रगुप्त को ही आदि विक्रम माना जाये तब भी सवत् को बहुत काल तक विक्रम' का पद प्राप्त नही हो पाता है । तो पूर्ववर्ती विक्रम के नाम का सवत् मे समावेश न हो तो वही आशका का विषय बनाया जाना तर्कसगत नही कहा जा सकता । जा स्थिति चतुर्थ-पचम शताब्दी की हो सकती है वह पूर्ववर्ती काल की भी होना स्वाभाविक है । कृत और मालव सवत् के प्रचलन काल म अवश्य ही यह आवश्यकता प्रतीत नही होगी कि उसके साथ विश्व-विदित विक्रम का नाम जाडा जाए । शकोन्मूलन क पुण्य-पराक्रम स मालव-मही कोई नही, दश को मुक्त स्वतन्त्र बना देन के कारण सारे देश म कृत (कर्म या कार्तिकादि) या मालवादि सज्ञापित सवत् ही विक्रम-बोधक रहा होगा । किन्तु जिस प्रकार दो हजार वर्ष के सुदीर्घ-काल के बाद भी विक्रम की चली आन वाली अत्यन्त लोकप्रियता के कारण दशभर म यत्र-तत्र उसक नाम के साथ अनक स्थानो पर अकित कर जनता के सम्मान समादर व्यक्त करन की चेष्टा की है, कोई आश्चर्य नही कि आठवी नवी शती म जिन दो शिलाओ पर विक्रमाकित सवत् का उल्लख मिला है, वह भी उसी प्रकार विक्रम प्रियता स प्रेरित होकर किया गया हो । इसके पूर्व इसकी आवश्यकता भी विदित न हुई हो, पर अभी यह भी कौन कह सकता है कि विक्रम के पश्चात पृथ्वी के गर्भ स सभी शिलालेख मिल गए हैं । यह भी सम्भव है कि विक्रम क पश्चात दशपुर के यशोधर्मन के पहल जिन शक हूणा न मालव मही को पुन आनमित कर लिया था, उन्होने अपने प्रथम वशाच्छेदक

विक्रम के समस्त चिह्नों और स्मृतियों को यहा से चुन-चुनकर नष्ट किया हो। फिर चाहे यशोधर्मन ने उन्हें पुन: भारत से ही क्यों न भगा दिया हो, अनेक इतिहासज्ञ तो यह भी स्वीकार करते हैं कि महाकाल मन्दिर मे विक्रम की सुवर्ण प्रतिमा थी, वह मुगल काल मे नष्ट हुई है।

रही 'मुद्रा' की प्राप्ति, सो चन्द्रगुप्त की विक्रमांकित मुद्रा यदि कुछ काल पूर्व ही मिली है और उस पर विक्रमोल्लेख मिल गया है तो अभी भारत का समस्त भू गर्भ सशोधन नहीं हो गया कि अन्य प्रमाण प्राप्त न होंगे। 50 (अब 52) वर्ष चन्द्रगुप्त की मुद्रा हो मिले हुए हैं। तभी से स्मिथ ने हमे भ्रमित किया है और उस भ्रम की बालुका पर हमारा विक्रम चन्द्रगुप्त की उपाधि मे प्रतिष्ठित होकर बौद्धिक गति की सीमा स्वरूप बन बैठा है किन्तु कुछ ही वर्ष के पहले भारत मे यह भी ज्ञात था कि चन्द्रगुप्त का जनक समुद्रगुप्त भी 'विक्रम' था। चतुर्थ शताब्दी के इस ऐतिहासिक अन्धकार पर भी कितनी शताब्दियो के पश्चात् आज प्रकाश किरण पडी है, किसे ज्ञात है कि आगे चलकर प्रथम विक्रमादित्य का भी कोई चिह्न हस्तगत (प्रकट) हो जाए। मालव मही के अनन्तोज्ज्वल इतिहास पर न जाने कितने रजकण सम्पुट पडे हुए हैं। उन स्तरो को खोलकर किस 'प्रज्ञा' ने अन्तर की सुविस्तृत प्रकाश-राशि को निहारने का प्रयत्न किया है ?

'कृत' सवत् के विषय में तो ज्ञान विमलोपाध्याय ने बहुत पूर्व कृति का विक्रम सवत् होना स्वीकार किया है। यथा—

"श्री मद्विक्रमनृपतो नि क्रान्तेतीवकृतवर्षे"

(पी॰ पी॰ 2 128)

अर्थात् 'विक्रम नृपति से लेकर कृत वर्षों के अतिव्यतीत हो जाने पर' इसमे विक्रम और कृत की अभिन्नता उस काल मे परिगणित थी, यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है, इस विषय पर पर्याप्त चर्चा हो चुकी है।

आज सभी इतिहासज्ञो का मतव्य है कि महाकवि एव नाटककार भास प्रथम शती से भी कला का यहा प्रबल भाव था स्वत महाकवि कालिदास ने भास को अपना पूर्ववर्ती मानकर (मालविकाग्नि मित्र) म उसका उल्लेख किया है। चाहे वह शुगकालीन हो, या पश्चात् कालीन, परन्तु इतना स्पष्ट है कि वह ईसवी सन् के पूर्व प्रथम शतक का है। कालिदास को भास से पूर्ववर्ती तो किसी प्रकार माना ही नहीं जा सकता किन्तु कुछ लोगो के मतानुसार पाचवी छठी शती का मानने म यह बाधा आती है कि मन्दसौर के इससे पूर्व कालीन (ई॰ स॰ 473 के) शिलालेख म कालिदास की प्रचुर कल्पनाओ के प्रयोग मिलते हैं अस्तु, भास की कला और प्रयोगों से भी कालिदास की कला म विशेप विकास हुआ है। भास के उपलब्ध नाटको मे स्पष्ट रूप से शुग या विक्रमकालीन किसी भी

घटना की छाया नही मिलती है। वह प्रद्योत, उदयन, वासवदत्ता की चर्चा तक ही अपने को सीमित रखता है। इतना तो विशद है कि भास को मालव भूमि का अधिक से अधिक परिचय है इसलिए यह तो सम्भव नही कि वह मालव की वासवदत्ता जैसी तत्काल घटी हुई महत्त्वपूर्ण घटना से अज्ञात रहता।

भास के एक नाटक मे—जो शायद उसका पश्चात् कालीन (वार्द्धक्य-विनिर्मित) हो, मालव के एक ऐसे राजा का वर्णन है, जो समस्त पृथ्वी का एकच्छत्र शासक था। निश्चय ही यह पुष्यमित्र अग्निमित्र तो हो नही सकता। भास ने परचक्राक्रमण की भी चर्चा की है और अपने वर्णित राजा को 'दिग्विजयी' भी सूचित किया है। उस राजा का नाम उसने राजसिंह बतलाया है। यथा—

'इमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्य कुण्डलां,
महीमेकातपत्रांकां राजसिंहः प्रशास्तु नः।'

इस श्लोक के अनुसार समस्त सागर पर्यन्त और हिमालय से लेकर विन्ध्य पर्वत से आवृत्त एकातपत्र मही का शासक राजसिंह था। इसी प्रकार एक जगह अन्यत्र भी 'इमामपि मही कृत्स्ना राजसिह' प्रशास्तु नः' कहकर जिस राजसिंह की साम्राज्य सत्ता प्रकट की है वह यदि भास की दृष्टि मे अपने वार्द्धक्य मे विक्रम ही हो तो आश्चर्य नही, क्योकि शुगो का इतना बडा प्रभाव तो नही रहा है और मालव-भूमि पर इस समय ऐसा कौन-सा राजा पराक्रमशील हो सकता है? और यह राजसिंह किसका नाम होना चाहिए। भास की कालिदासीय स्पर्धा तो पूर्ववर्ती और सम सामयिकता की ही द्योतक हो सकती है।

जब यह राजसिंह शब्द भी 3-4 शतियो के पश्चात् द्वितीय चन्द्रगुप्त को अपने नाम के साथ लगाते हुए पाते हैं तो हमारा सन्देह और भी पुष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार चन्द्रगुप्त अपने नाम को विक्रमादित्य की उपाधि से अलकृत कर लेता है, ठीक उसी प्रकार वह राजसिंह भी धारण कर लेता है। सम्भवत. यह दोनो नाम चन्द्रगुप्त ने प्रबल प्रतापशाली एकच्छत्र मालवीय सम्राट विक्रमादित्य के ही लगाए हो। जो लोग चन्द्रगुप्त को प्रथम विक्रमादित्य ही मानने का दुराग्रह करते है वे देख सकते हैं कि चन्द्रगुप्त ने न केवल विक्रमोपाधि धारण की है किन्तु भास-कथित हिमालय से विन्ध्य पर्यन्त और समुद्र पर्यन्त पृथ्वी के शासक राजसिंह का नाम भी अपने नाम से जुडाकर उपाधि लगाने का मोह प्रकट कर दिया है। चन्द्रगुप्त द्वितीय की मुद्रा पर स्पष्ट अकित है 'जयत्यजेयो भुवि सिंह विक्रमः' और स्कदगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त ने भी अपनी मुद्रा पर—'कुमारगुप्तो युधि सिंह विक्रम' अकित करवाया है। यह सिंह विक्रम और राजसिंह कोई अन्य नही, यही विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त रहे हैं, इसका पीछे भी अन्य ग्रन्थो मे उल्लेख हुआ है। यथा 'श्रीमद्विक्रमनगरे राजपक्षी-राजसिंह नृप राज्ये'

(पी० पी० 2 128) इसी प्रकार दमयन्ती चम्पूवृत्ति (15वी शती) मे भी आया है—(श्री विक्रम वशोदभव सद्विक्रम राजसिंह नृप राज्ये)।

उपर्युक्त उद्धरणो से यह प्रकट हो जाता है कि सिंहविक्रम और राजसिंह नाम अथवा उपाधि सभी एक ही हैं और इनका प्रयोग चन्द्रगुप्त ने सानुराग कर लिया है। ज्ञानविमलोपाध्याय और दमयन्तीचम्पूवृत्तिकार ने 'विक्रम नगरेराजन श्री राजसिंह नृपराज्ये' और 'विक्रमवशोद्भव विक्रम राजसिंह नृप राज्ये' मे जिस विक्रम का उल्लेख किया है वह चन्द्रगुप्त द्वितीय ही होना चाहिए और यह विक्रम 'वशोद्भव' होना चाहिए। दमयन्ती वृत्तिकार विक्रमोपाधियुक्त था अतएव वही विक्रमवशोद्भव हो सकता है और 'भास' के एकातपत्र राजसिंह को भी अपने नाम के साथ अपना लेने के कारण उसकी उपाधिप्रिय प्रवृत्ति को भी पोषण मिलता है। जिस प्रकार चन्द्रगुप्त 'भास' के राजसिंह को अपने मे आत्मवत् कर लेता है, उसी प्रकार तत्पूर्व कालीन विक्रमादित्य का भी सम्मान वह अपने नाम मे जुडाकर आत्म-परितोष कर लेता है किन्तु यही स्मिथ प्रभृति आधुनिक विद्वानो के लिए भीषण भ्रम का कारण बन बैठता है।

किंतु विद्वानो का एक बडा दल विशेष प्रथम विक्रमादित्य के परिचय चिह्नादिक के अभाव मे भी आज जगत् मे उसका स्वतन्त्र अस्तित्व मान्य करता है, और द्वितीय चन्द्रगुप्त के स्वय विक्रम पद धारण कर लेने पर भी अविश्वास और आशकाए प्रादुर्भूत होती रहती हैं इतिहासविदो को चन्द्रगुप्त की प्राप्त मुद्राए उपाधियो ने भी विश्वस्त नही बनाया है वे चन्द्रगुप्त को ही 'विक्रमादित्य' नही मान लेना चाहते। इस नाम को अतिश्रमशील सशोधन भी ऐतिहासिकता का उचित अश प्रदान नही कर सकता है। विवश होकर सहजोपलब्ध बुद्धि से अपनी रथ गति का पथ स्मिथ की भ्रात धारणा को, जो धारणा के तट पर ही इति कर बैठना है परन्तु उपाधिधारी चन्द्रगुप्त द्वितीय चन्द्रगुप्त को जो धारणा विक्रम बनाती चली आ रही थी, वह आज इतिहास जग के समक्ष लगभग महत्वहीन सिद्ध हो चुकी है। कोई भी आज केवल चन्द्रगुप्त को ही विक्रमादित्य स्वीकार करने को तैयार नही है और द्विसहस्राब्दी के देश व्यापी ओजस्वी स्वर ने यह और भी सयुक्तवाणी मे घोषित कर दिया है। ई० सन् 57 वर्ष पूर्व जिस विक्रमादित्य ने अमर-सवत् की स्थापना की है, वही जगत् की वन्दनीय विभूति विक्रमादित्य है।

कृत और मालव सवत् के प्रयोग काल मे देश मे अनेक उत्थान-पतन हुए। शासनो मे महान परिवर्तन भी हुए, गुप्त साम्राज्य की नीव भी सुदृढ बनी, परन्तु काल-गणना की लोकप्रियता ने 'विक्रम सवत्' को छोड, किसी अन्य को न केवल उसी समय, किन्तु दो हजार वर्ष बीत जान पर भी यह सम्मान स्मृति स्थान अर्पित नही किया। चन्द्रगुप्त को उसके अस्तित्व काल मे भी और शता-

ब्दियो तक 'मालव सवत्' काल गणना को स्वीकृत करते रहना पडा, उसका नाम प्रत्यक्ष मे भी सवत् से नही जुडा है। चन्द्रगुप्त ने कही अपना नाम केवल 'विक्रम' या 'विक्रमादित्य' अकित नही करवाया है। वह 'चन्द्रगुप्त' ही बना रहा है, चाहे इस नाम के साथ विक्रम जुडा हो। तब केवल 'विक्रम सवत्' की *सज्ञा से चिरकाल से बोधित होने वाला सवत् 'चन्द्रगुप्त' का क्यो माना या* बनाया जाए ?

हमारी लोककथा और जन-श्रुतियो को भी उपेक्षित नही किया जाना चाहिए। उसका आदि स्रोत खोजने का यत्न किया जाएगा तो हमे ठेठ सृष्टि-काल पर्यन्त जाना पडेगा। मानवीय इतिहास के अलिखित प्रथमाध्याय मे भी जन-श्रुतियो का अस्तित्व उपलब्ध होगा। लोक-कथाए केवल गुण-गाथा ही नही, जन-जीवन की श्रुत-स्मृतिया हैं हमारे पूर्वजो की परम्परा इतिहास और हमारी मानव जाति की *आद्य गाथा है। विश्व के काव्य, साहित्य की जननी है।* लोक-जीवन के विकास के साथ-साथ ही इनकी व्यापकता है। भूत और वर्तमान को वहन कर इन्ही ने अमरता प्रदान की है। इन्द्र और वृत्र की ऋग्वेद कथा, उर्वशी और पुरूरवा की गाथा, शुन शेप और हरिश्चन्द्र की महत्ता की तरह कोटि-कोटि जनवाणी ने विक्रम को भी प्रत्येक मानव हृदय मे अमर सिंहासन पर समासीन कर दिया है। अनुश्रुतियो की उपेक्षा आत्म प्रवचना ही है। अतएव जनता जिस विक्रमादित्य को अनेक अनुश्रुतियों के रूप मे सादर हृदय में समासीन किए हुए सहस्राब्दियो से चली आ रही है, वही प्रथम विक्रमादित्य है और सवत् उसी का पवित्र नाम धारण कर अद्यावधि स्मृति चक्र-वहन किए जा रहा है।

नि संदेह अनेक *उत्थान-पतनो के बीच से गुजरकर अचल-हिमालय की* तरह स्थिर रहने वाला यह सवत् हमारे राष्ट्र की चिर-सचित निधि और महान धारणा की स्मृति ही है, राष्ट्र का गौरव है। कीलहार्न प्रभृति विदेशी विद्वाना के विषय मे तो लेखनी को श्रम देना ही व्यर्थ है, क्योंकि वे विक्रम के अस्तित्व से ही मुह मोडते हैं और 'सवत्' को 'शरदाक्रमण' का प्रतीक मानते हैं।

स्व० डॉ० जायसवाल जी की मान्यता जैन-ग्रन्थो के वैयथक-विश्वास पर निर्भर रही है। उनका शातकर्णि कदापि विक्रम नही रहा है और न कही उसके *इस उपाधि धारण करने का कोई प्रमाण ही उपलब्ध है। परन्तु मिथ की* तरह इस धारणा का भी अनुकरणप्रिय सम्प्रदाय ने प्रचार किया है। यह सवत् के आरम्भ काल म न तो उत्पन्न हुआ है, न इस देश म इतनी लोकप्रियता का अधिकारी ही है।

विक्रम के विषय मे विद्वानो मे भले ही भ्रान्त धारणाओ ने स्थान ग्रहण किया हो, किन्तु विश्व के इतिहास और साहित्य मे विक्रम के पवित्र नाम, न्याय-

परायणता, उदारता, लोकप्रियता, परदु भजनता आदि के विपुल विवरण भरे पड़े हैं। यही उसके अस्तित्व और अपूर्व लोकप्रियता के प्रत्यक्ष प्रमाण है।

पुरातन सस्कृत साहित्य से लेकर प्राकृत, पैशाची, अपभ्रश, साहित्य मे तथा विदेशी यात्रियो के विभिन्न विवरणो मे—यथा अलबेरूनी आदि के—कही भी 'विक्रम' को शताब्दियो पूर्व भी अन्य नामातर से सयुक्त-उपाधि रूपेण, अन्य प्रकार से प्रतिपादित नही किया गया है। यूनानी, अरबी साहित्येतिहास मे भी विक्रम को केवल 'विक्रमादित्य' ही मान्य किया गया है। ये ऐसे प्रबल प्रमाण हैं कि इनमे सदेह आरोपित करके चन्द्रगुप्त को या किसी और की यह सज्ञा 'उधार' देने की आवश्यकता नहीं है।

'हाल' ने अपनी गाथा मे जिस विक्रमादित्य की दानशीलता (चरणेन विक्रमादित्य चरितमनुशिक्षित तस्या) वर्णित की है, गुणाढ्य ने जिसे 'आक्रमिप्यति सद्वीपा पृथ्वी विक्रमेण यः 'विक्रमादित्य सज्ञक' तथा परिमल ने जिसे 'ददर्श यस्यापदमिन्द्रकल्पः श्री विक्रमादित्य इति क्षितीशः' कहकर ससम्मान अपने साहित्य मे प्रतिष्ठित किया है तथा 'बाण' के पूर्ववर्ती कविराज सुबन्धु ने जिस विक्रमादित्य के ससार से उठ जाने पर महान शोक प्रदर्शित किया है (सरसीव-कीर्तिशेष गतवतिभुवि विक्रमादित्ये) वही महान्-विक्रमादित्य हमारा अभीप्सित है और उसी विश्व प्रसिद्ध उज्जयिनीनाथ, जन-हृदयासीन विक्रमादित्य ने यह स्मरणीय सवत् ई० सन् के 57 वर्ष पूर्व आरभ किया है। जो लोग विक्रम को केवल चन्द्रगुप्त तक ही ले जाकर विश्रान्ति ले लेते हैं वे कविवर 'हाल' की गाथा की जान बूझकर उपेक्षापूर्ण अवहेलना करते हैं और गुणाढ्य के दो विक्रम होने की जानकारी को भुलाकर अपनी आत्म प्रवचना कर बैठते हैं। हजार वर्ष के पूर्व का गुणाढ्य भी चन्द्रगुप्त के अतिरिक्त उज्जैन के एक स्वतन्त्र शकारि, सम्राट विक्रम के अस्तित्व को मुक्त कठ से स्वीकार कर रहा है। जैन ग्रन्थो की तो परम्परा सी है जो प्रथम शती मे विक्रम को स्मरण करती है। यहा तक कि एक पुस्तक मे तो विक्रम सवत् का भी उल्लेख किया गया है। कालिदास ने शाकुन्तल मे 'विक्रमादित्य अभिरूप भूयिष्ठा परिषद' जिसके लिए कहा है, यह चन्द्रगुप्त नही आदि विक्रमादित्य है।

स्व० सी० व्ही० वैद्य महोदय ने कालिदास को विक्रम का सम-सामयिक माना है। रघुवश के पाण्ड्यो के वर्णन से उन्होने यही मत स्थिर किया है कि ईसा पूर्व 53 वर्ष (पाण्ड्यकाल म) कालिदास का अस्तित्व था। अभिनन्दन कवि ने अपने श्लोक म यह उल्लेख किया है कि—'कीर्तिकामपि कालिदास कवयो नीता शकारातिना' इसमे कालिदास की कृति की ख्याति शकाराति (शक विजयी विक्रम) की की गई है, इसकी सगति वास्तविक ही है।

स्व० वैद्यजी ने अनेक प्राच्य और पौर्वात्य सशोधकों के मतो का प्रबल

प्रमाणो द्वारा खण्डन करके यही सिद्धात प्रतिपादित किया है कि चन्द्रगुप्त या यशोधर्मन को सच्चा विक्रमादित्य बना देने के प्रयत्न की कोई आवश्यकता नही है। वास्तविक विक्रम ई० सन पूर्व 57 वर्ष मे ही हुआ है। उसी ने शको को पराजित करके भारत मे सार्वभौम सत्ता की स्थापना की थी। डॉ० कीलहार्न के इस तर्क का कि सवत् आरम्भ होने मे पूर्व किसी घटना, वृत्त या व्यक्ति के कारण भूत बनने की आवश्यकता होती है। उत्तर देते हुए वैद्यजी ने उन्ही से यह प्रश्न किया था कि — फिर यह मालव-सवत् किसने उत्पन्न किया ?' आज भी इतिहास-वेत्ताओ से यही प्रश्न उत्तर की आकाक्षा लिये है कि किस महान् घटना, कारण या व्यक्ति ने ई० सन् के 57 वर्ष पूर्व इस मालव काल-गणना को प्रचलित किया है ?

अवश्य ही मालवो के अतुल पराक्रम के कारण यह प्रकट हुआ होगा और यह 'सवत्' आरम्भ करने जैसी महत्त्वपूर्ण घटना शक-विजय ही हो सकती है। 'स्मिथ' की मान्यता के अनुसार भी प्रथम शती के पूर्व काल म भारत म शको की टोली आ गई थी। इसमे यह धारणा पुष्ट होती है कि ई० सन् 60 क निकटवर्ती अवतरित हाल राजा ने जिस विक्रमादित्य का वर्णन किया है वही ई० सन् 57 वर्ष मे सवत् प्रवर्तक होना चाहिए। यदि तत्कालीन लखो म विक्रम का नाम अकित नही है, तो यशोधर्मन, चन्द्रगुप्त, स्कदगुप्त आदि के काल म अकित शिलाओ मे भी तो उसी मालव सवत् का प्रयोग है। यही छठी सती तक अन्यान्य विक्रमोपाधिधारियो के लिए भी प्रयुक्त है।

पहले कहा जा चुका है कि स्मिथ ने शको की पहली टोली का भारत मे ई० *सन् के पूर्व मे आना स्वीकार किया है, तो प्रश्न यह उठता है कि फिर* इस टोली को भगाया किसने और कब ? अलबेरूनी ने लिखा है कि 'शकारि विक्रमादित्य ने कोरू (मुल्तान) मे शका का पराभव किया।' तो क्या इस पहली सदी की शक टोली का विजेता विक्रम वही नही है, जो सवत् प्रवत्तक है ? स्व० डॉ० जायसवाल इस विजय का श्रेय गौतमीपुत्र शातकर्णि को देना चाहते हैं और इसे ही प्रथम विक्रमादित्य मान लेना चाहते है। डा० जायसवाल इतने अश तक तो सहमत हैं कि शक टोली इस समय भारत म आयी थी और उसका उच्छेद किसी विक्रम ने किया था। पर हमारा नम्र मतभेद उनसे यही है कि शक-विजेता शातकर्णि न होकर प्रथम विक्रमादित्य वास्तविक ही था। राजशेखर की मान्यता म सातवाहन, सालवाहन, शातकर्णि एक ही नाम के विभिन्न पर्याय हैं। इसी को लक्ष्य करके जो पद्य लिखा गया है— अतीत *विक्रमादित्ये गतेस्त सातवाहने' वह विक्रमादित्य के सातवाहन की भिन्नता* स्पष्ट प्रमाणित करता है। हम तो इतना ही समाधान है कि ई० सन् 57 वर्ष पूर्व का विक्रमादित्य ऐतिहासिक पुरुष है।

विचित्र घटना-क्रम है कि इस देश के विद्वान ही विक्रम के विषय मे भ्रम का प्रचार कर रहे हैं और स्वत भ्रमित हो रहे है। परन्तु अतीतोज्ज्वल काल मे उज्जयिनी के विक्रम की साहित्यिक-सास्कृतिक श्री सुरभि ने समस्त जग को मुग्ध-मधुलुब्ध मधुप की तरह समाकर्षित कर रखा था। हजरत मुहम्मद (सन् 622 वर्ष पूर्व) से लगभग 23-24 सौ वर्ष पूर्व (अर्थात इस्लाम के बहुत पूर्व) अरब के कवियो ने मक्का मन्दिर मे अपनी कविता का पाठ किया था और सर्वश्रेष्ठ स्थानीय कविताए सुवर्णपात्रो पर अकित कर उसी पवित्र स्थान मे सुरक्षित रख दी जाती थी। 13-14 सौ वर्ष पूर्व मक्का पर इस्लामी आक्रमण के अवसर पर ये नष्ट कर दी गई थी। परन्तु हजरत मुहम्मद का समकालीन सहयोगी कवि हसन विनसाविक उनमे से कुछ बचाकर उठा लाया था। सुप्रसिद्ध खलीफा हारू रशीद के काल मे हसन बिन साविक का एक वशज मदीने से बगदाद जाकर हजारो मुद्राओ मे उन्हे बेच आया था। उनमे हजरत मुहम्मद से 165 वर्ष पूर्व के जरहम बिनतोई की कविता भी थी जो उक्त सम्मेलन मे तीन बार सर्वप्रथम पुरस्कृत थी एव सुवर्ण-पत्र ाकित कविता मे सम्राट विक्रमादित्य को ही अपनी काव्य-सुमनाजलि समर्पित की थी। उसने विक्रम के शासन-काल मे समुत्पन्न मानवो को परम सौभाग्यशाली मानते हुए अरब की तत्कालीन सामाजिक अध पतितावस्था का उल्लेख भी किया है।[1]

1. इत्र शफ्फाई सनतुल 'बिकरमतु' न
   फहलमीन करीमुन यर्तफीहा वयोवस्सम्
   विहिल्ला हाय यर्माीन एला मोत कब्बे नरन
   विहिल्लाहा मूही कँदमिन होया य फखरू
   फज्जल असारी नहनोओ सारिमवे जे हलीन
   युरिदुन विआ बिन कजनबिनयखतरू
   यह सब दुन्या कनातेफ नातेफी विजेहलीन
   अतदरी बिलला ममीरतुन फकफे तसबहु
   कउन्नी एजा माजकर लहदा वलहदा
   अशमीमान बुरक्न कद तोलु हो बतस्तरू
   विहिल्लाहा यकजी बेनेनावले कुल्ले अमरेना
   फहेया जाउना विल अमरे विकरमतुन,

(सैअरुल ओकूल, पेज 315)

अर्थात् वे लोग धन्य हैं, जो राजा विक्रम के समय उत्पन्न हुए, जो बड़ा ज्ञानी, धर्मात्मा और प्रजापालक था। ऐसे समय हमारा अरब ईश्वर को भूल अवश्य ही यह प्रबल-पुण्य-प्रताप-पुन्ज सम्राट-[illegible] प्रदत्त है है।

अरब शासक भोग-विलास मे लिप्त था, छल-कपट को ही लोगो ने बड़ा गुण मान लिया था। हमारे तमाम देश (अरब) मे अविद्या का अधकार फैला हुआ था, जैसे बकरी का बच्चा भेडिए के पजे मे फसकर छटपटाता है, छूट नही सकता, हमारी जाति मूर्खता क पजे म फसी हुई थी। ससार के व्यवहार को अविद्या के कारण हम भूल चुके थे। सारे देश म अमावस्या की रात्रि का अधकार फैला हुआ था। परन्तु अब जो विद्या का प्रातःकालीन सुखदायी प्रकाश दिखलाई देता है, वह उसी धर्मात्मा राजा विक्रमादित्य की कथा है जिसम हम विदेशियो को भी अपनी दया-दृष्टि से शिथिल कर अपनी जाति के विद्वानो को यहा भेजा, जो हमारे देश मे सूर्य की तरह चमकते थे। जिन महापुरुषो की कृपा से हमने भुलाए हुए ईश्वर, और उसके पवित्र ज्ञान को जाना और हम सत्यपथ पर आये, वे लोग राजा विक्रम की आज्ञा से हमारे देश मे विद्या और धर्म के प्रचार के लिए आए थे।

ब्रह्माण्ड-पुराण मे—

"सप्तषष्टिच वर्षाणि, दशाभीरास्ततो नृपा ।
सप्त गर्दभिनश्चैव मोक्ष्यन्तीमा द्विसप्ततीम् ॥
(म० भा० उपा० पा० 3, अ० 37)

इसी प्रकार वायु-पुराण म—

सप्तैं वतु भविष्यति दशाभीरास्ततो नृपा ।
सप्त गर्दभिनश्चापि ततोथ दश वंशका ॥ (उ० अ० 37)

जैन काल-गणना क्रम के अनुसार विक्रम-सवत् का आरम्भ महावीर निर्वाण से 470 वर्ष पश्चात्, अर्थात् वही ई० सन क 57 वष पूव से ही होता है जैन श्वेताम्बरीय साहित्य म विक्रमादित्य पर जितना अधिक लिखा गया है, उतनाअन्य किसी साहित्य म उपलब्ध नही है। दिगम्बरीय ग्रन्थो मे भी उल्लेख है, किन्तु उतना नही, अत्यल्प है। शक एव विक्रम सवत् का जैसा अतर है, उसी प्रकार दानो समुदायो की उक्त काल गणना मे है। श्वेताम्बरीया के मत मे महावीर निर्वाण स विक्रमाब्द का आरम्भ 470 वर्ष बाद होता है तो दिगम्बरीय मतानुरूप 605 मे है। इस अन्तर की सगति विक्रम और शक सवत्-गणना स क्रमश लग जाती है। हा, जैन ग्रथ सभी विक्रम सवतारभ की घटना मे गदभिल्ल-वश का प्रमुख सम्बन्ध जुडाते हैं। इस विषय मे वे एकमत हैं। पुराणो म जिस 'गदभिल्ल वश' का वर्णन आया है, उसी से जैनो की परम्परा सम्बद्ध हो जाती है। मत्स्य-पुराण मे सन्तैवाध्रा भविष्यन्ति दशाभीरास्तथा नृपा । सप्तव गर्दभिरलाश्च शकाश्चाष्टादशैवतु" (अ० 273, पृ० 296) के अनुसार 7 आध्र, 10 आभीर, 7 गर्दभिल्ल और 18 शक राजा के होने का उल्लेख है।

जैन ग्रंथ 'तिथ्योगाली' मे गर्दभिल्ल वंशियो का शासनकाल 100 वर्ष लिखा है। तब 'मेरुतुंग' ने गर्दभिल्ल 17, विक्रमादित्य 50, धर्मादित्य 40, भाईल्ल 11, नाईल्ल नाहड 10 इस प्रकार गर्दभिल्ल आदि 6 पुरुषो मे 152 वर्ष का समावेश कर दिया है। किन्तु यह अधिक हो जाता है, ऐसी स्थिति म प्रसिद्ध वीर निर्वाण और जैन कालगणना के समीक्षक पण्डित मुनि कल्याण विजयश्री का यह अभिमत है कि 'विक्रमादित्य' और धर्मादित्य, बलमित्र एव नभ सेन से भिन्न नही है। विक्रमादित्य और धर्मादित्य का राजत्व-काल मेरुतुग क्रमश 60 और 40 वर्ष मानते हैं, तब अनुक्रम से बलमित्र और नभ सेन ने भी 60 और 40 वर्ष राज्य किया है। मेरुतुग विक्रमादित्य को गर्दभिल्ल का पुत्र लिखते हैं। (तदनु गर्दभिल्लस्वैव सुतेन विक्रमादित्येन राज्ञो-ज्जयिन्या राज्य प्राप्य सुवर्णपुरुष सिद्धिबलात् पृथ्वीमनृणा कुर्वता विक्रमसवत्सर· प्रवर्तित.) इसके अनुसार तो बलमित्र को भी गर्दभिल्ल का पुत्र, या वशज होना चाहिए, क्योकि गर्दभिल्ल के बाद वह उज्जैन मे राज्याधिकार प्राप्त करता है। बलमित्र-भानुमित्र, 12 वर्ष तक उज्जैन का शासन करते हैं और इसके बाद सभवत इन्ही का पुत्र या वशज नभ सेन 40 वर्ष तक उज्जयिनी का राज्य करता है। ये 52 वर्ष गर्दभिल्लो के 100 वर्ष मे जोड दन से 152 वष का गर्दभिल्लो का लेखा भी मिल जाता है। और दर्पण 1, बलमित्र 2, भानुमित्र 3, नभ सेन 4, भाईल्ल 5, नाईल्ल 6, और नाहड 7। इस प्रकार गर्दभिल्लो की पुराणोक्त (सप्त-गदभिल्लाश्चैव) सख्या भी मिल जाती है।

स्पष्ट है कि—"जब सवत्सर की प्रवृत्ति हुई वहा तक जैनो मे महावीर निर्वाण के सबध म कोई मतभेद नही था। परन्तु पूर्ववर्णित 52 वर्ष के इधर-उधर हो जाने के बाद जब "विक्रम राज्याणतर तरस वरसेहि वच्छर पवित्ती" के अनुसार वीर निर्वाण के 470 वष के बाद विक्रम राजा हुआ, और पृथ्वी को उऋण करके राज्य के 13वे वर्ष मे उसने अपना सवत्सर चलाया। इस प्रकार की मान्यता रूढ हो जाने के बाद 13 वर्ष क आधिक्य वाली मान्यता का समर्थन भी किया जाने लगा।

प्रभावक चरित्र के जीवदेव सूरिप्रबन्ध मे प्रभाचन्द्रसूरि ने लिखा है कि जिस समय जीवदेव सूरि वायट नगर मे थे, उस समय विक्रमादित्य अवन्ती म राज्य करता था। सवत्सर प्रवृत्ति के निमित्त पृथ्वी का ऋण चुकाने के लिए राजा ने अपने मन्त्री 'लावा' को वायट भेजा, जहा उसने महावीर मन्दिर का जीर्णोद्धार करवा कर विक्रम-सवत 7 मे जीवदवसूरि के हाथ ध्वज दण्ड प्रतिष्ठा करवाई (मूल श्लोक इस प्रकार है—"इत श्रीविक्रमादित्य शास्त्यवती नराधिप आनृणापृथिवी कुर्वन् प्रावर्तयत वत्सरम्" वायटे प्रपितामात्यो लिबाख्यस्तेन भूभुजा" सवत्सरे प्रवर्ते स षट्पु पूर्वत । गतेपु सप्त मस्यात प्रतिष्ठा।)

इसी प्रकार 'पावापूरी' कल्प म भी जिन प्रभसूरि ने इसी आशय का उल्लेख किया है कि—महावीर निर्वाण के अनन्तर पालक, राजा अवन्ती मे अभिषिक्त हुआ। (युग प्रधान स्तोत्र के पत्र मे भी। ऐसी गाथा है कि—"मह निव्वाण निसाए गोयम पालय निवोअवन्तीए अर्थात् जिस रात को महावीर निर्वाण हुआ उसी दिन अवन्ती म पालक राजा अभिषिक्त हुआ। इसको समर्थन देने वाली एक गाथा "तित्तथ्योगाली मे है—जरयर्णी सिद्धगओ अरहा तीत्यकरोमहावीरो त रयणीमवतीए, अभिसत्तो पालओ राया। नन्द, चन्द्रगुप्त आदि राजाओ के बाद 470 वप पूर्ण होने पर विक्रमादित्य राजा होगा। वह सुवर्ण-पुरुष को सिद्ध करके पृथ्वी को उऋण कर अपना सवत्सर चलायेगा "ततौ विक्रमइचो सो साहिय सुवण्ण परिसों पुहवि अरिणा काउ निय सवच्छर पवतेही।"

इन उल्लेखो से यह ता स्पष्ट झलकता है कि वीर निर्वाण से 470 वर्ष बाद विक्रमादित्य राजा हुआ, और उसके बाद कालान्तर म उसने अपना सवत्सर प्रचलित किया।

माधुरी वाचनावली का मतोल्लख करते हुए जैन—सशोधको ने बतलाया है कि इनके मतानुरूप वीर निर्वाण और विक्रम-सवत्सर का अतर 470 वर्ष का था। इस मान्यता को व्यक्त करत हुए कहते हैं—

विक्रम रज्जारम्भ पूरओ मिरीवीर निब्बुई भणिया सुन्नमुणि वेयजुतो विक्रम कालाउ जिणकालो (यह गाथा मेरुतुग की स्थविरावलि घर्म घोषा की काल सप्ततिका एव प्रकीर्ण गाथापत्रो मे भी अनेक जगह है।)

तात्पर्य यह है कि विक्रम के राज्यारभ के 470 वर्ष पूर्व वीरनिर्वाण हुआ, इसलिए विक्रम काल में 470 वर्ष मिला देने से जिनकाल होगा। इस मान्यता के उत्तर में वालभी वाचानुयायी कहते हैं कि—नही, विक्रम-काल 470 वर्ष नही 483 वर्ष बढाने से जिनकाल आएगा। क्योकि 470 वर्ष का अन्तर भी तो विक्रमादित्य और वीर निर्वाण का है। राज्यारभ के बाद 13 वर्ष में विक्रम सवत् प्रवृत्त हुआ। इसलिए 470 में 13 जोडने मे ही विक्रम सवत् का अन्तर निकलेगा। इसके समर्थन में एक गाथा भी है—

"विक्रम राज्जाणतर दे तेरस्त वासेमु वच्छर पवित्ती"

अर्थात विक्रम के राज्यानतर 13 वर्ष के बाद सवत्सर प्रवृत्ति हुई। इस गाथा का उल्लेख किसी भी मौलिक ग्रथ में नही है। बडोदा के एक भण्डार के प्रकीर्ण पुराण पृष्ठो में देखी है तथा विचार श्रेणी (मेरुतुग) के परिशिष्ट में भी है और वहा यह ग्रथ म स्पष्ट नही लिखा है कि विक्रम राज्य के किस वर्ष में सवत् की प्रवृत्ति हुई थी। परन्तु अनेक लेख यह तो अवश्य कहते हैं कि

निर्वाण से 470 वर्ष मे विक्रम का राज्य प्रारम्भ हुआ और उसके बाद मे सवत्सर प्रचलित हुआ।

चन्द्रगुप्त द्वितीय पर ही अपनी विक्रम धारणा को केन्द्रित कर अनेक इतिहासविदो मे सन्देह को सजग कर देने वाला विसेन्ट स्मिथ अपनी अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया के पृष्ठ 1399 पर लिखता है—"भूमकक्षहरात नामक राजा ने शक वश की स्थापना की थी। सत्रप उनका उपनाम था, यह प्रथम शती के अन्तिम काल मे हुआ था। हिन्दू शको को म्लेच्छ समझते थे, इनमे एक नहपान नामक शक राजा हुआ था। हिन्दू उसके बाद चष्टन नामक राजा या सूबा हुआ था इसकी राजधानी उज्जैन थी। इसके बाद क्रमश' रुदामा और रुद्रसिंह इसी वश मे हुए। इसी रुद्रसिंह पर द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रम ने आक्रमण किया था। यह आक्रमण ई० सन् 400 वर्ष के लगभग हुआ था। इसका अर्थ यह होता है कि उज्जैन पर शको ने दीर्घकाल पर्यन्त शासन किया होगा परन्तु वॉन ग्लासफ अपनी देअर जैनीज ग्रूज पुस्तक मे लिखता है - थोडे समय के बाद ही उन शको का राज्य विक्रमादित्य ने नष्ट कर डाला। यह विक्रमादित्य गर्दभिल्ल राजा का एक पुत्र था। यदि विक्रम गर्दभिल्ल पुत्र ही है तो उज्जैन पर दीर्घ काल तक शको का शासन बना रहना सम्भव नही है क्योकि शको ने ही गर्दभिल्ल का शासन छीना था। उसी का पुत्र यदि शक सहर्ता होता है तो किस प्रकार लम्बे समय तक शक शासन स्थिर रह सकता है मालूम होता है कि विक्रम का इतिहास चन्द्रगुप्त विक्रम मे मिल गया है। शक युद्ध के चन्द्रगुप्त के साथ जुड जाने से भ्रम की सम्भावना हो गई है परन्तु कारूर के शक युद्ध का प्रथम विक्रम से सम्बन्ध होने के कारण भ्रम व्यर्थ है। स्मिथ के अनुसार चन्द्रगुप्त ने सौराष्ट्र के शको को ई० सन् 390 मे परास्त किया।

भविष्य पुराण के प्रतिसर्ग पर्व (ख. 1, अ. 7) मे विक्रमादित्य और उसके माता-पिता के विषय मे निम्नलिखित वर्णन है :—

"सप्तत्रिंशशते वर्षे दशाब्दे चाधिके कलौ ॥7॥
प्रमरो नाम भूपाल' कृत राज्यं च षट्समा:।
महामदस्ततो जात पितुरर्धङ्कृतपदम ॥8॥
देवापिस्तनयस्वरूप पितुस्तुल्य पदं स्मृतम्।
तस्माद् बन्त्रसेनश्च पंचाशब्द भूपदम् ॥9॥
कृत्वाच स्वसुत राज अभिषिच्य वनगत।
शकडेन तत. प्राप्त राज्यं त्रिशत्समा: कृतम् ॥10॥
देवांगना वीरमति शक्रेण प्रेषिता तदा।
गन्धर्वसेन सम्प्राप्य पुत्ररत्नमजीजनत् ॥11॥
पूर्णत्रिश शते वर्षे कलौ प्राप्ते भंयकरे।

शकानाच विनाशाद्येमार्यधर्म विवृद्धय ।
विक्रमादित्यनामान पिता कृत्वा मुमोदह ।"

भविष्पुराण के उक्त श्लोको के अनुसार विक्रम का वश वर्ष और नाम वर्णन इस प्रकार होता है —

विक्रमादित्य : अस्तित्व विषयक भ्रान्तिया और निराकरण : 27

प्रमर	6	वर्ष
महामद	3	,,
देवापि	3	,,
देवादूत	3	,,
गन्धर्वसेन	50	,,
शख	30	,,

विक्रम शासनारभ

श्लोकोक्त "सप्तत्रिशशते वर्षे दशाब्दे" क अनुसार प्रमर (विक्रमवश के आदिम) राजा का जन्म कलि के गत वर्ष 1710 मे हुआ। उसके पश्चात क्रमशः महामद, देवापि, देवदूत और गन्धर्व सेन का शासन हुआ। गन्धर्वसन ने शख को शासक बनाकर वानप्रस्थ ग्रहण किया। किन्तु वही इन्द्रप्रेषित देवागना 'वीरमति' के गर्भ से विक्रमादित्य का जन्म हुआ। शख के पश्चात् इसी विक्रमादित्य ने शको के नाश और आर्यधर्म के समुद्वार के लिए शासन सूत्र ग्रहण किया।

परन्तु श्लोक के आरम्भ मे सप्तत्रिश शतेवर्षे दशाब्द षाधिके कलौ मे 3710 गत कलि म विक्रम के पूर्वज प्रमर का होना सूचित किया है और श्लोकात के "पूर्ण त्रिशशते वर्षे कलौ" मे पूरे 3000 वर्ष कलि-व्यतीत हो जाने पर विक्रम की उत्पत्ति सूचित की है। अर्थात् विक्रम के पूर्वज प्रमर (3710) से भी विक्रम (3000) प्रथम उत्पन्न हो जाता है। उसम स्पष्ट असगति, पाठभ्रम या मुद्रण दोष हो जाना सम्भव है। सम्भवत. 'पूर्ण त्रिशशते' पाठ होगा। इस पाठ से प्रमरोत्पत्ति से लेकर अन्यकाल गणना की भी सगति लग जाती है।

पुराण कथित परम्परा की पुष्टि म विवेचक विद्वान वरदीकर जो ने भी अपने विचार प्रकट किए हैं। उनकी विचारसरणि यह है कि ई० सन् पूर्व 100 के लगभग शको ने अवन्ती और मथुरा पर आक्रमण कर वहा अपना आधिपत्य जमाना प्रारम्भ कर दिया था, इतिहासज्ञ इसे स्वीकार भी करते हैं। शको के पूर्व शुगो का शासन होना भी वहा स्वीकार किया जाता है। शुगो की सत्ता

उक्त प्रातो मे 90 वर्ष तक चलती रही, उनका मुख्य स्थान उज्जैन था। (जायसवाल, पृ० 259) बाद मे शुगो की सत्ता पर प्रमरो का प्रभुत्व हो गया था। उसी वश के देवदूत का सूत गधर्वसेन ही गर्दभिल्ल है। उसी के शासनकाल मे शको का आक्रमण हुआ था। सम्भव है कालकाचार्य ने ही शको को उकसाया हो ? तत्कालीन शको का नेता नहपान भाग, या मार्वस था यह ठीक नही ज्ञात होता। यद्यपि इतिहासकारो ने शक-सेनापतियो के विभिन्न नाम दिए है। तथापि इस विषय मे इतिहासविदो में मतैक्य है कि ई० सन् पूर्व 58 के लगभग कुछ वर्ष तक उज्जयिनी गर्दभिल्ल के हाथ में रही। इसके बाद शीघ्र ही मथुरा पर आक्रमण कर शक राजा मालवे के शासक बन बैठे थे। शक नेता नहपान या भोगा ने मालव पर सत्ता चलाई। किन्तु दूसरी ओर गर्दभिल्लसुत विक्रम (विषय शीला नामक पर) आक्रमण का उद्योग कर रहा था। उसने मालवगणो से सबध स्थापित कर लिया। इस प्रकार ई० सन् 57 वर्ष पूर्व शको पर आक्रमण करके उस पर महान् विजय प्राप्त की और उज्जयिनी को पुन. हस्तगत कर लिया। इस दिव्य-यात्रा का वर्णन 'कथासरित्सागर' ने बहुत रोचक-रूप से किया है। इसी विजय के स्मरणार्थ विक्रम सवत का आरम्भ किया गया है। श्रीकरदीकरजी ने यह भी लिखा है कि भविष्यपुराण कथा की गाथा बहुत अर्वाचीन होने के कारण अविश्वसनीय समझकर छाड देने पर भी वायु, मत्स्य, विष्णु आदि पुराणो मे भी गर्दभिल्ल के राजो के साथ विक्रमादित्य का वर्णन पाया जाता है।

जहा विद्वान करदीकरजी ने अल्तेकर प्रभृति पण्डितों के तर्कों को अकाट्य उत्तर देकर उनकी सिद्धात-साधना को श्लथ-बधन बना दिया है। वहा 'सूर्य सिद्धात' की सगति पर नवीन प्रकाश डालकर विक्रम के काल-ज्ञान में 'कृत' सवत की सुविधा भी सिद्ध कर दी है। जिस सूर्य-सिद्धात का प्रणेता अपने को कृत काल के अल्पावशिष्ट रहने पर 'मय' नाम से प्रज्ञापित करता है। वह मय कोई अभारतीय या 'असुर' से 'पुण्य-जन' नही है। उसके विषय मे तो हमारा यही मत है कि मालव-गणो की जो पुरातन मुद्राए प्राप्त हुई हैं उसमे ब्राह्मी मे अकित एक मुद्रा 'मय' 'मालव' की भी है। उस पर उज्जैन का चिह्न अकित है। इसी—'मयमालव' के काल मे जो कृत' वर्ष (कार्तिकादि) परिगणित किया जाता होगा। वही अल्पावशिष्ट रहा होगा, जिस समय सूर्यसिद्धात की रचना हुई होगी। श्री करदीकरजी का तो स्पष्ट अभिमत है कि "कालिदास ने विक्रम की आनुवशिक-परम्परा की उज्ज्वलता मे अपने काव्यों द्वारा पर्याप्त सूचित कर उसका नाम चिरन्तन बना दिया है किन्तु उसके आश्रित सूर्यसिद्धानकार ज्योतिषी ने तो विक्रम सवत् की स्थापना, और स्वत उसे ही चिरस्थाई बना देने का प्रत्यक्ष साधन निर्माण कर दिया है। विक्रमा-

दित्य के समय से पूर्व ज्योतिष विषयक सिद्धांत ग्रंथ विशेष रूप से उल्लेखनीय नहीं थे। पंचसिद्धांत के नाम से प्रसिद्ध पांच सिद्धान्तों में से रोमक-सिद्धांत उस समय था ही नहीं और पितामह, पुलिस एवं वशिष्ठ सिद्धांत भी अपूर्ण रूपेण दृक्-प्रत्यक्ष न करा सकने वाले ही थे। इसलिए विक्रमादित्य ने अपने *आश्रित ज्योतिषी को नवीन सिद्धांत ग्रंथ निर्मित करने को कहा।* वह मूल सूर्य सिद्धांत इस समय उपलब्ध न होने के कारण उसके रचयिता का पता लगा सकना असम्भव हो गया है और वराहमिहिर ने यथाशक्ति सम्बद्ध और संकलित कर लिया, इस कारण अनेकों ने उसे ही निर्माता मान लिया। यही कारण है कि विक्रम के नवरत्नों में कालिदास के साथ उसका नाम भी जोड़ दिया गया है। इसमें यदि कालविपर्यय दोष हुआ है तो वह वराहमिहिर का ही हुआ है। हमारी नम्र धारणा से प्रथम वराहमिहिर ही वह विक्रम-कालीन है, जिसका होना प्रथम शती में सिद्ध होता है।

शंकर बा० दीक्षित ने अकाट्य सूर्य सिद्धांत की रचना सूक्ष्मानुसंधान से वहीं *निश्चित की है। वह ईसवी सन् से प्रथम शती पूर्व रचा गया है, ऐसी दशा में* उक्त सिद्धांत का रचयिता कोई क्यों न हो वह विक्रम-काल में ही हुआ था और उसी के ग्रंथ के आधार पर संवत् की गणना तथा साठ संवत्सरों के चक्रारम्भ होने की प्रथा प्रचलित हुई है। विक्रम संवत् के पूर्व प्राचीन वेदांगकाल की पांच वर्ष की युग-पद्धति प्रचलित थी। 'अल्पावशिष्ट तु कृते' में इस युग पद्धति के अनुसार 'कृत युग' के अल्पावशेष की सूचना है।

उसके बाद 12 वर्ष से बार्हस्पत्य चक्र का आरंभ हुआ। उन बार्हस्पत्य वर्षों के गुरु के उन-उन छः महीनों के उदयानुसार चैत्रवर्ष, वैशाख वर्ष आदि के रूप में बारह नाम होते थे। किन्तु सूर्यसिद्धांतकार ने द्वादश वर्षों में एक एक तथा युगचक्र दोनों पद्धतियों का मिश्रण कर $12 \times 5 = 60$ संवत्सरों का वर्षगणना चक्र निर्माण कर दिया। इन संवत्सरों के 60 नाम, ग्रंथों में विद्यमान हैं। इस परम्परा और कार्तिक मासादि वर्षारंभ की नवीन पद्धति सूर्यसिद्धांत समय से ही (विक्रम शासनकाल से ही) आरंभ हुई और थोड़े ही समय में दूर दूर तक प्रचलित हो गई।

विक्रम संवत् 289 के एक लेख में 'मानव गण स्थिति वशात् कालज्ञानाय लिखितेषु' के रूप में स्पष्ट प्राप्त होता है कि यह ग्रंथ सूर्य सिद्धांत ही होना चाहिए। वि० सं० 461 के लेख में 'श्रीमालिवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते" के रूप में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। "आम्नात" शब्द का अर्थ है—पूज्य ग्रंथोक्त (लेड डाउन इन सेक्रेट टेक्स्ट्स) अतएव विक्रम संवत् स्थापित होने के चार-पांच सौ वर्षों में *'सूर्य सिद्धांत को पूज्यता प्राप्त हो गई होगी।* इस

मालवगणाम्नात कृत सज्ञित सवत्सर का अर्थ सूर्य-सिद्धातानुरूप प्रचलित सवत्सर ही हो सकता है।

जिस विक्रम की रश्मि-राशि के समस्त भू-मण्डल-ज्योतिर्मय बन रहा था और आज भी जिसके स्मरण मात्र से प्रत्येक भारतीय का मस्तक गौरवोन्नत हो जाता है, वही हमारी वन्दनीय-विभूति है। जिसकी राजधानी उज्जयिनी के वैभव का हृदयग्राही रम्य वर्णन बाण भास-कालिदास आदि सरस्वती के वरद अमर पुत्रो ने किया है, जिसकी लोकप्रियता की गगन-भेदी दुदुभि की ध्वनि ने आज हजारो वर्षो से अधिक बीत जाने पर भी प्रतिध्वनि को सदिग्ध बनाए रखा है जिसके द्वात्रिंशत्पुत्तलिकाविनिर्मितसिंहासन की चारु चर्चा ने समस्त देश की अनुश्रुतियो को सजग बनाए रखा है, और जिसकी नवरत्न निर्मित सरवरेण्यमालिका ने विश्व के बिबुधवरो को विवेचनावस्था मे अवलम्बित बनाए रखा है, जिसकी दिग्विजय कथा, शकपराभव, सवत् प्रवर्तन और भारतीय सस्कृति समुन्नयन की लक्ष-लक्ष गुण गौरव गाथाओ ने विद्वानो से लेकर अज्ञो-नागरिको से लेकर ग्रामवासियो तक को अपने अस्तित्व से आश्वस्त बनाए रखा है। वह चाहे इतिवृत्तो के परिगणित पण्डितो की पर-प्रेरित प्रज्ञा मे सहज प्रविष्ट न हो सके। परन्तु वह जन-गण के हृदयो मे उसकी समस्त सद्भावना और श्रद्धा का आराध्य केन्द्र-बिन्दु बनकर सादर समासीन है। "शक-पल्लव पवन निषूदन वर-वराग "विक्रमादित्य" के नाम मे हमारे देश की वह महनीय सस्कृति सन्निहित है जिसकी धुधली आभामात्र प्राप्त करके हमारा इतिहास दो हजार वर्ष के पश्चात भी अपना मस्तक गर्वोन्नत अनुभव करता है। विक्रम से हम अपने विशाल देश की परतत्र पीडा से मुक्ति दिलाने वाली समर्थ शक्ति की अभ्यर्थना करते हैं, जिसकी पावन स्मृति को धरोहर 'सवत्' वर्ष काल-गणना की स्मरण मणि की तरह इतिहास की शृ खलाएं एक-दूसरे से जुडती ही चली जाती हैं।

नवीन प्रकाश

अब विसेंट स्मिथ की वह धारणा मिथ्या सिद्ध हो गई है जिसमे उसने कहा था कि चन्द्रगुप्त के पूर्व किसी ने 'विक्रम' शब्द अपने साथ नही जोडा था क्योकि बर्ताला से प्राप्त समुद्रगुप्त की सुवर्णमुद्रा मे उसके साथ 'विक्रम' शब्द जुडा हुआ है।

आज से बहुत समय पूर्व 11वी शताब्दी मे कथासरित्सागरकार सोमदेव को अवश्य ही दो विक्रमादित्य होने का विश्वास था। कथा सरित्सागर का आधार गुणाढ्य की बृहत्कथा है, जो पैशाची भाषा मे रचित है और उसके पुरातनतम होने मे कोई सदेह नही है। क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामजरी' भी पूर्वकाल की कृति

रही है। अस्तु कथा-सरित्सागरकार को यह ज्ञान है कि एक विक्रम उज्जैन का रहा है और दूसरा पाटलिपुत्र का। कथा के 18वे लम्बक की प्रथम तरग मे स्पष्ट ही बतलाया गया है—

(1) उज्जयिनी सुत शूरो महेन्द्रादित्यभूपते ।
(2) आक्रमिष्यति स द्वीपो-पृथिवी विक्रमेण य' ।
(3) म्लेच्छसघान हनिष्यति ।
(4) भविष्यतितु एवँप विक्रमादित्यसज्ञक ।

इसी 18वें लबक के तीसरे वाचक मे विक्रम की विजय-यात्रा से उज्जैन वापस आ जाने पर उसके सेनानी विक्रम-शक्ति ने अनेक राजाओ का, जो अभिनन्दन करने आए थे, विक्रम से परिचय करवाया है। उस समय दश के विविध भागो के अनेक नरेश थे। यथा—

"गौडशक्तिकुमारोय कर्णारोप जयध्वज ।
लाटो विजयवर्माय काश्मीरोय सुनन्दन ॥
गोपाल सिन्धुराजोय, भिल्लो विध्यवलोऽयम् ।
निर्मुक पारसीकोय नृप प्रणमति प्रभो ॥
सम्राट् सम्मानयामास सामतान्सेनिकानपि ।

इस प्रकार सम्पूर्ण 18वी तरग उज्जयिनीपति विक्रमादित्य की यशोगाथा से अकित है, इसमे विक्रम को 'सद्वीपा' पृथ्वी का विजेता, असाधारण शौर्य, वर्चस्व वाला वीराग्रणी बतलाया है।

चौथे तरग के 7वें लबक की घटना में विक्रम को दूसरी तरह वर्णित किया गया है। जैसे—

(1) विक्रमादित्य इत्यासीद्राजा पाटलिपुत्रके ।
(2) "अस्ति पाटलिपुत्राख्यो भुवालकरण परम् ।
तत्र विक्रमतुश्च गारवो राजा"

स्पष्ट ही पटना के विक्रम को राजा कहा गया है। जबकि उज्जैन के विक्रमादित्य को सम्राट द्वीपान्तर विजेता, म्लेच्छोच्छेता तथा अनेक नरेशों म वदित बतलाया है। पाटलिपुत्र के नरेश विक्रम को सोमदेव जानता है लेकिन उसकी नरेश से अधिक महत्ता नही मानता। यह सैकडो वप पूर्व उसके विद्वान की सम्मति है, जिसे दो विक्रम होने की जानकारी रही है।

कथा सरित्सागर के उज्जयिनीनाथ विक्रम के कथा-सदर्भ मे एक और महत्त्व का सकेत मिलता है—

'उज्जयिनीन्या सुत शूरो महेन्द्रादित्य भूपत" अर्थात् महेन्द्रादित्य नरेश का वीरपुत्र उज्जैन का विक्रमादित्य। इसम विक्रम के पिता का नाम, 'महेन्द्रादित्य' बतलाया है। सभवत 11वी शताब्दी तक यह नाम परिचित हो तभी सोमदेव

ने निसर्वेच प्रकट किया है और उसे प्रमर (पवार) वश का बतलाया है। वह माल्यावान नाम का एक शिवगण था। समवत इसी माल्यावान के कारण मालव गण का नेता रहा हो। उसने वेदविरोधीजन म्लेच्छों का सहार कर ब्राह्मण-धर्म को पुन प्रतिष्ठित किया था, बौद्ध धर्म एव जैनो के दृढ दुर्गमालव मे उसने वैदिकधर्म की स्थापना की थी। उसका शैव होना तो प्रसिद्ध है ही। कालिदास ने पुरूरवा और उर्वशी के कथानक से ग्रथित नाटक का नाम 'विक्रमोर्वशीयम्' रखा है। इसमें अवश्य ही रहस्य विदित होता है। सभवत यह अपने आश्रयदाता का स्मृति सकेत हो। यह तब और अधिक स्पष्ट हो जाता है कि नाटक से सम्बधित इन्द्र के विविध पर्याय हो सकने पर भी कालिदास अनेक बार विशेष रूप से 'महेन्द्र' शब्द का प्रयोग करता है। यदि कथासरित्सागर के "सुत श्रीमान् महेन्द्रादित्य भूपते" को लक्ष्य मे रखकर हम विक्रमोर्वशीय के बार-बार प्रयुक्त 'महेन्द्र' को सावधानी से देखें तो विदित होता है कि कालिदास का भी वही स्पष्ट सकेत है। विक्रमोर्वशीय' नाटक के नीचे उद्धृत वाक्य मे महेन्द्र के साथ 'विक्रम' शब्द का प्रयोग पिता-पुत्र के नाम की सगति के लिए ही होना चाहिए—

'दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन ।
विक्रममहिम्ना वर्धते भवान् ॥

इस वाक्य से कथा-सरित्सागर-कर्ता सोमदेव के कथन की सगति बैठती है। इसमें भी अधिक पुत्र-दर्शन के समय 'महेन्द्र' का उल्लेख इसका स्पष्ट संकेत है कि यहा पिता का परिचय पुत्र के साथ जोडा गया है—

'प्रथम पुत्र दर्शनेन विस्मृतोस्मि,
इदानीं महेन्द्रसकीर्तनेन स्मारित ॥ (अक 5)

(पुत्र को देखकर तो मैं प्रथम बार एकदम विस्मृत हो गया था, किन्तु इन्द्र (महेन्द्र) के नाम का उल्लेख होने पर मुझे दशा का ज्ञान हुआ।)

इसमे विक्रम पुत्र का महेन्द्र के साथ पितृ-सम्बध सूचित कर कवि ने सोमदेव के कथन का ही स्पस्ट समर्थन किया ज्ञात होता है। इसी प्रकार एक जगह नाटक म आता है कि रम्भा, अब राजकुमार आयुष का राज्याभिषेक होने दो जिसकी तैयारी महाराज ने स्वय की है—

"रम्भे! उपनीयता स्वय महेन्द्रेण सभृत कुमारस्यायुषो यौवराज्याभिषेक ।

इन सदर्भों मे पिता पुत्र के नाम एक साथ ऐसे प्रमग म आए हैं, जिनके महत्त्व स उज्जैन या मालव भूमि का प्रेक्षक पूर्ण परिचित रहा है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि सभवत विक्रमोर्वशीय का अभिनय वयोवृद्ध सम्राट्

महेन्द्रादित्य के उत्तरवय काल मे सिंहासन त्यागने (कालिदास के मतानुसार इक्ष्वाकुवशीय राजाओ का आदर्श था—"वार्धक्ये मुनि वृत्तीना योगेनान्ते तनुस्त्यजाम" वन-गमन करने तथा युवराज विक्रम के राज्याभिषेक के समय हुआ होगा। रघुवंश के दिलीप और उसके पुत्र रघु के कथानक तथा कथासरित्सागर मे सूचित-महेन्द्रादित्य और विक्रमादित्य के कथानक मे बहुत अश तक समानता प्रतीत होती है।

इससे यही विदित होता है कि कथा-सरित्सागर मे कथित विक्रमादित्य का पता महेन्द्रादित्य और कालिदास के विक्रमोर्वशीय का विक्रम एव महेन्द्र पिता पुत्र होने चाहिए, कवि का यही स्पष्ट सकेत है। अब तक लोक-कथाओ मे विक्रम को प्रमरवशीय मानने की परम्परा की भी कथा सरित्सागर से 11वी शती मे ही पुष्टि हुई है, जो लोक-कथा के तथ्य को प्रतिपादित करती है।

'विक्रमादित्य' इतिहास की एक उलझी हुई पहेली है। विदेशी-विद्वानो ने इसे बहुत उलझा दिया है। उन्ही विद्वानों की खोज पर आधार रखने वाले भारतीयो ने भी सदेह को बढाया है जबकि विक्रम-सवत् जैसी सबल-साक्षी के रहते हुए भी हम यह नही सोच पाते कि इसका सही निर्माता, या प्रवर्त्तक कौन है? चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विक्रम की उपाधि धारण की थी, यह सही है और बम्नाला (नामाड) से जो 21 सुवर्ण-मुद्राए प्राप्त हुई थी, उनमे चन्द्रगुप्त के पिता समुद्रगुप्त के नाम के साथ भी विक्रम जुडा हुआ मिला है। ऐसी स्थिति मे स्पष्ट है कि एक विक्रम अवश्य ही स्वतन्त्र है, जिसकी महत्ता को अपने नाम के साथ जुड़ाकर अनेक ने अपना गौरव बढाया है। सस्कृत साहित्य के ग्रन्थो मे विक्रम का स्वतन्त्र व्यक्तित्व और महत्त्व स्वीकार किया गया है, उसे शको का पराभवकर्त्ता, और सवत प्रवर्त्तक माना है। उसका प्रभाव सारे भारत पर ही नही, अनेक द्वीपो पर रहा है। रोम, यूनान, अरब राष्ट्रो पर भी प्रभाव रहा है। 2000 वर्ष बीत जाने पर भी उसकी यशोगाथा सर्वत्र जीवित जागृत बनी हुई है। जो लोग केवल चन्द्रगुप्त द्वितीय को ही एक मात्र 'विक्रम' मानते हैं, वह चन्द्रगुप्त पटना का शासक रहा है। उसका उज्जैन से सीधा सम्बन्ध नही आता, वह न तो कभी उज्जैन आया, न उसकी राजधानी कभी उज्जैन रही, विक्रम सवत का स्रष्टा उज्जैन का विक्रमादित्य रहा है। जिस बात को लेकर वर्तमान शती के इतिहासज्ञ भ्रात बने हैं उनकी भ्राति का निवारण तो सदियो पूर्व उत्कृष्ट विद्वानो की कृतियो स सहज हो जाना चाहिए था, 11वी शती मे कथा सरित्सागर ग्रन्थ की रचना हुई है। इस ग्रन्थ का निर्माता निर्भ्रम होकर यह जानता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य पटना मे हुआ है और वहा का शासक था, तथा दूसरा विक्रमादित्य उज्जैन का था, जो अत्यन्त वीर और महान्-राष्ट्रोद्धारक था। 11वी शताब्दी का विद्वान यह जानता है कि प्रथम विक्रम

उज्जैन का है और द्वितीय पटना का, तब हमे आशक्ति होने का कोई कारण नही होना चाहिए, किन्तु आज का पण्डित प्रथम का अस्तित्व ही समाप्त कर देने पर तुला है। कैसी विडम्बना है। वैसे विक्रम, और कालिदास को लेकर वस्तुतः भारत मे खोजने का कोई कार्य होना चाहिए, वैसा नही हुआ है। फिर बाहर की खोज का प्रश्न ही कैसे उत्पन्न हो ?

यदि अरब राष्ट्र, रोम, यूनान एव वृहत्तर भारत के अन्य द्वीपो मे खोज की जाय तो आश्चर्य नही, बहुत साहित्य के स्रोत उपलब्ध हो जाए। बौद्ध-काल से लेकर ईसवी-सन् के बाद तक भारत के सैकडो विद्वानो का द्वीपान्तरो मे सतत आवागमन बना रहा है, और साहित्य-सस्कृति का आदान-प्रदान होता रहा है। उज्जैन से लगभग 18 विद्वान चीन, जापान, कोरिया, जावा, सुमात्रा आदि मे प्रचार करने गये हैं और अनेक ग्रन्थो की रचना की हैं, विदेशो मे अनुवाद किया है, यदि उन देशो के साहित्य का अनुसधान किया जाय तो बहुत-सी इतिहास की टूटी हुई कडिया जुड जाए। मेरे सपादित विक्रम-मासिक के विक्रम-विशेषाक (सवत् 2000) मे अरब राष्ट्र से उज्जैन के सम्बन्ध को जुडाने वाली घटना प्रकाशित हुई है।

विक्रम-संवत् इतिहास

□ श्री भगवतशरण उपाध्याय

प्रस्तुत इतिहास एक बहुत उलझे हुए समय का होने के साथ-साथ संक्षिप्त है। प्रथम शती ई० पू० अथवा प्रथम विक्रमीय शती का प्रायः डेढ़ सौ वर्ष का भारतीय इतिहास प्रचुर प्रश्नात्मक है।[1] इसमें अनेक समस्याएं हैं, अनेक पहेलियां, काफी जटिल। उन पर विस्तारपूर्वक केवल बड़ी पुस्तक में ही विचार किया जा सकता है। इस कारण इस लेख में उस विषय का उद्घाटन परिमित रूप से ही सम्भव है। इसका अपूर्ण होना अनिवार्य और निश्चित है। फिर भी यह लेख इस विषय के एक विस्तृत विवेचन का मार्ग खोल सकता है। यह स्वयं इस प्रकार के अध्ययन की अनुक्रमणिका मात्र है। अस्तु!

प्रथम शताब्दी ई० पू० का भारतीय इतिहास अत्यन्त उलझा हुआ है। अनेक जातियां, देशी और विदेशी, तत्कालीन भारतीय मंच पर अपना अभिनय करती रहीं। इस शताब्दी से शीघ्र पूर्व भारत वर्ष लगभग तीन सौ वर्षों तक साम्राज्य की छाया में रह चुका था। चन्द्रगुप्त मौर्य के नीतिकुशल अमात्य चाणक्य ने अपनी सूझ और अपने अध्यवसाय से प्रायः सारे देश को एक शासन में खींच लिया था और तब से—लगभग 325 ई० पू० से अथवा उससे भी पूर्व नन्द-काल से—प्रथम शती ई० पू० तक मगध साम्राज्य की तूती बोलती रही। इसमें कोई संदेह नहीं कि साम्राज्य सर्वथा एक तो नहीं रह सका और अशोक के देहावसान के बाद ही दक्षिण के आन्ध्र-सातवाहन मौर्य साम्राज्य से दक्षिणापथ के प्रदेश खींच ले गए। शुंगों के समय, उनके शासन के पहिले ही, पूर्व में कलिंग का एक छोटा-मोटा साम्राज्य खड़ा हो गया था और यहां के राजा महामेघवाहन खारवेल ने मगध सम्राट को अपने गजों से डरा दिया

---

1 प्रस्तुत लेख प्रथम शती ई० पू० के कुछ पहले से आरम्भ होकर प्रथम शताब्दी ईसा के बाद तक के प्रायः तीन सौ वर्षों के भारतीय इतिहास से सम्बन्ध रखता है।

था। फिर चाहे हाथीगुम्फा शिलालेख की उसकी प्रशस्ति खोखली क्यों न हो और ग्रीकराज दिमित (Demetrios) ने चाहे युक्रेदित के गृह-विद्रोह के कारण ही अपनी सेना को पाटलिपुत्र और मगध के पश्चिमी इलाकों से खींच लिया हो, खारवेल कम से कम अपनी प्रशस्ति में 'योनराज' को भारत से बाहर भगाने का गर्व तो कर ही सका था। फिर भी मगध किसी न किसी रूप में भारत का साम्राज्य-प्रतिनिधि बना रहा। मौर्यों, शुंगों और कण्वों के साम्राज्य-काल में ग्रीकों और शकों की मगध पर ही चोटें पड़ती रहीं और मगध निरन्तर छोटा होता हुआ भी अपने वंश प्रतिनिधित्व की रक्षा में पिसता रहा।

प्रथम शताब्दी ई० पू० का भारतीय रंगमंच प्राय. पांच स्थलों में विभक्त है। (1) पश्चिमोत्तर का सीमाप्रान्त और पंजाब, (2) मथुरा, (3) मगध का मध्यदेश, (4) सौराष्ट्र, गुजरात और अवन्ती (उज्जयिनी); और (5) आंध्र-सातवाहनों का दक्षिणापथ। इन सब केन्द्रों से कई प्रकार के जातीय-विजातीय कुलों ने देश पर शासन किया और यद्यपि भौगोलिक विस्तार के अनुसार इस इतिहास का वर्णन पश्चिमोत्तर के सीमाप्रान्त अथवा दक्षिणापथ के आंध्रसात-वाहनों से आरम्भ होना चाहिए था, राजनीतिक केन्द्र के कारण हम उसका आरम्भ इस लेख में मध्यदेश अर्थात् मगध से करते हैं।

मगध—पुष्यमित्र शुंग ने 36 वर्षों तक राज्य किया। ई० पू० 148 के लगभग उसके देहावसान के बाद उसका पुत्र अग्निमित्र, जो कभी विदिशा में अपने पिता के साम्राज्य का शासक रह चुका था, सम्राट् बना। अग्निमित्र विलासी था। उसके विलास की कथा गुप्तकालीन कवि कालिदास ने अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में लिखी है। इस समय उसकी आयु चालीस के ऊपर थी। उसका शासनकाल केवल आठ वर्षों तक रहा। फिर उसका भाई सुज्येष्ठ अथवा मुद्राओं का 'जेठमित्र' (ज्येष्ठमित्र) मगध की गद्दी पर बैठा और उसने सात वर्ष शासन किया। सभवत. इस समय पुष्यमित्र के कई बेटों ने मिलकर राज किया था। वायु-पुराण के अनुसार पुष्यमित्र के आठ बेटे थे, जिन्होंने सम्मिलित रूप से राज किया।[1] अग्निमित्र ने अपनी विलासिता में भी तलवार काफी मजबूती से पकड़ रखी थी, जैसा उसके विदर्भ विजय से जान पड़ता है। कालिदास ने उसके रस-प्रिय जीवन का वर्णन और विदर्भ-विजय का उल्लेख साथ ही किया है।[2] सुज्येष्ठ अथवा जेठमित्र के पश्चात् अग्निमित्र का वीरपुत्र वसुमित्र राजा बना। वसुमित्र ने अपनी युवावस्था में ही अपनी वीरता

1. पुष्यमित्रसुतास्त्वाष्टौ भविष्यन्ति समा नृपाः—वायुपुराण।
2. मालविकाग्निमित्र, अंक 1, पृ० 10-11, निर्णयसागर संस्करण।

का प्रमाण दिया था, क्योंकि पितामह पुष्यमित्र के दूसरे अश्वमेध मे घोड़े का सरक्षक वही था। सिन्धुनदी के तट पर यवनो (ग्रीकों) की एक सेना ने उस घोडे को बांध लिया। इस पर दोनो दलो म बडा युद्ध हुआ और अन्त म वसुमित्र ने ग्रीकों को हराकर पितामह क अश्वमेध की रक्षा की।[1] उसका राज-काल दस वर्ष रहा। पुराणो के अनुसार शुगवश मे दस राजा हुए, परन्तु वसुमित्र के बाद राजाओ के सम्बन्ध मे इतिहास प्रायः कुछ नहीं जानता। शुगो के पाचवें राजा आद्रक (ओद्रक) न दो वर्ष राज किया। छठे और सातवें राजा क्रमश: पुलिन्दक और घोप हुए जिनम से प्रत्येक ने तीन वर्ष राज किया और आठवें वज्रमित्र ने नौ वर्ष। भागवत शुगो मे नवा शासक था। सम्भवत उसी का दूसरा नाम काशीपुत्र-भागभद्र था। काशीपुत्र-भागभद्र का नाम बेसनगर के वैष्णव स्तम्भ-लेख मे खुदा मिलता है। उसी राजा के दरबार म तक्षशिला के ग्रीक राजा अन्तलिकित (Antialkidas) ने अपना दूत भेजा था। इस दूत का नाम था 'दिय' (Dion) का पुत्र हेलियोदार Heliodores)। हेलियोदोर वैष्णव था और अपने को 'भागवत' कहता था। बेसनगर म उसने विष्णु का स्तम्भ खडा किया। भागवत अथवा भागभद्र का शासनकाल पुराणो म बत्तीस वर्ष लिखा मिलता है। शुगो का अन्तिम राजा देवभूति या देवभूमि था जिसने दस वर्ष राज किया। पुराणो के अनुसार वह व्यसनी था और उसे उसके मन्त्री वासुदेव ने मार डाला।[2] यह वसुदेव कण्ववश का ब्राह्मण था। देवभूति की इस दुखद मृत्यु की चर्चा बाण ने भी अपने हर्षचरित मे की है। उसमे लिखा है कि 'वसुदेव ने अपनी दासी से जनी दुहिता द्वारा अतिस्त्रीगामी अनगपरवश उस शुग का उसकी रानी क वेश मे वध करा दिया।'[3]

---

1 " सिन्धोर्दक्षिणरोधसि चरन्नश्वानीकेन यवनेन प्रार्थित। तत उभयो. सेनयोर्महानासीत्समर्द।

तत परान्पराजित्य वसुमित्रेण धन्विना।
प्रसह्य ह्रियमाणो मे वाजिराजो निवर्तित ॥15॥ (वही, पृ० 102)

2 देवभूति तु शुगराजान व्यसनिन तस्यैवामात्य कण्वो वसुदेवनामा त निहत्य स्वयमवनी भोक्ष्यति।—विष्णुपुराण, 4, 24, 39, पृ० 352, गीताप्रेस सस्करण।

3 अति स्त्रीसगरतमनगपरवश शुगममात्यो वसुदेवो देवभूतिदासीदुहित्रा दवीव्यञ्जनया वीतजीवितमकारयत्। हर्षचरित, 6, पृ० 199, बम्बई, 1925। और देखिए पार्टिजर की पुस्तक Dynasties of the Kali Age, पृ० 71।

इस प्रकार काण्वायन नृपो का आरभ शुगो के अवसान पर लगभग 72 ई० पू० मे हुआ। काण्वायनो का कुल अल्पकालिक हुआ। इसमे केवल चार राजा हुए, जिन्होने कुल 45 वर्ष राज्य किया।[1] इनमे से वसुदेव का शासनकाल नौ वर्ष, भूमिमित्र का चौदह वर्ष, नारायण का बारह वर्ष, और सुशर्मन् का दस वर्ष रहा।

शुग और कण्व राजाओ के समय मे ग्रीक और शक-आक्रमण हुए थे। अन्त मे कण्वो के अन्तिम राजा के हाथ से कमजोर तलवार सातवाहन नृपति सभवतः सिमुक ने छीन ली। इन ग्रीक, शक, और सात आक्रमणो का उल्लेख विधिवत् गार्गी-सहिता के युग-पुराण मे मिलता है। गार्गी-सहिता ज्योतिष का ग्रथ है। युग-पुराण उसी का प्राय प्राचीनतम भाग है, जो उपलब्ध पुराणो मे सबसे प्राचीन है। यह श्लोकबद्ध है, परन्तु सम्भवतः इसका प्राकृत-गद्यात्मक रूप ई० पू० प्रथम शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे ही प्रस्तुत हो चुका था क्योकि उस काल के पश्चात् के इतिहास का इसमे हवाला नही मिलता। इसका सम्पूर्ण मूल परिशिष्ट 'ख' मे दिया गया है। यहा उस मूल के प्रासगिक भाग का अनुवाद मात्र दिया जाता है। युग-पुराण के पाठ जटिल हैं और उसके अनेक स्थल दुरूह हैं, पर उसके वर्णन से शुग, शक और कण्व कुलो पर समुचित प्रकाश पडता है। युग-पुराण का वह अवतरण हम नीचे देते हैं—

"तब शको का दुष्टस्वभाव वाला, अर्थलुब्ध, महाबली और पापी राजा विनाशकाल के उपस्थित होने पर कलिगराज शत (शात—) की भूमि की तृष्णा करने के कारण मृत्यु को प्राप्त होगा। वह सबल द्वारा निधन को प्राप्त होगा (?)। उसके निम्न सरदार तो निश्चय मारे जाएगे।"

"शकराज के विनष्ट होने पर पृथ्वी सूनी हो जाएगी। पुष्प नाम की नगरी सूनी हो जाएगी, अत्यन्त वीभत्स। वहा कभी कोई राजा होगा, कभी न होगा।"

"तब लोहिताक्ष अम्लाट (अम्नाट) नाम का महाबली धनुमूल (धनु के बल) से अत्यन्त शक्तिमान् हो उठेगा और पुष्य नाम धारण करेगा। रिक्त नगर को वे सर्वथा आक्रात कर लेंगे। वे सभी अर्थलोलुप और बलवान होंगे। तब वह विदेशी (म्लेच्छ) लोहिताक्ष अम्लाट रक्तवर्ण के वस्त्र धारण कर निरीह प्रजा को क्लेश देगा। पूर्वस्थिति को अधोगामी कर वह चतुर्वर्णों को नष्ट कर देगा।"

"रक्ताक्ष अम्लाट भी अपने बान्धवो के साथ नाश को प्राप्त होगा। तब

1. चत्वार. शुगभृत्यास्ते नृपाः काण्वायना द्विजाः—वायुपुराण।

गोपालोभाम नामक एक नृपति होगा। वह गोपाल नृपति भी पुष्यक के साथ राज्य का साल भर भोग कर निधन को प्राप्त होगा तब पुष्यक नाम का धर्म पर राजा होगा। वह भी वर्ष भर राज करके अन्त लाभ करेगा। उसके बाद सविल नामक महाबली और अजित राजा होगा जो तीन वर्ष के शासन के बाद नष्ट होगा।"

"फिर विकुयशस् नामक अब्राह्मण लोक मे प्रसिद्ध होगा। उसका शासन भी अनुचित और दुष्ट होगा, जो तीन वर्षों तक चलेगा।"

"तब पुष्पपुर उसी प्रकार (पूर्ववत्) जनसकुल (बहुसख्यक) हो जाएगा। सिद्धार्थ जन्मोत्सव वहा अत्यन्त उत्साह से मनाया जाएगा। नगर के दक्षिण भाग मे उस (सिद्धार्थ वीर) का वाहन दिखाई देता है, जहा उसके दो सहस्र अश्व और गजशकट खडे हैं। उस समय उस स्तभयुक्त भद्रपाक देश मे अग्निमित्र होगा। उस देश मे महारूपशालिनी एक कन्या जन्म लेगी। उसके लिए उस राजा का ब्राह्मणो के साथ दारुण युद्ध होगा। वहा विष्णु की इच्छा से निश्चय वह अपना शरीर छोड दगा। उस घोर युद्ध के बाद अग्निमित्र (अग्निवेश्य) का पुत्र राजा होगा। उसका शासन सफल होगा जो बीस वर्षों तक कायम रहेगा। तब महेन्द्र की भाति वह अग्नि (मैश्य अथवा वश्य) राज्य को प्राप्त कर शको (जायसवाल—शबरो ?) की एक सघवाहिनी से युद्ध करेगा। उस युद्ध मे प्रवृत्त उस राजा की वृषकोट (?) (नामक अस्त्र) से मृत्यु हो जाएगी।"

"उस सुदारुण युद्धकाल के अन्त मे वसुधा शून्य हो जायेगी और उसमे नारियो की सख्या अत्यन्त बढ जाएगी। करो मे हल धारण कर स्त्रिया कृषि-कार्य करेंगी और पुरुषो के अभाव मे नारिया ही रणक्षेत्रो मे धनुर्धारण करेंगी। उस समय दस दस बीस बीस नारिया एक एक नर को वरेंगी। सभी पर्वों और उत्सवो मे चारो ओर पुरुषों की सख्या अत्यन्त क्षीण होगी, सर्वत्र स्त्रियो के ही झुड के झुड दीखेंगे, यह निश्चित है। पुरुष को जहा तहा देखकर 'आश्चर्य'! 'आश्चर्य'! कहेंगी। ग्रामो और नगरो म सारे व्यवहार नारिया ही करेंगी। पुरुष (जो बचे खुचे होंगे लाचारी से) सन्तोष धारण करेंगे और गृहस्थ प्रव्रजित होंगे।"

"तब सातुश्रेष्ठ (शात) अपनी सेनाओ से पृथ्वी जीत लेगा और दस वर्ष पर्यन्त राज करके निधन को प्राप्त होगा।"

'फिर असख्य विश्रान्त शक प्रजा को आचारभ्रष्ट होकर अकर्म करने पर बाध्य करेंगे। ऐसा सुना जाता है। जनसख्या का चतुर्थ भाग शक तलवार के घाट उतार देंगे और उनका चतुर्थ (अशधन) सख्या अपनी राजधानी को ले जाएगे।"

"उस राज्य के नष्ट होने पर (शक अथवा शात ?) शिप्रा की प्रजा मे देव

(इन्द्र) बारह वर्षों तक अनावृष्टि करेगा। दुर्भिक्ष और भयपीडित प्रजा नष्ट हो जाएगी। तब उस रोमहर्षण दुर्भिक्ष और पापपीडित लोक मे युगान्त होगा और साथ ही प्राणियो का विनाश। इसमे सन्देह नही कि तब जनमार का नृत्य होगा।"

ऊपर के स्थलो मे कुछ महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक हैं। जान पडता है, अग्निमित्र के उत्तराधिकारियो मे एक बार अन्तर्द्वन्द्व चला। तब किसी शक राजा ने साम्राज्य स्थापित करना चाहा। यह सभवत. 100 ई० पू० का प्रथम शक आक्रमण था, जो शायद मथुरा के क्षत्रपो का था। ये अत्यन्त शुगो के समसामयिक थे। कलिंग सात सभवत: कोई सातवाहन राजा है, जिसने शको को उनके सरदारो के साथ मार भगाया।

इन्ही दिनो भारत के किसी भाग पर (जिसका उल्लेख युगपुराण मे नही है) म्लेच्छ राजाओ का एक परिवार राज कर रहा था। डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने उनको हिन्दू ग्रीक माना है[1] और प्रत्येक का एक सभावित ग्रीक नाम दिया है, परन्तु यह युक्तपूर्ण नही जचता।

अग्निमित्रो के उत्तराधिकारियो के बाद सातु राजा का उत्थान होता है। यह कोई सातवाहन राजा-सा है।

इस काल मे शको के अत्याचार से पाटलिपुत्र की पुरुष सख्या अत्यन्त न्यून हो जाती है और स्त्रिया ही सर्वत्र कार्यों म नियुक्त हैं। बचे-खुचे पुरुष भी अधिकतर सन्यस्त हो गए हैं।

सातु राजा के बाद दूसरा शक काल प्रारभ होता है। क्षिप्रा के तट के निवासियो मे शको ने अनाचार फैला दिया है। शक मालवा की प्रजा का चतुर्थांश नष्ट कर चुके हैं और दूसरा चतुर्थांश या तो दास बनाकर अपनी राजधानी को ले गए हैं या उनके धन का चतुर्थांश उन्होने अपहरण कर लिया है। इसके बाद ही दुर्भिक्ष और जनमार (प्लेग) ससार को आक्रात कर लेता है।

पश्चिमोत्तर का सीमाप्रान्त और पजाब - सिल्यूक्दि-साम्राज्य से करीब एक ही समय (तीसरी शती ई० पू० के मध्य) उसके दो विशाल सूबे पार्थव (खुरासान और कास्पियन सागर की दक्षिण-पूर्वी तटवर्ती भूमि) और बाख्त्री (वह्लीक) विद्रोही होकर निकल गए। इनमे हिन्दू-पार्थव राजाओ का भी कुछ काल तक भारत के पश्चिमी सीमाप्रान्त से जब-तब सम्बन्ध बनता-बिगडता रहा, परन्तु हिन्दू बाख्त्री राजा तो एक लम्बे काल तक भारत के पश्चिमी सीमाप्रान्त और पजाब के स्वामी बने रहे। इनम से दिमित (दिमित्रिय, युगपुराण का धर्ममीत (Demetrios) और उसके जामाता मिनान्दर (मिलिन्दपन्हो के मिलिन्द,

1. J. B. O R S, खण्ड 14, भाग 3, पृ०. 412.

Menander) ने पाटलिपुत्र पर भी एक बार कब्जा कर लिया था। युत्रेतिद के राज्य में एक अर्से तक बाख्त्री, काबुल, गधार और पश्चिमी पंजाब रहे। पूर्वी पंजाब, शाकल, सिन्ध और समीपवर्ती प्रान्त युथिडेमो के शासन में रहे जो मिनान्दर के अधिकार में आये। मिनान्दर पुष्यमित्र से हारने के पहले दिमित के सारे पूर्वी प्रान्तों का राजा था, काबुल से मथुरा तक। पुष्यमित्र के साथ युद्ध में वह मारा गया और तब वसुमित्र ने उसके राज्य को अपने पितामह पुष्यमित्र के राजसूय-*अश्व द्वारा रौंद डाला। सीमाप्रान्त के बाख्त्री राजा हलिआक्ल के अनेक* उत्तराधिकारियों में से कुछ ही ऐसे हैं जिनके नाम के सिवा हम और कुछ भी उनके विषय में जानते हैं। इनमें से एक 'अन्तलिखित' तक्षशिला का राजा कहा गया है। बेसनगर के विष्णुस्तंभ के लेख से विदित होता है कि उसने अपने दूत दिय के पुत्र हलियोदोर को उस शुंगराज काशीपुत्र भागभद्र के पास भेजा था, जो संभवतः पाचवा शुंग आदक या नवा भागवत है। वह ग्रीक दूत अपने को भागवत कहता है। अन्तलिखित के अधिकतर सिक्के अन्य ग्रीक राजाओं की भांति ही 'दुभाषिया' हैं। भारतीय सीमाप्रान्त और काबुल का अन्तिम ग्रीक शासक हरमियस् था जो प्रथम शती ई० पूर्वार्ध में था। कुषाणों की चोट से वह धीरे-धीरे टूट गया।

शक और पह्लव—तक्षशिला, मथुरा, सौराष्ट्र, गुजरात, महाराष्ट्र और अवन्ती—मध्य एशिया सदा से दुर्द्धर्ष जातियों की क्रीडाभूमि रही है। लगभग 165-160 ई० पू० में उस भूमि पर घुमक्कड़ जातियों का निष्क्रमण जोर पकड़ने लगा। चीन के पश्चिमोत्तर भाग में युइची जाति का निवास था। जातियों की उथल पुथल के कारण मजबूर होकर उन्हें पश्चिम की ओर हटना पड़ा। पश्चिम की ओर बढ़ते हुए वे सीर दरिया के उत्तर में बसने वाले शकों से जा टकराए। इसका फल यह हुआ कि शक अपना देश छोड़ दक्षिण की ओर बढ़े और 140 और 120 ई० पू० के बीच वे वक्षुसिंचित बाख्त्री और पार्थव राज्यों पर टूट पड़े। बाख्त्री में दिमित और युत्रेतिद के गृह युद्ध के बाद हेलियाक्ल का नृशंस शासन शुरू हुआ था। हेलियाक्ल वह सुयशी था जिसने अपने पिता को मारकर उसके शरीर और खून पर अपना रथ दौड़ाया था। पश्चात् उसमें और उसके भाई में भी गृह युद्ध होने लगा था। इसी समय *शक शक्ति की जो बाढ़ आई, उसमें बाख्त्री का राज परिवार डूब गया।* तब शक लोग दक्षिण पश्चिम पार्थव की ओर मुड़े, और पार्थवों के राजा फ्रात द्वितीय को 128 ई० पू० में उन्होंने मार डाला। इस समय पार्थवराज आर्तबान (Artabanus, ऋतुपर्ण) तुखारियों से लड़ रहा था। अब उसे उनके साथ शकों से भी लड़ना पड़ा। 123 ई० पू० में वह लड़ाई में मारा गया। उसके उत्तराधिकारी मज्ददात द्वितीय (Mithridates II) (ई० पू० 123-ई० पू० 88) ने

अपनी विचलित कुललक्ष्मी फिर से स्तंभित कर ली और उसने शकों को पूर्णतया परास्त कर पूर्व की ओर खदेड़ा। उनके सामने काबुल की घाटी में हिन्दू-ग्रीकों का राज्य था, इसलिए वे सीस्तान या शकस्थान में फैल गए। फिर कन्दहार और बलूचिस्तान होते हुए वे सिन्धुदेश में उतरे, जिसे हिन्दू शकद्वीप और ग्रीक भौगोलिक इण्डो सीथिया (Indo-Scythia) कहते हैं। भारत में शकों का आगमन लगभग ई० पू० 100 के हुआ।

शकों के भारत आने का वर्णन जैन-ग्रंथ 'कालकाचार्य-कथानक' में बड़े मनोरंजक रूप से मिलता है। उसके अनुसार आचार्य कालक 'सगकुल' जाकर उन्हें 'हिन्दुगदश' (उज्जैन) लाये। शक उनके पीछे चलते हुए सिन्धु के तट पर पहुंचे। फिर सिन्धुनद को पारकर बढ़ते हुए सुरट्ठ (सौराष्ट्र) देश में प्रविष्ट हुए। 'सगकुल' का एक समान अधिपति था, 'साहानुसाहि'। स्वयं 'सगकुल' अनेक साहियों में विभक्त था। जब मज्ददात शक्तिमान हो गया तब उसने अपने पूर्वज आर्तवान की मृत्यु का शकों से बदला लेना चाहा। उसने साहियों या सगकुल' के पास अपने दूत द्वारा आज्ञा भेजी कि शकों के सारे सरदार यदि अपने कुल और बन्धु बान्धवों का विनाश न चाहते हों तो आत्महत्या कर लें वरन् मज्ददात से उन्हें युद्ध करना पड़ेगा और हारने पर उनका वह सर्वनाश कर देगा। 'सग-कुल' इस पर बहुत व्याकुल हुआ। इसी समय आचार्य कालक उनमें ठहरे हुए थे। उन्होंने उनको सीस्तान् छोड़ 'हिन्दुगदेश' चलने की सलाह दी। इस पर 96 साहियों ने अपनी सेनाओं के साथ भारत में प्रवेश किया। उनमें से एक 'साहि' उनका अधिपति बना और उज्जैनी को राजधानी बना शासन करने लगा। इस प्राकृत अनुश्रुति के संस्कृत पाठ में कहा गया है कि आचार्य कालक सिन्धुनद के तीर पर्शकुलों में गए। वहां के सभी राजा या शासक 'शाखि' या 'साहि' कहलाते थे। पर्शकुल पार्श्वों की याद दिलाते हैं। इस स्थल का तात्पर्य उससे था जो पूर्वी फारस से लगा हुआ है या जिसे शक ईरानी समझते थे। संस्कृत अनुश्रुति के अनुसार 95 साही मालवा की भूमि में आ बसे और इनमें से एक शेष साहियों का अधिपति अथवा प्रमुख शासक बना (या चुन लिया गया)। उसकी राजधानी, धार-नवोपनिवेश का केन्द्र, उज्जयिनी हुई।

'कालकाचार्य कथानक' के अनुसार शक लोग सिन्धुनदी पार करते ही सुराष्ट्र के स्वामी बन गए। इससे तात्पर्य यह है कि गुजरात की ओर से चलकर सिन्धु पार जाने हीं 'सगकुल' मिलता था। अर्थात्, उनके काठियावाड़ में सीधा पहुंचने से सिद्ध होता है कि जिस स्थान से वे यहां आए वह सीस्तान के अतिरिक्त अन्य देश न था।

इस कथानक के अनुसार शकों का भारत प्रवेश और सुराष्ट्र-मालवा का समय विक्रम-संवत् के आरंभ के पूर्व था। पर उसमें इस बात का स्पष्ट उल्लेख

नही है कि उज्जयिनी और मालवा वे शक-विजय के कितने समय बाद प्रथम शक कुल (शासक-कुल) का अन्त हुआ। वास्तव मे कथानक जानबूझकर इस घटना की तिथि को अस्पष्ट अथवा अकथित रखता है। उसम 'कालन्तरेन केणाई'[1] का पाठ है। श्री काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार जिनसेन के आकडे बनिस्बत 'पट्टावलि' के अधिक सही हैं और वे भी अवन्ती के शक-शासन का यह प्रथम युग लगभग 100 ई० पू० और 58 ई० पू० के मध्य मानते हैं।[2]

प्राय सभी प्रमाणो से उज्जयिनी की शको द्वारा विजय लगभग 100 ई० पू० के हुई। और ये प्रथमयुगीय शक ही प्रमाणत मालवा[3] से मथुरा की ओर बढ गए। इस प्रकार शक सभवत मालवा से बढकर मथुरा के शुगो के उत्तराधिकारी हुए। गार्गी सहिता का 'युग-पुराण' शको की उज्जयिनी-विजय से कुछ ही बाद प्राय प्रथम शती ई० पू० के उत्तरार्ध मे लिखा गया था और इस रूप म वह शको की इस विजय घटना का एक समसामयिक प्रमाण सा है। युगपुराण मे यह शक-आक्रमण 100 ई० पू० के लगभग शुग-शासन मे ही हुआ। श्री० रैप्सन का कहना है कि शक-रज्जुकुल के माथुरी सिक्के अपनी शक्ल और धातु दोनो मे पञ्चाल (शुग) और मथुरा के हिन्दू राजाओ के सिक्को से मिलते हैं।[4] उज्जयिनी और मथुरा विजय के कुछ ही वर्षों बाद पाटलिपुत्र का शुग कुल राजच्युत कर दिया गया। *काण्वायन मत्री वसुदेव ने अन्तिम शुगराज विषयी देवभूति* को दासी स उत्पन्न अपनी दुहिता द्वारा मरवा डाला। इधर शक अपने उज्जयिनी केन्द्र से भारत के अनेक प्रान्तो मे फैल गए, जहा उनकी शक्ति का साका कुछ काल तक चलता रहा।

तक्षशिला और पश्चिमोत्तर के शक —शको के प्रारभिक भारतीय शासन के सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान सहज ही अपूर्ण और सन्देहात्मक है। भारत का प्राचीनतम शासक कौन था यह निश्चित रूप से कहना कठिन है, परन्तु अधिकतर प्रमाण उसके मय (Maues) होने के पक्ष मे हैं। मय शायद पजाब की नमक की पहाडियो

---

1 ZDMG, 1880, पृ० 267, कोनो, पृ० XXVII.

2 जायसवाल Problems of Saka-Satavahana History, JBORS खड 16, भाग 3 और 4, पृ० 228 से आगे।

3. मालवा को यह नाम मालवो ने शको को हराकर और स्वय उस प्रान्त मे बसकर दिया, जो इस काल से कुछ बाद हुआ। अत वास्तव मे उसे इस काल मे अवन्ति कहना चाहिए। सुविधावश ही अवन्ति को मालव कहा गया है।—लेखक।

4. Indian Coins, पृ० 9, 13.

वाले मैरा कूप-लेख का मोअ और क्षत्रप पतिक के तक्षशिला पत्र लेख का मोग (मग) ही है। परन्तु इस सम्बन्ध मे कुछ विद्वानो का दूसरा विचार है। उदाहरणत विंसेण्ट स्मिथ के अनुसार वह हिन्दू-पार्थव राजा है।[1] इसमे तो सन्देह नहीं कि मय शासक था। तक्षशिला का इलाका उसी के शासन मे था। तक्षशिला मे जो ताम्रपत्र पाया गया है उसके लेख मे मय को 'महाराय' (महाराज) कहा गया है।[2] इस मय ने बाद मे अपने को सिक्को पर 'शाहिशाहणशाहि' घोषित किया है। इन सिक्को के पाए जाने वाले इलाकों का मय के शासन मे होना प्राय सिद्ध है। इस इलाके मे यवनो (ग्रीको) द्वारा शासित गन्धार और अन्य समीपवर्ती देश प्राय सभी शामिल थे। परन्तु सत्य ही उसका शासन ऊपर से काबुल और पूर्वी पजाब के बीच की भूमि पर ही सीमित रहा। तक्षशिला के जिस ताम्रपत्र मे उसका नाम उल्लिखित है उसमे 78वें साल का भी उल्लेख है परन्तु यह पता नही चलता कि यह तिथि किस सवत् मे दी हुई है। इसी कारण मय का राज्यकाल बताना भी कठिन ही है। डॉक्टर राय चौधरी उसका शासन-काल 33 ई० पू० के पश्चात्, परन्तु प्रथम शती ई० के उत्तरार्ध के पूर्व[3] मानत हैं। इस सम्बन्ध मे शायद स्तेन कोनो की राय सही है। उनके अनुसार मय 90 ई० पू० के लगभग राज करने लगा था।[4]

एक बात जो इतिहासकार के सामने पेचीदगी पैदा कर देती है वह शक और पह्लवो (पार्थवो) का पारस्परिक घना सम्बन्ध है। भारतीय साहित्य और शिला अथवा अन्य लेखो मे प्राय दोनो का साथ साथ या एक के लिए दूसरे का उल्लेख हुआ है। कभी-कभी उन्हे एक-दूसरे से पृथक् करना असभव हो जाता है। उनके शासन और सिक्को मे अनेक समानताएं हैं और कितनी ही बार तो शक और पह्लव दोनो नाम एक ही शासक कुल मे उपलब्ध होते हैं।

मय के उत्तराधिकारी—मय के बाद उसके शासन का भार अय (अयस्, Azes) ने वहन किया। उसके सिक्को से प्रमाणित है कि उसने अपने पूर्वाधिकारी के राज्यविस्तार का ह्रास नही होने दिया। हिप्पोस्त्रात के सिक्के फिर से अंकित करके चलाए और इससे जान पडता है कि उसने शक-शासन की सीमाएं पूर्वी पजाब तक फैला दी। अयस् के बाद अजलिस राजा हुआ। उसके सिक्को से जान पडता है कि कुछ काल तक अयस् के समय मे ही उसका भी

1. Early History of India, चतुर्थ सस्करण, पृ० 242।
2 CII खण्ड 2, भाग 1, पृ० 28-29।
3 Political History of Ancient India, चतुर्थ सस्करण, पृ० 365।
4 Journal of Indian History, 1933, पृ० 19, देखिए स्तेनकोनो Notes on Indo Scythian Chronology, वही, पृ० 1-46।

शासन मे कुछ हाथ था। अजलिस के बाद अयस् द्वितीय इस शक-प्रान्त का स्वामी हुआ और फिर यह भूभाग पह्लव राजा गुदुफर (Gondophernes) के शासन मे खो गया।

पश्चिमोत्तर के क्षत्रप—क्षत्रपो का शासन बहुत कुछ मौर्यों के शासन से मिलता था, इस अर्थ मे कि महाक्षत्रप सदा एक क्षत्रप की सहायता से राज करता था, जो स्वय बाद मे महाक्षत्रप हो जाता था। यह क्षत्रप अधिकत्तर महाक्षत्रप का पुत्र हुआ करता था और उसका पद सभवत: युवराज का सा था। तक्षशिला मे मिले 78वें वर्ष वाले ताम्रपत्र मे हम ऐसे दो नाम मिलते हैं—(1) *लियक-कुसुलक* और (2) उसका पुत्र *पतिक*[1] *ये दोनो महाराय मोग* के आधिपत्य मे छहर और चुक्ष नामक विषयो के क्षत्रप थे। ये इलाके सभवत: तक्षशिला के समीपवर्ती थे।

मथुरा के क्षत्रप—सुराष्ट्र और अवन्ति देश को हस्तगत कर शकों ने मथुरा भी शीघ्र ही ले लिया। माथुर क्षत्रपकुल के प्रारम्भिक शासक हगान और हगामास थे जिन्होने सभवतः कुछ काल तक सम्मिलित शासन किया। उनका उत्तराधिकारी रज्जुबुल (राजुबुल) मोरावाले लेख मे महाक्षत्रप कहा गया है। उसने पजाब मे ग्रीक-कुल का अन्त करके स्त्रात प्रथम और स्त्रात द्वितीय के सिक्को की नकल मे अपने सिक्के ढलवाए। उसके पश्चात् उसका पुत्र सोडास महाक्षत्रप हुआ। मथुरा के सिंह-लेख के अनुसार वह तब क्षत्रप था जब पडिक अथवा पतिक महाक्षत्रप था। अतः ये दोनो समकालीन थे। वह शायद 17-16 ई० पू० मे जीवित था। उसके उत्तराधिकारियो के विषय मे हमारा ज्ञान स्वल्प है।

महाराष्ट्र का क्षहरात-कुल—क्षहरात शब्द की व्युत्पत्ति के विषय मे कुछ कहना कठिन है। सभव है उसका सम्बन्ध तक्षशिला के पास तत्कालीन 'छहर' नामक इलाके से हो। यह कुल महाराष्ट्र मे शासन करता था। इसका पहला क्षत्रप भूमक था, जिसने सुराष्ट्र मे राज किया। भूमक नहपान का पूर्ववर्ती शासक था जैसा उसके सिक्को की बनावट, धातु, तथा उन पर खुदी लिखावट से जान पडता है। उसके सिक्के फिर स्पलिरिस और अयस् दोनो के सयुक्त सिक्को के अकनादि से मिलते हैं। इस कुल का सबसे प्रसिद्ध क्षत्रप नहपान हुआ। वह भूमक के बाद ही गद्दी पर बैठा, पर हमे पता नही कि भूमक और नहपान का पारिवारिक सम्बन्ध क्या था। परन्तु नहपान के शक होने मे कोई सन्देह नहीं। उसका जामाता उषवदात (ऋषभदत्त) था जो एक लेख मे अपने को स्वयं शक कहता है। उससे नहपान की जो कन्या ब्याही थी, उसका हिन्दू

1. स्तेनकोनो CII, खण्ड 2, भाग 1, न० 13, पृ० 23-29।

नाम था दक्षमित्रा । पाण्डुलेण (नासिक के समीप), जुन्नार और कार्ले (जिला पूना) के लेखो से स्पष्ट है कि नहपान महाराष्ट्र के एक बहुत बडे भूभाग का स्वामी था। उसने यह सारी भूमि सातवाहनो से जीती थी। उसने अपने जामाता को मालवों के विरुद्ध उत्तमभद्रों की सहायता के अर्थ भेजा था। अपनी विजय के बाद उषवदात ने पुष्करतीर्थ पर कुछ दान किया। नहपान का राजनीतिक प्रभाव इस प्रमाण से अजमेर के प्रान्त तक पहुचा जान पडता है। उसके लेख किसी अनिश्चित सवत् मे 41-46वें वर्ष के है। सभवत ये तिथिया शक सवत् की हैं। यदि ये तिथिया विक्रम सवत्[1] की नही हैं तो निश्चय नहपान 119-24 ई० मे शासन करता था। कुछ विद्वानो ने उसे 'पेरिप्लस ऑव दि इरिथ्रियन सी' नामक ग्रीक पुस्तक मे आए मम्बरस या मम्बेनस नाम से समान माना है।[2] यदि यह तिथि सही हुई तो उसे ईसा की पहली शती के तीसरे चतुर्थांश मे होना चाहिए जैसा गलयम्बी के सिक्को और नासिक लेख से विदित होना है, क्योकि नहपान अथवा उसके किसी उत्तराधिकारी की शक्ति सातवाहन नरेश गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि ने नष्ट कर दी। परन्तु वास्तव मे जितना नहपान की तिथि मे सन्देह है उतना ही गौतमीपुत्र की तिथि मे। दोनो का स्थिर करना कठिन है।

उज्जैन के क्षत्रप—उज्जैन के क्षत्रपो का प्रभुत्व पश्चिमी भारत मे कई शताब्दियो तक कायम रहा। यसामोतिक का पुत्र चष्टन उज्जैन-कुल क्षत्रपो का प्रारम्भक था। चष्टन और तालेमी का ओजेनवाला तियस्तेनि (Tiastenes of Ozene) सभवत एक ही थे। उसके सिक्के नहपान के सिक्को से मिलते है और शायद उन्हीं की नकल हैं। चष्टन ने पहले क्षत्रप फिर महाक्षत्रप के पद से शासन किया। जूवो दुब्रोआ उसे गौतमीपुत्र या कुषाणो का सामन्त राजा मानते हैं।[3] चष्टन का पुत्र और उत्तराधिकारी जयदामा केवल क्षत्रप था। उसके शासनकाल मे कोई महत्त्वपूर्ण घटना नही हुई और न उसने किसी प्रकार का सुयश ही कमाया। परन्तु उसका पुत्र और चष्टन का पौत्र रुद्रदामा महान् शासक हुआ। उसके प्रशस्तिलेख से उसकी समृद्धि और शक्ति का पता चलता है। 150 ई० का उसका जूनागढवाला शिलालेख उसके महान् कार्यों की प्रशसा करता है।[4] इससे पता चलता है कि उसने उचित शासन और विजय दोनो किए। उसने गर्वील यौधेयो को जीता और दक्षिणापथ के स्वामी शातकर्णि को

---

1 Dubreuil Ancient History of Deccan, पृ० 22।

2 उसकी राजधानी जायसवाल के अनुसार भरुकच्छ थी।

3 Ancient History of Deccan, पृ० 37।

4 Epigraphia Indica, VIII, पृ० 36-49।

दो बार परास्त किया। वह महाक्षत्रप पद को प्राप्त हुआ था।[1] दूर-दूर के देश उसका शासन मानते थे। उत्तरी गुजरात, सुराष्ट्र, कच्छ, सिन्धु की निचली तटवर्ती भूमि, उत्तरी कोंकण, मान्धाता का प्रान्त, पूर्वी और पश्चिमी मालवा और राजपूताना के कुकुर, मरु[2] आदि प्रदेश सब उसके शासन की सीमाओ के अन्तर्गत थे। इनमे से कुछ प्रदेश गौतमीपुत्र शातकर्णि के अधिकार मे कभी रह चुके थे, जिससे जान पड़ता है कि रुद्रदामा ने अपना राज्यविस्तार सातवाहनो को ही पगु करके किया। उसके शासनकाल मे सुदर्शन ह्रद के बाध टूट गए थे जिन्हे उसके आनर्त्त और सुराष्ट्र के पह्लव प्रान्तीय शासक ने तीनगुना मजबूती से फिर से बधवाया। उसका यह प्रान्तीय शासक कुलैप का पुत्र सुविशाख नाम का था। रुद्रदामा ने इस कार्य का सम्पूर्ण व्यय बिना प्रजा पर कर लगाए हुए अपने कोष से दे दिया था। पश्चिमी व्यापारपरक प्रदेशो के स्वामी होने के कारण और उसकी राजधानी उज्जयिनी के सार्थवाह-राजमार्ग पर स्थित होने के कारण उसके कोष मे अतुल सम्पत्ति धारावाहिक रूप से गिरती होगी।

रुद्रदामा के उत्तराधिकारी हुए तो अनेक पर वे अधिकतर नगण्य ही थे। तृतीय शती ईसवी मे ईश्वरदत्त के नायकत्व मे आभीरो ने क्षत्रपो के राज्य पर आक्रमण करके उसे क्षत-विक्षत कर दिया। फिर भी क्षत्रपो का यह कुल जीवित रहा। उनके अन्तिम राजा का चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने नाश किया, जो सभवत रुद्रसिंह तृतीय था।

उज्जयिनी के शको का ही 58 ई० पू० मे नाश कर मालवो का गण वहा स्थापित हुआ, जिसने अपने नाम से उस अवन्ति-देश का नया सस्कार किया और अपनी इस राष्ट्रीय विजय के उपलक्ष्य मे नये सिक्के (मालवानाजय) चलाए और देश को विक्रम नामक एक राष्ट्रीय सवत् प्रदान किया जो उसी विजय की तिथि से चला। उसका विषय मालवो के अपने इतिहास से अधिक सम्बन्ध रखता है, अत उस मालव-विक्रम-सवत् पर परिशिष्ट 'क' मे स्वतन्त्र और सविस्तार विचार करेंगे।

पह्लव—भारतीय इतिहास मे हिन्दू-पार्थव अथवा पह्लवो का इतिहास भी जटिल है। परन्तु इनके सम्बन्ध के कुछ सिक्के और लेख हैं जिनसे इस राज-कुल पर थोडा प्रकाश पडता है। वोनोनी (Vonones) इस कुल का आदि पुरुष था जो अराकोसिया और सेइस्तान मे प्रचुर शक्ति लाभ कर राजाधिराज बन गया। उसके सिक्के युक्रेदित के कुल के सिक्को के समान हैं। उन पर वह

1 स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना।

2. पूर्वापराकरावन्त्यनूपनीवृदानर्तसुराष्ट्रश्वभ्र(म)रुकच्छसिन्धुसौवीरकुकुरापरान्तनिषदादीना समग्राणा तत्प्रभावात् ''।

अपने भाइयो स्पलिरिस् और स्पलहोरिस् तथा भतीजा स्पनगदमिस् से सयुक्त है। सभवत उसके भाई-भतीजे उसके *'विजिन' के गवर्नर (प्रान्तीय शासक)* थे। वोनोनी के बाद स्पलिरिस् राजा हुआ। यही शायद अयस् द्वितीय का अधिपति था। उसके कुछ सिक्को पर ग्रीक भाषा मे सामने उसका नाम खुदा मिलता है और पीछे खरोष्टी मे अयस् का।

गुदुफर (Gondophernes), गुदुह्वर, गुडन और विन्दफर्ण आदि कई नामो से जाना जाता है। स्पलिरिस् के बाद वही गद्दी पर बैठा। हिन्दू पार्थव राजाओ मे सबसे महान् वही था। तख्त-ए-बाही लेख ने उसका काल निश्चित कर दिया है। वह लेख 103वें वर्ष का है।[1] यह उस राजा का 26वा शासन वर्ष है। उसने सभवतः 19 ई० से 45 ई० तक राज किया। वह पूर्वी ईरान और पश्चिमी भारत के सारे शक-पह्लवो का राजा हो गया। कुछ ईसाई अनुश्रुतियों मे उसे 'भारत का राजा' कहकर उसका सन्त टामस से सम्पर्क बताया गया है। सभवत वह ईसाई सन्त गुदुफर से मिला था। गुदुफर के मरने पर उसका राज्य टूकटूक हो गया। अन्त म कुषाणो ने उन टुकडो को भी आत्मसात् कर लिया।

सातवाहन—उपनिषत्काल मे और कदाचित् उससे पहले ही जो ब्राह्मण-राजन्य सघर्ष आरम्भ हो गया था वह प्रचुर काल तक चलता रहा। उसकी वास्तविक समाप्ति गौतम बुद्ध के समय हुई, जब उनके उपदेशो के फलस्वरूप ब्राह्मण धर्म प्राय शिथिल पड गया, परन्तु उसका एक बडा बुरा प्रभाव देश पर यह पडा कि गृहस्थ अधिकतर गृह छोड विहारवासी हो चले। ब्राह्मणो के साथ श्रमणवर्ग की भी गणना होने लगी और शीघ्र क्षात्रवृत्ति करनेवाले राजन्यो की सख्या विशेष रूप से घट चली। तभी ईरानी सम्राट् दारा (दारयवहु) ने बढकर *पजाव (सिन्धु) अपने साम्राज्य मे मिला लिया। भारतीय क्षत्रियो ने* वास्तव मे काषाय निर्चीवर धारण कर अपनी तलवार घर के कोनो मे टिका दी। इस समय ब्राह्मण, जिनके गृहस्थ अधिकतर श्रमण अथवा गृहवासी बौद्ध उपासक हो गए थे, अपनी वृत्ति के छूटने के कारण सभवत. कुछ चैतन्य हो गए। वर्णाश्रम धर्म की चूलें ढीली पड चुकी थी। इसी समय उनके नेताओ ने देखा कि भारत का पश्चिमोत्तर प्रान्त विदेशी आक्रमणो द्वारा आक्रान्त रहने लगा। ईरानियों के बाद ग्रीक आए—अलिकसुन्दर, सेलिउक और दिमित। फिर उनके नेताओं ने अपनी शक्तियो को एकत्र किया। राजन्यो की घर के कोनो मे टिकाई तलवार ब्राह्मणो ने उठा ली और फलस्वरूप द्वितीय शती ई० पू० मे हमारे इतिहास मे एक नये भारत का नक्शा खडा हो गया, जो ब्राह्मण

1. स्तेन कोनो, CII खण्ड 2, न० 20, पृ० 57-62।

साम्राज्यो का था । एक ही समय मे भारतवर्ष मे तीन ब्राह्मण-साम्राज्य सुवा फेंक अस्त्रहस्त हुए । वे थे मगध के शुग, कलिंग के चेदि (चैत्र) और दक्षिण में सातवाहन । इनमे अन्तिम सातवाहनो का इतिहास नीचे दिया जाता है ।

सातवाहनों के आरम्भ के सम्बन्ध मे कुछ लिखना कठिन है । अशोक के *'सतियपुत'* और इतिहासकार प्लिनी के *'सेतई'* (*Setai*) से उनका सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है परन्तु ऐसा प्रयत्न वैसे ही असफल हुआ है जैसे जिनप्रभसूरि के *'तीर्थकल्प'* अथवा *'कथासरित्सागर'* (*6, 87*) का । शिलालेखो मे उनके राजाओ को अधिकतर 'शातकर्णि' और 'सातवाहन' कहा गया है । परन्तु इन दोनो शब्दो का अर्थ करना कठिन है । विद्वानो मे इस विषय मे सहज ही मतैक्य भी नही है । नासिक-लेख मे निस्सन्देह गौतमीपुत्र को 'एकब्रम्हन' और शक्ति मे राम (परशुराम) सरीखा कहा गया है ।[1] उसे क्षत्रियो के दर्प और मान का दमन करनेवाला (खतियदपमानमदनस्य)[2] कहा गया है । इस प्रकार सातवाहनो का ब्राह्मण होना प्राय सिद्ध ही है । पुराण सातवाहनो को 'अन्ध्र' कहते हैं । अन्ध्र लोग गोदावरी और कृष्णा नदियो के बीच के भूभाग तेलुगु के रहनेवाले थे । उनकी प्राचीनता मे कोई सन्देह नही । उनका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण, मेगस्थेनीज की 'इण्डिका' और अशोक के शिलालेखो मे हुआ है । अन्ध्र मौर्य-साम्राज्य के अन्त मे स्वतन्त्र हो गए । परन्तु यह ठीक समझ मे नही आता कि उनका सातवाहनो से क्या सम्बन्ध था ? इसमे कोई सन्देह नही कि सातवाहन लेखो मे 'अन्ध्र' शब्द नही मिलता । सातवाहनो के प्राचीनतम लेख नानाघाट (पूना जिला) और साची (मध्य भारत) मे मिले हैं, *जहा से उठकर उन्होने अन्ध्र देश जीत लिया था । उन* दक्खिन-निवासी सातवाहनो का सचमुच ही प्राचीन अन्ध्रो से कहा तक रक्त-सम्बन्ध था, यह कहना कठिन है । साधारणतया उन्हे आन्ध्र भी कहते होगे जो सभवत उनके अन्ध्र देश जीत लेने के कारण और उसके बाद हुआ होगा ।

सातवाहनों का समय—जितना कठिन सातवाहनो का मूल निश्चित करना है, उससे कही अधिक कठिनाई उनके काल-निर्णय के सम्बन्ध मे हमे पडती है । पुराणो के आन्ध्रो और सातवाहनो को एक मानते हुए कुछ विद्वान् उनका प्रारभ ईसा पूर्व तृतीय शती मे रखते हैं । अन्य सिमुक को पुराणानुसार आन्ध्र सातवाहनो का आदि पुरुष और कण्वो का विध्वसक मानकर उस कुल के शासन का आरम्भ 29 ई० पू० मे मानते हैं । मौर्यों के अन्तिम नृपति बृहद्रथ को मारकर पुष्यमित्र शुग राजा हुआ और शुगो के अन्तिम राजा देवभूति को मार-

---

1 Epigraphia India, 8, पृ० 60-61, पक्ति 7 ।

2 वही, पंक्ति 5 ।

कर काण्वायन वसुदेव मगध के बचे-खुचे साम्राज्य का सम्राट् बना ।[1] इस प्रकार सातवाहनो के शासनकाल और उसकी तिथियो के सम्बन्ध मे उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर कोई मत निश्चित नही किया जा सकता। फलस्वरूप उनके शासन का आरम्भिक समय दूसरी-तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व से 29 ई० पू० तक हो सकता है। यहा जो तिथिया अनुमित की गई हैं, उनकी प्रामाणिकता उतनी ही सदिग्ध है, जितनी अन्यो की। इन्हे केवल शृ खला-क्रम कायम रखने के लिए दिया जाता है।

सातवाहनों के राजा—ऊपर कहा जा चुका है कि सिमुक सातवाहन कुल का प्रतिष्ठापक और मूल राजा था। उसने ई० पू० प्रथम शती के मध्य मे शासनरज्जु धारण की। उसके बाद उसका भाई कृष्ण (कन्ह) नासिक के आसपास का भी राजा बना, क्योकि वहा के एक शिलालेख मे उसका सकेत है। सिमुक का पुत्र शातकर्णि इस वश का तीसरा नरेश था। वह प्रतापी राजा था। उसने दो अश्वमेध किए। नानाघाट के लेख मे उसकी विस्तृत विजयो का उल्लेख है।[2] साची स्तूप के द्वार पर खुदे एक लेख मे किसी शातकर्णि का उल्लेख है, जिससे जान पडता है कि मध्य भारत सातवाहनो के शासन मे काफी पहले ही आ गया था। एक शातकर्णि खारवेल का भी समकालीन था। शातकर्णि ने अगीय महारठी त्रणकयिरो की पुत्री नायनिका (नागनिका) को ब्याहा था। वह शात कुमारो, शक्तिश्री और वेदश्री की अभिभाविका थी। इसके बाद का उनका इतिहास अन्धकार मे है। गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि इस कुल का सभवत सबसे महान् शासक हुआ। इस अन्धकार युग के बाद उसी का प्रकाश इतिहास को मिलता है। पुराणो ने अनेक राजाओ के नाम गिनाए हैं पर अधिकतर वे नाममात्र हैं। उनमे से हाल, वासिष्ठपुत्र श्रीपुलमावि और यज्ञश्री शातकर्णि विशेष उल्लेखनीय हैं। हाल ने प्राकृत भाषा मे प्रसिद्ध 'गाथासप्तशती' (सप्तशतक, सतसई) लिखी। प्रथम शती ईसवी के अन्त म शक क्षत्रपो ने सातवाहनो के हाथ से महाराष्ट्र छीन लिया।

परन्तु सम्राज्ञी गौतमी बालश्री के नासिकावाले लेख से जान पडता है कि उसके पुत्र शातकर्णि ने दक्खिन शको से छीन लिया।[3] उसने क्षत्रियों के मान और दर्प का नाश कर वर्णाश्रम धर्म की रक्षा की। शक, यवनो और पह्लवो

---

1 काण्वायनस्ततो भृत्य सुशर्माण प्रसह्यतम्।
 शुगानाच यच्छेष क्षपयित्वा बल तदा।
 सिन्धुको अन्ध्रजातीय प्राप्स्यतीमा वसुन्धराम्।—वायुपुराण।

2. Rep. Arch Sur. West India 5, पृ० 60।

3. Ep. Ind-. 8, पृ० 59-62.

का उसने पराभव किया और क्षहरातो को नष्ट कर सातवाहन कुल की राज्य-लक्ष्मी पुनर्स्थापित की ।[1] जिन देशो को उसने जीता था उनके नाम थे—असिक असक, मुलक, सुरठ, कुकुर, अपरान्त, अनूप, विदर्भ और आकरावन्ति ।[2] नासिक (जोगलथम्बी) के चादी के सिक्को स जान पडता है कि उसने शकराज नहपान का विध्वस कर उसके सिक्के फिर स अपने नाम मे चलाए। अपने शासन के अठारहवें साल म उसने नासिक के पास का पाण्डु-लेण (गुफा) दान किया और 24वें वर्ष मे उसने कुछ साधुओ को भूमि दान कर एव लेख मे उसका उल्लेख किया ।[3] इस प्रकार उसने कम स कम 24 वर्षो तक राज किया ।

जिसने गौतमीपुत्र शातकर्णि के राज्य को कुछ काल तक और विस्तृत किया और आन्ध्रप्रदेश को जीता वह उसका पुत्र वासिष्ठिपुत्र श्रीपुलमावि था जो सम्भवत 130 ईसवी मे सिंहासन पर बैठा । तालेमी का सिरोपोलेमाऊ (Siropolemaiou) सभवत वही था । उसे तालेमी बैथन या पैठान (प्रतिष्ठान) का राजा कहता है । पैठान उत्तरकालीन सातवाहनो की राजधानी हो गई थी। रुद्रदामा ने अपने जूनागढवाले शिलालेख म लिखवाया है, कि उसने दक्षिणापथ नरेश के शातकर्णि को दो बार हराया था ।[4] सभवत वह शातकर्णि पुलमावि ही था । श्री रैप्सन न थाना जिले के कन्हेरीवाले लख मे उल्लिखित वासिष्ठिपुत्र श्री शातकर्णि को यही पुलमावि माना है । उस लेख के अनुसार वह महाक्षत्रप रुद्र रुद्रदामा) का जामाता था । इसी कारण जूनागढवाले लेख मे भी वह उसका 'अविदूर सम्बन्धी' कहा गया है । जूनागढवाले रुद्रदामा के शिलालेख मे ज्ञात होता है कि उस शक नृपति न सातवाहनों क अनेक देश जीते और उसका राज्य दूर तक फैला हुआ था । लगभग 155 ईसवी मे वासिष्ठिपुत्र श्री पुलमावि का देहान्त हुआ ।

यज्ञश्री शातकर्णि ने लगभग 165 ई० से 195 ई० तक शासन किया और उसने अपने कुल को फिर एक बार उन्नत किया । उसके कन्हेरी, पाण्डु-लेण चिन्न (कृष्ण जिला) आदि के लेखो और सिक्को क प्राप्ति-स्थान से विदित होता है कि उसका शासन बगाल की खाडी और अरब सागर के मध्य

---

1 खतियदपमानमदस सकयवनपह्लवनिसूदनस खखरातवसनिरवसेसकरस सातवाहनकुलयसपतिथापनकरस ।

2 वर्तमान गुजरात, सौराष्ट्र, मालवा, बरार, उत्तरी कोकण, और पूना-नासिक क समीपवर्ती प्रदेश ।

3 Ep Ind, 8, न० 5, पृ० 73-74

4 वही, पृ० 36 49—दक्षिणापथपते. शातकर्णेद्विरपि निर्व्याजमवजित्या-वजित्य सम्बन्धाविदूरतयानुत्सादनात्प्राप्तयशसा'''।

के विस्तृत भू प्रदेश पर था। वह भूमि के अतिरिक्त समुद्र का स्वामी भी जान पडता है। उसके एक प्रकार के सिक्को पर दो मस्तूलवाले एक समुद्रगामी पोत और एक मछली और शख के चिन्ह अकित हैं। उन पर सामने खुदे लेख का पाठ है—(र) ण समस स (f) र यत्र सतकणस। उनके पीछे की ओर उज्जैनी चिह्न बने हैं। चिह्न वाले उसके लेख मे उसके शासन के 27वें वर्ष का उल्लेख है। यह शातकर्णि अपने कुल के पिछले काल मे एक महान् शासक हुआ। उसके उत्तराधिकारी नाममात्र के राजा थे। उनके समय म आभीरो ने महाराष्ट्र और इक्ष्वाकु और पल्लवो न उसके पूर्ववर्ती प्रदेश सातवाहनो से छीन लिये।

इन शताब्दियो की सभ्यता उत्तरी भारत—मौर्यों के बाद शुगो ने ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार किया। यज्ञ क्रियाए लौटी। पुष्यमित्र और गौतमीपुत्र ने दो-दो बार अश्वमेध किए जो चिरोत्सन्न हो गया था। 'गार्गी सहिता' के युग-पुराण से ज्ञात होता है कि ग्रीक और भारतीय नगरो मे साथ-साथ रहते थे। अनेक ग्रीक भागवत धर्म के उपासक हो गए थे। वेसनगर का वैष्णव स्तम्भ शुग राज भागभद्र के दरबार मे तक्षशिला के ग्रीकराज अन्तलिखित द्वारा भेजे दिय के पुत्र 'भागवत' हेलियोदोर ने खडा किया था।

भरहुत और साची की वेदिकाए (रेलिंग) और स्तूप इसी शुग कला के स्मारक हैं। साची क द्वार की कारीगरी विदिशा के गजदन्त कलाकारो का यश विस्तार करती हैं। अमरावती की कला भी तब का ही एक नमूना है।

तत्कालीन साहित्य भी शुगो के शासन मे खूब पनपा। वाल्मीकीय रामायण के अधिकतर भाग प्राय इसी काल म रचे गए। महाभारत के भी अनक स्थल तभी के हैं। मनुस्मृति की रचना भी सम्भवत तभी की है। गोनर्द (गाडा) के पतजलि ने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर अपना प्रसिद्ध महाभाष्य लिखा। वे पुष्यमित्र के समकालीन थे।

शुगो के बाद जो अनेक शक और हिन्दू ग्रीक शासक हुए वे भी अधिकतर भारतीय देवताओ के उपासक बन गए, जैसा उनके सिक्को के अध्ययन से जान पडता है। उन्होने हिन्दू स्त्रिया स विवाह किया और अनक ब्राह्मणो को अपना जामाता बनाया। अपने नाम भी उन्होने भारतीय रखे। तब का हिन्दू समाज उदार था। निश्चय तभी ग्रीक और शक जनता हिन्दू जनता मे खो गई।

सातवाहनो के समय का दक्षिण भारत—सातवाहनो का दक्षिण भारत उतना ही सजीव था जितना शुगो और शक पार्थवो का उत्तरी-भारत। सातवाहन स्वय तो ब्राह्मणधर्मी थे, परन्तु उनके शासन मे बौद्ध और ब्राह्मण-धर्म समानरूप स समृद्ध थे। बौद्ध उपासक श्रमण भिक्षुओ के निवास के लिए दरी-गृह खुदवाते और उन्हे दान करते थे। उनके भोजनार्थ गदाजीवी सत्रो का

प्रबन्ध करते थे। धन-द्रव्यो को श्रेणियो मे रखकर उसके ब्याज से ये सत्र अथवा इस प्रकार के अन्य देवकार्य चलाए जाते थे। चैत्यगृहो के भी अनेक निर्माण और दान सातवाहनो के उदार शासन मे हुए। ब्राह्मण-धर्म तो सहज ही उदीयमान था, सातवाहन राजाओ के अश्वमेध, राजसूय और आप्तोर्यामादि के अनुष्ठान से ब्राह्मणो की वृत्ति भी चमक उठी। शैव और वैष्णव सम्प्रदाय विशेष उन्नत थे। परन्तु धर्म, इन्द्र और अन्य वरुण, कुबेर आदि लोकपालो की भी पूजा होती थी, जिनकी मूर्तिया मन्दिरो मे पधराई जाती थी। सम्प्रदायो की परस्पर सहधर्मिता थी। आपस मे जब-तब वे दान भी करते थे। विदेशी भी बौद्ध और ब्राह्मण धर्म स्वीकार करते थे। कार्ले के एक लेख मे दो यवन 'सिंहध्वज' और 'धर्म' नाम के उल्लिखित हैं। शक-शासक उषवदात (ऋषभदत्त) ब्राह्मण धर्म का प्रबल अनुयायी था। शक रुद्रदामा का जामाता ब्राह्मण-सातवाहन वासिष्ठिपुत्र श्रीशातकर्णि था। इस प्रकार के अन्य अनेक सम्बन्ध ब्राह्मण धर्मियो और विदेशियो मे स्थापित हो गए थे और होते जा रहे थे।

सामाजिक जीवन—सामाजिक स्तरो मे सबसे ऊचा स्तर उन राजनीतिक उच्चपदस्थ व्यक्तियो का था जो 'महाभोज', 'महारठी' और 'महासेनापति' थे। वे शासन के विविध राष्ट्रो (प्रान्तो) के कर्णधार थे। अमात्य, महापात्र और भाण्डागारिक उसी वर्ग के निचले छोर पर थे। नैगम (सौदागर), सार्थवाह और श्रेणिमुख्य श्रेष्ठिन् वृद्ध नागरिक थे। इनके अतिरिक्त समाज मे वैद्य, लेखक, सुवर्णकार, गान्धिक और हालकीय (कृषक) आदि थे। मालाकार (माली), वर्धकी (बढई), दासक (मछलीमार) और लोहवजित (लुहार) आदि भी अपने-अपने व्यवसाय मे दत्तचित्त थे। कुल का स्वामी कुटुम्बी और गृहपति कहलाता था।

आर्थिक जीवन—तब का आर्थिक जीवन श्रेणियो का था। एक व्यवसाय मे काम करनेवाले अपना जो दल बना लेते थे उसे श्रेणी कहते थे। धनिक (अन्न-व्यवसायी), कुम्हार, कोलिकानिकाय (जुलाहे), तिलपिषक, कासाकर, वसकर आदिको की अनेक श्रेणिया देश मे थी। इन श्रेणियो का अपना बैंक होता था जिसमे 'अक्षय नीवी' (Fixed deposit) डालकर लोग उसके ब्याज का उपयोग करते थे। सिक्के सोने, चादी और ताबे के थे। चादी और ताबे के सिक्के कार्षापण (कहापन) कहलाते थे। सुवर्ण 35 चादी कार्षापणो के बराबर होता था।

दूर-दूर के देशों से व्यापार स्थल और जल के वाणिक्पथो से होता था। भरुकच्छ, सोपारा और कल्याण सामुद्रिक बन्दर, और तगर, पैठन और उज्जियिनी व्यापार केन्द्र थे। ई० सन् प्रथम शती की ग्रीक व्यावसायिक पुस्तक Periplus of the Erythrean Sea (पेरिप्लस आँव दि इरिथ्रियन सी) मे

उन सारी वस्तुओ की तालिका दी हुई मिलती है जो भारत से बाहर जाती और भारत में अन्य देशो से आती थी।

साहित्य—सातवाहनो के शासन मे प्राकृत बहुत फूली-फली। हाल ने स्वय 'गाथासप्तशती' लिखी और उसके समकालीन गुणाढ्य ने पैशाची मे 'बृहत्कथा' लिखी। सर्ववर्मन् का 'कातन्त्र' कदाचित इसी समय लिखा गया। यह विशेष बात है कि ब्राह्मण सातवाहनो ने सस्कृत छोडकर प्रान्तीय प्राकृतों को बढाया।

परिशिष्ट 'क'

भारतवर्ष की काल-गणना मे बीसो सवत् चले परन्तु उनमे से जीवित थोडे ही रहे। सबसे लम्बा जीवन-विस्तार विक्रम-सवत् का ही रहा। वैसे भारत मे कम से कम छह सवत् ऐसे थे जो विक्रम-सवत् से पहले चलाए गए। ये हैं सप्तर्षि-सवत्, कलियुग-सवत् (युधिष्ठिर-सवत्), वीर-निर्माण-सवत्, बुद्धि-निर्वाण-सवत्, मुरियकाल (मौर्य सवत्) और सिल्यूकिद-सवत्। इनमे से सप्तर्षि सवत् कश्मीर और उसके आसपास के पर्वतीय प्रदेशो मे विशेषकर ज्योतिर्विदो द्वारा प्रयुक्त होता रहा है। कलियुग-सवत् भी पचागादि म ज्योतिषियो द्वारा ही प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार वीर-निर्माण-सवत् का प्रयोग अधिकतर जैन आचार्यों द्वारा जैन-ग्रन्थो मे और बुद्ध-निर्माण-सवत् बौद्ध ग्रन्थो मे पाया जाता है। चीन और तिब्बत आदि बौद्ध देशो मे भी इस बुद्ध-निर्माण-सवत् का प्रचुर प्रचलन रहा है। मौर्य-सवत् (मुरिय काल) का उपयोग अत्यन्त अल्प हुआ है और जहा तक इतिहास-विदो को ज्ञात है यह गणना क्रम केवल एक बार उडीसा के पुरी जिले के हाथी-गुम्फावाले खारवेल के शिलालेख मे प्रयुक्त हुआ है। सिल्यूकिद-सवत् तो भारत मे शायद किसी काल म प्रयुक्त नही हुआ। इसे ग्रीकराज सिल्यूकस ने चलाया था परन्तु इसका प्रसार सभवत हिन्दूकुश के इस पार न हो सका।

सिल्यूकिद-सवत् के बाद काल-क्रम से विक्रम-सवत् ही आता है क्योकि इसका आरम्भ ई० पू० 57-56 मे हुआ था। उत्तरी भारत मे विक्रम-सवत् का आरम्भ चैत्र शुक्लपक्ष 1 से और दक्षिण भारत मे कार्तिक शुक्लपक्ष 1 से माना जाता है। इसी से उत्तरी को 'चैत्रादि' और दक्षिणी को 'कार्तिकादि' सवत् कहते हैं। उत्तर मे महीने कृष्ण 1 से आरम्भ होकर शुक्ल 15 को समाप्त होते हैं और दक्षिण मे शुक्ल 1 से प्रारम्भ होकर कृष्ण अमावस्या को समाप्त होते हैं। इसी कारण उत्तरी भारत मे महीने 'पूर्णिमान्त' और दक्षिणी भारत मे 'अमान्त' कहलाते हैं। भारतवर्ष के सवतों में जिस सवत् का उप-

योग सबसे प्राचीन काल (उन्हे छोड़कर जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है) से लेकर आज तक प्रचलित रहा है, वह है विक्रम-सवत् । इसके निचले छोर के सम्बन्ध मे तो किसी प्रकार का सदेह हो ही नही सकता क्योकि हम आज इसका सर्वथा सर्वत्र प्रयोग कर ही रहे हैं परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि इस सवत् का प्राचीनतम प्रयोग इस नाम से नवी शती ईसवी से पूर्व मे नही मिलता । सभव है जिन लेखो मे इसका विक्रम-सवत् नाम से उल्लेख हुआ हो वे अब तक नही मिल सके और आगे मिलें, परन्तु यह कम कुतूहल का विषय नही कि जहा हमारे नाना राजकुलो के खुदाए मिले हुए तिथिविधायक शिला स्तम्भ और अन्य लेखो की सख्या सहस्रो मे है वहा नवी शती ईसवी से पूर्व का एक भी लेख विक्रम-सवत् के स्पष्ट उल्लेख के साथ न मिला । जिस पहले लेख मे विक्रम-सवत् का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है वह चाहमान (चौहान) राजा चण्डमहासेन का है जो धौलपुर से मिला है और विक्रम-सवत् 898 अर्थात सन् 841 ई० का हवाला देता है । उस लेख का एकाश इस प्रकार है—वसु नव(अ)ष्टौ वर्षा गतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य (।) वैशाखस्य सिताया (या) रविवार-युतद्वितीया·· ।[1]

कृत और मालव सवत् जान पडता है, विक्रम-सवत् ही है । सभवत विक्रम-संवत् का प्रयोग कृत और मालव नामो से हुआ है । कृत और मालव सवतो के एक होने मे तो कोई सन्देह है नही, क्योकि एक ही लेख मे दोनो का पर्यायवाची अर्थ मे प्रयोग हुआ है ।[2] पर साधारणतया मालव और विक्रम-सवतो के एक होने मे भी कोई सन्देह इसलिए नही होना चाहिए कि दोनो का आरम्भ एक ही तिथि से है । अनेक बार इस प्रकार विक्रम-सवत् का प्रयोग मालव-सवत् के नाम से हुआ है ।[3]

---

1. Indian Antiquary, खण्ड 19, पृ० 35
2 श्रीर्म्मालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसज्ञिते (।)—Epigraphia Indica, खण्ड 12, पृ० 320 । कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वकाशीत्युत्तरेष्वस्या मालव-पूर्व्वस्या—राजपूताना सग्रहालय, अजमेर मे सुरक्षित उदयपुर राज के नागरी का लेख ।
3. मालवाच्छरदा षट्त्रिशत्संयुतेष्वतीतेषु नवसु शतेषु—Archaeological Survey Report, खण्ड 10, प्लेट 11, ग्यारसपुरवाले लेख से ।
श्रीर्म्मालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसज्ञिते (।) एकषष्ट्यधिके प्राप्ते समाशत चतुष्टये (॥) प्रावृक्का (ट् का) ले शुभे प्राप्ते—Ep. Ind., खड 12, पृ० 320 — नरवर्मा का मन्दसौर (दशपुर) वाला शिलालेख ।
कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वेकाशीत्युत्तरेष्वस्या मालवपूर्व्वस्या (400) 801

साधारणतया मालव संवत को ही विक्रम-सवत् कहते है। पश्चात् काल मे तो यह सज्ञा लुप्त होकर केवल विक्रम-सवत्वाली ही रह गई और इस लोप की एक मजिल हमे तब उपलब्ध होती है जब हम कणस्वा के शिवमन्दिर-वाले लेख मे 'सवत्सर मालवेशाना' और मैनालगढवाले मे 'मालवेशगतवत्सर (रै)' पढते हैं। जान पडता है कि बाद मे लोग विक्रमादित्य और उनका मालवगण के साथ वाला सम्बन्ध स्पष्ट न रख सके।

मालव-सवत् को विक्रम-संवत् क्यो कहने लगे, इस पर विद्वानो के मतभेद हैं। कुछ का तो कहना है कि विक्रमादित्य नाम के राजा ने ही इस सवत् को चलाया जिससे इसकी सज्ञा विक्रम-सवत् पडी। कुछ यह मानते हैं कि वास्तव मे यशोधर्मदेव ने हूणो को हराकर यह सवत् चलाया और इसे प्राचीन करने के लिए इसका आरम्भ 500 वर्ष पूर्व फेंक दिया। स्पष्ट है कि इस सिद्धात मे अटकल ही आधार और अटूट दोनो हैं और इस पर विचार करने की आवश्यकता नही, यद्यपि यशोधर्मा स्वय एक विक्रमादित्य था। इसको न मानने

कार्त्तिकशुक्लपञ्चम्याम्।—मध्यमिका का लेख, अजमेर के पुरातत्त्व सग्रहालय मे सग्रहीत।

मालवाना गणस्थित्या याते शतचतुष्टये। त्रिनवत्यधिकेऽब्दानम्रि (मृ) तौ सेव्यघनस्तने। सहस्यमासशुक्लस्य प्रशस्तेह्नि त्रयोदशे — कुमारगुप्त प्रथम का मन्दसौर (दशपुर) का शिलालेख, फ्लीट, Gupta Inscriptions, पृ० 83.

पचसु शतेषु शरदा यातप्वेकान्नवतिसहितेषु। मालवगणस्थितिवशात्काल-ज्ञानाय लिखितेषु—वही, पृ० 154. यशोधर्मा (विष्णुवर्धन) के मन्दसौर-वाले लेख से।

सवत्सरशतैर्याते सपचनवत्यर्गलै (।) सप्तभिर्मालवेशाना — कणस्वा (कोटा के पास) के शिव मन्दिर के लेख से, Ind, Ant, खण्ड 19, पृ 59.

मालवेशगतवत्सर (रै) शतै. द्वादशैश्च (षट्विशपूर्वकै)—Journal of the Asiatic Society of Bengal, खण्ड 55, भाग 1, पृ० 46 — अजमेर के चाहमान राजा पृथ्वीराज (पृथ्वीभट) के समय के मैनालगढवाले (उदयपुर राज्यान्तर्गत) लेख से (स० 1226)। इस लेख से अनुमान होता है कि लेखक के समय अर्थात् सवत् 1226 तक सभवत मालवो के गण होने की बात लोगो को भूल गई थी और 'मालवगणस्थिति' को 'मालवेश' का सवत्सर कहा जाने लगा था। इस लेख मे आए मालवेश से तात्पर्य विक्रमादित्य से है, परन्तु सौभाग्यवश उस सज्ञा का सम्बन्ध अभी मालवा अथवा मालव (गण) से जुडा हुआ है। लेखक मालवगणवाली अनुश्रुति की परम्परा को भूलकर इस सवत्सर को 'मालवेश' का सवत् कहता हुआ भी उसका सम्बन्ध मालवा से न भूल सका।

का सबसे बड़ा कारण यह है कि मालव-संवत् एक विस्तृत काल से तब चला आ रहा था। फ्लीट साहब के इस अनुमान को सहज ही विद्वानों ने त्याग दिया है। कुछ विद्वानों ने सन्देह किया है कि ई० पू० प्रथम शती में कोई विक्रमादित्य नामक राजा हुआ भी या नहीं। संभवतः नहीं हुआ। उनका यह सन्देह कुछ मात्रा में ग्राह्य भी है। साधारणतया यह प्रश्न हो सकता है कि यदि प्रथम शताब्दी ई० पू० में विक्रमादित्य नामक इतना प्रतापी राजा हो सकता तो कम से कम उसके कुछ शिलालेख, स्तम्भलेख अथवा अन्य लेख तो हमें प्राप्त होते। परन्तु जिन विद्वानों ने इस प्रश्न को उठाया है उन्होंने इस बात पर शायद ध्यान नहीं दिया है कि प्रथम शती ई० पू० का समय अत्यन्त डावा-डोल और उथल पुथल का था। संभव है ऐतिहासिक सामग्री बिखर गई हो जिस पर हम उसके अस्तित्व का आधार रख सकते। परन्तु साथ ही हमें यह बात न भूलनी चाहिए कि जनश्रुति के साथ-साथ ही ऐतिहासिक अनुश्रुति भी प्रथम शती ई० पू० में किसी विक्रमादित्य के होने के पक्ष में है। डॉक्टर स्तेन कोनो को उद्धृत करते हुए डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल ने भी इस काल में होनेवाले एक विक्रमादित्य के ऐतिह्य को स्वीकार किया है ("Problems of Saka and Satavahana History"—Journal of the Bihar and Orissa Research Society, 1930 में प्रकाशित)। इसके अतिरिक्त एक विशेष बात यह है कि हमारी साहित्यिक अनुश्रुति तो स्पष्टतया इस विक्रमादित्य-विषयक तथ्य के अनुकूल है। जैन-साहित्य, पट्टावलि, जिनसेन-गाथा आदि के अतिरिक्त विक्रमादित्य के प्रथम शती ई० पू० में होने का प्रमाण संस्कृत और प्राकृत साहित्य से भी उपलब्ध होता है। सातवाहन (शालिवाहन) राजा हाल के प्राकृत सतसई ग्रन्थ 'गाथा-सप्तशती' में राजा विक्रमादित्य का उल्लेख किया गया है।[1] इस हाल का समय लगभग प्रथम शती ईसवी है। कम से कम वह दूसरी शताब्दी ईसवी के बाद किसी प्रकार नहीं रखा जा सकता अर्थात् वह आन्ध्र सातवाहन विक्रमादित्य (प्रथम शती ई० पू०) से लगभग दो या तीन शताब्दियों के बाद जीवित था। राजा विक्रमादित्य का उल्लेख इस हाल ने तो किया ही है। उसके अतिरिक्त उस राजा का उल्लेख कश्मीरी कवि *गुणाढ्य* ने अपने पैशाची-प्राकृत के ग्रन्थ 'बृहत्कथा' में किया है। यह गुणाढ्य हाल का समकालीन था। गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' तो अब उपलब्ध नहीं है, परन्तु उसका संस्कृत रूपान्तर 'कथासरित्सागर' नाम से सोमदेवभट्ट द्वारा प्रस्तुत अब भी उपलब्ध है। इसमें राजा

---

1. संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खं।
   चलणेण विक्कमाइच्च चरिअमणुसिक्खिअं तिस्सा।
   —गाथा 464, वेबर का संस्करण।

विक्रमसिंह की कथा लबक 6, तरग 1 मे वर्णित है । अतः चूकि प्रथम शती ई० पू० वान विक्रमादित्य के जीवन काल से दो सदियो के भीतर होनेवाले दो महापुरुषो (हाल और गुणाढ्य) के ग्रन्थो मे उस राजा का उल्लेख मिलता है, उसके एतिहासिक अस्तित्व मे किसी प्रकार का सन्देह करना अवैज्ञानिक होगा, विशेषकर जब हमारी जैनादि अन्य अनुश्रुतियो का इस सम्बन्ध मे सर्वथा ऐक्य है। फिर बाद मे आनेवाले विक्रमादित्यो के सम्बन्ध की अनुश्रुतियो से इस विक्रमादित्य की अनुश्रुतियों के मिल जाने का भी कोई कारण नही जब हमने केवल उन ग्रन्थकारो के प्रमाण दिए हैं जो उसके बाद के प्रथम विक्रमादित्य (गुप्तराज चन्द्रगुप्त द्वितीय) से पूर्व के थे ।

इस प्रकार यह विचार तो प्रायः प्रमाणित हो जाता है कि ई० पू० प्रथम शती में कोई विक्रमादित्य नाम का प्रतापी व्यक्ति था । वह कौन था यह कहना कठिन है, और यह भी कि 'विक्रमादित्य' उस व्यक्ति की सज्ञा थी या विरुद था । लगता है यह विरुद सा ही, और बाद के जिन जिन नरेशो ने यह सज्ञा धारण की है वह है भी विरुदरूप मे ही ।[1] डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल ने जिस राजा को विक्रमादित्य माना है वह है सातवाहन कुल का गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि । अपने Problems of Saka and Satavahana History[2] मे उन्होने विक्रम सवत् पर जो विचार प्रकट किए हैं उनसे स्पष्ट है कि वे गौतमीपुत्र शातकर्णि को ही विक्रमादित्य मानते हैं । उन्होने अपने उक्त लेख मे शको के विरुद्ध दो विजयो का उल्लेख किया है—(1) गौतमीपुत्र द्वारा नहपाण की, और (2) मालवो द्वारा शको की । इसमे न० (2) मान लेने मे तो शायद किसी को आपत्ति न होगी परन्तु न० (1) को स्वीकार करना कठिन है । पहले तो यही सदिग्ध है कि गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि और क्षहरात क्षत्रप नहपाण समकालीन थे । यदि यह हम मान भी लें, जो कई अन्योन्याश्रय न्यासो से सभव भी है, तब भी यह स्वीकार करना अभी अत्यन्त कठिन है कि वे प्रथम शती ई० पू० मे थे । बहुत सभव है कि यदि सिमुक सातवाहनो का आदि पुरुष था और उसने काण्वायनो का 29 ई० पू० मे नाश किया, तब उसके वशज गौतमीपुत्र का निश्चय ईसा की शताब्दियो मे ही राज कर सकना सभव हो

1. (1) चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (लगभग 375 ई०—414 ई०)
   (2) स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (ल० 455-467 ई०)
   (3) यशोधर्मन् विक्रमादित्य (533 ई०)
   (4) हेमू (1556 ई०)
2. Journal of the Bihar and Orissa Research Society, खण्ड 16, भाग 3 और 4, पृ० 226-316.

सकेगा। उस दशा मे गौतमीपुत्र को विक्रमादित्य और नहपाण को शक मानकर प्रथम शती ई० पू० मे रखना कठिन हो जायगा। फिर यह भी संदिग्ध है (कुछ अंशों मे) कि नहपाण शक था। एक बात यह भी है कि यदि वह विक्रम सालवाहन होता तो हाल उसका हवाला देते समय उसे अपना पूर्वज अवश्य कहता। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि का विरुद 'विक्रमादित्य' नही था और इससे भी विशिष्ट ध्यान योग्य बात यह है कि विक्रम-संवत् का प्रयोग स्वयं गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि अथवा उसके वंशज नही करते। वे केवल अपने राज्यकाल का करते हैं यह कैसे संभव था कि जिसने इतनी बडी विजय के स्मारक में 'विक्रम संवत्' चलाया उसका स्वयं वह या उसके वंशज अपने शिलालेखो में प्रयोग न करें? फिर उस संवत् का उपयोग क्या था? उसका प्रयोग किसके लिए उपयुक्त था, खासकर तब, जब हम इसके विरोध मे प्रमाण उपलब्ध हैं? कुषाणराज कनिष्क द्वारा चलाए शक-संवत् का प्रयोग स्वयं वह और उसके वंशधर करते हैं। इसी प्रकार गुप्तसम्राट् भी मालव संवत् के साथ ही साथ अपने राज्यकाल और अपने पूर्वज चन्द्रगुप्त द्वारा चलाए गुप्त-संवत् (319 20 ई०) का प्रयोग (गुप्तप्रकाले गणना विधाय) बराबर अपने लेखो में करते हैं। इस कारण गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि को आदि विक्रमादित्य मानना युक्तिसंगत नही जंचता फिर यह विक्रमादित्य कौन था?

विक्रमादित्य का प्रथम-द्वितीय शती ईसवी के ग्रन्थो से होना प्रमाणित है इसका विवेचन ऊपर कर आए है। यहा पर एक अन्य अस्पष्ट और उलटी युक्ति का प्रमाण भी विचार्य हो सकता है जो संभवत श्रेयस्कर सिद्ध होगा। जिस विजय के उपलक्ष्य और स्मरण में यह विक्रम-संवत् घोषित और प्रचलित किया गया वह विजय कौन-सी थी? गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि द्वारा नहपाणवाली विजय अनेक अन्य प्रमाणो से यहा अयुक्तियुक्त और अप्रासंगिक होने के कारण इस विषय पर प्रकाश नही डाल सकती। फिर एक ही और ई० पू० प्रथम शती की विजय है जो शको के विरुद्ध हुई है और जिसके स्मारक-स्वरूप यह संवत् प्रचलित किया जा सका होगा—वह है मालवो की विजय शकों के विरुद्ध। मालवों ने शको को अवन्ति से निकालकर वहा अपने गण (मालव गण) की स्थापना की और अपने गण के नाम से ही अवन्ति प्रदेश का 'मालवा' नामकरण किया। यह घटना प्रथम शती ई० पू० मे घटी और इसी के स्मारक में उन्होने विक्रम संवत् चलाया जिसकी प्रारंभिक तिथि मालव-गण की अवन्ति मे स्थापना की तिथि होने के कारण (मालवगणस्थित्या) वह मालव संवत् भी कहलाया। विक्रम-संवत् उसका नाम दो कारणो से हो सकता है। (1) या तो 'विक्रम' का सम्बन्ध व्यक्ति विशेष मे न होकर 'शक्ति', 'विक्रम', 'पराक्रम' से हो जिसकी प्रतिष्ठा शको के अवन्ति से निष्कासन और वहा मालवों की प्रतिस्थिति से हुई

(जैसा श्री जायसवाल ने माना है) या (2) उसका यह नाम मालवजाति के किसी प्रमुख नेता के नाम से सम्बन्ध रखता होगा। इनमे प्रथम को स्वीकार करना असभव इस कारण हो जाता है कि उस दशा मे प्रथम शती ईसवी के हाल और गुणाढ्य के विक्रमादित्य सम्बन्धी निर्देश निरर्थक हो जाते है। इससे सख्या (2) वाला कारण ही यथार्थ जान पडता है। अस्तु, इस पर नीचे फिर एक बार विचार करेंगे। यहा इस पर प्रकाश डालना अधिक युक्तिसङ्गत जचता है कि मालव गण कब और किस प्रकार अवन्ति मे पहुचे? इस सम्बन्ध मे उनके ऐतिहासिक प्रसार पर विचार करना नितान्त आवश्यक है। अत नीचे पजाब से उनकी दक्षिण पश्चिमी प्रगति पर विचार किया जाएगा।

किसी समय मे पजाब मे अनेक गणतन्त्र (अराजक प्रजातन्त्र) फैले हुए थे। उन्ही मे मालवो और क्षुद्रको के गण भी थे। अलिकसुन्दर ने जब 326 ई० पू० मे भारत पर आक्रमण किया तब मालवो ने उससे सबल मोर्चा लिया था। सभवत उन्ही के एक नगर का घेरा डालने पर उनके ही किसी वीर के बाण से अलिकसुन्दर आहत हुआ था और यद्यपि अलिकसुन्दर की छाती से भयकर शल्यक्रिया करके वह बाण निकाल लिया गया तथापि शायद वही घाव अन्तत उसकी मृत्यु का कारण हुआ। मालव सरदारो ने अलिकसुन्दर से कहा था कि वे बहुत काल पूर्व से स्वतन्त्र थे, और राजपूताने मे वे बहुत काल पीछे करीब 300 ई० तक स्वतन्त्र रहे जब उन्हे समुद्रगुप्त ने पराजित किया। इस प्रकार मालवो का स्वतन्त्र जीवन लगभग एक हजार वर्षों तक कायम रहा। अलिकसुन्दर के इतिहासकारो ने उन्हे 'मल्लोई' कहा है। मालव लोग उस ग्रीक आक्रमण के समय झेलम के तट पर थे। चिनाब जहा झेलम से मिलती है, उस सगम से ऊपर क्षुद्रक और नीचे झेलम के बहाव के किनारे मालव लोग रहते थे। एरियन लिखता है (6, 4) कि मालव लोग सख्या और युद्धप्रियता मे भारतीयो मे बहुत बढे-चढे थे। एरियन उन्हे स्वतन्त्र राष्ट्र कहता है (6, 6) उनके नगर चिनाब और झेलम के तटो पर फैले हुए थे और उनकी राजधानी रावी के तट पर थी। मालव और क्षुद्रको का प्रताप इतना जाना हुआ था कि उनसे युद्ध की सभावना देखकर ग्रीक सैनिकों के हृदयो मे आतंक छा गया। कर्टियस[1] का कहना है कि जब ग्रीक सैनिको ने जाना कि उन्हे भारतीयो मे सबसे युद्धप्रिय गणतत्र मालवो से अभी लडना है तो वे सहसा त्रास से भर गए और अपने राजा को विद्रोह भरे शब्दो से सबोधित करने लगे।

अलिकसुन्दर से मुठभेड होने के बाद उन्होंने अपना निवासस्थान सर्वथा

1. Book 9, परिच्छेद 4, Mccrindle, India Invasion by Alexander, पृ० 234।

भयास्पद जाना और वे पजाब छोड दक्षिण पश्चिम की ओर बढ चले। कुछ काल तक साहित्य मे उनका पता नही चलता, परन्तु शुगकाल मे सहसा वे फिर भारतीय रगमच पर चढ़ आते हैं। पतञ्जलि को उनका ज्ञान है और भाष्यकार ने अपने महाभाष्य मे मालव-क्षुद्रको की किसी सयुक्त विजय का उल्लेख किया है, पर शीघ्र ही बाद मे क्षुद्रक खो जाते हैं। लेखो अथवा साहित्य मे हम क्षुद्रको का पता नही चलता और पूर्वी राजपूताने की ओर पहुचते-पहुचते वे मालवो मे सर्वथा खो जाते हैं। प्राय 150-100 ई० पू० मे हम मालवो को उनके नये आवास पूर्वी राजपूताना मे प्रतिष्ठित पाते हैं जैसा करकोट नागर (जयपुर राज्य) मे पाए गए उनके सिक्को से जान पडता है।[1] इसी समय पार्थव शको का भारतवर्ष पर आक्रमण हुआ जिनके 95-96 परिवार सिन्धुनदी पार करके 'हिन्दुगदेश' चले आए थे और उन्होने सौराष्ट्र, गुजरात और अवन्ति देश पर अधिकार कर लिया था। धीरे-धीरे उनमे से सर्वशक्तिमान् एक कुल उन्हे आक्रान्त कर इन पर शासन करने लगा था। कालकाचार्य कथानकवाली कथा इसी समय परिघटित हुई। यही भारत का सर्वपूर्व प्राथमिक शक परिवार था जिसका मालवो से सघर्ष हुआ था।

अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए मालव दक्षिण की ओर बढते गए। सभवत वे पटियाला राज के भटिण्डा की ओर से होकर बढे। वहा वे अपना नाम 'मालवाई' बोली मे छोडते गए हैं। इस बोली का विस्तार फिरोजपुर से भटिण्डा तक है।[2] 58 ई० पू० के आसपास वे अजमेर के पीछे से निकलकर अवन्ति की ओर बढ चले थे, जहा उन्हे एक विदेशी अभारतीय शक्ति से लोहा लेना पडा। लडाई जरा जमकर हुई क्योकि एक ओर तो स्वतन्त्रताप्रिय मालव थे और दूसरी ओर अवन्ति के वे शक जो पार्थवराज मज्ददात द्वितीय के क्रोध से भागे हुए थे। उन्हे भारत से बाहर मृत्यु का सामना करना था इसलिए जान पर खेलकर शक मालवो से लडे परन्तु हार उन्ही की हुई। मालव विजयी हुए और उन्होने शको को अवन्ति से निकालकर उस प्रदेश का नाम अपने नाम के अनुरूप मालवा रखा। अवन्ति इसी तिथि से मालवा कहलाई और इसी विजय तिथि के स्मारक स्वरूप विक्रम सवत का प्रचलन हुआ। इस नये देश म अपनी स्थिति के उपलक्ष मे और अपनी भारी विजय के स्मारक म नया सवत् प्रचलित करने के साथ ही साथ उन्होने नये सिक्के भी चलाए और उनके ऊपर उन्होने अकित कराया—'मालवान (ना) जय (य)'[3]। इसी विजय और अपने गण के

1. और 'मालव जय', 'मालवहण जय', 'मालवगणस्य' आदि।
2 Cunningham, ASR, खण्ड 14, पृ० 150।
3. Linguistic Survey of India, खण्ड 9, पृ० 709।

अवन्ति मे प्रतिष्ठित होने के समय से (मालवगणस्थित्या)[2] आगे काल की गणना करने के लिए (काल ज्ञानाय)[3] उन्होने अपने मालव-सवत् या विक्रम सवत् का आरम्भ किया। उनके प्रयोग से मालव-अथवा विक्रम-सवत् प्रशस्त हुआ[4]। आज तक हम सदा दो सहस्र वर्षों तक उसका उपयोग करते आए हैं। गुप्तो ने उनकी स्वतन्त्रता नष्ट कर दी और उनका नाम समुद्रगुप्त द्वारा विजित गणो मे यौधेय, मद्र, आर्जुनायनो आदि के साथ प्रयागवाले स्तभ पर मिलता है। परन्तु उन्हें नष्ट करके भी वे उनके विजय स्मारक सवत् को नष्ट न कर सके। स्वय गुप्त-सम्राट् मालव-सवत का उपयोग करते रहे। मालवा के नरेशो ने चौथी शती ईसवी स छठी शती ईसवी तक निरन्तर इस सवत का प्रयोग किया। बाद मे जब उनके गण की स्वतन्त्र सत्ता मिट गई, उसका नाम भी लोगो को विस्मरण हो गया, तब उनके क्षुद्र मुखिया की याद भर उन्हे रह गई और सभवत उसी के विक्रम नाम से बाद के भारतीय मालवो का स्मरण करते रहे और अनजाने उनके कीर्तिस्मारक सवत् का प्रयोग सहस्रो वर्ष तक होता रहा।

इसमे तो अब सन्देह रहा नही कि मालव सवत् ही विक्रम-सवत् है, जो उनके शको के हराने के स्मारक मे चलाया गया। अब इस पर विचार करना है कि यह मालव-सवत् विक्रम-सवत क्योकर कहलाने लगा? निश्चयपूर्वक तो यह कहना कठिन है कि मालव सवत् विक्रम-सवत् क्यो और कब कहलाने लगा, परन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि ऊपर निर्दिष्ट 'मालवेश'[5] आदि इस सवत् की प्रगति के मजिल हैं। मालव गण का जिस तेजी से लोप हो गया है उसी तेजी के साथ लोगो ने उनके प्रदेश की राजकता की भी कल्पना कर ली। जान पडता है कि मालवो की सेना के सचालको मे प्रमुख विक्रम नाम का कोई व्यक्ति था जिसकी शक्ति और युक्ति ने शक-पराभव कराने मे विशेष भाग लिया और इसी से कालान्तर मे उसका सम्बन्ध मालव सवत् से कर दिया गया। इस प्रकार के अन्य भी आचरण ससार के इतिहास मे हुए हैं। रोमन स्वतन्त्रता का अन्त कर जूलियस सीजर और ऑक्टेवियस सीजर इसी प्रकार सम्राट् बन गए थे और फ्रेंच राज्यक्रान्ति के बाद नेपोलियन ने भी उसी लिप्सा का परिचय दिया था। प्लूटार्च लिखता है कि जब विश्व जीतने के लिए अलिक्सुन्दर ने

2 कुमारगुप्त प्रथम का मन्दसौरवाला लेख, Fleet, Gupta Inscription पृ० 83।

3 Fleet, वही, पृ० 154।

4 श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसज्ञके—Ep Ind, खण्ड 19, पृ० 320।

5 मालवेशगतवत्सरै—JASB खण्ड 55, भाग 1, पृ० 46, और मालवेशाना —Ep Ind खण्ड 19, पृ० 59।

भयास्पद जाना और वे पजाब छोड़ दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ चले। कुछ काल तक साहित्य मे उनका पता नही चलता, परन्तु शुगकाल मे सहसा वे फिर भारतीय रगमच पर चढ़ आते हैं। पतञ्जलि को उनका ज्ञान है और भाष्यकार ने अपने महाभाष्य मे मालव-क्षुद्रको की किसी संयुक्त विजय का उल्लेख किया है, पर शीघ्र ही बाद मे क्षुद्रक खो जाते हैं। लेखो अथवा साहित्य में हमे क्षुद्रको का पता नही चलता और पूर्वी राजपूताने की ओर पहुचते-पहुचते वे मालवो मे सर्वथा खो जाते हैं। प्रायः 150-100 ई० पू० मे हम मालवों को उनके नये आवास पूर्वी राज्पूताना मे प्रतिष्ठित पाते हैं जैसा करकोट नागर (जयपुर राज्य) मे पाए गए उनके सिक्को से जान पडता है।[1] इसी समय पार्थव शको का भारतवर्ष पर आक्रमण हुआ जिनके 95-96 परिवार सिन्धुनदी पार करके 'हिन्दुगदेश' चले आए थे और उन्होने सौराष्ट्र, गुजरात और अवन्ति देश पर अधिकार कर लिया था। धीरे-धीरे उनमे से सर्वशक्तिमान् एक कुल उन्हें आक्रान्त कर उन पर शासन करने लगा था। कालकाचार्य कथानक वाली कथा इसी समय परिघटित हुई। यही भारत का सर्वपूर्व प्राथमिक शक परिवार था जिसका मालवो से सघर्ष हुआ था।

अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए मालव दक्षिण की ओर बढते गए। संभवतः वे पटियाला राज के भटिण्डा की ओर से होकर बढे। वहा वे अपना नाम 'मालवाई बोली मे छोड़ते गए हैं। इस बोली का विस्तार फिरोजपुर से भटिण्डा तक है।[2] 58 ई० पू० के आसपास वे अजमेर के पीछे से निकलकर अवन्ति की ओर बढ चले थे, जहा उन्हें एक विदेशी अभारतीय शक्ति से लोहा लेना पडा। लडाई जरा जमकर हुई क्योकि एक ओर तो स्वतन्त्रताप्रिय मालव थे और दूसरी ओर अवन्ति के वे शक जो पार्थवराज मज्ददात द्वितीय के क्रोध से भागे हुए थे। उन्हें भारत से बाहर मृत्यु का सामना करना था इसलिए जान पर खेलकर शक मालवो से लडे परन्तु हार उन्ही की हुई। मालव विजयी हुए और उन्होने शको को अवन्ति से निकालकर उस प्रदेश का नाम अपने नाम के अनुरूप मालवा रखा। अवन्ति इसी तिथि से मालवा कहलाई और इसी विजय-तिथि के स्मारक स्वरूप विक्रम सवत् का प्रचलन हुआ। इस नये देश मे अपनी स्थिति के उपलक्ष मे और अपनी भारी विजय के स्मारक मे नया सवत् प्रचलित करने के साथ ही साथ उन्होने नये सिक्के भी चलाए और उनके ऊपर उन्होने अकित कराया—'मालवान (ना) जय (य.)'[3]। इसी विजय और अपने गण के

1. और 'मालव जय', 'मालवहृण जय', 'मालवगणस्य' आदि।
2. Cunningham, ASR, खण्ड 14, पृ० 150।
3. Linguistic Survey of India, खण्ड 9, पृ० 709।

अवन्ति मे प्रतिष्ठित होने के समय से (मालवगणस्थित्या)[2] आगे काल की गणना करने के लिए (काल-ज्ञानाय)[3] उन्होंने अपने मालव-सवत् या विक्रम-सवत् का आरम्भ किया। उनके प्रयोग से मालव-अथवा विक्रम-सवत् प्रशस्त हुआ[4]। आज तक हम सदा दो सहस्र वर्षों तक उसका उपयोग करते आए है। गुप्तों ने उनकी स्वतन्त्रता नष्ट कर दी और उनका नाम समुद्रगुप्त द्वारा विजित गणो मे योधेय, मद्र, आर्जुनायनो आदि के साथ प्रयागवाले स्तभ पर मिलता है। परन्तु उन्हे नष्ट करके भी वे उनके विजय-स्मारक सवत् को नष्ट न कर सके। स्वय गुप्त-सम्राट् मालव-सवत का उपयोग करते रहे। मालवा के नरेशो ने चौथी शती ईसवी से छठी शती ईसवी तक निरन्तर इस सवत का प्रयोग किया। बाद मे जब उनके गण की स्वतन्त्र सत्ता मिट गई, उसका नाम भी लोगो को विस्मरण हो गया, तब उनके क्षुद्र मुखिया की याद भर उन्हें रह गई और सभवत उसी के विक्रम नाम से बाद के भारतीय मालवों का स्मरण करते रहे और अनजाने उनके कीर्तिस्मारक सवत् का प्रयोग सहस्रो वर्ष तक होता रहा।

इसमें तो अब सन्देह रहा नही कि मालव-सवत् ही विक्रम-सवत् है, जो उनके शको के हराने के स्मारक मे चलाया गया। अब इस पर विचार करना है कि यह मालव-सवत् विक्रम सवत क्योकर कहलाने लगा ? निश्चयपूर्वक तो यह कहना कठिन है कि मालव-सवत् विक्रम-सवत् क्यो और कब कहलाने लगा, परन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि ऊपर निर्दिष्ट 'मालवेश'[5] आदि इस सवत् की प्रगति के मजिल हैं। मालव-गण का जिस तेजी से लोप हो गया है उसी तेजी के साथ लोगो ने उनके प्रदेश की राजकता की भी कल्पना कर ली। जान पड़ता है कि मालवो की सेना के सचालको मे प्रमुख विक्रम नाम का कोई व्यक्ति था जिसकी शक्ति और युक्ति ने शक-पराभव कराने मे विशेष भाग लिया और इसी से कालान्तर मे उसका सम्बन्ध मालव-सवत् से कर दिया गया। इस प्रकार के अन्य भी आचरण ससार के इतिहास मे हुए हैं। रोमन स्वतन्त्रता का अन्त कर जूलियस सीजर और ऑक्टेवियस सीजर इसी प्रकार सम्राट् बन गए थे और फ्रेंच राज्यक्रान्ति के बाद नेपोलियन ने भी उसी लिप्सा का परिचय दिया था। प्लूटार्च लिखता है कि जब विश्व जीतने के लिए अलिकसुन्दर ने

---

2 कुमारगुप्त प्रथम का मन्दसौरवाला लेख, Fleet, Gupta Inscription पृ० 83।

3. Fleet, वही, पृ० 154।

4 श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसज्ञके—Ep. Ind, खण्ड 19, पृ० 320।

5. मालवेशगतवत्सरै—JASB खण्ड 55, भाग 1, पृ० 46, और मालवेशाना —Ep Ind खण्ड 19, पृ० 59।

ग्रीक नगर-राज्यों से मदद मांगी थी तब उन्होंने उनसे प्रतिज्ञा करा ली कि वे उनकी सहायता इसी शर्त पर करेंगे कि यह उनके सामने अपने को 'खुदा का बेटा' न कहे। यही रूप मालव-गण में भी प्रमुख व्यक्तियों का रहा होगा। धीरे-धीरे उनके व्यक्तित्व की प्रबलता गणतन्त्र की शक्ति को कुचलकर उठ गई होगी। बाद की अनाराजक प्रजा ने गणतन्त्र के महत्त्व को न समझ कर उस संवत् को मालवगण से हटाकर उसके मुखिया विक्रम से जोड़ दिया। यही दशा लिच्छवि राजाओं की हुई। इसी जन-दुर्बलता के कारण शाक्यों के मुखिया शुद्धोदन देश विशेष के राजा मान लिये गए।

परिशिष्ट 'ख'

1. द्रुपदस्य सुता कृष्णा देहान्तरगता मही ॥
2 ततो न रक्षये वृत्त सत्र (?) शार्ङ नृपमण्डले।
3 भविष्यति कलिर्नाम चतुर्थं पश्चिमं युग ॥
4. तत कलियुगस्यादौ (॰ दौ) परिक्षित्र (त) सेजय।
5 प्रथिव्या पृथिव श्रीमानुत्पत्स्यति न संशय ॥
6 सोपि राजा द्विजै ( ) सार्द्धं विरोधमुपधास्यति।
7. दारविप्रहृतामर्ष कालस्य वशमागत ॥
8 तत कलियुगे राजा शिशुनागात्म (म ?) जो बली।
9. उदधी (यो) नाम धर्मा मा पृथिव्यां प्रथितो गुणैं ॥
10 गंगातीरे स राजर्षिर्दक्षिणे स महावरे।
11 स्थापयेन्नगर रम्य पुष्पारामजनाकुल ॥
12 तेथ (प्राकृत, तत्र) पुष्पपुर रम्य नगर पाटली सुतम्।
13. पञ्चवर्षसहस्राणि स्थास्यते नात्र संशय. ॥
14 वर्षाणां च शता पञ्च पञ्चसंवत्सरास्तथा।
15 मासपक्षमहोरात्र मुहूर्ता पंच एव च ॥
16 तस्मिन पुष्पपुरे रम्य जनराजा शताकुले।
17 ऋतुक्षा कर्मसुत शालिशूको भविष्यति ॥
18 स राजा कर्मसूतो दुष्टात्मा प्रियविग्रह।
19 स्वराष्ट्रमर्दत घोर धर्मवादी अधार्मिक।
20 स ज्येष्ठभ्रातर साधु केतिति (केतति ?) प्रथित गुणैं।
21 स्थापयिष्यति मोहात्मा विजय नाम धार्मिकम् ॥
22. तत साकेतमाक्रम्य पचालान्मथुरा तथा।

23 यवना दुष्टविक्रान्ता ( ) प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वज ॥
24 तत पुष्पपुरे प्राप्ते कर्दमे प्रथिते हिते ।
25 आकुला विषया सर्वे भविष्यन्ति न सशय ॥
26 श (स्त्र) दु (द्रु) म-महायुद्ध तद् (तदा) भविष्यति पश्चिमम् ।
27 अनार्याश्चार्यधर्माश्च भविष्यन्ति नराधमा ।
28 ब्राह्मणा ( ) क्षत्रिया वैश्या शूद्राश्चैव युगक्षये ।
29 समवेषा ( ) समाचारा भविष्यन्ति न सशय ।
30 पापडैश्च समायुक्ता नरास्तस्मिन् युगक्षये ।
31 स्त्रीनिमित्त च मित्राणि करिष्यन्ति न सशय ।
32 चीरवल्कलसवीता जटावल्कल धारिण ।
33 भिक्षुका वृषला लोके भविष्यन्ति न सशय ।
34 त्रेताग्निवृषला लोके होष्यन्ति लघुविक्रिया ।
35 ऊकारप्रथितैर्मन्तै ( ) युगान्त समुपस्थिते ।
36 आग्निकार्ये च जप्ये च अग्निके च दृढव्रता ।
37 शूद्रा कलियुगस्यान्ते भविष्यन्ति न सशय ।
38 भोवादिनस्तथा शूद्रा ( ) ब्राह्मणाश्च (?) यंवादिन ।
39 स (म) वेशा ( ) समाचारा भविष्यन्ति न सशयः ।
40 धम्ममीत-तमा वृद्धा जन भोक्ष (क्ष्य) न्ति निर्भया ।
41 यवना ज्ञापयिष्य ( ) ति (नश्येरन) च पार्थिवा ।
42 मध्यदेशे न स्थास्यन्ति यवना युद्धदुर्मदा ।
43 तेषामन्योन्य-सभाव ( ) भविष्यति न सशय ।
44 आत्मचक्रोत्थित घोर युद्ध परमदारुण ।
45 ततो युगवशात्तेषा यवनाना परिक्षये ।
46 स (ा) केते सप्तराजानो भविष्यन्ति महाबला ।
47 लोहिता (प्त) स्तथा योधेर्योधा युद्धपरिक्षता ।
48 करिष्यन्ति पृथिवी शून्यां रक्तघोरा सुदारुणा ।
49 ततस्त मगधा कृत्सना गगामीना ( ) सुदारुणा ।
50 रक्तपात तथा युद्ध भविष्यति तु पश्चिम ।
51 अ (ा) ग्निवैश्यास्तु त सर्वे राजानो (०न) कृतविग्रहा ।
52 क्षय यास्यन्ति युद्धेन यथैषामाश्रिता जना ।
53 शकाना च ततो राजा ह्यर्थलुब्धो महाबला ।
54 दुष्टभावश्च पापश्च विनाशे समुपस्थित ।
55 कलिग शत राजार्य विनाश वै गमिष्यति ।
56 केनद्रवर्ड (?) शबलैर्विलुपन्तो गमिष्यन्ति ।

57. वनिष्टास्तु हता (:) सर्वे भविष्यन्ति न सशय: ।
58. विनष्टे शकराजे च शून्या पृथिवी भविष्यति।
59. पुष्यनाम तदा शून्य (') (वी) भरत (') भवति (वत) ।
60 भविष्यति नृपा कश्चिन्न वा कश्चिद्भविष्यति ।
61. ततो (ऽ) रणो धनुमूलो भविष्यति महाबला ।
62 अम्लाटो लोहिताक्षेति पुष्यनाम (ग) मिष्यति ।
63 सर्वे ते नगर गत्वा शून्यमासाद्य (स) र्वत ।
64 अर्थलुब्धाश्च ते सर्वे भविष्यन्ति महाबला ।
65 तत स म्लेच्छ आम्लाटो रक्ताक्षो रक्तवस्त्रभृत ।
66 धनमादाय विवश परमुत्सादयिष्यति ।
67. ततोवर्णास्तु चतुर स नृपो नाशयिष्यति ।
68 वर्णाधि'वस्थितान् सर्वान् कृत्वा पूर्वाव्यवस्थि (तान्) ।
69 आम्लाटो लोहिताक्षश्च विपत्स्यति सबान्धव ।
70. ततो भविष्यते राजा गोपालोभाम-नामत ।
71. गोपा (ल) तु ततो राज्य भुक्त्वा सवत्सर नृप ।
72 पुष्यके चाभिसयुक्त *ततो निधनमेष्यति ।*
73. ततो धर्मपरो राजा पुष्यको नाम नामत ।
74 सोपि सवत्सर राज्य भु (क्त्वा) निधनमे (ष्य) ति ।
75 तत सविलो राजा अनरणो महाबल' ।
76 सोपि वर्षत्रय भुक्त्वा पश्चान्निधनमेष्यति ।
77 ततो विकुयशा कश्चिदब्राह्मणो लोकविश्रुत ।
78 तस्यापि त्रीणि वर्षाणि राज्य दुष्ट भविष्यति ।
79 तत पुष्पपुर (०) स्या (त्) तथैव जनसकुल ।
80 भविष्यति वीरं (र-) सिद्धार्थ (र्थं-) प्रसवीरसवसकुल ।
81. पुरस्य दक्षिणे पार्श्वे वाहन तस्य दृश्यते ।
82 हयाना द्वे सहस्रे तु गजवाहस्तु (क) ल्पत ।
83 तदा भद्रपाके देशे अग्निमित्रस्तत्र कीलके ।।
84 तस्मिन्नुत्पत्स्यते कन्या तु महारूपशालिनी ।
85 तस्या (अ) र्थे स नृपो घोर विग्रह ब्राह्मणै सह ।
86 तत्र विष्णुवशाद्देह विमो (क्ष्य) ति न सशय.।
87. तस्मिन्युद्धे महाघोरे व्यतिक्रान्ते सुदारुणे ।
88. अ (।) ग्नि वैश्यस्तदा राजा भविष्यति महाप्रभु ।

89 तस्यापि विंशद्वर्षाणि राज्य स्फीत भविष्यति ।
90 (आ) निर्वेश्यस्तदा राजा प्राप्य राज्य महेंद्रवत ।
91 भीमं शरर (शकं ?) सघातैविग्रह समुपेष्यति ।
92 तत शरर (शक ?) सघोरे प्रवृते स महाबले ।
93 वृषकोटे (टि) ना स नपो मृत्यु समुपयास्यति ।
94 ततस्तस्मिन गते काले महायुद्ध (सु) दारुणे ।
95 शून्या वसुमति घोरा स्त्री प्रधाना भविष्यति ।
96 कृपि नाय करिष्यन्ति लाग (लक) पयाणय ।
97 दुलभत्वा मनुष्याणा क्षेत्रपु धनुर्योधना ।
98 (विंश) दभार्या दशो या (वा) भविष्यन्ति नरास्तदा ।
99 प्रक्षीणा पुरु (षा) लोके दिग्षु सर्वासु यवसु ।
100 तत सघातशो नार्यो भविष्यन्ति न सशय ।
101 आश्चयमिति पश्य तो (दृष्टवा) धो (ध) पुरुषा स्त्रिय ।
102 स्त्रियो व्यवहरिष्यन्ति ग्रामेषु नगरेषु च।
103 नरा स्वस्था भविष्यति गृहस्था रक्तवासस ।
104 तत सातुवरो राजा ह (हृ) त्वा दण्डेन मेदिनी (म्) ।
105 व्यतीते दशमे वर्षे मृत्यु समुपयास्यति ।
106 तत प्रनष्टचारित्रा स्वकर्मोपहता प्रजा ।
107 करिष्यति चका (शका) घो (रा) बहुलाश्च इति श्रुति ।
108 चतुर्भाग तु (श) स्त्रण नाशयिष्यन्ति प्राणिना ।
109 हरिष्यं ति शका पोश (कोश ? तेषा ?) चतुर्भाग स्वके पुर ।
110 तत प्रजाया शप्राया तस्य राज्यस्य परिक्षयात ।
111 देवो द्वादशवर्षाणि अनावृष्टि करिष्यति ।
112 प्रजानाश गमिष्यन्ते दुर्भिक्षभयपीडिता ।
113 तत पापक्षते लोके दुर्भिक्ष लोमहर्षणे ।
114 भविष्यति युगस्यान्त सवप्राणिविनाशन ।
115 जनमारस्ततो घोरो भविष्यति न सशय ।[1]

1 युग-पुराण का यह मूल पहले-पहल श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने JBORS म सितम्बर 1928 वाले अक मे पृ० 397 421 मे प्रकाशित किया। उससे स तुष्ट न होकर राव बहादुर के० एच० ध्रुव ने उसका एक दूसरा पाठ उसी पत्रिका के खण्ड 16 भाग 1 पृ० 18 66 मे छापा। परन्तु वास्तव में अभी तक इस पुराण का कोई पाठ शुद्ध नहीं कहा जा सकता। इस पर और विचार करने की आवश्यकता है। ऐसा जान पड़ता है कि इसके अनेक भाग इधर से उधर हो गए हैं जिससे प्रसग को ठीक ठीक समझने म कठिनाई पड़ती है और ऐतिहासिक सामजस्य बिगड जाता है।

—लेखक

विक्रम-ऐतिहासिकता

☐ डॉ॰ लक्ष्मणस्वरूप

रामायण, महाभारत और पुराणो मे वर्णित सूर्यवशी तथा चन्द्रवशी राजाओ के अतिरिक्त भारत मे बिम्बसार, अजातशत्रु, प्रद्योत, उदयन, नन्द, चन्द्रगुप्त, अशोक, पुष्यमित्र, अग्निमित्र, समुद्रगुप्त, यशोधर्मन, हर्षवर्धन जैसे अनेक राजा और महाराजा प्रसिद्ध हो चुके हैं, परन्तु जो दिगन्तव्यापिनी कीर्ति और गगनचुम्बी यश विक्रमादित्य को प्राप्त हुए हैं, वे किसी दूसरे शासक को नही मिले। भारतीय विद्वज्जनो की परम्परा के अनुसार विक्रमादित्य एक महारथी, महा-पराक्रमी और महातेजस्वी चक्रवर्ती सम्राट थे। वे साहस की साक्षात मूर्ति थे। उनका चरित्र अति उदार था, वे दानियो मे भी दानवीर थे। यदि उनके कमलनयनो की मधुर सुषमा तथा उनके स्मितकान्त ओष्ठ कुबेर के भण्डार थे, तो उनके क्रोध से रक्त नेत्र तथा वक्र भृकुटि करालकाल के द्वार थे। उनके अदभुत अलौकिक विस्मयोत्पादक कार्यों का विस्तृत वर्णन (1) सस्कृत-साहित्य, (2) जैन-साहित्य, (3) महाराष्ट्री प्राकृत की गाथा सप्तशती, (4) गुणाढ्य रचित पैशाची बृहत्कथा आदि ग्रन्थो मे पाया जाता है। पर योरप और भारत के कुछ विद्वान् भारतीय परम्परा को विश्वास के योग्य न समझकर विक्रमादित्य के ऐतिहासिक अस्तित्व को स्वीकार नही करते। उनके कथन के अनुसार विक्रमादित्य किसी व्यक्ति विशेष का निजी (स्व) नाम न था, बल्कि एक विरुद-मात्र था। इस विरुद या उपाधि को गुप्तवश के चन्द्रगुप्त द्वितीय, हर्षवर्धन, शीलादित्य आदि-आदि अनेक सम्राटो ने धारण किया। 'विक्रमादित्य' शब्द को अपने नाम के साथ जोडना वे अपने लिए गौरव की बात समझते थे। इसलिए कुछ विद्वानो की सम्मति मे विक्रमादित्य एक विरुद-मात्र था, केवल एक उपाधि थी, इस नाम का कोई व्यक्ति विशेष न था। ये विद्वान् बहुश्रुत, तीव्र-समालोचक, अनुसन्धान-प्रेमी तथा सत्यप्रिय हैं। हम उनको आदर की दृष्टि से देखते हैं। हमारे हृदय मे उनके प्रति श्रद्धा तथा बहु-सम्मान है, इसलिए उनके विचार को उपलब्ध सामग्री की कसौटी पर परखना आवश्यक है।

इस समय विक्रम सवत् का द्विसहस्राब्द समाप्त हुआ है। जैसे एक रचना

उसके रचयिता की सूचक होती है, वैसे ही विक्रम सवत् की स्थापना उसके स्थापक के अस्तित्व को सूचक होनी चाहिए। पर ऐसा माना नही जाता, क्योकि विक्रम सवत् की स्थापना के विषय म ही मतभेद है। योरप के एक विद्वान् जेम्स फर्गुसन का मत[1] है कि विक्रम सवत् सन् 544 ईसवी मे स्थापित किया गया और प्राचीनता प्रदान करने के लिए, सवत् का आरम्भ 600 वर्ष पहले से कर दिया गया। यह एक सार-रहित कल्पना थी, तो भी मैक्समूलर जैसे जगद्-विख्यात विद्वान् ने इसे स्वीकार कर लिया।[2] फर्गुसन के मत के अनुसार विक्रम सवत् छठी शताब्दी म स्थापित किया गया। छठी शताब्दी से पहले यह सवत् विद्यमान नही था, इसलिए छठी शताब्दी से पहले इस सवत् का कही प्रयोग नही मिलना चाहिए। परन्तु फर्गुसन के दुर्भाग्यवश छठी शताब्दी से पहले विक्रम सवत् का प्रयोग मिलता है। एक लेख पर 481 सवत् का उल्लेख है—'कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेषुएकाशीत्युत्तरेषु······मालवपूर्वाया······।'[3] विजयगढ़ स्तम्भ पर 428 वर्ष का लेख है। मौखरियो के एक लेख पर 295 वर्ष का अक है। उदयपुर रियासत मे उपलब्ध नन्दी स्तम्भ पर 282 वर्ष का उल्लेख है। तक्षशिला के ताम्रपत्र पर 126 वर्ष का लेख है। युसुफजाई प्रदेश के पजतर स्थान के समीप एक शिलालेख प्राप्त हुआ है। उस पर 122 अक है और श्रावण की प्रथमा का उल्लेख है। यह वर्ष और मास भी विक्रम सवत् के ही है, इसलिए यह लेख तक्षशिला के ताम्रपत्र-लेख से भी अधिक प्राचीन है। पेशावर जिले म तख्तेवाही स्थान पर एक लेख मिला है। यह लेख गोण्डाफरनेस के राज्यकाल के 26वें वर्ष मे लिखा गया था। इस पर वैशाख की पचमी और 103 का अक है। निस्सन्देह यह तिथि और वर्ष भी विक्रम सवत् के ही हैं। इस कथन की पुष्टि रैप्सन (Rapson) की निम्नलिखित पक्तियो द्वारा होती है—'There can be little doubt that the era is the Vikrama Samvat which began in 58 B C.' (Cambridge History of India, Vol I. p 576) इस प्रकार छठी शताब्दी—फर्गुसन द्वारा कल्पित स्थापना-काल—स पूर्व के लेखो म विक्रम सवत् का प्रयोग हुआ है। इन प्रबल प्रमाणो से फर्गुसन की कल्पना निराधार सिद्ध हो जाती है।

अब एक दूसरी आपत्ति खडी की जाती है। कहा जाता है कि दूसरी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक के लेखो पर 57 ई० पू० मे प्रारम्भ होने वाले सवत् का प्रयोग अवश्य हुआ है, पर सवत् का नाम विक्रम सवत् नही बल्कि मालवगणस्थिति और कृत-सवत् है। छठी शताब्दी के पश्चात् आठवी

1. Journal of the Royal Asiatic Society, 1870, p. 81 H.
2. India what can it teach us ? p. 286.
3. Nagri Inscription A. S. H. C. 1915-16, p. 56.

शताब्दी के लेखो मे इस सवत का नाम मालवेश-सवत् है। आठवी शताब्दी के अनन्तर ही उत्कीर्ण लेखो पर विक्रम का नाम पाया जाता है, जैसे 794 सवत् के लेख पर विक्रम का नाम स्पष्ट है—*'विक्रमसवत्सरशतेषु सप्तसु चतुर्नवत्य-धिकेषु'* इसी प्रकार चण्डमहासेन के धौलपुर-पत्र पर यह लेख मिलता है—"वसु-नव-अष्टौ वर्षागतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य" अर्थात् 898 वर्ष। इसी प्रकार 'रामगिरिनन्दकलित विक्रमकाले गतेतु'—इस लेख पर 973 वर्ष का उल्लेख मिलता है। एकलिंगजी के 1028 वर्ष के लेख पर भी विक्रमादित्य का नाम पाया जाता है—*'विक्रमादित्य भूभृत। अष्टाविंशतिसयुक्ते शते दशगुणे सति।'* इससे सिद्ध है कि सबसे पहले 794 वर्ष के लेख पर ही विक्रमादित्य का नाम है। इस साक्ष्य से परिणाम निकाला जाता है कि सवत् की स्थापना तो ईसा से 57-58 वर्ष पूर्व हुई, पर स्थापक विक्रमादित्य न था बल्कि मालवगण था। इस पूर्वपक्ष के विरोध मे इतना कहना पर्याप्त होगा *कि ससार म जितने भी सवत् या सन् प्रचलित हैं*, वे सबके सब किसी न किसी व्यक्ति-विशेष स सम्बन्ध रखते हैं—जैसे, युधिष्ठिर सवत[1], बौद्ध सवत्, महावीर सवत, ईसवी-सन्, शक सवत इत्यादि। एक भी उदाहरण ऐसा नही मिलता जिसका सम्बन्ध किसी न किसी व्यक्ति विशेष स न हो या जिसकी स्थापना किसी गण, प्रजातन्त्रराज्य अथवा अभिजातकुलो द्वारा की गई हो।

दूसरी बात यह है कि विक्रम सवत का प्रयोग पेशावर, काबुल *और* कधार के लेखो मे पाया जाता है। जहा तक इतिहास म पता चलता है, मालवगण ने पेशावर, काबुल, कधार पर कभी शासन नही किया। महात्मा बुद्ध या महावीर के समान मालवगण किसी धर्म का प्रवर्तक भी नही बना। किसी सवत् के प्रचार मे दो ही शक्तिया का प्रभाव होता है (1) राजनीतिक, (2) धार्मिक। इन दोनो *शक्तियो के अभाव मे मालवगण द्वारा स्थापित सवत् का* काबुल *और* कधार म कैसे प्रयोग हुआ? सवत् की स्थापना किसी व्यक्ति विशेष से ही सम्बन्ध रख सकती है। गण द्वारा सवत् की स्थापना स्वीकार नही की जा

1 युधिष्ठिर-सवत महाभारत के घोर सग्राम के पश्चात् महाराज युधिष्ठिर के सिंहासन पर आरूढ होने के समय स आरम्भ होता है। बौद्ध और महावीर सवत् महात्मा बुद्ध तथा तीर्थकर महावीर के निर्वाण-काल से, ईसवी सन् ईसामसीह के मृत्यु-समय स आरम्भ होते हैं। ईसवी सन् पहले चैत्र मास मे आरम्भ होता था पर पीछे से पोप ग्रेगरी के सशोधन करने के कारण अब पौष मास मे आरम्भ होता है। शक सवत् 78 ईसवी मे शालिवाहन द्वारा अथवा रैप्सन के मतानुसार कनिष्क द्वारा स्थापित किया गया। (Cambridge History of India—Vol I. Preface VIII-IX, *pp 583-85*)

चलाया या तो कम से कम उसका पुत्र अजीलिसेस तो उस सवत् का प्रयोग करता। अजीलिसेस के कुछ सिक्के मिलते हैं। उन पर अजेस द्वारा स्थापित सवत् का प्रयोग नही हुआ। स्वय अजस के सिक्को पर किसी सवत् का प्रयोग नही हुआ। यदि अजस ने सवत चलाया तो उसने अपने सिक्को पर उसका प्रयोग क्यो न किया ? अजेस के सिक्को पर तथा उसके पुत्र अजीलिसेस के सिक्को पर किसी भी सवत् के प्रयोग के अभाव स स्पष्ट है कि अजेस ने किसी सवत् की स्थापना नही की। अजेस का राज्य थोडे वर्ष ही रहा।[1] उसका राज्य तथा वश शीघ्र ही नष्ट हो गये। इसलिए अजेस द्वारा किसी सवत् की स्थापना सम्भव ही नही हो सकती।

इसके अतिरिक्त अजेस के उत्तराधिकारी भी अजेस द्वारा स्थापित सवत् का प्रयोग नही करते। पकोरेस, विमकडफाइसेस, कनिष्क आदि ने अजेस के सवत् का प्रयोग नही किया। अजेस का कही नाम नही लिया। अजेस के उत्तराधिकारी गोण्डोफरनेस का तख्तवाही लेख उपलब्ध है। इस लेख म 'अयस' का कही नाम नही पाया जाता। यदि अजस ने सम्वत की स्थापना की होती तो तख्तेबाही लेख मे उसका नाम अवश्य मिलता। इसी प्रकार युसुफजाई व पजतर स्थान म उपलब्ध लेख म 122 वर्ष का अक है। इस लेख म भी अजेस का नाम नही पाया जाता, यद्यपि यह वही सवत् है, जिसका आरम्भ ईसा स 57-58 वर्ष पूर्व होता है।

जैसे ऊपर लिखा जा चुका है, भारत म उपलब्ध शिलालेखो पर इस सवत् को 'मालवगणस्थिति', 'मालवेश' तथा 'विक्रम के नामो स निर्दिष्ट किया गया है। शिलालेखो के इस साक्ष्य की उपस्थिति मे इस सवत् की स्थापना अजेस द्वारा नही मानी जा सकती। यहा पर हम फ्रैंकलिन एजर्टन का मत उद्धृत करते है। वे भी इस परिणाम पर पहुचे है। वे लिखत है—

'That Azes I ruled about 58 B C seems, indeed, quite well established But the theory, that he founded an era seems to hang on a slender thread, namely on a disputed (and as it seems to me improbable) interpretation of the word Ayasa in the Taksasila inscription published by Marshall L C If this word should turn out not to refer to an era 'of Azes', there would be no evidence left for the founding of an era by King Azes But the earliest certain inscriptions dated in this era agree with the unanimous Hindu tradition in localising the era in Malava This

1 His family had been deposed and deprived of all royal attributes —Cambridge History of India, Vol I p 582.

alone might make us hesitate And we should feel more comfortable about accepting the Azes theory, if other dates in this era were found in the interval betwneen 136 (the Taksasila inscription) and 428 (the earliest date know in the 'Malava era') The lack of any dates in this interval [makes it appear that, on the hypothesir assumed by Marshall and Rapson, this era of Azes, used by Kanishka's immediate predecessors, in Gandhara, was straightway thereafter replaced by the era of Kanishka, and apparently bacame extinct in the Kushan empire, only to reappear, several centuries later, in Eastern Rajputana as the 'Malava era' This does not sound very plausible' (Vikrama's Adventures) H O S Vol 26 Introduction (LXIII-IV)

अजेस विदेशी था । यदि उसने किसी सवत् की स्थापना की तो उस सवत् के महीनो तथा तिथियो के नाम भी विदेशी होने चाहिए । आजकल प्रचलित विदेशी ईसवी सन् के महीनो तथा तिथियो के नाम भी विदेशी हैं जैसे जनवरी, फरवरी मण्डे, टयूसडे इत्यादि । इसी प्रकार विदेशी अजस द्वारा स्थापित सवत के महीनो तथा तिथियो के नाम भारतीय नही होने चाहिए । परन्तु तक्षशिला-ताम्रपत्र-लेख म आषाढ मास और पचमी तिथि का उल्लेख है । युसुफ-जाई के पजतर लेख म श्रावण मास तथा प्रथमा तिथि का उल्लेख ह, गोण्डो-फरनेस के तख्तेवाही लख म वैशाख मास और पचमी तिथि का उल्लेख है। इन महीना तथा तिथियो के नाम से स्पष्ट है कि ईसा से पूर्व 57-58 मे आरम्भ होने वाले सवत की स्थापना किसी विदेशी अजेस द्वारा नही बल्कि किसी भारतीय महापुरुष द्वारा की गई । सार यह निकला कि ईसा से पूर्व 57-58 मे आरम्भ होने वाला सवत् किसी गण अथवा विदेशी नरेश अजेस द्वारा नही स्थापित किया गया । वह एक व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध रखता है । वह व्यक्ति-विशेष एक भारतीय ही था ।

अब प्रश्न यह है कि वह भारतीय व्यक्ति विशेष कौन था ? जैनियो की परम्परा है कि महावीर के निवाण-काल से 470 वष पीछे विक्रमादित्य ने सकल प्रजा को ऋण स मुक्त कर सवत् चलाया । इस परम्परा का साक्ष्य ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी म एक विक्रमादित्य का होना और उसके द्वारा सवत् की स्थापना को सिद्ध करता है ।

जैनियो की पट्टावलिया म सुरक्षित परम्परा एक दूसरी परम्परा है । उनमे निर्दिष्ट समय-गणना भी इस बात की पुष्टि करती है । दो भिन्न भिन्न परम्पराओ से एक ही परिणाम निकलता है । कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि इन परम्पराओ पर विश्वास न किया जाय ।

अब हम इस प्रश्न पर एक-दूसरे प्रकार से विचार करते हैं। ईसवी सन् से पूर्व के भारतीय महाराज और सम्राट विक्रमादित्य विरुद को धारण नही करते थे, जैसे अजातशत्रु, प्रद्योत, चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, पुष्यमित्र आदि ने विक्रमादित्य की उपाधि को अपने नाम के साथ नही जोडा। ईसवी सन् के पश्चात भारत के महाराज और सम्राट जैसे चन्द्रगुप्त द्वितीय, स्कन्दगुप्त, शीलादित्य, यशोधर्मन, हर्षवर्धन इत्यादि शक्तिशाली सम्राट विक्रमादित्य की उपाधि को धारण करते है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल मे जो गौरव और प्रताप अश्वमेध यज्ञ करने से प्राप्त होते थे, ईसवी सन् के पश्चात् विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने से वही गौरव उपलब्ध होने लगा था। जिस प्रकार वैदिक काल मे अश्वमेध-यज्ञ का करना ससार-विजेता होने की घोपणा करना होता था, उसी प्रकार विक्रमादित्य की उपाधि धारण करना साम्राज्य तथा प्रभुत्व का सूचक बन गया था। पुष्यमित्र ने अश्वमध यज्ञ किया, पर उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण नही की। गुप्तवशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अश्वमेध यज्ञ नही किया, पर उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। इसी प्रकार स्कन्दगुप्त, हर्षवर्धन म स किसी ने भी अश्वमेध यज्ञ नही किया पर उनमे से प्रत्येक ने अपना आधिपत्य प्रकट करने के लिए विक्रमादित्य की उपाधि को धारण किया। प्रश्न उठता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे भारत-विजेता, चक्रवर्ती सम्राट के लिए विक्रमादित्य की उपाधि धारण करना किस प्रकार से गौरव या महत्त्व की बात हो सकती थी ? अथवा ससार के सम्राटो की उपाधियो का उद्गम-स्थान अथवा स्रोत क्या है, इस पर कुछ विचार करना अनुचित न होगा। पहले हम योरप को लेते है।

योरप के इतिहास मे चार विशाल साम्राज्यो का वर्णन पाया जाता है—(1) रोमन साम्राज्य, (2) आस्ट्रो-हगेरियन साम्राज्य, (3) रूसी साम्राज्य, (4) जर्मन साम्राज्य। इनमे स हम पहले रूसी सम्राट की उपाधि का उद्गम-स्थान या स्रोत मालम करने का प्रयत्न करेंगे। रूसी सम्राट की उपाधि है 'जार' (Czar)। अब जरा 'जार' (Czar) शब्द की उत्पत्ति पर ध्यान देना चाहिए। इसमे पहली बात तो यह है कि रूसी भाषाओ मे C का Z वर्ण के साथ सयोग कभी नही होता। ये दोनों वर्ण कभी भी सयुक्त नही होते। 'The spelling 'CZ' is against the usage of all Slavonic languages Its retention shows its foreign origin' इन दोनो वर्णों के सयोग स स्पष्ट है कि रूसी भाषा मे यह एक विदेशी शब्द है। यह शब्द वास्तव मे लैटिन शब्द 'सीजर' (Caesar) स निकलता है। इसको 'सीजर' का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। यह वास्तव मे 'सीजर' (Caesar) शब्द का एक प्रकार का समानध्वन्यात्मक रूपान्तर है। 'Czar' शब्द का C वर्ण Caesar के Cae वर्ण के स्थानापन्न है।

Czar का 'Zar', 'Caesar' के Sar के स्थानापन्न है। इस प्रकार Czar, Caesar के समान है। इससे स्पष्ट हो गया कि रूसी सम्राट की उपाधि Czar का उद्गम-स्थान Caesar है।

आस्ट्रो-हंगेरियन और जर्मन साम्राज्यो के सम्राटो की उपाधि है कैसर 'Kaisar'। यह शब्द योरप की विविध भाषाओ मे पाया जाता है—गौथिक (Gothic) मे यह Kaisar है। प्राचीन जर्मन भाषा मे इसका रूप है Keisar। मध्यकालीन डच (Dutch) मे Keiser, Keyser तथा आधुनिक डच मे Keizer के रूप मे है। प्राचीन नार्वीजियन भाषाओ मे Keisari, Keisar तथा Keiser के रूप मे पाया जाता है। मध्यम अग्रेजी मे Kaiser, Keiser तथा प्राचीन अग्रेजी मे Casere तथा Caser रूप मिलते हैं। इसी शब्द Kaisar के अन्य 12 रूपान्तर है Caisere, Caysere, Caiser, Cayser, Caisar, Kayssar, Keyzir, Kaeisere, Koesar। इस शब्द का उच्चारण है कैजर (Kaizer)। लैटिन भाषा मे C वर्ग का उच्चारण दो प्रकार से होता है—(1) एक प्रकार तो वह है जिसके अनुसार C वर्ण का 'सी' उच्चारण होता है। (2) दूसरा प्रकार वह है जिसके अनुसार C वर्ग का 'क' उच्चारण होता है। उच्चारण के तौर पर हम प्राचीन रोम के वाग्मी तथा समार प्रसिद्ध नेता Cicero का नाम लेते हैं। इस नाम का उच्चारण 'सिसरो' तथा 'किकरो' दोनो प्रकार से होता था जैसे सस्कृत 'ष्' का उच्चारण मूर्धन्य 'ष्' तथा कण्ठ्य 'ख्' दो प्रकार से होता है, षष्ठि को खष्ठि अथवा षष्ठि उच्चरित किया जाता है। इन रूपो को देखने से स्पष्ट है कि यह शब्द भी Caesar का रूपान्तर है। आस्ट्रो-हंगेरियन तथा जर्मन सम्राटो की उपाधि का उद्गम-स्थान सीजर (Caesar) है।

रोमन साम्राज्य के निम्नलिखित सम्राट हो गये हैं —

Augustus	...	27 B C.	14 A. D
Tiberius	...	14 A D	37 ,,
Gaius	...	37 ,	41 ,,
Clandius	...	41 ,,	54 ,,
Nero	...	54 ,,	68 ,,
Vespasian	...	69 ,,	79 ,,
Titus	...	79 ,,	81 ,,
Domitian	...	81 ,,	96 ,,
Nerva	...	96 ,,	98 ,,
Trajan	...	98 ,,	117 ,,
Hadrian	...	117 ,,	138 ,,

Antoninus Pius	...	138 A D	161 A D
Marcus Aurelius	...	161 ,,	180 ,,
Comodus	...	180 ,,	193 ,,
Septimius Severus		193 ,,	211 ,,
Caracalla	...	211 ,,	217 ,,
Macrinus	...	217 ,,	218 ,
Elagabalus	...	218 ,,	222 ,,
Alexander Severus	..	222 ,,	235 ,,
Maximus Avitus Najorian Severus Anthenius Olybrius Romulus Augustuslus			(455-475)
Maximinus	...	235 ,,	238 ,,
Gordian III	...	238 ,,	244 ,,
Philip	.	244 ,,	249 ,,
Dertus	...	249 ,,	251 ,,
Gallus	..	251 ,,	253 ,,
Aemilianus	...	253 ,	260 ,,
Gallienus	...	260 ,,	268 ,,
Clandius	...	268 ,,	270 ,,
Aurelian	...	270 ,	275 ,,
Tacitus	...	275 ,,	276 ,,
Probus	...	276 ,,	282 ,,
Carus	...	282 ,,	283 ,,
Constantine I	...	311 ,,	337 ,,
Constantine II	...	337 ,,	361 ,,
Julian	...	361 ,,	363 ,,
Jovian	...	363 ,,	364 ,,
Valentinian I	...	364 ,,	375 ,,
Gratian	...	375 ,,	375 ,,
Valentinian II	...	375 ,,	395 ,,
Honorius	...	395 ,,	423 ,,
Valentinian III	...	423 ,,	455 ,,

इनमें से प्रत्येक की उपाधि सीजर (Caesar) थी। योरप के चार विशाल साम्राज्यों के सम्राटों के उपाधि का उद्गम स्थान है Caesar। यह Caesar

एक व्यक्ति था। इसका पूरा नाम था जूलियस सीजर (Julius Caesar)। इस व्यक्ति ने उस समय के ससार को जीता, ऐसे अद्भुत और अलौकिक कार्य किये कि सीजर (Caesar) नाम मे एक विशेष महत्त्व तथा आकर्षण हो गया। सीजर (Caesar) नाम सुनते ही श्रोता के हृदय पर एक अनिर्वचनीय प्रभाव पडता था। इस नाम के साथ अलौकिक प्रभुत्व तथा अद्भुत प्रताप सम्बद्ध हो गया था। इसलिए रोमन साम्राज्य के प्रत्येक सम्राट ने इस नाम के महत्त्व, आकर्षण तथा तेज से लाभ उठाने के लिए इस नाम को उपाधि के तौर पर अपने नाम के साथ जोड लिया और स्वय 'सीजर' बन बैठा। इससे सिद्ध हुआ कि योरप के बडे-बडे सम्राटो की सबसे बडी उपाधि एक व्यक्ति-विशेष का नाम है।

उन्नीसवी शताब्दी के योरप के इतिहास मे इसी मनोवृत्ति का एक दूसरा जीता-जागता उदाहरण मिलता है। नेपोलियन (Nepoleon) के अमानुषिक साहस और पराक्रम तथा महा सग्रामो में अपूर्व विजयो के कारण 'नेपोलियन' शब्दमात्र मे एक चमत्कार, एक मन को मोहने वाला आकर्षण पैदा हो गया था। जनता के लिए यह शब्द एक वशीकरण मत्र से कम न था। जब 1848 मे फिलिप ने फ्रास देश मे क्राति द्वारा शक्ति प्राप्त की तो अपनी शक्ति को दृढ करने के लिए उसने अपना नाम नेपोलियन रख लिया और वह नेपोलियन तृतीय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। फ्रास देश के तृतीय साम्राज्य को सुसगठित तथा सुदृढ करने मे नेपोलियन के नाम ने आशातीत सहायता दी।

धार्मिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी इसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन मिलता है। आदि शकराचार्य के अलौकिक बुद्धि चमत्कार के पश्चात, उनके द्वारा स्थापित मठो के अध्यक्ष अपने आपको अभी तक शकराचार्य कहते हैं। सिक्ख धर्म के स्थापक गुरु नानक थे। उनके पीछे आने वाले सारे गुरु अपने आपको नानक कहते थे। दूसरे गुरु से लेकर दसवें गुरु ने जो कविताए रची हैं और अब ग्रन्थ साहिब मे सुरक्षित हैं, वे सब नानक के नाम से रची गई हैं।

ऊपर लिखा गया है कि योरप के चार विशाल साम्राज्यो के सम्राटो की उपाधि एक व्यक्ति-विशेष का नाम मात्र है। इसी प्रकार ईसवी सन् के पश्चात भारत के सम्राटो का अपने नाम के साथ विक्रमादित्य की उपाधि को जोडना इस बात का सूचक है कि कोई व्यक्ति विक्रमादित्य हुआ था। उसने अद्भुत अलौकिक कार्यों द्वारा सीजर तथा नेपोलियन के समान विक्रमादित्य शब्द मे एक प्रकार का आकर्षण और तेज उत्पन्न कर दिया और वह नाम जनता को मुग्ध करने का एक प्रकार का अमोघ वशीकरण मन्त्र बन गया। इसलिए चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे शक्तिशाली सम्राट ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। अन्यथा समरागणो मे विहार करने वाले विदेशियो के विजेता विशाल साम्राज्य के प्रभु चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे महाबली परम भट्टारक परमेश्वर के लिए

विक्रमादित्य या पराक्रम मूर्ति या पराक्रम-सूर्य आदि शब्दो को अपने नाम के साथ जोडने से कोई विशेष लाभ या गौरव प्राप्त न हो सकता था। मेरी राय मे *चन्द्रगुप्त द्वितीय को विक्रमादित्य की उपाधि धारण करना* इस बात की सूचना देता है कि उससे पूर्व कोई महातेजस्वी विक्रमादित्य नाम का सम्राट भारत मे हो चुका था जिसके विदेशियो को परास्त करने वाले दुर्निवार पराक्रम, अद्‌भुत तथा अलौकिक आचरणो के कारण विक्रमादित्य' शब्द एक अत्यन्त कमनीय उपाधि बन गया, यहा तक कि चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे सम्राट इस नाम को उपाधि बनाकर अपने नाम के साथ जोडने और अपने आपको विक्रमादित्य कहलाने मे गौरव अनुभव करते थे।

एक ऐसे ही महातेजस्वी विक्रमादित्य का वर्णन ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी से पूर्व मिलता है। महाराज हाल ने महाराष्ट्री प्राकृत पद्यो के एक सग्रह का सकलन किया। महाराज हाल का समय पहली या दूसरी शताब्दी है। *इस सग्रह मे कुछ पद्य तो उनके स्वरचित हैं और कुछ अन्य कवियो के पद्य* सगृहीत हैं। इस सुभाषितावलि का नाम है 'गाथासप्तशती'। इसके एक पद्य मे *विक्रमादित्य का उल्लेख है। वह पद्य यहा उद्धृत किया जाता है—*

> 'सवाहणसुहरसतोसिएण दतेण तुह करे लक्ख।
> चलणेण विक्कमाइच्चचरिअ अनुसिक्खिअ तिस्सा।'

इसकी सस्कृत छाया इस प्रकार है—

> 'सवाहन सुखरसतोषितेन दत्तेन तव करे लाक्षा।
> चरणेन विक्रमादित्यचरित्र अनुशिक्षित तस्या ॥'

इस पद्य का भावार्थ है—पति अपनी प्रिया के चरणो का सवाहन कर रहा था। प्रिया के चरण लाख रस से पुते हुए होने के कारण लाल थे। ऐसे चरणो के स्पर्श से पति के हाथो मे भी लाख लग गई अर्थात वे लाल हो गये। इस कौतुक को देखकर कवि अथवा अभिन्न हृदय मित्र पति को सम्बोधन करके कहता है कि प्रिया के चरणो ने सवाहनसुख से सतुष्ट होकर तुम्हारे हाथ म लाख दे दिया। लाख देने से चरणो ने मानो विक्रमादित्य के चरित्र का अनुकरण किया है।

(मूल शब्द लक्ख-लाख श्लिष्ट पद है। इसके दो अर्थ हैं—(1) लाख नाम की एक धातु जिसका रस मेहदी के समान पावो पर लगाया जाता है, (2) लाख रुपये।)

इस पद्य के साक्ष्य से सिद्ध है कि हाल के समय से पूव, विक्रमादित्य नाम का एक महाप्रतापी और उदार सम्राट हो चुका था जो चरण-सवाहन जैसी साधारण सेवा से सतुष्ट होकर अपने नौकरो को लाख-लाख रुपये इनाम मे दे डालता था। इस कथन मे यदि कुछ अतिशयोक्ति भी हो तो भी इस पद्य से

विक्रमादित्य की उदारता, ऐश्वर्य और दानशीलता अवश्य प्रकट होते हैं। इस प्रकार पहली या दूसरी शताब्दी से पूर्व एक वीर प्रतापी दानवीर विक्रमादित्य का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

कुछ विद्वान इस पद्य को सन्देह की दृष्टि से देखते है। पर सन्देह का कारण नही बतलाते। मालूम होता है कि अस्पष्ट रूप मे उनके मन मे एक धारणा बैठ गई है कि यह पद्य प्रक्षिप्त है अर्थात् जिस समय हाल ने गाथा सप्तशती का सकलन किया था उस समय यह पद्य विद्यमान न था वल्कि पीछे से मिला दिया गया है। यदि यह पद्य प्रक्षिप्त है तो इसके लिए कोई प्रमाण दिया जाना चाहिए। यदि प्रमाण नही है तो प्रमाण के अभाव मे सन्देह करना न्याय नही है। कहावत है कि जव तक पाप सिद्ध न कर दिया जाय तब तक मनुष्य पापी नही माना जा सकता। 'A man is innocent until and unless he is proved guilty' इसी प्रकार जब तक इस पद्य को प्रक्षिप्त न सिद्ध कर दिया जाय, इसकी अवहेलना नही की जा सकती। यदि यह पद्य प्रमाण-कोटि पर आरूढ हो सकता है तो दूसरी या पहली शताब्दी से पूर्व विक्रमादित्य का अस्तित्व स्वीकार करना पडेगा।

दूसरी या पहली शताब्दी से पूर्व विक्रमादित्य के अस्तित्व को सिद्ध करने मे गुणाढ्य द्वारा पैशाची भाषा मे लिखी हुई वृहत्कथा से भी साक्ष्य मिलता है। मूल वृहत्कथा अब उपलब्ध नही होती। वह नष्ट हो चुकी है। पर पैशाची भाषा से मूल वृहत्कथा का सस्कृत भाषा मे रूपान्तर किया गया। इस रूपान्तर के समय का निर्णय नही हो सकता पर सस्कृत रूपान्तर आठवी शताब्दी से पूर्व अवश्य हो चुका था। इस सस्कृत रूपान्तर की इस समय जो शाखायें विद्यमान हैं—(1) काश्मीरी, (2) नेपाली। काश्मीरी शाखा के दो ग्रन्थ प्रतिनिधि है—(क) क्षेमेन्द्रकृत वृहत्कथामजरी और (ख) सोमदेवरचित कथासरित्सागर। नेपाली शाखा का एक ही ग्रन्थ मिलता है। वह है बुद्धस्वामी रचित श्लोकसग्रह। श्लोक-सग्रह का सम्पादन फ्रास देश के प्रसिद्ध विद्वान् लाकोत (Lacote) ने किया है। इन दोनो शाखाओ के तुलनात्मक और आलोचनात्मक अध्ययन द्वारा मूल वृहत्कथा के कलेवर का निर्माण किया जा सकता है। शाखाओ की विवेचना द्वारा हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि मूल पैशाची वृहत्कथा म अमुक-अमुक विषयो का वर्णन था। गुणाढ्यकृत वृहत्कथा की असदिग्ध विषय-सूची बनायी जा सकती है। यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि गुणाढ्य ने अपनी मूल पैशाची बृहत्कथा मे विक्रमादित्य के चरित्र का विस्तार सहित वर्णन किया था। गुणाढ्य के समय के विषय मे विद्वानो मे मतभेद है पर गुणाढ्य को पहली या दूसरी शताब्दी से पीछे नही घसीटा जा सकता। गुणाढ्य की मूल वृहत्कथा का साक्ष्य पहली या दूसरी शताब्दी मे पूर्व एक तेजस्वी महापराक्रमी विक्रमा-

विक्रमादित्य या *पराक्रम-मूर्ति* या *पराक्रम-सूर्य* आदि शब्दो को अपने नाम के साथ जोडने से कोई विशेष लाभ या गौरव प्राप्त न हो सकता था। मेरी राय मे चन्द्रगुप्त द्वितीय को विक्रमादित्य की उपाधि धारण करना इस बात की सूचना देता है कि उससे पूर्व कोई महातेजस्वी विक्रमादित्य नाम का सम्राट भारत मे हो चुका था जिसके विदेशियो को परास्त करने वाले दुर्निवार पराक्रम, अद्भुत तथा अलौकिक आचरणो के कारण 'विक्रमादित्य' शब्द एक अत्यन्त कमनीय उपाधि बन गया, यहा तक कि चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे सम्राट इस नाम को उपाधि बनाकर अपने नाम के साथ जोडने और अपने आपको विक्रमादित्य कहलाने मे गौरव अनुभव करते थे।

एक ऐसे ही महातेजस्वी विक्रमादित्य का वर्णन ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी से पूर्व मिलता है। महाराज हाल ने महाराष्ट्री प्राकृत पद्यो के एक सग्रह का सकलन किया। महाराज हाल का समय पहली या दूसरी शताब्दी है। इस सग्रह मे कुछ पद्य तो उनके स्वरचित हैं और कुछ अन्य कवियो के पद्य सगृहीत हैं। इस सुभाषितावलि का नाम है 'गाथासप्तशती'। इसके एक पद्य मे विक्रमादित्य का उल्लेख है। वह पद्य यहा उद्धृत किया जाता है—

> *'संवाहणसुहरसतोसिएण दंतेण तुह करे लक्खं।*
> *चलणेण विक्कमाइच्चचरिअं अनुसिक्खिअं तिस्सा।'*

इसकी सस्कृत छाया इस प्रकार है—

> 'संवाहन सुखरसतोषितेन दत्तेन तव करे लाक्षां।
> चरणेन विक्रमादित्यचरित्रं अनुशिक्षितं तस्याः॥'

इस पद्य का भावार्थ है—पति अपनी प्रिया के चरणो का सवाहन कर रहा था। प्रिया के चरण लाख रस से पुते हुए होने के कारण लाल थे। ऐसे चरणो के स्पर्श से पति के हाथो मे भी लाख लग गई अर्थात वे लाल हो गये। इस कौतुक को देखकर कवि अथवा अभिन्न हृदय मित्र पति को सम्बोधन करके कहता है कि प्रिया के चरणो ने सवाहनसुख से सतुष्ट होकर तुम्हारे हाथ मे लाख दे दिया। लाख देने से चरणो ने मानो विक्रमादित्य के चरित्र का अनुकरण किया है।

(मूल शब्द लक्ख-लाख श्लिष्ट पद है। इसके दो अर्थ हैं—(1) लाख नाम की एक धातु जिसका रस मेहदी के समान पावो पर लगाया जाता है, (2) लाख रुपये।)

इस पद्य के साक्ष्य से सिद्ध है कि हाल के समय से पूर्व, विक्रमादित्य नाम का एक महाप्रतापी और उदार सम्राट हो चुका था जो चरण-सवाहन जैसी साधारण सेवा से सतुष्ट होकर अपने नौकरो को लाख-लाख रुपये इनाम मे दे डालता था। इस कथन मे यदि कुछ अतिशयोक्ति भी हो तो भी इस पद्य से

विक्रमादित्य की उदारता, ऐश्वर्य और दानशीलता अवश्य प्रकट होते हैं। इस प्रकार पहली या दूसरी शताब्दी से पूर्व एक वीर प्रतापी दानवीर विक्रमादित्य का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

कुछ विद्वान इस पद्य को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। पर सन्देह का कारण नहीं बतलाते। मालूम होता है कि अस्पष्ट रूप से उनके मन मे एक धारणा बैठ गई है कि यह पद्य प्रक्षिप्त है अर्थात् जिस समय हाल ने गाथा सप्तशती का सकलन किया था उस समय यह पद्य विद्यमान न था बल्कि पीछे से मिला दिया गया है। यदि यह पद्य प्रक्षिप्त है तो इसके लिए कोई प्रमाण दिया जाना चाहिए। यदि प्रमाण नही है तो प्रमाण के अभाव मे सन्देह करना न्याय नहीं है। कहावत है कि जब तक पाप सिद्ध न कर दिया जाय तब तक मनुष्य पापी नहीं माना जा सकता। 'A man is innocent until and unless he is proved guilty' इसी प्रकार जब तक इस पद्य को प्रक्षिप्त न सिद्ध कर दिया जाय, इसकी अवहेलना नही की जा सकती। यदि यह पद्य प्रमाण-कोटि पर आरूढ हो सकता है तो दूसरी या पहली शताब्दी से पूर्व विक्रमादित्य का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा।

दूसरी या पहली शताब्दी से पूर्व विक्रमादित्य के अस्तित्व को सिद्ध करने मे गुणाढ्य द्वारा पैशाची भाषा मे लिखी हुई बृहत्कथा से भी साक्ष्य मिलता है। मूल बृहत्कथा अब उपलब्ध नही होती। वह नष्ट हो चुकी है। पर पैशाची भाषा से मूल बृहत्कथा का सस्कृत भाषा मे रूपान्तर किया गया। इस रूपान्तर के समय का निर्णय नही हो सकता पर सस्कृत रूपान्तर आठवीं शताब्दी से पूर्व अवश्य हो चुका था। इस सस्कृत रूपान्तर की इस समय जो शाखाएँ विद्यमान हैं—(1) काश्मीरी, (2) नेपाली। काश्मीरी शाखा के दो ग्रन्थ प्रतिनिधि हैं—(क) क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथामजरी और (ख) सोमदेवरचित कथासरित्सागर। नेपाली शाखा का एक ही ग्रन्थ मिलता है। वह है बुधस्वामी रचित श्लोकसग्रह। श्लोकसग्रह का सम्पादन फ्रास देश के प्रसिद्ध विद्वान् लाकोत (Lacote) ने किया है। इन दोनो शाखाओं के तुलनात्मक और आलोचनात्मक अध्ययन द्वारा मूल बृहत्कथा के कलेवर का निर्माण किया जा सकता है। शाखाओं की विवेचना द्वारा हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि मूल पैशाची बृहत्कथा मे अमुक-अमुक विषयों का वर्णन था। गुणाढ्यकृत बृहत्कथा की मर्यादित रूपरेखा बनाई जा सकती है। यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि गुणाढ्य ने अपनी मूल पैशाची बृहत्कथा मे विक्रमादित्य के चरित्र का विस्तार सहित वर्णन किया था। गुणाढ्य के समय के विषय मे विद्वानों मे मतभेद है पर गुणाढ्य को पहली या दूसरी शताब्दी से पीछे नहीं घसीटा जा सकता। गुणाढ्य की मूल बृहत्कथा का साक्ष्य पहली या दूसरी शताब्दी से पूर्व एक ऐतिहासिक महाप्रतापी विक्रमा-

दित्य के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

महाराष्ट्री प्राकृत तथा पैशाची बृहत्कथा के अतिरिक्त विक्रमादित्य के चरित्र का वर्णन निम्नलिखित सस्कृत पुस्तको मे पाया जाता है—(1) शुकसप्तति, (2) सिंहासनद्वात्रिंशिका, (3) वेतालपचविंशति। ये तीनों ग्रन्थ तोता-मैना की कहानी, सिंहासनबत्तीसी और बैताल पच्चीसी के नाम से हिन्दी मे प्रचलित हैं। इनके अनेक अनुवाद और रूपान्तर तथा शाखाएं भारत की भिन्न भिन्न भाषाओ मे उपलब्ध हैं। कथासरित्सागर का भी हिन्दी मे अनुवाद हो चुका है। पर क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथामजरी का कोई अनुवाद अभी तक दृष्टि-गोचर नही हुआ। इन ग्रन्थो की कितनी ही कथाए भारत तथा योरप की भिन्न-भिन्न भाषाओ के साहित्य मे स्वतन्त्र रूप से पायी जाती हैं।

जैनियो के साहित्य मे विक्रमादित्य का वर्णन (1) मेरुतुगसूरि रचित प्रबन्धचिन्तामणि, (2) देवमूर्तिरचित विक्रमचरित, (3) रामचन्द्रसूरिकृत विक्रमचरित्र तथा (4) जर्मनी देशोद्भव याकोबी द्वारा सम्पादित कालकाचार्य-कथानक मे पाया जाता है।

सस्कृत-साहित्य मे वर्णित विक्रमादित्य के चरित्र का अध्ययन करने से ये बातें स्पष्ट हो जाती हैं और जहा तक इनका सम्बन्ध है, उनमे कोई भी परस्पर विरोध नहीं है—

(क) भर्तृहरि को एक अमृत फल मिलता है। वह उस फल को अपनी प्रियतमा रानी को देता है। रानी उसी फल को अपने एक प्राणप्रिय मित्र को दे देती है। वह मित्र उसी फल को किसी दूसरी स्त्री को दे देता है। वह स्त्री फिर उस फल को भर्तृहरि को दे देती है। इस घटना से भर्तृहरि के हृदय पर चोट लगती है। वह राजपाट छोड़-कर वन मे चला जाता है।

(ख) भर्तृहरि के जाने के पश्चात् राज्य का कोई रक्षक नही रहता।

(ग) राज्य मे अराजकता छा जाती है।

(घ) एक राक्षस राज्य का रक्षक बन जाता है।

(ङ) विक्रमादित्य आता है।

(च) विक्रमादित्य का राक्षस से युद्ध होता है।

(छ) विक्रमादित्य राक्षस पर विजय पाता है और राज्य का स्वामी बन जाता है।

(च) और (छ) से सिद्ध है कि राज्य प्राप्ति से पूर्व विक्रमादित्य को युद्ध करना पडा। युद्ध एक राक्षस से हुआ। मेरी राय मे 'राक्षस स क्रूर कुटिल, अनार्य विदेशियों की ओर सकेत है। सीधे सादे शब्दो म हम कह सकते है कि सस्कृत-साहित्य की विक्रम सम्बन्धी कथाओ के अध्ययन स यह परिणाम निकलता

है कि अनार्य विदेशियो पर विजय पाकर ही विक्रमादित्य ने राज्य किया।

जो बात सस्कृत-साहित्य मे परोक्ष रूप से कही गई है, वही बात जैन-साहित्य मे विशेषकर कालकाचार्य कथानक मे प्रत्यक्ष रूप स बतलाई गई है। जैन-साहित्य की परम्परा के अनुसार उज्जयिनी का एक राजा गर्दभिल्ल था। वह बडा दुष्ट था। कालकाचार्य जैन मत के अनुयायी एक अच्छे विद्वान साधु थे। उनकी बहन सरस्वती बडी रूपवती थी। वह भी परिव्राजका बन गई। उसके रूप-लावण्य की छटा को देखकर गर्दभिल्ल उस पर आसक्त हो गया। मत्रियो के समझाने पर ध्यान न देकर उसने साध्वी सरस्वती को बलात् अपने अन्त पुर मे डाल लिया। कालकाचार्य इस अन्याय को न सह सका। उसने शकद्वीप के शको की सहायता से उज्जयिनी पर आक्रमण कर दिया। गर्दभिल्ल मारा गया। उज्जयिनी पर शको का राज्य हो गया। शको ने प्रजा पर अनेक अत्याचार किये। धन सम्पत्ति लूट गये। स्त्रियो का सतीत्व भग किया गया। धर्म और न्याय का लोप हो गया। प्रजा की ऐसी दुर्दशा को देखकर और आर्तनाद को सुनकर गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शक्ति सग्रह की। उसने शको पर विजय पायी। प्रजा को ऋण से मुक्त कर दिया। शको पर विजय पाने और सारी प्रजा को ऋण से मुक्त करने के उपलक्ष म सवत् की स्थापना की। यह सवत ईसा से 57-58 वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ। मेरी सम्मति म सस्कृत-साहित्य म वर्णित राक्षस जैन साहित्य के शक ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन-साहित्य मे एक वास्तविक ऐतिहासिक घटना का वर्णन है। इस घटना के ऐतिहासिक स्वरूप को योरप के कुछ विद्वान् स्वीकार करत है। हम यहा शारपान्तियर (Charpentier) के मत को उद्धृत करते है। वह लिखते हैं—

'Only one legend, the Kalkacharya Kathanaka, 'the story of the teacher Kalaka' tells us about some events which are supposed to have taken place in Ujjain and other parts of Western India during the first part of the first century B C or immediately before the foundation of the Vikrama era in 58 B C This legend is perhaps not totally devoid of all historical interest' (Cambridge History of India, Vol I p 167)

रैप्सन का मत भी यहा उद्धृत किया जाता है—

'The memory of an episode in the history of Ujjayini may possibly be preserved in the Jain story of Kalaka The story can neither be proved nor disproved, but it may be said in its favour that its historical setting is not inconsistent with what we know of the political circumstances of Ujjayini at this period A persecuted party in the state may well have invoked the aid of the warlike Sakas of Sakadvipa in order to crush a

cruel despot, and as history has so often shown, such allies are not unlikely to have seized the kingdom for themselves Both the tyrant Gardabhilla whose misdeed were responsible for the introduction of these avengers, and his son Vikramaditya, who afterwards drove the Sakas out of the realm, according to the story, may perhaps be historical characters ' (Cambridge History of India Vol I pp 532-533)

जैन-साहित्य के इस इतिहास के विरुद्ध कुछ भी प्रमाण नही हैं। विरोधी प्रमाण के अभाव मे यह अविश्वास के योग्य नही है। जहा तक विक्रमादित्य के ऐतिहासिक अस्तित्व का प्रश्न है, वह गाथासप्तशती और बृहत्कथा से सिद्ध होता है। जैन, महाराष्ट्री तथा पैशाची परम्परा ईसा से पूर्व विक्रमादित्य के अस्तित्व को सिद्ध करती है। हमे ईसा से 57-58 वप पूर्व विक्रमादित्य के ऐतिहासिक अस्तित्व को स्वीकार करने मे कुछ भी आपत्ति नही होनी चाहिए। यहा पर हम फ्रैंकलिन एजटन का मत भी उद्धृत कर देना उचित समझते हैं। वे लिखते हैं—

'I am not aware that there is any definite and positive reason for rejecting the Jainistic chronicles completely, and for saying categorically that there was no such king as Vikrama living in 57 B C Do we know enough about the history of that century to be able to deny that a local king of Malava, bearing one of the names by which Vikarma goes may have won for himself a somewhat extensive dominion in Central India ? It does not seem to me that Kielhorn has disproved such an assumption And I know of no other real attempt to do so ' (Vikrama's Adventures—H O S Vol 26 Introduction p. LXIV)

'It seems on the whole at least possible, and perhaps probable, that there really was a King named Vrkramaditya who reigned in Malava and founded the era of 58 57 B C ' (Op W LXVI).

भारतीय इतिहास मै विक्रम-समस्या

☐ हरिहर निवास द्विवेदी

भारतीय अनुश्रुति पर अविश्वास—यह बात तो माननी ही पडेगी कि भारतीय ऐतिहासिक अन्वेषण मे योरप के विद्वानो ने अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है। वर्तमान वैज्ञानिक शैली मे इतिहास लेखन की नीव उनके द्वारा डाली गई है। परन्तु साथ ही यह भी मानना पडेगा कि उनमे से अधिकाश का दृष्टि-कोण धार्मिक एव राजनीतिक कारणो से प्रभावित रहा है। जो इतिहास लेखक धार्मिक क्षेत्र के (पादरी) थे, उनके हृदय मे यह भावना प्रबल रहती थी कि पूर्व के एक अनुन्नत देश की सभ्यता ईसा के बहुत पहले की, एव ईसामसीह के पवित्र अनुयायियो से अधिक समुन्नत नहीं हो सकती। राजनीतिक कारणो ने भी अच्छा प्रभाव नही डाला। जातिगत श्रेष्ठता की भावना के कारण कभी-कभी बहुत बुरा प्रभाव पडा है। इसके लिए एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा। विसेण्ट स्मिथ का भारत का प्राचीन इतिहास (The Early History of India) प्रारम्भ के स्तुत्य प्रयासो मे से है। प्रारम्भिक प्रयास होने के कारण उसमे भ्रान्तिया होना क्षम्य है, परन्तु उसम लेखक का जो एक विशिष्ट दृष्टिकोण रहा है, वह अवाछनीय है। अलक्षेन्द्र के भारत-आक्रमण का हाल देने मे उसने उक्त पुस्तक का सप्ताश व्यय किया है, जबकि वह स्वय स्वीकार करता है कि उस आक्रमण का भारत पर कोई प्रभाव नही पडा था।[1] जब वह योरोपीय

---

1 'The campaign, although carefully designed to secure a permanent conquest, was in actual effect no more than a brilliantly successful raid on gigantic scale, which left upon India no mark save the horrid scars of bloody war'

'India remained unchanged The wounds of battle were quickly healed, the ravaged fields smiled again as the patient oxen and no less patient husbandmen resumed their interrupted labours, and the places of the slain myriads were filled by the teeming sworms of a population, which

अलक्षेन्द्र की विजयवाहिनी के आगे भारतीय राजाओ एव गणतन्त्रो को हारते देखता है तो अनुभव करता है कि उसका मस्तक गौरव से ऊचा हो रहा है[1] परन्तु जब चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रचण्ड प्रताप के सम्मुख सेल्यूकस को भागना पडता है तब वही चन्द्रगुप्त के शौर्य के वर्णन म बडी कजूसी दिखाता है ।[2]

---

knows no limit save these imposed by the cruelty of man, or the still more pitiless operations of nature India was not hellenized She continued to live her life of splendid isolation and soon forgot the passing of the Macedonian storm No Indian author, Hindu, Buddhist or Jain makes even the faintest allusion to Alexander or his deeds'

V Smith—Early History of India, pp 117-118

1 यह भावना नीचे लिखे अवतरण मे स्पष्ट होगी—

'Such was India when first disclosed to European observation *in the fourth century* B C *and such it always* has been, except during the comparatively brief periods in which a vigorous central government has compelled the mutually repellent molecules of the body politic to check their gyrations and submit to the grasp of a superior controlling force'

Ibid—p 370

स्मिथ इस बात को भूल गया है कि तस्वीर का दूसरा रुख भी है । ई० पू० चौथी शताब्दी म योरोपीय दर्शको के सामने जो भारत आया उसके विषय मे (सम्भवत ?) डॉ० अग्रवाल ने 'नागरी प्रचारिणी-पत्रिका, सवत 2000' मे पृष्ठ 100 पर ठीक ही लिखा है 'हर्ष की बात है कि राजा पौरव ने जिस जुझारू यज्ञ का प्रारम्भ किया था, क्षुद्रक-मालव जैसे लडाकू गण राज्यो ने उसे आगे जारी रखा और अन्ततोगत्वा यवन सेना भारत विजय की आशा छोडकर हृदय और शरीर दोनो से थकी-मादी अपनी जन्मभूमि के लिए वापिस फिरी ।'

2 नीचे लिखे उद्गार प्रकट करते समय तो उसका उद्देश्य एव भावना पूर्णत अनावृत हो जाते हैं—

'*The three following* chapters which attempt to give an outline of the salient features in the bewildering annals of Indian petty states when left to their own devices for several ... to give the reader a notion of ... n released from the control ... she would be again, if the ... which now safeguards her ...'

V Smith—Early History of India, p 372

सौभाग्य की बात है कि ऐसा दूषित दृष्टिकोण बहुत थोडे योरोपीय इतिहास लेखको का रहा है, परन्तु एक बात जो बहुसख्यक योरोपीय इतिहास लेखको मे पायी जाती है, वह है भारती अनुश्रुति पर अश्रद्धा। जिन पुराणों और स्मृतियो के अध्ययन से भारतीय इतिहासज्ञो ने प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक वाङ्मय का पुनर्निर्माण किया है, उन्ही को प्रारम्भ मे इन योरोपीय इतिहासवेत्ताओ द्वारा अतिरजित वर्णनो से पूर्ण कपोल-कल्पना माना गया था।

अनुश्रुति पर विश्वास होने के कारण योरोपीय विद्वानो ने भारतीय इतिहास को उल्टी दिशा स देखा है। वे अनुश्रुति के केवल उस भाग को ही प्रमाणित मानते रहे हैं, जिसे उन्ह विवश होकर अभिलेख, मुद्रा आदि के कारण मानना पडा, अन्यथा उन्होने प्रारम्भ ही इस अनुमान से किया है कि भारतीय अनुश्रुति गलत है।

इस अनुश्रुति के अविश्वास ने प्राचीन भारतीय इतिहास की उज्ज्वलतम घटना के नायक, भारतीय स्वातन्त्र्य-भावना के उज्ज्वलतम प्रतीक, अत्याचारी शको के उन्मूलनकर्त्ता विक्रमादित्य की भव्य मूर्ति पर ही पर्दा डालने का प्रयास किया है। अनुश्रुति मे पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित विक्रमादित्य के अस्तित्व से ही इनकार किया गया। आज राम और कृष्ण के समान ही जिस वीर की कहानिया भारत के कोने-कोने मे प्रचलित हैं, भारतीय अनुश्रुति पर अविश्वास करने वाले विद्वानो ने उनको समाप्त कर देने का प्रयत्न किया। इस सब का प्रधान कारण यह माना गया है कि यद्यपि भारतीय अनुश्रुति मे विक्रमादित्य पूर्णरूप से प्रतिष्ठित है और यद्यपि उनका प्रचलित सवत्सर आज ससार की बहुत बडी जनसख्या द्वारा प्रयुक्त है, तथापि चूकि 57-56 ई० पू० किसी विक्रमादित्य नामक राजा अथवा गणतन्त्र के नायक के सिक्के या अभिलेख नही मिलते, इसलिए यह अनुमान करके चलना होगा कि विक्रमादित्य नामक कोई व्यक्ति नही था। सिक्के और अभिलेख किसी शासक के अस्तित्व के अकाट्य प्रमाण हो सकते है, उसके अनस्तित्व एव अभाव के नही। और अभी भारतीय पुरातत्त्व के महासमुद्र का देखा ही कितना अश गया है, विशेषत विक्रम के कार्यस्थल मध्य देश, मालवा एव उज्जयिनी मे तो अभी बहुत कार्य होना शेष है। बहुत सभव है कि आगे इस दिशा मे अनेक वस्तुए प्राप्त हो। अत केवल सिक्के और अभिलेखो के न मिलने के कारण भारतीय अनुश्रुति पर अश्रद्धा नही की जा सकती।

विक्रम-सवत् सम्बन्धी अद्भुत अनुमान—प्रारम्भ मे यह देखना उपयोगी एव मनोरजक होगा कि विक्रम-सवत् एव उसके प्रवर्तक विक्रमादित्य के विषय मे योरोपीय विद्वानो ने क्या-क्या कल्पनाए की हैं।

सवत्-प्रवर्तन एक ऐसी घटना है, जिससे कोई भी इतिहासज्ञ, भले ही उसे

भारत के गौरवपू ' अतीत पर कितनी ही अश्रद्धा रही हो, इनकार नही कर सका । जिस सवत् का अजस्ररूपेण व्यवहार होता चला आ रहा है, उसका प्रवर्तन हुआ था इसे अस्वीकृत कौन कर सकता है ? आज एक व्यक्ति जीवित है, इससे अधिक और इस बात का क्या प्रमाण हो सकता है कि उसका कभी जन्म भी हुआ होगा ? सवत्सर की वयस् का प्रमाण भी अन्य कही ढूढने नही जाना पडेगा ।

परन्तु विक्रम-सवत् को कुछ विचित्र कल्पनाओ का सामना करना पडा । सर्वप्रथम फरगुसन[1] ने यह स्थापना की कि विक्रम-सवत् का प्रवर्तन ईसा से 57-56 वर्ष पूर्व नही वरन् ईसवी सन् 544 मे हुआ । उसका मत था कि ईसवी सन् 544 मे विक्रमादित्य नामक या उपाधिधारी व्यक्ति ने हूणो को पराजित कर एक सवत्सर की स्थापना की और उसे प्राचीनता की झलक देने के लिए उसका प्रारम्भ 600 वर्ष पूर्व से माना । इससे अधिक विचित्र कल्पना और क्या हो सकती थी ? प्रारम्भ मे इस पर अधिक ध्यान न दिया गया, परन्तु कुछ समय पश्चात् फरगुसन की प्रतिभा की प्रशसा करते हुए मैक्समूलर ने इस अभिनव आविष्कार का समर्थन किया[2] और इस प्रकार इस विचित्र स्थापना का अधिक प्रचार हुआ कि यह सवत् दो सहस्र वर्ष पुराना नही है । परन्तु सौभाग्य से यह मत अधिक पुष्टि न पा सका । फरगुसन का यह काल्पनिक महल धराशायी हो गया, जब वे अभिलेख[3] प्राप्त हो गये, जिनमे सन् 544 ई० के पूर्व के भी विक्रम-सवत् के उल्लेख थे ।

सर भाण्डारकर[4] और विन्सेण्ट स्मिथ[5] का मत भी कम कौतूहलपूर्ण नही था, यद्यपि वह फरगुसन के आविष्कार से कम विचित्र है । उनका कथन है कि प्रारम्भ मे यह सवत् मालव-सवत् के नाम से प्रसिद्ध था । गुप्तवशीय विक्रमादित्य उपाधिधारी प्रसिद्ध चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इस मालव-संवत् का नाम परि-

---

1. जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी 1870, पृ० 81 ।
2. India What it can teach us ? P. 286.
3. देखिए परिशिष्ट 'क' पृष्ठ 122 ।
4. जर्नल ऑफ दि बॉम्बे ब्राच ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, पृ० 398 ।
5. Early History of India, p. 290 (Third Edition)

वर्तित करके विक्रम-सवत्[1] कर दिया। इस स्थापना के अनुयायी आज भी हैं। परन्तु यह विचारणीय है कि गुप्तवश का गुप्त-सवत् अलग प्रचलित था और स्वय चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कभी तथाकथित निज-प्रवर्तित अथवा नाम परिवर्तित विक्रमीय सवत्सर का प्रयोग नही किया।[2]

इस प्रकार जहा विक्रमीय सवत्सर की वयस् घटाने के प्रयास हुए, वहा ऐसे भी अनेक प्रयास हुए, जिन्होने विक्रमादित्य के उसके जनक होने मे शका की।

वीलहॉर्न[3] इस सम्बन्ध मे पूर्ण नास्तिक है। उसका मत है कि विक्रमादित्य नामक कोई राजा ई० पू० 57 मे नही था और न किसी व्यक्ति ने इसका प्रवर्तन किया। विक्रम-काल' का अर्थ उन्होंने माना है युद्धकाल, और चूकि मालव-सवत् का प्रारम्भ शरद्-ऋतु मे होता है, जब राजा लोग युद्ध के लिए निकलते थे, इसलिए इसका नाम विक्रम-सवत् रखा गया। इस मत को मानने मे भी अनेक बाधाए हैं। एक तो 'विक्रम' और 'युद्ध' शब्दो मे अर्थ-साम्य नही है, दूसरे विक्रम-सवत् शरद-ऋतु में ही सर्वत्र प्रारम्भ नही होता।

कनिंघम[4] और मार्शल[5] नामक विद्वानो ने भी अपनी-अपनी स्थापनाएं की। उनके मत से विक्रम-सवत् का प्रवर्तन किसी विक्रमादित्य राजा ने नही

---

1 चन्द्रगुप्त के 'विक्रमादित्य' उपाधि ग्रहण करने वाले सर्वप्रथम सम्राट् होने के कारण भी ये विद्वान् इन्हे सवत्-प्रवर्तक विक्रम मानते हैं। परन्तु अभी हाल ही म बमनाला ग्राम मे समुद्रगुप्त की जो सात स्वर्ण-मुद्राए प्राप्त हुई हैं, उनमे कुछ मुद्राओ पर 'पराक्रम' लिखा है और एक पर 'श्रीविक्रम' उपाधि लिखी है। अत यह उपाधि मूलत चन्द्रगुप्त द्वितीय से प्रारम्भ नही हुई, यह प्रमाणित होता है। विशेष विवेचन के लिए आगे देखिए, पृ० 47।

2 इसके साथ ही श्री भगवद्दत्तजी का मत भी विचारणीय है। इनका मत है कि गुप्तवशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय ही वह विक्रमादित्य है, जिसने सवत् का प्रवर्तन किया और उसका समय ईसा की चौथी, पाचवी शताब्दी न होकर ई० पू० प्रथम शताब्दी है। इस मत के समर्थक भी है, परन्तु इस पर इतना कम विवेचन हुआ है कि इसे सिद्ध या असिद्ध नही कह सकते।

3 इण्डियन एण्टीक्वेरी 19 तथा 20।

4 जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी 1913, पृ० 627।

5 जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी 1914, पृ० 973 और 1915 पृ० 191। साथ ही देखिए, केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया भाग 1, पृ० 571।

किया था। कनिंघम के मत मे उसका प्रवर्तक कुषाणवशीय राजा कनिष्क था। इस स्थापना के विषय मे बहुत ऊहापोह की गई। अनेक विद्वानो ने इसके पक्ष और विपक्ष मे लिखा।[1] परन्तु सर जॉन मार्शल ने यह पूर्णरूपेण सिद्ध कर दिया कि कनिष्क का समय 57 ई० पू० नही वरन् 78 ई० है। इस प्रकार कनिंघम की स्थापना समाप्त हुई, परन्तु मार्शल की स्थापना ने जोर पकडा। उसने कहा कि विक्रम-सवत् का प्रचलन गाधार के शक राजा एजेस ने किया था। यह मत भी निराधार है। एजेस का सवत् उसी के नाम से चला था, ऐसा सिद्ध हो चुका है।[2] विक्रम-सवत् का प्रचलन पहले 'कृत' एव मालव-सवत् के नाम से था, 'अयस' नाम से नही। साथ ही भारतवर्ष के एक कोने मे एक विदेशी राजा द्वारा चलाए गए सवत् के पीछे विक्रम-सवत् के साथ आज भी अभिन्न-रूपेण सम्बद्ध शक-विरोधी एव राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न नही हो सकती।

इसके अतिरिक्त कुछ मत और भी हैं। एक के अनुसार मालव-वीर यशोवर्मन्[3] ने इस सवत् को चलाया तथा एक अन्य मत के अनुसार पुष्यमित्र शुग ने।[4] डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि[5] ने इस सवत् का प्रवर्तन किया है। डॉ० जायसवाल ने जैन अनुश्रुति के विक्रमादित्य और इतिहास के गौतमीपुत्र शातकर्णि को एक ही मानकर अनुश्रुति और इतिहास का समन्वय किया है। डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल की स्थापना के दो आधार हैं। एक तो यह कि जिन गुणो का आरोप विक्रमादित्य मे किया जाता है, वे सब गौतमीपुत्र शातकर्णि मे थे। नासिक-अभिलेख से माता गौतमी ने अपने पुत्र मे उन सब गुणो का होना लिखा है। दूसरा कारण यह है कि ई० पू० प्रथम शताब्दी मे गौतमीपुत्र शातकर्णि ने किसी शक राजा को हराया था। परन्तु गौतमीपुत्र के समय के विषय मे विद्वानो मे मतभेद है और यह प्राय निश्चित ही है कि वह ई० पू० प्रथम शताब्दी मे नही था। इस अभिनव कल्पना ने

1. इस विषय मे जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी 1913 द्रष्टव्य है, जिसमे कनिष्क के विक्रम-सवत् प्रवर्तक होने या न होने के विषय मे योरोपीय विद्वानो न मत प्रकट किए है।
2. इसके लिए इसी ग्रन्थ म डॉ० लक्ष्मणस्वरूप का निबन्ध विशेष रूप से द्रष्टव्य है।
3. जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी 1903, पृ० 545, 1909, पृ० 89।
4. नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका सवत्, 1990।
5. जर्नल ऑफ बिहार एण्ड उडीसा रिचर्स सोसायटी, खण्ड 16, भाग 3 और 4, पृ० 226-316।

अनेक अनुयायी बनाए हैं। परन्तु एक तो यह बात अभी सिद्ध नही है कि यह शक वही थे, जिन्होंने उज्जैन पर अधिकार कर लिया था और गौतमीपुत्र की विजय पहली शताब्दी ई० पू० मे हुई थी। दूसरे, जिस प्रशस्ति म गौतमीपुत्र के इतने गुणगान हैं, उसमे विक्रमादित्य-विरुद का उल्लेख तक नही है।

विक्रमीय सवत्सर को विक्रमादित्य नामक व्यक्ति द्वारा प्रवर्तित न मानने वालो म डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर भी हैं। उनका कहना है कि विक्रम-सवत् का मूल नाम 'कृत-सवत्' है और उसे मालवगण के 'कृत' नामक सेनाध्यक्ष की शक-विजय के उपलक्ष मे 'कृत-सवत्' की सज्ञा दी गई। यद्यपि, उन्होने कालकाचार्य-कथानक के विक्रमादित्य सम्बन्धी श्लोको को प्रक्षिप्त माना है और जैन परम्परा को अविश्वसनीय, फिर भी वे लिखते है, "अब यह भी माना जा सकता है कि जिस कृत नामक प्रजाध्यक्ष ने इस सवत् की स्थापना की, उसका उपनाम विक्रमादित्य था।"[1] जब यहा तक अनुमान किया जा सकता है, तो ऐसे आधार भी हैं, जिनके कारण यह विश्वास किया जा सके कि ई० पू० 57 में विक्रमादित्य नाम का ही मालवगण का सेनाध्यक्ष अथवा राजा था।

अभिलेख एव मुद्राओं से प्राप्त निष्कर्ष—इन सब अद्भुत कल्पनाओ पर विचार कर लेन के पश्चात् अब आगे हम उपलब्ध आधारो पर विक्रम-सवत् और उसके प्रवर्तक के विषय मे विचार करेंगे। विक्रमादित्य के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रधान आधार विक्रम-सवत् है। विक्रम-सवत् का प्रयोग उसके अस्तित्व की प्रबल दलील है। विक्रम-सवत् का प्राचीन अभिलेखो मे जिस प्रकार प्रयोग किया गया है, उसे देखने पर अनेक बातों पर प्रकाश पडता है। सवत् 1200 विक्रमीय तक के प्राय 261 अभिलख प्राप्त हुए हैं। इनमे से भी सवत् 900 के पूर्व के तो 33 ही हैं।[2]

परिशिष्ट 'क' मे दी गई सूची मे हमने प्रत्येक अभिलेख का सवत्, उसका प्राप्ति-स्थान, तथा सवत्-सूचक वह पाठ लिख दिया है, जिसमे विक्रम-सवत् का उसके नाम के साथ उल्लेख है।

इस परिशिष्ट के अध्ययन म हम नीचे लिखे निष्कर्ष निकाल सकते हैं :—

1 सवत् 282 से 481 तक इसे कृत-सवत् कहा गया है।
2 सवत् 461 से 936 तक इस मालव-सवत् कहा गया है। सवत् 461 के मन्दसौर के अभिलेख मे इसे 'कृत' तथा 'मालव' दोनो सज्ञाए दी गई हैं।
3 सवत् 794 के ढिमकी के अभिलेख मे इस संवत् को सबसे पहले विक्रम-सवत् कहा गया है, परन्तु डॉ० अल्तेकर ने इस अभि-

1 नागरी प्रचारिणी-पत्रिका वर्ष 48, अक 1-4 सवत् 2000, पृ० 77।
2 देखिए, परिशिष्ट 'क'।

लेखयुक्त ताम्रपत्र को जाली सिद्ध कर दिया है।[1] अत विक्रम-सवत् के नाम से यह सर्वप्रथम धौलपुर के चण्डमहासेन के 898 के अभिलेख मे व्यक्त किया गया है।

4 मालव तथा कृत नामो के प्रयोग की भौगोलिक सीमा उदयपुर, जयपुर, कोटा, भरतपुर, मन्दसौर तथा झालावाड है। विक्रम नाम सम्पूर्ण भारत मे प्रयुक्त हुआ है।

यह बात पूर्णरूपण सिद्ध है कि कृत, मालव एव विक्रम एक ही सवत् के नाम है। मन्दसौर के 461 सवत् के प्राप्त लेख मे एक ही सवत् को 'मालव' तथा 'कृत' कहा गया है। इतिहास मे कुमारगुप्त का समय निश्चित है। कुमारगुप्त के समय मे बन्धुवमन के मन्दसौर के 493 सवत् के लेख की गणना करने पर ज्ञात होता है कि वह विक्रम-सवत् ही है और उसका नाम उक्त लेख मे लिखा है 'मालवगणो की स्थिति से चार सौ तिरानवे वर्ष बाद का' अर्थात् मालव-सवत्। अत मालव और विक्रम नाम एक ही सवत् के हैं।

इसके आगे विचार करने के पूर्व हम 'कृत' शब्द के अर्थ पर विचार करेंगे। 'कृत' शब्द का ठीक अर्थ ज्ञात हो सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि 'मालवगण' सम्बन्धी जो पाठ है[2] उन्हे एकत्रित करके उन पर विचार किया जाय—

1 श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसज्ञिते (461 मन्दसौर)।
2 मालवाना गणस्थित्या (493 मन्दसोर)।
3 विख्यापके मालववशकीर्ते (524 मन्दसौर)।
4 मालवगणस्थितिवशात्कालज्ञानाय (589 मन्दसौर)।
5 सवत्सर······मालवेशानाम् (795 कोटा-राज्य)।
6 मालवकालाच्छरदा (936 ग्यारसपुर)।

इन पाठो को एक साथ देखने से ज्ञात होता है कि यह सवत् (अ) मालवेश (या मालवगणाध्यक्ष)[3] का चलाया हुआ है, (इ) इसके कारण या इसके प्रारम्भ का कारण मालवगण की स्थिति[4] (उनके अस्तित्व की प्रतिष्ठा या पुनर्स्थापना)

---

1 एपीग्राफिया इण्डिका, भाग 26, पृ० 189।

2. देखिए, परिशिष्ट 'क'

3 मालवगणाध्यक्ष क्रमश मालवेश कैसे हो गया, इसके लिए देखिए डॉ० राजबली पाण्डेय का लेख 'विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता'।

4 'स्थिति' के अर्थ के विषय मे भी विद्वानो म मतभेद है। डॉ० अल्तेकर इसका अर्थ 'परम्परा', 'सम्प्रदाय', 'रीति' आदि लेते हैं। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते हैं, 'मालव गण की स्थिति शब्द का अर्थ क्या है? हमारी सम्मति मे स्थिति का सीधा अर्थ स्थापना है। मालव-गण

हुई, (उ) यह सवत् मालववश की कीर्ति का कारण है, (ए) इस मालव-सवत् को 'कृत' भी कहते है। यदि इन सबको समन्वित रूप दें तो वह इस प्रकार होगा—'मालवेश ने ऐसा कार्य किया, जिससे मालववश की कीर्ति बढ़ी, मालवगण का अस्तित्व प्रतिष्ठित रह सका या उसकी पुनर्स्थापना की गई और उक्त महत्कार्य के उपलक्ष मे इस सवत् का प्रवर्तन हुआ।'

इस विचार के प्रकाश में 'कृत' शब्द का अर्थ खोजना उपयोगी होगा। डॉ० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने कृत का अर्थ माना है 'सतयुग या स्वर्णयुग'।[1] अग्रवालजी का अनुमान सत्य के आसपास है। 'कृत' का सीधा-सादा शाब्दिक अर्थ है 'किया हुआ' अर्थात् कर्म। यहा 'कृत' का अर्थ है मालवेश या मालव-गणनायक का ऐसा कर्म जो मालववश की कीर्ति बढाने वाला था, जिससे मालवगण की स्थिति हुई, विदेशियो का विनाश हुआ और (डॉ० अग्रवाल के शब्दो मे) सतयुग या स्वर्णयुग का प्रारम्भ हुआ।

अब अगला प्रश्न है मालवेश के 'कृत' का 'विक्रम' मे बदल जाना। इसके लिए विक्रम-सवत् के उल्लेख के प्रकार पर भी ध्यान देना होगा। इसका उल्लेख[2] निम्न प्रकारो से हुआ है—

1 कालस्य विक्रमाख्यस्य (898 धौलपुर)
2 विक्रमादित्यभूभृत (1028 उदयपुर)
3 विक्रमादित्यकाले (1099 वसतगढ-सिरोही)
4 वत्सरैर्विक्रमादित्यै॰ (1103 तिलकावाडा-बडौदा राज्य)
5 श्रीविक्रमादित्योत्पादितसवत्सर (1131 नवसारी, बडौदा)
6 श्रीविक्रमार्कनृपकालातीतसवत्सराणा (1161 ग्वालियर)
7 श्रीविक्रमादित्योत्पादित सवत्सर (1176 सेवाडी, जोधपुर)

इससे यह ज्ञात होता है कि विक्रमीय नौवी शताब्दी स ही ऊपर लिखे मालवेश का नाम विक्रमादित्य माना गया था।

ऊपर लिखे दोनो विवेचनो को एक मे मिला देने से हम इस निष्कर्ष पर

की स्थापना का यह अर्थ नही है कि उस गण की सत्ता पहले अविदित थी।' " "शको की पराजय के बाद मालवगण ने स्वतन्त्रता का अनुभव किया। हमारी सम्मति मे स्वतन्त्रता की यह स्थापना ही मालवगण की स्थिति थी, जिसका मालव-कृत सवत् के लेखो मे कई बार उल्लेख है।' डॉ० अग्रवाल का मत ही उचित है और हमारी समझ मे तो इसका अर्थ है 'प्रतिष्ठित होना'।

1 नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका सवत् 2000, पृ० 131।

2 देखिए, परिशिष्ट 'क'।

लेखयुक्त ताम्रपत्र को जाली सिद्ध कर दिया है।[1] अत विक्रम-सवत् के नाम से यह सर्वप्रथम धौलपुर के चण्डमहासेन के 898 के अभिलेख मे व्यक्त किया गया है।

4 मालव तथा कृत नामो के प्रयोग की भौगोलिक सीमा उदयपुर, जयपुर, कोटा, भरतपुर, मन्दसौर तथा झालावाड है। विक्रम नाम सम्पूर्ण भारत मे प्रयुक्त हुआ है।

यह बात पूर्णरूपण सिद्ध है कि कृत, मालव एव विक्रम एक ही सवत् के नाम हैं। मन्दसौर के 461 सवत् के प्राप्त लेख मे एक ही सवत् को 'मालव' तथा 'कृत' कहा गया है। इतिहास मे कुमारगुप्त का समय निश्चित है। कुमारगुप्त के समय मे बन्धुवर्मन के मन्दसौर के 493 सवत् के लेख की गणना करने पर ज्ञात होता है कि वह विक्रम-सवत् ही है और उसका नाम उक्त लेख मे लिखा है 'मालवगणो की स्थिति से चार सौ तिरानबे वर्ष बाद का' अर्थात् मालव-सवत्। अत मालव और विक्रम नाम एक ही सवत् के है।

इसके आगे विचार करने के पूर्व हम 'कृत' शब्द के अर्थ पर विचार करेंगे। 'कृत' शब्द का ठीक अर्थ ज्ञात हो सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि 'मालवगण' सम्बन्धी जो पाठ है[2] उन्हे एकत्रित करके उन पर विचार किया जाय—

1 श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसज्ञिते (461 मन्दसौर)।
2 मालवाना गणस्थित्या (493 मन्दसौर)।
3 विख्यापके मालववशकीर्ते (524 मन्दसौर)।
4 मालवगणस्थितिवशात्कालज्ञानाय (589 मन्दसौर)।
5 सवत्सर‥‥‥मालवेशानाम् (795 कोटा-राज्य)।
6 मालवकालाच्छरदा (936 ग्यारसपुर)।

इन पाठो को एक साथ देखने से ज्ञात होता है कि यह सवत् (अ) मालवेश (या मालवगणाध्यक्ष)[3] का चलाया हुआ है, (इ) इसके कारण या इसके प्रारम्भ का कारण मालवगण की स्थिति[4] (उनके अस्तित्व की प्रतिष्ठा या पुनर्स्थापना)

---

1 एपीग्राफिया इण्डिका, भाग 26, पृ॰ 189।

2 देखिए, परिशिष्ट 'क'

3 मालवगणाध्यक्ष क्रमश मालवेश कैसे हो गया, इसके लिए देखिए डॉ॰ राजबली पाण्डेय का लेख 'विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता'।

4 'स्थिति' के अर्थ के विषय म भी विद्वानो म मतभेद है। डॉ॰ अल्तेकर इसका अर्थ 'परम्परा', 'सम्प्रदाय', 'रीति' आदि लेते है। डॉ॰ वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते हैं, 'मालव-गण की स्थिति शब्द का अर्थ क्या है? हमारी सम्मति मे स्थिति का सीधा अर्थ स्थापना है। मालव गण

हुई, (उ) यह सवत् मालववश की कीर्ति का कारण है, (ए) इस मालव-सवत् को 'कृत' भी कहते हैं। यदि इन सबको समन्वित रूप दें तो वह इस प्रकार होगा—'मालवेश ने ऐसा कार्य किया, जिससे मालववश की कीर्ति बढ़ी, मालवगण का अस्तित्व प्रतिष्ठित रह सका या उसकी पुनर्स्थापना की गई और उक्त महत्कार्य के उपलक्ष मे इस सवत् का प्रवर्त्तन हुआ।'

इस विचार के प्रकाश मे 'कृत' शब्द का अर्थ खोजना उपयोगी होगा। डॉ० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने कृत का अर्थ माना है 'सतयुग या स्वर्णयुग'।[1] अग्रवालजी का अनुमान सत्य के आसपास है। 'कृत' का सीधा-सादा शाब्दिक अर्थ है 'किया हुआ' अर्थात् कर्म। यहा 'कृत' का अर्थ है मालवेश या मालव-गणनायक का ऐसा कर्म जो मालववश की कीर्ति बढ़ाने वाला था, जिससे मालवगण की स्थिति हुई, विदेशियो का विनाश हुआ और (डॉ० अग्रवाल के शब्दो मे) सतयुग या स्वर्णयुग का प्रारम्भ हुआ।

अब अगला प्रश्न है मालवेश के 'कृत' का 'विक्रम' मे बदल जाना। इसके लिए *विक्रम-सवत् के उल्लेख के प्रकार पर भी ध्यान देना होगा।* इसका उल्लेख[2] निम्न प्रकारो से हुआ है—

1. कालस्य विक्रमाख्यस्य (898 धौलपुर)
2. विक्रमादित्यभूभृत. (1028 उदयपुर)
3. विक्रमादित्यकाले (1099 वसतगढ़-सिरोही)
4. वत्सरैर्विक्रमादित्यैः (1103 तिलकावाड़ा-बडौदा राज्य)
5. श्रीविक्रमादित्योत्पादितसवत्सर (1131 नवसारी, बड़ौदा)
6. श्रीविक्रमार्कनृपकालातीतसवत्सराणा (1161 ग्वालियर)
7. श्रीविक्रमादित्योत्पादित सवत्सर (1176 सेवाड़ी, जोधपुर)

इससे यह ज्ञात होता है कि विक्रमीय नौवी शताब्दी स ही ऊपर लिखे मालवेश का नाम विक्रमादित्य माना गया था।

ऊपर लिखे दोनो विवेचनो को एक मे मिला देने से हम इस निष्कर्ष पर

की स्थापना का यह अर्थ नही है कि उस गण की सत्ता पहले अविदित थी।'·······"शको की पराजय के बाद मालवगण ने स्वतन्त्रता का अनुभव किया। हमारी सम्मति मे स्वतन्त्रता की यह स्थापना ही मालव-गण की स्थिति थी, जिसका मालव-कृत सवत् के लेखो मे कई बार उल्लेख है।' डॉ० अग्रवाल का मत ही उचित है और हमारी समझ मे तो इसका अर्थ है 'प्रतिष्ठित होना'।

1. नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका सवत् 2000, पृ० 131।
2. देखिए, परिशिष्ट 'क'।

पहुचते है कि विक्रमादित्य नामक मालवगण के अधिपति ने वह 'कृत'—कर्म किया था जिसका उल्लेख ऊपर है, जिसके कारण मालववश की कीर्ति बढी (परिशिष्ट 'क' के अभिलेख क्रमाक 7), जिसके कारण मालवगण की स्थिति रह सकी (अभिलेख क्रमाक 6 तथा 9) और इस सवत् का प्रवर्तन हुआ।

यहा यह बात भी विचारणीय है कि मालव एव कृत नाम का प्रयोग जिस क्षेत्र मे हुआ है, वह मालवा या उसके निकट का ही क्षेत्र है। यह भी हो सकता है कि गणतन्त्र की भावनायुक्त मालवजाति ने अपने गणनायक के व्यक्तिगत नाम को अपने सवत्सर मे प्रधानता न दी हो या स्वय गणनायक विक्रमादित्य ने इसे पसन्द न किया हो और मालवा के बाहर राजतन्त्र प्रधान देशो ने गण की अपेक्षा गणेश मालवेश को ही महत्त्व देना उचित समझा हो।

अभिलेखो मे प्राप्त सवत्-सम्बन्धी पाठो के साथ मालव-मुद्राओ पर अकित लेखो पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। मालव प्रान्त मे मालवगण की मुद्राए प्राप्त हुई हैं। उनमे कुछ मुद्राए ऐसी हैं जिन पर एक ओर सूर्य या सूर्य का चिह्न है तथा दूसरी ओर 'मालवानाजय' अथवा 'मालवगणस्यजय' अथवा 'जय मालवानाजय' लिखा हुआ है। इन मुद्राओ के विषय मे श्री जयचन्द्र विद्यालकार अपने 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' मे लिखते हैं—'पहली शताब्दी ई० पू० के मालवगण के सिक्को पर 'मालवानाजय' और 'मालवगणस्यजय' की छाप रहती है। वे सिक्के स्पष्टत किसी बडी विजय के उपलक्ष मे चलाए गए थे और वह विजय 57 ई० पू० की विजय के सिवाय और कौन-सी हो सकती थी ?' (पृ० 871) परन्तु इतना ही नही, सूर्य एव सूर्य का चिह्न दो बातो की ओर सकेत कर सकता है। या तो यह कि उक्त विजय को प्राप्त करने वाला 'आदित्य' का उपासक था या उसका नाम स्वय 'आदित्यमय' था और यह नाम विक्रमादित्य होने के कारण वह अपना राजचिह्न सूर्य रखता था।

भारतीय अनुश्रुति में विक्रमादित्य—अभिलेखो और विक्रम-सवत् पर विचार कर लेने के पश्चात अब हम भारतीय अनुश्रुति एव लोककथाओ पर विचार करेंगे। आज महाराष्ट्र, गुजरात एव सम्पूर्ण उत्तर-भारत विक्रमादित्य की लोककथाओ से पूरित है। उसका परदुखभजन रूप, उसकी न्यायपरायणता, उसकी उदारता एव उसका शौर्य प्रत्येक भारतीय का हृदय हार बना हुआ है। परन्तु लोककथाओ द्वारा परम्परा की निरन्तरता का आभास भले ही मिल सके, उनके द्वारा इतिहास के शास्त्रीय वाङ्मय का निर्माण नही हो सकता। लोककथा का आधार केवल व्यक्तिगत स्मृति होने के कारण वह अधिक प्रामाणिक नही कही जा सकती। परन्तु अनुश्रुति का महत्त्व अधिक है। वह लिखित रूप मे होती है, अत अधिक विश्वसनीय होती है।

मालवगणपति विक्रमादित्य की जो मूर्ति ऊपर अभिलेखो के विवेचन से

बनी है, उसकी पूर्ति अनुश्रुति कहा तक करती है, यह देखना भी उपयोगी होगा।

विक्रमादित्य सम्बन्धी भारतीय अनुश्रुतियों मे सबसे प्राचीन पैठण के राजा हाल के लिए रचित गाथासप्तशती है। हाल का समय ईसवी प्रथम शताब्दी है। गाथासप्तशती का विक्रम विषयक श्लोक इस प्रकार है—

'संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्।
चलणेण विक्कमाइत्तचरिअ अणुसिक्खिअ तिस्सा ॥ 5156 ॥

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ईसा की पहली शताब्दी मे यह बात पूर्ण रूप से प्रचलित थी कि विक्रमादित्य नामक उदार एवं प्रतापी शासक ने भृत्यो को लाखो का उपहार दिया। गाथासप्तशती के काल के विषय मे भी विवाद चल चुका है। डॉ० भाण्डारकर ने अनेक तर्क इस बात के पक्ष मे प्रस्तुत किये कि गाथासप्तशती का रचनाकाल ईसा की छठी शताब्दी है,[1] परन्तु महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने डॉ० भाण्डारकर के तर्कों का खण्डन कर दिया है।[2]

दूसरी उल्लेखनीय अनुश्रुति सोमदेवभट्ट रचित कथासरित्सागर है। कथासरित्सागर गुणाढ्य रचित बृहत्कथा पर आधारित है। गुणाढ्य सातवाहन हाल का समकालीन है, अत कथासरित्सागर एक ऐसे ग्रन्थ का आधार लिये हुए है, जो विक्रमीय पहली शताब्दी का लिखा हुआ है। ऐसी दशा मे कथासरित्सागर[3] कम विश्वसनीय नही है। उसके अनुसार विक्रमादित्य उज्जैन के राजा थे, उनके पिता का नाम महेन्द्रादित्य और माता का नाम सौम्यदर्शना था। महेन्द्रादित्य के जब बहुत समय तक पुत्र न हुआ, तो उन्होंने शिव की आराधना की। इसी समय पृथ्वी पर धर्म का लोप और म्लेच्छो का प्राबल्य देखकर देवताओं ने महादेवजी से पृथ्वी का भार उतार लेने के लिए प्रार्थना की। शिवजी ने अपने गण माल्यवान् (अथवा इतिहास प्रसिद्ध मालवगण) से कहा कि तुम पृथ्वी पर मेरे भक्त महेन्द्रादित्य के यहा मानव रूप धारण करो और पृथ्वी का भार उतारो। उधर महेन्द्रादित्य को शिवजी ने यह वरदान दिया कि तुम्हारे पुत्र होगा और उसका नाम तुम विक्रमादित्य रखना। उसका वर्णन करते हुए सोमदेव ने लिखा है कि वह पितृहीनो का पिता, बन्धुहीनो का बन्धु, अनाथो का

---

1 भाण्डारकर कमोमरेशन वॉल्यूम, पृ० 187

2 प्राचीन लिपि माला, पृ० 168।

3 कथासरित्सागर, लम्बक 6, तरग 1, विक्रमसिंह की कथा तथा लम्बक 18 विषमशील की कथा।

नाथ और प्रजाजन का सर्वस्व था[1]।

तीसरी अनुश्रुति जैन ग्रन्थों की है। मेरुतुंगाचार्य-रचित पट्टावली में यह लिखा है कि महावीर-निर्वाण संवत् के 470वें वर्ष में विक्रमादित्य ने शकों का उन्मूलन कर संवत् की स्थापना की। इसका समर्थन प्रबन्ध-कोश एवं धनेश्वर-सूरि-रचित शत्रुंजय-माहात्म्य से भी होता है। किस प्रकार शकों ने उज्जयिनी के गर्दभिल्ल को जीता और किस प्रकार फिर विक्रमादित्य ने शकों को भगाया, इसका वर्णन जैन ग्रन्थों में मिलता है।

कालकाचार्य-कथानक में शकों के आने का वर्णन है। उसके अनुसार जैन साधु कालकाचार्य एवं उनकी बहिन साध्वी सरस्वती जब उज्जैन में रहते थे, उस समय वहां गर्दभिल्ल राजा राज्य करता था। एक दिन जब साध्वी सरस्वती पर गर्दभिल्ल की दृष्टि पड़ी तो वह उस पर अत्यधिक आसक्त हो गया और उसने उसे अपने अन्तःपुर में बन्द कर अपनी वासना का शिकार बनाया। कालकाचार्य सूरि ने सरस्वती को छुड़ाने के लिए अनेक प्रयास किये, गर्दभिल्ल को भी समझाया एवं अनुनय-विनय की, परन्तु कोई फल न हुआ। दुखी होकर कालकाचार्य ने राजा के नाश की प्रतिज्ञा की और वे सिन्ध की ओर चले गए। वहां अनेक शक राजा थे जो 'शाह' कहलाते थे और उन सब के ऊपर एक सम्राट था जो 'शाहीशाहानुशाही' कहलाता था। इन्हीं में से एक शाह के पास कालका-चार्य पहुंचे और उस पर उन्होंने बहुत प्रभाव स्थापित कर लिया। एक बार 'शाहीशाहानुशाही' उस शाह से तथा कुछ अन्य शाहों से क्रुद्ध हो गया। कालका-चार्य ने उसे अन्य शाहों के साथ मालव की ओर आक्रमण की सलाह दी। शक-शाह अन्य साथियों के साथ मार्ग में विजय करता हुआ उज्जयिनी आ गया और उसने गर्दभिल्ल को हराकर भगा दिया।

साध्वी सरस्वती छुड़ा ली गई। कालकाचार्य आनन्द से रहने लगे और मालव पर शकों का आधिपत्य हो गया।

कुछ समय पश्चात सार्वभौमोपम राजा श्रीविक्रमादित्य हुए, जिन्होंने शकों का वंशोच्छेद कर दिया। उन्होंने अनेक दान देकर मेदिनी को ऋणरहित करके अपने संवत्सर का प्रचलन किया।

पट्टावली के अनुसार विक्रमादित्य गर्दभिल्ल के पुत्र थे। इनके अतिरिक्त सिंहासनबत्तीसी, वैतालपच्चीसी, राजावली आदि अनेक ग्रन्थ हैं, जिनमें विक्रमा-

1. ठीक इसी से मिलता हुआ वर्णन स्कन्दपुराण में है। इसमें विक्रमादित्य के पिता का नाम गन्धर्वसेन और माता का नाम वीरमती है। शिवजी और उनके गण आदि ऊपर के अनुसार हैं और गन्धर्वसेन को प्रमरवंशी लिखा है।

दित्य सम्बन्धी किंवदन्तिया सग्रहीत हैं।

विक्रमादित्य का जो रूप अनुश्रुति मे मिलता है, वह अत्यन्त पूर्ण एव भव्य है। वह रूप ऐसा है जो ज्ञात ऐतिहासिक आधार, मुद्रा, अभिलेख आदि के विरुद्ध भी नही है। अत योरोपीय विद्वानो के स्वर मे स्वर मिलाकर विक्रमादित्य के अस्तित्व को अस्वीकार करना मानसिक दासता के अतिरिक्त और कुछ नही है।

नवरत्न समीक्षा—विक्रम और कालिदास की जोडी भारतीय अनुश्रुति एव लोककथा मे प्रसिद्ध है, परन्तु इतिहासज्ञों का बहुमत आज कालिदास को गुप्तवशीय सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन मानता है। ऐसी दशा मे क्या ठीक माना जाय ? पहला विचार तो यह हो सकता है कि कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन थे। दूसरी बात यह हो सकती है कि कालिदास एक न होकर अनेक हो और उनमे से एक ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी मे हुआ हो, और यह भी हो सकता है कि मालवगणनायक विक्रमादित्य के समय मे ही कालिदास हुए हों।

कालिदास को पूर्णतया चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन मानने वालो मे महामहोपाध्याय वासुदेव विष्णु मिराशी[1] प्रधान है। उन्होने अन्य सब मतो का खण्डन करते हुए यह स्थापना की है कि कालिदास द्वितीय चन्द्रगुप्त के आश्रय मे थे। चन्द्रगुप्त ने ई० सन् 380 मे लेकर 413 पर्यन्त राज्य किया, अर्थात् कालिदास चौथी शताब्दी के अन्त मे या पाचवी शताब्दी के प्रारम्भ मे हुए होगे, यह उनका मत है। इसके विपरीत श्री क्षेत्रेश चट्टोपाध्याय दृढ रूप से कालिदास को ईसा की प्रथम शताब्दी मे रखते हैं। डॉ० राजबली पाण्डेय भी कालिदास को 57 ई० पू० विक्रमादित्य का समकालीन मानते हैं।

श्री जयशकर प्रसाद का मत है कि कालिदास नामक कम से कम तीन साहित्यकार हुए हैं। इनमे से नाटककार कालिदास मालवगणनायक विक्रमादित्य के काल मे थे। इसके पक्ष में जो उन्होंने तर्क दिये हैं, उन्हे हम नीचे ज्यो का त्यो देते हैं[2]—

1 नाटकार कालिदास ने गुप्तवशीय किसी राजा का सकेत से भी उल्लेख अपने नाटको मे नही किया।
2 'रघुवश' आदि मे असुरो के उत्पात और उनसे देवताओ की रक्षा के वर्णन से साहित्य भरा है। नाटको मे उस तरह का विश्लेपण नही है। काव्यकार कालिदास का समय हूणो के उत्पात और आतक से पूर्ण था। नाटको मे इस भाव का विकास इसलिए नही है कि वह शको के निकल जाने पर सुख-

1 कालिदास, पृष्ठ 43।
2 'स्कन्दगुप्त-विक्रमादित्य' नाटक की भूमिका, पृष्ठ 28।

शान्ति का काल है। 'मालविकाग्निमित्र' मे सिन्धु तट पर विदेशी यवनो का हराया जाना मिलता है। यवनो का राज्य उस समय उत्तरी भारत से उखड चुका था। 'शाकुन्तल' मे हस्तिनापुर के सम्राट 'वनपुष्प-मालाधारिणी यवनियो' से सुरक्षित दिखाई देते हैं। यह सम्भवत उस प्रथा का वर्णन है जो यवन सिल्यूकस-कन्या से चन्द्रगुप्त का परिणय होने पर मौर्य और उसके बाद शुगवश मे प्रचलित रही हो। यवनियो का व्यवहार क्रीतदासी और परिचारिकाओ के रूप मे राजकुल मे था। यह काल ई० पू० प्रथम शताब्दी तक रहा होगा। नाटककार कालिदास 'मालविकाग्निमित्र' मे राजसूय का स्मरण करने पर भी बौद्ध प्रभाव से मुक्त नही थे, क्योकि 'शाकुन्तल' मे धीवर के मुख से कहलवाया था—'पशुमारणकर्म्म दारुणो-ध्यनुकम्पा-मृदुरेव श्रोत्रिय '—और भी—'सरस्वती श्रुतिमहती न हीयताम्' —इन शब्दो पर बौद्ध धर्म की छाप है। नाटककार ने अपने पूर्ववर्ती नाटककारो के जो नाम लिये हैं, उनमे सौमिल्ल और कवियुग के नाट्यरत्नो का पता नही। भास के नाटको को चौथी शताब्दी ई० पू० माना गया है।

3 नाटककार ने 'मालविकाग्निमित्र' की कथा का जिस रूप मे वर्णन किया है, वह उसके समय से बहुत पुरानी जान पडती है। शुगवंशियो के पतन-काल मे विक्रमादित्य का मालवगण राष्ट्रपति के रूप मे अभ्युदय हुआ। उसी काल मे कालिदास के होने स शुगो की चर्चा बहुत ताजी-सी मालूम होती है।

4 'जामित्र' और 'होरा' इत्यादि शब्द जिनका प्रचार भारत मे ईसा की पाचवी शताब्दी के समीप हुआ है, नाटक मे नही पाये जाते।

5 गुप्तकालीन नाटको की प्राकृत मे मागधीप्रचुर प्राकृत का प्रयोग है। उस प्राकृत का प्रचार भारत मे सैकडो वर्ष पीछे हुआ था। पाचवी, छठी शताब्दी मे महाराष्ट्रीय प्राकृत प्रारम्भ हो गई थी और उस काल क ग्रन्थो मे उसी का व्यवहार मिलता है। 'शाकुन्तल' आदि की प्राकृत मे बहुत स प्राचीन प्रयोग मिलते हैं, जिनका व्यवहार छठी शताब्दी में नही था।'

इसके अतिरिक्त उन्होने अन्यत्र[1] लिखा है—

'सवत् 1699 अगहन सुदी पचमी की लिखी हुई 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की एक प्राचीन प्रति से, जो पडित केशवप्रसाद जी मिश्र (भदैनी, काशी) के पास है, दो स्थलो के नवीन पाठो का अवतरण यहा दिया जाता है—

1. 'स्कन्दगुप्त-विक्रमादित्य' नाटक की भूमिका, पृ० 14।

(1) 'आर्ये रसभावशेष-दीक्षागुरो श्रीविक्रमादित्य-साहसाकस्याभिरूप-भूयिष्ठेय परिषत् अस्या च कालिदासप्रयुक्तेनाभिज्ञानशाकुन्तलनवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभि ।'

(2) 'भवतु तव विडौजा' प्राज्यवृष्टिः प्रजासु
त्वमपि विततयज्ञोवज्रिणं भावयेथाः
ग णशतपरिवर्तैरेवमन्योन्यकृत्यै-
र्नियतमुभय लोकानुग्रहश्लाघनीयैः ।

इसमे मोटे टाइप मे छपे हुए शब्दो पर ध्यान देने से दो बातें निकली हैं। पहली, यह कि जिस विक्रमादित्य का उल्लेख शाकुन्तल मे है, उसका नाम विक्रमादित्य है और 'साहसाक' उसकी उपाधि है। दूसरे, भरतवाक्य मे 'गण शब्द के द्वारा इन्द्र और विक्रमादित्य के लिए यज्ञ और गणराष्ट्र दोनो की ओर कवि का सकेत है। इसमे राजा या सम्राट जैसा कोई सम्बोधन विक्रमादित्य के लिए नही है। तब यह विचार पुष्ट होता है कि विक्रमादित्य मालव गण-राष्ट्र का प्रमुख नायक था, न कि कोई सम्राट या राजा। कुछ लोग जैत्रपाल को विक्रमादित्य का पुत्र बताते है। हो सकता है कि इसी के एकाधिपत्य से मालव-गण मे फूट पडी हो और शालिवाहन के द्वितीय शक-आक्रमण मे वे पराजित किये गए हों।

यदि शाकुन्तल का उपर्युक्त पाठ सही है, तब तो यह कहना होगा कि यह बात पूर्णरूप से सिद्ध है कि यह नाटक मालवगणाधीश के सामने अभिनीत हुआ था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को तो महापण्डित राहुल साकृत्यायन[2] 'गणारि' (!) कहते है, गणाध्यक्ष नही। उनके अनुमान से मालवगण के उन्मूलन का पाप इन्ही चन्द्रगुप्त द्वितीय के मत्थे है। फिर यह नाटक गणाध्यक्ष विक्रमादित्य साहसाक के सामने अभिनीत हुआ होगा। इस पाठ की प्रामाणिकता के विषय मे अभी अधिक नही कहा जा सकता। यदि इस पाठ का समर्थन किसी और प्रति से भी हो सके तब तो यह स्थापना निर्विवाद रूप से ही सिद्ध हो जाय।

अत लोककथा एव अनुश्रुति म प्रसिद्ध विक्रम-कालिदास की यह अमर जोडी इतिहास सिद्ध है, यह माना जा सकता है।

विक्रमादित्य के साथ कालिदास के अतिरिक्त अन्य आठ रत्नो का सम्बन्ध और जोडा जाता है। उसकी सभा मे नवरत्न थे ऐसी अनुश्रुति है। ज्योतिर्विदाभरण का निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध है—

धन्वन्तरिक्षपणकोऽमरसिंहशकुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासा ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपते. सभाया रत्नानि वै वररुचिर्नवविक्रमस्य ॥

---

1 देखिए, इसी ग्रन्थ मे राहुलजी का लेख।

इसमे विक्रम की सभा के नवरत्न गिनाए गए हैं जो इस प्रकार हैं—

(1) धन्वन्तरि, (2) क्षपणक, (3) अमरसिंह, (4) शकु, (5) वेतालभट्ट, (6) घटखर्पर, (7) कालिदास, (8) वराहमिहिर, (9) वररुचि।

यहा पर नवरत्नों का विस्तृत विवेचन करना अभीष्ट नही है। हम तो यहा यही देखना चाहते हैं कि उनमे से कौन से रत्न विक्रमकालीन होकर उसकी सभा को सुशोभित कर सके होंग। इनमे से कालिदास का विवेचन ऊपर हो चुका है। अब प्रधान रत्नों मे धन्वन्तरि पर यदि विचार किया जाय तो प्रकट होगा कि वैदिक काल मे भी एक धन्वन्तरि हो गए हैं, जो काशी के वेदकालीन राजा दिवोदास के तीन या चार पीढी पूर्व हुए थे।[1]

उसके बाद धन्वन्तरि नाम के वैद्यो की परम्परा चली और धन्वन्तरि-कृत कहे जाने वाले 'विद्याप्रकाशचिकित्सा' तथा 'धन्वन्तरि-निघण्टु' आदि के विवेचन से यह ज्ञात होता है कि विक्रमकाल (57 ई० पू०) मे भी कोई धन्वन्तरि हुए हैं। 'विद्याप्रकाशचिकित्सा' मे सूर्य की वन्दना[2] दी हुई है। उसे देखते हुए यह अनुमान होता है कि वैद्यराज धन्वन्तरि विक्रमादित्य के आश्रित थे। प्राचीन राजसभाओ से वैद्य सम्बन्धित होते ही थे, अत मालवगणाध्यक्ष की सभा मे भी वैद्य हो, यह भी सम्भव है।

क्षपणक कौन थे तथा इनका समय क्या था, यह ज्ञात नही है। जैन साधु को क्षपणक कहते हैं।[3] तो क्या जैन अनुश्रुति के सिद्धसेन दिवाकर भी विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नो मे थे ? परन्तु यह सब कल्पना-मात्र है। अभी तक इतिहास सिद्ध केवल इतना ही है कि 'अनेकार्थमजरीकोश' नामक ग्रन्थ के रचयिता एक महाक्षपणक ईसा की 8वी शती के पूर्व हुए थे।[4] इन महाक्षपणक का क्षपणक के साथ नामसाम्य होने के कारण श्री गोडे महाशय इस निष्कर्ष पर पहुचना चाहते हैं कि अनेकार्थमजरीकार चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की सभा मे समादृत विद्वान हो सकता है। हम इस निष्कर्ष से आपत्ति नही है और यह हमारे अनुमान के विपरीत भी नही है। हम समझते हैं कि महाकाल की नगरी

---

1 जी० एन० मुखोपाध्याय-कृत हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मेडीसिन, दूसरा खण्ड, पृष्ठ 310-11।

2 यस्योदयास्तसमये पुरमुकुटनिष्ठचरणकमलोऽपि। कुरुतेंजलिं त्रिनेत्र जयतु स धाम्नान्निधि सूर्य ॥

3 आगे चलकर 'क्षपणक' को देखना अपशकुन माना जाने लगा था। देखिए, 'मुद्राराक्षस' अक 4।

4 देखिए, इसी ग्रन्थ म आगे श्री प्र० कृ० गोडे का लेख 'क्षपणक एव महाक्षपणक।'

मे विक्रमादित्य के सामने ही महाकाल को नमस्कार न करने वाले सिद्धसेन दिवाकर[1] नामक जैन साधु को ही पीछे के लेखको ने क्षपणक नाम से सम्बोधित किया। क्षपणक नाम विशेष न होकर जैन साधु का ही पर्याय है।

प्रसिद्ध कोशकार अमरसिंह का समय भी ई० पू० प्रथम शताब्दी माना जा सकता है। इसके विषय मे श्री जयचन्द्र विद्यालंकार[2] ने लिखा है—

> 'सुप्रसिद्ध अमरकोश के देव-प्रकरण मे सबसे पहले बुद्ध के नाम हैं, फिर ब्रह्मा और विष्णु के। विष्णु के जो 39 नाम हैं, उनमे राम का नाम नही है, कृष्ण के बहुत मे हैं। इसलिए उसके समय तक रामावतार की कल्पना न हुई थी। इसलिए अमरकोश के कर्त्ता अमरसिंह का समय सम्भवत पहली शताब्दी ई० पू० है। प्राय उसी समय बौद्धो ने संस्कृत मे लिखना शुरू किया था, और अमरसिंह भी बौद्ध था।'

शकु के विषय मे ज्योतिर्विदाभरण के अतिरिक्त और कही उल्लेख नही मिलता। ज्योतिष का शकु-यन्त्र इन्ही के नाम पर है अथवा उसकी आकृति के कारण उसका उक्त नाम पडा है, कहा नही जा सकता। ऐसी दशा मे उनका काल निर्णय करना कठिन है। इन्हे विक्रमादित्य का समकालीन मान लेने के मार्ग मे कोई कठिनाई नही आती।[3]

वेतालभट्ट का नाम लोककथा के विक्रमादित्य के साथ बहुत लिया जाता है। अनुश्रुति मे अग्निवेताल और विक्रम का साथ बहुत प्रसिद्ध है। उज्जैन मे आज भी 'अगिया वेताल' का स्थान इस 'अग्निवेताल' का साक्षी रूप है। परन्तु 'भट्ट' उपाधि यह सूचित करती है कि यह कोई विद्वान थे। इसका कोई प्रमाण नही मिलता कि यह विद्वान तान्त्रिक थे या अमानवी योनि के यक्ष-राक्षस। अत शकु की तरह इन्हे भी विक्रमकालीन मान सकते हैं।

घटखर्पर के समय के विषय मे भी कुछ ज्ञात नही है। इनके विषय मे अनेक अनुमान किये गए हैं। एक विद्वान के अनुसार 'खर्पर' का अर्थ है 'जस्ता' और 'घटखर्पर' विक्रम के वे वैज्ञानिक थे जो इस धातु के प्रयोग मे दक्ष थे।[4] कुछ विद्वानो के मत से 'घटखर्पर' एक जाति थी जो सम्भवत कुम्हार थी। आज की 'खापर्डे' जाति को भी इन 'घटखर्पर' की स्मृति माना गया है। जो हो, हरिषेण

---

1. देखिए, इसी ग्रन्थ मे आगे डॉ० मिस क्राउजे का निबन्ध 'जैन-साहित्य और महाकाल-मन्दिर।'
2. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृष्ठ 1009।
3. कुछ विद्वान शकु को स्त्री मानते हैं। गुजरात के प्रख्यात चित्रकार श्री रविशंकर रावल ने नवरत्नो के चित्र मे इन्हे स्त्री चित्रित किया है।
4. देखिए, आगे श्री ब्रजकिशोर चतुर्वेदी का लेख 'विक्रम के नवरत्न'।

की प्रशस्ति मे हमे एक 'खरपरिक'[1] जाति अवश्य दिखाई दी है। 'घटखर्पर' नामक एक काव्य भी है जो कालिदास विरचित कहा जाता है। पर यह कालिदास विक्रमकालीन कालिदास हैं अथवा कोई और, यह निश्चित नही है। अत इस व्यक्ति का काल भी निश्चित नही। अनिश्चय की दशा मे इनको विक्रमकालीन मान लेने मे कोई आपत्ति नही दीखती।

वराहमिहिर के विषय मे इतिहास के विद्वान निश्चित तिथिया बतलाते हैं। इनका समय 550 ई० निर्धारित किया गया है, परन्तु यह काल भी निर्विवाद रूप से मान लिया गया हो, ऐसा नही है। यह उज्जैन निवासी थे, इसमे सन्देह नही है। जब तक कोई ऐसा प्रमाण नही मिले जिसके द्वारा इनका समय ई० पू० प्रथम शताब्दी मे जा सके, तब तक वह वराहमिहिर इस नवरत्न-समस्या को जटिल ही बनाए रहेंगे।

वररुचि का समय भी भारतीय इतिहास की एक समस्या बना हुआ है। कोई इन्हे कात्यायन मानकर इनका समय ईसा से प्राय 400 वर्ष पूर्व निर्धारित करते हैं। इनके ग्रन्थ *'प्राकृत-प्रकाश'* की भूमिका मे कावेल महोदय इनका समय ई० पू० प्रथम शताब्दी मानते हैं और इस प्रकार यह विक्रमकालीन प्रतीत होते हैं।

ज्योतिर्विदाभरण का उपरोक्त श्लोक ही क्या, यह पूरा ग्रन्थ ही विद्वानो द्वारा प्रक्षिप्त माना गया है। परन्तु इस विषय मे अन्तिम शब्द कह सकने के पूर्व अभी बहुत अधिक छानबीन की आवश्यकता है।

ये नवरत्न वास्तव मे विक्रमादित्य की सभा मे रहे हो या न रहे हो या विक्रम के एक सहस्र वर्ष उपरान्त उस सहस्राब्दी के श्रेष्ठतम विद्वानों को विक्रम से सम्बद्ध करने का किसी का सुन्दर अनुमान हो, अथवा नवग्रहा के समान विक्रमार्क के चारो ओर यह रत्नमण्डली किसी कुशल कल्पना शिल्पी न जड दी हो, परन्तु इसके कारण 56-57 ई० पू० होने वाले विक्रमादित्य क अस्तित्व पर अविश्वास नही किया जा सकता।

विक्रमादित्य-विरुद और विरुदधारी—विक्रमादित्य विरुद भारतीय इतिहास म उसी प्रकार प्रचलित हुआ, जिस प्रकार कि यारोपीय इतिहास मे 'सीजर' या 'कैसर' की उपाधि सर्वप्रिय हुई है। 'सीजर' शब्द से जिस प्रकार साम्राज्य एव विजेता की भावना सम्बद्ध है, उसी प्रकार 'विक्रमादित्य उपाधि मे विदेशी शक्ति को पराजित करन की भावना निहित है। परन्तु साथ ही यह भी भूल जाने की बात नही है कि जिस प्रकार 'सीजर' नाम के प्रतापी सम्राट के अस्तित्व के पश्चात ही सीजर उपाधि का प्रादुर्भाव हुआ था, उसी प्रकार 'विक्रमादित्य'

1 श्री गगाप्रसाद मेहता-कृत 'चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य', पृ० 169।

उपाधि चल निकलने के लिए किसी विक्रमादित्य नामक विदेशियो के विनाशक के अस्तित्व का होना भी आवश्यक है।[1]

अब हम आगे विक्रमादित्य विरुदधारी भारतीय नरेशो का विवेचन इस दृष्टि से करेंगे, जिससे यह ज्ञात हो सके कि यह सम्बोधन व्यक्तिवाचक नाम से उपाधि म कब परिवर्तित हुआ और जिन नरेशो ने इसे धारण किया वे कितने प्रतापी थे तथा इसका प्रभाव लोककथा और अनुश्रुति पर क्या पडा।

अभी तक सबसे प्रथम विक्रमादित्य उपाधिधारी गुप्तवशीय सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य समझे जाते थे, परन्तु अब यह सिद्ध हो गया है कि समुद्रगुप्त ने भी यह उपाधि धारण की थी।[2] यह उपाधि इस महान विजेता सम्राट् के लिए

---

1 इस विरुद के विषय मे पजाब के प्रसिद्ध विद्वान डॉ० लक्ष्मणस्वरूप का मत भी तथ्यपूर्ण है—'ईसवी सन से पूर्व भारतीय महाराज और सम्राट विक्रमादित्य विरुद को धारण नही करते थे जैसे अजातशत्रु, प्रद्योत, चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, पुष्यमित्र आदि ने विक्रमादित्य की उपाधि को अपने नाम के साथ नही जोडा। ईसवी सन् के पश्चात भारत के महाराज और सम्राट जैसे चन्द्रगुप्त द्वितीय, स्कन्दगुप्त, शीलादित्य, यशोधर्म, हर्षवर्धन इत्यादि शक्तिशाली सम्राट विक्रमादित्य की उपाधि को धारण करते है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल मे जो गौरव और प्रताप अश्वमेध यज्ञ करने से प्राप्त होते थे, ईसवी सन् के पश्चात विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने से वे ही गौरव उपलब्ध होने लगे थे। जिस प्रकार वैदिक काल मे अश्वमेध यज्ञ का करना ससार विजेता होने की घोषणा करना होता था, उसी प्रकार विक्रमादित्य की उपाधि धारण करना साम्राज्य तथा प्रभुत्व का सूचक बन गया था। पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया पर उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण नही की। गुप्तवशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अश्वमेध यज्ञ नही किया पर उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की।'

2 जर्नल ऑफ दि न्यूमेस्मेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया खण्ड 5, भाग 2, दिसम्बर 1943 के अक मे पृष्ठ 136-37 पर इन्ही मुद्राओ का विवेचन करते हुए श्री डिस्क्लकर लिखते हैं—

'On the seventh coin the dress of the king and other items are similar to those in coins No 1 to 5, and in all respects this coin closely resembles the coins of Samudragupta of the standard type But it is of an extraordinary importance, in that it bears on the reverse the legend 'Shree Vikramah' instead of the usual legend Parakramah' No other co n of Sam d

पूर्णरूपेण उपयुक्त है इसम शका नही । शक क्षत्रप रुद्रसेन समुद्रगुप्त के पराक्रम से शकित हुआ था और उसन उसके दरबार मे अपना राजदूत भेजा था । इसके गुणों का वणन इसके राजकवि हरिषेण की प्रशस्ति की अपेक्षा अधिक सुन्दर रूप म नही किया जा सकता, इसलिए हम उसके आवश्यक अश के अनुवाद को उद्धृत करते हैं—

---

gupta has hitherto been found bearing this legend, which is found used only on the coins of Chandragupta II This novelty may be explained in two ways

'It may be supposed, therefore, that the coin of Samudragupta in the Bamnala hoard bearing on the reverse the Biruda Sri Vikramah was struck in the early period of Chandragupta's reign, the old die for the obverse of the coin of Samudragupta being used instead of the die of Chandragupta's early coins of the archer type After only a few coins were struck in this way the mistake was detected and the further minting of the coin was discontinued It is for this reasan that our coin in the Bamnala find is the only specimen of the variety so far found If this supposition is accepted, it would be better to call this as Chandragupta's coin wrongly bearing on the obverse the die of Samudragupta's coin

'An alternative suggestion can also be made It may be supposed that in the later period of his reign Samudragupta introduced the epithet Vikram in place of the usual synonymous epithet Parakrama used on coin of the standard type, and that Chandragupta continued to adopt on his coins the epithet Vikrama which he liked better than the epithet Parakrama It may be said against this view that the coins of the standard type of Samudragupta, which is a close copy of the later coins of the Kushan type, are the earliest of all his coins and that if he had introduced the new epithet on some coins of his standard type, it could have been used also on other coins struck by him '

> वापिस देने मे लगे हुए थे…… …जो लोक नियमो के अनुष्ठान और पालन करने भर के लिए ही मनुष्य रूप था, किन्तु लोक मे रहने वाला देवता ही था।'[1]

समुद्रगुप्त का विक्रम उपाधि धारण करना कुछ स्थिति-पालक विद्वान शका-स्पद भले ही मानें,[2] परन्तु ईसवी सन् 380 के आसपास राज्यारोहण करने वाले यशस्वी सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय ने 'विक्रमादित्य' उपाधि ग्रहण की, यह उसकी मुद्राए पूर्ण रूप से सिद्ध करती हैं। इसने शक क्षत्रपो का उन्मूलन कर शकारित्व स्थापित किया। परन्तु इसकी प्रशस्ति लिखने के लिए इसे अपन पिता के समान हरिषेण जैसा राजकवि नही मिला था। यह सम्राट् महान् विजयी, अपार दानी, विद्या एव कला का आश्रयदाता तथा धर्मरक्षक था।[3]

गुप्त सम्राटो मे अन्तिम सम्राट, जिसने अपने पौरुष से विदेशी शको का मान-मर्दन किया, 'स्कन्दगुप्त' था। इसने भी विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की थी। इसके सिक्को पर 'परमभागवतश्रीविक्रमादित्यस्कन्दगुप्त' अकित है। इसके अभिलेख[4] से प्रकट है कि कुललक्ष्मी विचलित थी, म्लेच्छो और हूणा से आर्य्यावर्त आक्रान्त था। अपनी सत्ता बनाए रखने क लिए जिन्होने पृथ्वी पर सोकर रातें बिताईं, हूणा क युद्ध म जिसके विकट पराक्रम स धरा विकम्पित हुई, जिन्होने सौराष्ट्र के शका का मूलोच्छेद करके पराादित को वहा का शासक नियत किया, वह स्कन्दगुप्त ही थे।

गुप्तो के पश्चात् यशोधर्म्मनदेव न विक्रमादित्य उपाधि धारण की थी, ऐसा कुछ लोगा का मत है। उसने ईसवी सन् 544 (या 428) म करूर के रणक्षेत्र में शको को परास्त करके दो विजय स्तम्भो का निर्माण कराया। इन पर से फरगुसन ने विक्रम-संवत् प्रवर्तक-सम्बन्धी अपना विचित्र मत स्थापित किया

---

1 प्रयाग के स्तम्भ पर समुद्रगुप्त की विजय प्रशस्ति के अनुवाद से उद्धृत (देखिए श्री गगाप्रसाद महता-कृत 'चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, पृष्ठ 166-68)।

2 देखिए, जर्नल ऑफ दि न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, दिसम्बर 1943 मे श्री डिस्कलकर का मत।

3 *गगाप्रसाद महता कृत 'चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य' पृष्ठ 59-66*

4 विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन,
क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा।
समुदितबलकोशान् पुष्यमित्राश्च जित्वा,
क्षितिपचरणपीठे स्थापितोवामपाद ॥

था। परन्तु यह विदित है कि यशोधर्म्मन ने अपनी किसी प्रशस्ति मे विक्रमादित्य उपाधि धारण नहीं की।

इसके पश्चात छोटे-मोटे अनेक विक्रमादित्य हुए। दक्षिण मे भी अनेक राजाओ ने यह उपाधि धारण की। यहा तक कि हेमू ने भी, जब उसे यह भ्रम हुआ कि उसे मुगल राज्य उखाड फेंकने मे सफलता मिल जाएगी, अपने आपको विक्रमादित्य लिखा।

विदेशियो पर विजय की भावना तो विक्रमादित्य उपाधि के साथ है ही, साथ ही पिछले विक्रमादित्य उपाधिधारियों ने साहित्य कला को आश्रय दिया, अपार दान दिये और राजसभा के वैभव को अत्यधिक बढाया। यही कारण है कि आज से प्राय एक सहस्र वर्ष पूर्व विक्रमादित्य का जो रूप प्रचलित हुआ, उसमे मालवगण प्रधान विक्रमादित्य तो छिप गया और उसके स्थान पर विक्रमादित्य उपाधिधारी सम्राटो की समन्वित मूर्ति बन गई। भारतीय सस्कृति एव एकतत्रीय शासन-प्रणाली मे जो कुछ भी सर्वश्रेष्ठ था, वह विक्रमादित्य से सम्बन्धित हो गया। महान् विजयी, परदुखभजन, न्याय-परायण, त्यागी दानी एव उदारचरित के रूप में उसकी कल्पना हुई। मालवगणमुख्य मे यह सब गुण होंगे, इसमे इनकार नही, परन्तु उसका यह चित्र अतिरजित अवश्य हो गया।

उपसहार—ज्ञात ऐतिहासिक तथ्यो और अनुश्रुति के विवेचन से यह सिद्ध होता है कि उज्जैन स्थित मालवगणो पर ई० पू० 57 मे शको का अधिकार हो गया था। इस समय के धार्मिक विद्वेष ने शको के अधिकार होने मे सहायता की थी। विक्रमादित्य नामक 'व्यक्ति' ने मालवगणतन्त्र का सगठन कर उसे अत्यधिक बलशाली बनाया, शको का मूलोच्छेद किया और सवत्सर की स्थापना की। उसी समय 'मालवानाजय' लेखसहित मुद्राए भी प्रचलित की गईं। यह विक्रमादित्य अत्यन्त प्रतापशाली और उदात्त गुण-सम्पन्न था।

यह प्रयास केवल इस हेतु किया गया है कि भारतीय अनुश्रुति के नायक हमारी प्राचीन सस्कृति एव गौरव के प्रधान अवशेष विक्रम-सवत् के प्रवर्त्तक, विजयी विक्रमादित्य के अस्तित्व को असिद्ध करने के जो प्रयास किए गए है उनका निराकरण हो सके। विक्रमीय प्रथम सहस्राब्दी मे महान् विजेताओ द्वारा उसके नाम की उपाधि ग्रहण करने मे अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करना इस बात का सूचक है कि भारतीय सदा से ही विक्रमादित्य के नाम को अत्यन्त मान एव आदर की दृष्टि से देखते थे। आज राजमहल से दरिद्र की कुटी तक फैली हुई विक्रम की गौरव-गाथाए उसी भावना की प्रतीक हैं। विक्रमादित्य का चलाया हुआ यह विक्रम सवत् हमारी अमूल्यतम एव महानतम थाती है। यह हमारे विक्रम की स्मृति है, इसी से हम भावी विक्रम की शक्ति सचित करेंगे।

परिशिष्ट 'क'[1]-2

क्रमाक	सवत्	प्राप्ति-स्थान	शासक या दाता	सवत्-सम्बन्धी पाठ
1	282	नान्दसा (उदयपुर-राज्य) ...	शक्तिगुण गुरु ...	कृतयोर्द्वयोर्वर्षशतयोर्द्वयशीतयो 200-80-2 चैत्र पूर्णमासी (स्या) म् ।
	284	वर्णाला[3] (जयपुर-राज्य) ...	(...) वर्धन ...	कृतेहि (कृतै) 200-80-4 चैत्र शुक्ल-पक्षस्य पचदशी ।
	295	बड्वा (जयपुर-राज्य) ...	...	कृतेहि (कृतै) 200-80-4 फाल्गुन शु० 5
	295	"	...	"
	295	"	...	"
	335	वर्णाला (जयपुर-राज्य) ...	भट्ट	कृतेहि 300-30-5 जरा (जेष्ठ) शुद्धस्य पचदशी ।

1 यह परिशिष्ट डॉ० देवदत्त भाण्डारकर द्वारा तैयार की गई विक्रम-सवत् के उल्लेखवाले अभिलेखो की सूची पर से तैयार किया गया है। भाण्डारकर की यह सूची एपीग्रेफिया इण्डिका के भाग 19-23 के परिशष्टि 'क' के रूप मे निकली है। जो अभिनेख उक्त सूची के वनने के पश्चात् प्राप्त हुए हैं उन्हे भी इसमे सम्मिलित कर दिया गया है।

2 इस सम्वन्ध मे 103 अक पडा हुआ तक्षेबाही का गोण्डोफारनिस का अभिलेख भी विचारणीय है। अनेक विद्वान् इसे विक्रम-सवत् मानते हैं, परन्तु यह मत विवादास्पद है।

3 आगे के पाच अभिलेख डॉ० भाण्डारकर की उक्त सूची मे नही हैं। इनका उल्लेख डॉ० अल्तेकर के एपीग्राफिया इण्डिका, भाग 26, पृ० 118-125 पर किया है।

2	428	विजयगढ (भरतपुर-राज्य) ...	विष्णुवर्धन ...	कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वष्टाविंशेषु 400-20-8 फाल्गुण-बहुलस्य पचदश्यामेतस्या पूर्वायाम् ।
3	461	मन्दसौर (ग्वालियर-राज्य) ...	नरवर्मन्... ...	श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसज्ञितैकषष्ट्यधिके प्राप्ते समाशतचतुष्टये । दिने आश्वोजशुक्लस्य पचम्यामथ सत्कृते ।
4	480	गगाधार (झालावाड-राज्य) ...	विश्ववर्मन् ...	यातेषु चतुर्षु कृतेषु शतेषु सौम्यैष्वाष्टाशीत सोत्तरपदेष्विह वत्सरेषु । शुक्ले त्रयोदशदिने भुवि कार्तिकस्यमासस्य ।
5	481	नगरी (उदयपुर-राज्य)	दो वणिक बन्धु ...	कृतेषु चतुर्षुवर्षशतेष्वेकाशीत्युत्तरेष्वस्या मालव-पूर्वाया 400-80-1 कार्तिकशुक्लपचम्याम् ।
6	493	मन्दसौर (ग्वालियर-राज्य) ...	कुमारगुप्त (वन्धुवर्मन)	मालवाना गणस्थित्या याते शतचतुष्टये त्रिनवत्य-धिकेब्दानामृतौ सेव्यघनस्तने, सहस्य मासशुक्लस्य प्रशस्तेऽह्नि त्रयोदशे ।
7	524	मन्दसौर (ग्वालियर-राज्य) ...	प्रभाकर... ...	शरन्निशानाथकरामलाया विख्यापके मालववश-कीर्ते । शरद्गणे पचशते व्यतीते,त्रिघातिताष्टाभ्यधिके क्रमेण ।
9[1]	589	मन्दसौर (ग्वालियर-राज्य)	राज्याधिराज परमेश्वर यशोधर्मन-विष्णुवर्धन	पचसु शतेषु शरदा यातेष्वेकान्नतवतिसहितेपु, मालवगणस्थितिवशात्कालज्ञानाय लिखितेपु ।

1. यह क्रमाक डॉ० भाण्डारकर की सूची के अनुसार है । उक्त सूची के उन अभिलेखो के उल्लेख छोड दिए गए हैं, जिनमे सवत् का नामोल्लेख नहीं है ।

क्रमांक	संवत्	प्राप्ति-स्थान	शासक या दाता	संवत्-सम्बन्धी पाठ
16	770	चित्तौडगढ	मान	मालवेश-संवत्सर ।[1]
17	794	धीनीकि[2] (काठियावाड) ...	जैंकदेव	विक्रमसंवत्सरशतेषु सप्तषु चतुर्नवत्यधिकेष्वङ्कत । कार्तिकमासापरपक्षे अमावस्यायां आदित्यवारे ज्येष्ठानक्षत्रे रविग्रहणपर्वणि ।
18	795	कणस्व (कोटा राज्य) ...	शिवगण	संवत्सरशतैर्यातैः सपंचनवत्यर्गलैः सप्तभि-र्मालवेशानाम् ।
27	898	धौलपुर	चण्डमहासेन ...	वसुनवाष्टौ वर्षागतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य वैशाखस्य सितायां रविवारयुतद्वितीयायां चन्द्रे रोहिणिसंयुक्ते लग्ने सिंहस्य शोभने योगे ।
37	936	ग्यारसपुर (ग्वालियर-राज्य) ...	...	मालवकालाच्छरदां षट्त्रिंशत्संयुतेष्वतीतेषु नवसु शतेषु मघाविह ।

1 डॉ० भाण्डारकर ने इसका मूल पाठ नहीं दिया । कर्नल टॉड के 'एनाल्स ऑफ राजस्थान' से उक्त पाठ का अनुवाद उद्धृत किया है जो इस प्रकार है —

'Seventy had elapsed beyond seven hundred years (Semvatsir) when the lord of the men, the king of Malwa, formed this saka

इस पर डॉ० भाण्डारकर ने यह सम्भावना की है कि इसके मूल पाठ में 'मालवेश' के संवत् का उल्लेख होगा ।

2 इस ताम्रपत्र को डॉ० अल्तेकर ने जाली सिद्ध कर दिया है। एपीग्राफिया इण्डिका, भाग 26, पृ० 189 ।

48	973	बीजापुर	राष्ट्रकूट विदग्धराज	रामगिरिनन्दकलिते विक्रमकाले गते तु शुचिमासे ।[1]
63	1005	बोधगया	...	विक्रम-सवत्सर 1005 के मधुमास के शुक्लपक्ष की चतुर्थी शुक्रवार का उल्लेख है ।
67	1008	आहार (उदयपुर-राज्य) ...	अल्लट	कार्तिक सितपचम्या अग्रटनाम्नासुसूत्रधारेण । प्रारब्ध देवगृह कालेवसुशून्यदिकसङ्ख्ये ।। दशदिग्विक्रमकाले वैशाखे शुद्धसप्तमी दिवसे । हरिरिह निवेशितोऽय घटितप्रतिमो वराहेण ।।
72	1013	ओसिया (जोधपुर-राज्य) ...	...	विक्रम-सवत्सर 1103 फाल्गुण शुक्लपक्ष तृतीया ।[2]
80	1028	एकलिगजी (उदयपुर-राज्य)...	नरवाहन	विक्रमादित्यभूभृत । अष्टाविंशतिसयुक्ते शते दशगुणे सति ।
117	1086	राधनपुर (बम्बई प्रान्त) ...	भीमदेव	विक्रम-सवत् 1086 कार्तिक शुदि 15 ।
123	1099	वसन्तगढ (सिरोही-राज्य) ...	पूर्णपाल	नवनवतिरिहासीद् विक्रमादित्यकाले । जगति दश-शतानामग्रतो यत्र पूर्णा प्रभवति नभमासे स्थानके चित्रभानो ।। मृगशिरसिशशाके कृष्णपक्षे नवम्याम् ।
128	1103	तिलकवाडा (बडौदा-राज्य) ...	जसोराज-भोजदेव ...	वत्सरैर्विक्रमादित्यै शतैरेकादशैस्तथा । त्र्युत्तरैर्मार्ग-मासेऽस्मिन् सोमे सोमस्य पर्वणि ।

1-2. इसका मूल पाठ डॉ० भाण्डारकर ने नही दिया है ।

क्रमाक	सवत्	प्राप्ति-स्थान	शासक या दाता	सवत्-सम्बन्धी पाठ
134	1116	उदयपुर (ग्वालियर-राज्य) ...	उदयादित्य ...	एकादशशतवर्षाअङ्गतदधिक षोडसच विक्रमेद्रे साम्। सवत् 1116 नवसतंकसीत शक गत शालिवाहिन च नृपाधीश शाके 981 ।
136	1118	देवगढ़ (झासी) ...	सती-प्रस्तर	विक्रम-सवत् 1118 ज्येष्ठ सु० मगलवार ।
141	1131	नवसारी (बडोदा-राज्य) ...	कर्णराज एवं दुर्लभराज	श्रीविक्रमादित्योत्पादित सवत्सर शतेष्वेकादशसु एकत्रिशदधिकेषु अत्राकतोऽपि स० 1131 कार्तिक शुदि एकादशी पर्वणि ।
155	1148	सूनक (बडौदा-राज्य) ...	कर्णदेव त्रैलोक्यमल्ल	विक्रम-सवत् 1148 वैशाख शुदि 15 सोमे । अद्य सोमग्रहणपर्वणि ।
156	1150	ग्वालियर	महिपालदेव ...	एकादशस्वतीतेषु सवत्सरशतेषु च । एकोनपचाशति च गतष्वब्देषु विक्रमात् ॥ पचाशे चाश्विने मासे कृष्णपक्षे अकतोऽपि । 1150 आश्विनबहुल-पचम्याम् ।
165	1157	अर्थूणा (बासवाडा-राज्य) ...	चामुण्डराज	सप्तपचाशदधिके सहस्रे च शतोत्तरे । चैत्रकृष्ण-द्वितीयायाम् ।
169	1161	ग्वालियर	महीपालदेव का उत्तराधिकारी	श्रीविक्रमार्कनृपकालातीतसवत्सरणामेकषष्ट्यधिकाया-मेकादशशत्या माघशुक्लषष्ठ्याम् ।
176	1164	कद्‌माल (उदयपुर-राज्य) ...	विजयसिंह ...	श्रीविक्रमकालातीत सवत्सरशतेष्वेकादशसु चतु-षष्ट्यधिकेषु आपाढ मास अमावस्या सूर्यग्रहणे-ऽअकतोऽपि सवत् 1164 वर्षे आपाढवदि 15 ।

179	1166	अर्थूणा (बासवाडा-राज्य) ...	विजयराज ...	वर्षं सहस्रे याते षट्पष्ठ्युत्तरशतेन सयुक्ते। विक्रम-भानो काल............विक्रमसवत् 1166 वैशाख सुदि 3 सोमे।
200	1176	सेवाडी (जोधपुर-राज्य) ...	रत्नपाल ...	श्रीविक्रमादित्योत्पादितातीतसवत्सरशतेष्वेकादशसु षट्सप्तत्यधिकेषु ज्येष्ठमासबहुल-पक्षाष्टमी-गुरु-वासरे। अकतोऽपि सवत् 1176 ज्येष्ठ वदि 8, गुरौ।
232	1191	,, ,, ...	यशोवर्मदेव ...	श्रीविक्रम-कालातीत-सवत्सरैकनवत्यधिकशतैकादशेषु कार्तिक शुदिअष्टम्याम्।
240	1195	उज्जैन (ग्वालियर-राज्य) ...	जयसिह ...	विक्रमनृप-कालातीत-सवत्सरशतैकादशसु पचनवत्य-धिकेषु। अकत सवत् 1195 ज्येष्ठ-वदि 14 गुरौ।
241	1195	भद्रेश्वर (कच्छ-राज्य) ...	जयसिहदेव ...	विक्रम-सवत् 1195 वर्षे आषाढ शुदि 10 रवौ अस्या सवत्सर-मास-पक्ष-दिवस-पूर्वाया तिथौ।
245	1196	दोहद (जिला पचमहाल बम्बई)	जयसिहदेव ...	श्रीनृप-विक्रम-सवन 1196।
250	1198	किराडू (जोधपुर-राज्य)	जयसिह-सिद्धराज तथा सोमेश्वर	अष्टनवतौ वर्षे विक्रम-भूपते।
252	1199	झालरापाटन (झालावाड-राज्य)	नरवर्मदेव तथा यशोवर्मदेव	विक्रमार्क-सवत् 1199 फाल्गुण शुदि...।

क्रमांक	संवत्	प्राप्ति-स्थान	शासक या दाता	संवत्-सम्बन्धी पाठ
134	1116	उदयपुर (ग्वालियर-राज्य) ...	उदयादित्य ...	एकादशशतवर्षाअङ्गतदधिक षोडसच विक्रमेद्रे साम्। संवत् 1116 नवसतैकसीत शक गत शालिवाहिन च नृपाधीश शाके 981।
136	1118	देवगढ (झांसी) ...	सती-प्रस्तर	विक्रम-संवत् 1118 ज्येष्ठ सु० मगलवार।
141	1131	नवसारी (बडौदा-राज्य) ...	कर्णराज एवं दुर्लभराज	श्रीविक्रमादित्योत्पादित संवत्सर शतेष्वेकादशसु एकत्रिंशदधिकेषु अत्राकतोऽपि स० 1131 कार्तिक शुदि एकादशी पर्वणि।
155	1148	सूनक (बडौदा-राज्य) ...	कर्णदेव त्रैलोक्यमल्ल	विक्रम-संवत् 1148 वैशाख शुदि 15 सोमे। अद्य सोमग्रहणपर्वणि।
156	1150	ग्वालियर	महिपालदेव ...	एकादशस्वतीतेषु संवत्सरशतेषु च। एकोनपचाशति च गतेष्वब्देषु विक्रमात्॥ पचाशे चाश्विने मासे कृष्णपक्षे अकतोऽपि। 1150 आश्विनबहुल-पचम्याम्।
165	1157	अर्थूणा (बासवाडा-राज्य) ...	चामुण्डराज	सप्तपचाशदधिके सहस्रे च शतोत्तरे। चैत्रकृष्ण-द्वितीयायाम्।
169	1161	ग्वालियर	महीपालदेव का उत्तरा-धिकारी	श्रीविक्रमार्कनृपकालातीतसंवत्सरणामेकषष्ट्यधिकाया-मेकादशशत्या माघशुक्लषष्ठ्याम्।
176	1164	कद्माल (उदयपुर-राज्य) ...	विजयसिंह ...	श्रीविक्रमकालातीत संवत्सरशतेष्वेकादशसु चतु-षष्ट्यधिकेषु आषाढ मास अमावस्या सूर्यग्रहणेऽअकतोऽपि संवत् 1164 वर्षे आषाढवदि 15।

179	1166	अर्थूणा (बासवाडा-राज्य) ...	विजयराज ...	वर्ष सहस्रे याते पट्षष्ठ्युत्तरशतेन सयुक्ते। विक्रम-भानो काल ....विक्रमसवत् 1166 वैशाख सुदि 3 सोमे।
200	1176	सेवाडी (जोधपुर-राज्य) ...	रत्नपाल ...	श्रीविक्रमादित्योत्पादितातीतसवत्सरशतेष्वेकादशसु पट्सप्तत्यधिकेषु ज्येष्ठमासबहुल-पक्षाष्टमी-गुरु-वासरे। अकतोऽपि सवत् 1176 ज्येष्ठ वदि 8, गुरौ।
232	1191	„ „ ...	यशोवर्मदेव ...	श्रीविक्रम-कालातीत-सवत्सरैकनवत्यधिकशतैकादशेषु कार्तिक शुदिअष्टम्याम्।
240	1195	उज्जैन (ग्वालियर-राज्य) ...	जयसिंह ...	विक्रमनृप-कालातीत-सवत्सरशतैकादशसु पचनवत्यधिकेषु। अकत सवत् 1195 ज्येष्ठ-वदि 14 गुरौ।
11[illegible]	1195	भद्रेश्वर (कच्छ-राज्य) ...	जयसिंहदेव ...	विक्रम-सवत् 1195 वर्षे आषाढ शुदि 10 रवौ
[illegible]	1196 1198	दोहद (जिला पंचमहाल बम्बई) किराडू (जोधपुर-राज्य)	जयसिंहदेव जयसिंह-सिद्धराज तथा सोमेश्वर ...	अस्या सवत्सर-मास-पक्ष-दिवस-पूर्वाया तिथौ। श्रीनृप-विक्रम-सवत् 1196। अष्टनवतौ वर्षे विक्रम-भूपते।
[illegible]	1199	[illegible] ([illegible]-राज्य)	नरवर्मदेव तथा यशोवर्मदेव	विक्रमांक-सवत् 1199 फाल्गुण शुदि...।

विक्रम की ऐतिहासिकता

□ डॉ० राजबली पाण्डेय

जनश्रुति

मर्यादा-पुरुषोत्तम राम और कृष्ण के पश्चात् भारतीय जनता ने जिस शासक को अपने हृदय-सिंहासन पर आरूढ़ किया है वह विक्रमादित्य हैं। उनके आदर्श, न्याय और लोकाराधन की कहानियाँ भारतवर्ष में सर्वत्र प्रचलित हैं, और आबाल-वृद्ध सभी उनके नाम और यश से परिचित हैं। उनके सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध जनश्रुति है कि वे उज्जयिनीनाथ गन्धर्वसेन के पुत्र थे। उन्होंने शकों को पराजित करके अपनी विजय के उपलक्ष में संवत् का प्रवर्तन किया था। वे स्वयं काव्य-मर्मज्ञ तथा कालिदासादि कवियों के आश्रयदाता थे। भारतीय ज्योतिष-गणना से भी इस बात की पुष्टि होती है कि ईसा से 57 वर्ष पूर्व विक्रमादित्य ने विक्रम-संवत् का प्रचार किया था।

अनुश्रुति

भारतीय-साहित्य में अंकित अनुश्रुति ने भी उपर्युक्त जनश्रुति का किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। इनमें से कुछ का उल्लेख नीचे किया जाता है—

1 अनुश्रुति के अनुसार विक्रमादित्य का प्रथम उल्लेख 'गाथासप्तशती' में इस प्रकार मिलता है—

> संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्।
> चलणेण विक्कमाइत्तचरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा॥ 5-64॥

इसकी टीका करते हुए गदाधर लिखते हैं—'पक्षे संवाहनं शत्रुबाधनम्। लक्षं लक्षम्। विक्रमादित्योऽपि भृत्यकर्तृकेन शत्रुसंबाधनेन तुष्टः सन् भृत्यस्य करे लक्षं ददातीत्यर्थः।' इससे यह प्रकट होता है कि गाथा के रचना-काल में यह बात प्रसिद्ध थी कि विक्रमादित्य नामक एक प्रतापी तथा उदार शासक थे, जिन्होंने

शत्रुओ के ऊपर विजय के उपलक्ष मे भृत्यो को लाखो का उपहार दिया था। 'गाथासप्तशती' का रचयिता सातवाहन राजा हाल प्रथम शताब्दी ई० पश्चात् मे हुआ था। अत इसके पूर्व विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता सिद्ध होती है। इस ऐतिहासिक तथ्य का प्रतिपादन महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने अच्छी तरह से किया है (एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द 12, पृ० 320)। इसके विरुद्ध डॉ० देवदत्त रामकृष्ण भाण्डारकर ने 'गाथासप्तशती' मे आए हुए ज्योतिष के सकेतो के आधार पर कुछ आपत्तिया उठाई थी (भाण्डारकर-स्मारक-ग्रन्थ, पृ० 187-189), किन्तु इसका निराकरण म० म० प० गौरीशकर हीराचन्द ओझा ने भली भाति कर दिया है (प्राचीन लिपिमाला, पृ० 168)।

2 जैन पडित मेरुतुगाचार्य-रचित पट्टावली मे लिखा है कि नभोवाहन के पश्चात् गर्दभिल्ल ने उज्जयिनी मे तेरह वर्ष तक राज्य किया। इसके अत्याचार के कारण कालकाचार्य ने शको को बुलाकर उसका उन्मूलन किया। शको ने उज्जयिनी मे चौदह वर्ष तक राज्य किया। इसके बाद गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शको से उज्जयिनी का राज्य वापिस करा लिया। यह घटना महावीर-निर्वाण के 470वें वर्ष (527—470=57 ई० पू०) मे हुई। विक्रमादित्य ने साठ वर्ष तक राज्य किया। उनके पुत्र विक्रमचरित उपनाम धर्मादित्य ने 40 वर्ष तक राज्य किया। तत्पश्चात् भैल्ल, नैल्ल तथा नाहड ने क्रमश 11, 14 और 10 वर्ष तक शासन किया। इस समय वीर-निर्वाण के 605 वर्ष पश्चात् (605—527=78 ई० पू०) शक-सवत् का प्रवर्तन हुआ।

3 प्रबन्धकोश के अनुसार महावीर-निर्वाण के 470 वर्ष बाद (527—470 =57 ई० पू०) विक्रमादित्य ने सवत् का प्रवर्तन किया।

4 धनेश्वर सूरि विरचित शत्रुजयमाहात्म्य मे इस बात का उल्लेख है कि वीर-सवत् के 466 वर्ष बीत जाने पर विक्रमादित्य का प्रादुर्भाव होगा। उनके 477 वर्ष पश्चात शिलादित्य अथवा भोज शासन करेगा। इस ग्रन्थ की रचना 477 विक्रम-सवत् मे हुई, जबकि वल्लभि के राजा शिलादित्य ने सुराष्ट्र से बौद्धों को खदेडकर कई तीर्थों को उनसे वापस लिया था। (देखिये, डॉ० भाउदाजी, जर्नल ऑफ बाम्बे एशियाटिक सोसायटी, जिल्द 6, पृ० 29-30)।

5 सोमदेव भट्ट विरचित कथासरित्सागर (लम्बक 18, तरग 1) मे भी विक्रमादित्य की कथा आती है। इसके अनुसार ये उज्जयिनी के राजा थे। इनके पिता का नाम महेन्द्रादित्य तथा माता का नाम सौम्यदर्शना था। महेन्द्रादित्य ने पुत्र की कामना से शिव की आराधना की। इस समय पृथ्वी म्लेच्छाक्रान्त थी। अत इसके त्राण के लिए देवताओ ने भी शिव से प्रार्थना की। शिवजी ने

अपने गण माल्यवान्[1] को बुलाकर कहा कि पृथ्वी का उद्धार करने के लिए तुम मनुष्य का अवतार लेकर उज्जयिनीनाथ महेन्द्रादित्य के यहा पुत्र-रूप से उत्पन्न हो। पुत्र उत्पन्न होने पर शिवजी के आदेशानुसार महेन्द्रादित्य ने उसका नाम विक्रमादित्य तथा उपनाम (शत्रु-सहारक होने के कारण) विषमशील रखा। बालक विक्रमादित्य पढ-लिखकर सब शास्त्रों मे पारगत हुआ, और प्राज्य विक्रम होने पर उसका अभिषेक किया गया। वह बडा ही प्रजावत्सल राजा हुआ। इसके बारे मे लिखा है—

स पिता पितृहीनानामबधूनां स बान्धव ।
अनाथानां च नाथ स प्रजानां क स नाभवत् ॥18-1-66॥

(वह पितृहीनो का पिता, बन्धु-रहितो का बन्धु और अनाथो का नाथ था। प्रजा का तो वह सर्वस्व ही था।) इसके अनन्तर विक्रमादित्य की विस्तृत विजयो और अद्भुत कृत्यो का अतिरजित वर्णन है।

कथासरित्सागर अपेक्षाकृत अर्वाचीन ग्रन्थ होने हुए भी क्षेमेन्द्रलिखित बृहत्कथामजरी और अन्ततोगत्वा बृहत्कथा (गुणाढयरचित) पर अवलबित है। गुणाढ्य सातवाहन हाल का समकालीन था, जो विक्रमादित्य से लगभग 100 वर्ष पीछे हुआ था। अत सोमदेव द्वारा कथित अनुश्रुति विक्रमादित्य के इतिहास से सर्वथा अनभिज्ञ नही हो सकती। सोमदेव के सम्बन्ध मे एक और बात ध्यान देने की है। वे उज्जयिनी के विक्रमादित्य के अतिरिक्त एक-दूसरे विक्रमादित्य को भी जानते थे, जोकि पाटलिपुत्र का राजा था—'विक्रमादित्य इत्यासीद्राजा पाटलिपुत्रके (लम्बक 7, तरग 4)।' इसलिए जो आधुनिक ऐतिहासिक मगधाधिप पाटलिपुत्रनाथ गुप्त सम्राटो को उज्जयिनीनाथ विक्रमादित्य से अभिन्न समझते हैं, वे अपनी परम्परा और अनुश्रुति के साथ बलात्कार करते हैं।

6 द्वात्रिंशत्पुत्तलिका, राजावली आदि ग्रन्थो तथा राजपूताने मे प्रचलित (टॉड्स राजस्थान मे सकलित) अनुश्रुतियो मे उज्जयिनीनाथ शकारि विक्रमादित्य की अनेक कथाए मिलती हैं।

साधारण जनता की जिज्ञासा इन्ही अनुश्रुतियो से तृप्त हो जाती है और वह परम्परा से परिचित लोक प्रसिद्ध विक्रमादित्य के सम्बन्ध म अधिक गवेषणा करने की चेष्टा नही करती। किन्तु आधुनिक ऐतिहासको के लिए केवल अनुश्रुति का प्रमाण पर्याप्त नही है। वे देखना चाहते हैं कि अन्य साधनो द्वारा ज्ञात इतिहास से परम्परा और अनुश्रुति की पुष्टि होती है या नही। *विक्रमादित्य की*

1 कथा की पौराणिक शैली मे 'गण' से गणतन्त्र और 'माल्यवान' से मालव जाति का आभास मिलता है।

ऐतिहासिकता के सम्बन्ध मे वे निम्नलिखित प्रश्नो का समाधान करना चाहते हैं—

(1) विक्रमादित्य ने जिस सवत् का प्रवर्तन किया था, उसका प्रारम्भ कब से होता है ?

(2) क्या प्रथम शताब्दी ई० पू० मे कोई प्रसिद्ध राजवश अथवा महापुरुष मालव प्रान्त मे हुआ था या नही ?

(3) क्या उस समय कोई ऐसी महत्वपूर्ण घटना हुई थी, जिसके उपलक्ष मे सवत् का प्रवर्तन हो सकता था ?

इन प्रश्नो को लेकर अब तक प्राय जो ऐतिहासिक अनुसन्धान होते रहे हैं, उनका साराश सक्षेप मे इस प्रकार दिया जाता है—

(1) यद्यपि ज्योतिषगणना के अनुसार विक्रम-सवत् का प्रारम्भ 57 ई० पू० मे होता है किन्तु ईसा की प्रथम कई शताब्दियो तक साहित्य तथा उत्कीर्ण लेखो मे इस सवत् का कही प्रयोग नही पाया जाता । मालव प्रान्त मे प्रथम स्थानीय सवत् मालवगण स्थिति काल था, जिसका पता मन्दसौर प्रस्तर-लेख से लगता है—मालवाना गणस्थित्या याते शतचतुष्टये (फ्लीट गुप्त उत्कीर्ण लेख स 18) । यह लेख पाचवी शताब्दी ई० पू० का है ।

(2) प्रथम शताब्दी ई० पू० मे किसी प्रसिद्ध राजवश अथवा महापुरुष का मालव प्रान्त मे पता नही ।

(3) इस काल म कोई ऐसी क्रान्तिकारी घटना मालव प्रान्त मे नही हुई, जिसके उपलक्ष म सवत् का प्रवर्तन हो सकता था ।

उपर्युक्त खोजो से यह परिणाम निकाला गया है कि प्रथम शताब्दी ई० पू० मे विक्रमादित्य नामक कोई शासक नही हुआ । तत्कालीन विक्रमादित्य कल्पना-प्रसूत है । सभवत मालव-सवत का प्रारम्भ ई० पू० प्रथम शताब्दी मे हुआ था । पीछे से 'विक्रमादित्य उपाधिधारी किसी राजा ने अपना विरुद इसके साथ जोड दिया । इस प्रकार सवत् के प्रवर्तक विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता बहुत से विद्वानो के मत म असिद्ध हो जाती है । इस प्रक्रिया का फल यह हुआ कि कतिपय प्राच्यविद्याविशारदो ने प्रथम शताब्दी ई० पू० के लगभग इतिहास मे प्रसिद्ध राजाओ को विक्रम-सवत का प्रवर्तक सिद्ध करने की चेष्टा प्रारम्भ की ।

आनुमानिक मत

(1) फर्गुसन ने एक विचित्र मत का प्रतिपादन किया । उनका कथन है कि जिसको 57 ई० पू० मे प्रारम्भ होने वाला विक्रम-सवत कहते हैं, वह वास्तव मे 544 ई० प० मे प्रचलित किया गया था । उज्जयिनी के राजा विक्रम हर्ष ने

544 ई० मे म्लेच्छो (शको) को कोरूर के युद्ध मे हराकर विजय के उपलक्ष्य में सवत् का प्रचार किया। इस सवत् को प्राचीन और आदरणीय बनाने के लिए इसका प्रारम्भ काल 6×100 (अथवा 10×60)=600 वर्ष पीछे फेंक दिया गया। इस तरह 56 ई० पू० मे प्रचलित विक्रम-सवत् से इसको अभिन्न मान लिया गया। किन्तु क्यो 600 वर्ष पहले इसका प्रारम्भ ढकेल दिया गया, इसका समाधान फर्गुसन के पास नही है। इसके अतिरिक्त 544 ई० प० के पूर्व के मालव-सवत् 529 (मन्दसौर प्रस्तर अभिलेख, फ्लीट गुप्त उत्कीर्ण लेख स० 18) तथा विक्रम-सवत् 430 (कावी अभिलेख, इण्डियन ऐण्टिक्वेरी वर्ष 1876, पृ० 152) के प्रयोग मिल जाने से फर्गुसन के मत का भवन ही धराशायी हो जाता है (फर्गुसन के मत के लिए देखिये, इण्डियन ऐण्टिक्वेरी वर्ष 1876, पृ० 182)।

(2) डॉ० फ्लीट का मत था कि 57 ई० पू० मे प्रारम्भ होने वाले विक्रम-सवत् का प्रवर्तन कनिष्क के राज्यारोहण-काल से शुरू होता है (जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, वर्ष 1907, पृ० 169)। अपने मत के समर्थन मे उनकी दलील यह है कि कनिष्क भारतीय इतिहास का एक प्रसिद्ध विजयी राजा था। उसने अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्य की स्थापना की। बौद्ध धर्म के इतिहास मे भी अशोक के बाद उसका स्थान था। ऐसे प्रतापी राजा का सवत् चलाना बिलकुल स्वाभाविक था। किन्तु यह मत डॉ० फ्लीट के अतिरिक्त और किसी विद्वान को मान्य नही है। प्रथम तो कनिष्क का समय ही अभी अनिश्चित है। दूसरे, एक विदेशी राजा के द्वारा देश के एक कोने से प्रवर्तित सवत् देश-व्यापी नही हो सकता था। तीसरे, यह बात प्राय सिद्ध है कि कुषाणो ने काश्मीर तथा पजाब मे जिस सवत् का व्यवहार किया था, वह पूर्व प्रचलित सप्तर्षि-सवत् था, जिसम सहस्र तथा शत के अक लुप्त थे। यदि यह बात अमान्य भी समझी जाय तो भी कुषण सवत् वशगत था और कुषणो के बाद पश्चिमोत्तर भारत मे इसका प्रचार नही मिलता।

(3) श्री वेंकडे गोपाल अय्यर ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत का तिथिक्रम' (क्रोनोलॉजी आफ एंजेण्ट इण्डिया, पृ० 175) मे इस मत का प्रतिपादन किया है कि विक्रम सवत् का प्रवर्त्तक सुराष्ट्र का महाक्षत्रप चष्टन था। विक्रम सवत मे मालव सवत् है। मन्दसौर प्रस्तर लेख मे स्पष्ट बतलाया गया है कि मालव जाति के संगठन-काल से इसका प्रचलन हुआ (मालवाना गणस्थित्या याते शत-चतुष्टये—फ्लीट गुप्त उत्कीर्ण लेख, स० 18)। कुषाणो द्वारा इस सवत् का प्रवर्त्तन नही हो सकता था। एक तो कनिष्क का समय विक्रमकालीन नही, दूसरे यह बात सिद्ध नही कि उसका राज्य कभी मथुरा और बनारस के आगे भी फैला था। क्षत्रपों के अतिरिक्त अन्य किसी दीर्घजीवी राजवश का पता नही, जिसका

मालव-प्रान्त पर आधिपत्य रहा हो और जिसको सवत् का प्रवर्त्तक माना जा सके। जब हम इन बातो को ध्यान मे रखते हुए रुद्रदामन के गिरनार के लेख मे पढते है कि 'सब वर्णों ने अपनी रक्षा के लिए उसको अपना अधिपति चुना था' (सर्वे वर्णैरभिगम्य पतित्वे वृतेन—एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द 80, पृ० 47) तब हम यह बात स्वीकार करते हैं कि मालवा और गुजरात की सब जातियों ने उसको अपना राजा निर्वाचित किया था, जिस तरह कि इसके पूर्व उन्होंने रुद्रदामन के पिता जयदामन् और उसके पितामह चष्टन को चुना था। प्राचीन ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण मे लिखा है कि 'पश्चिम के सभी राजाओ का अभिषेक स्वराज्य के लिए होता था और उनकी उपाधि स्वराट् होती थी।' इन स्वतन्त्र जातियो ने एकता मे शक्ति का अनुभव करते हुए और आवश्यकता के सामने सिर झुकाते हुए अपने ऊपर विजयी चष्टन के आधिपत्य मे अपने को एकत्र करके संगठित किया। यही महान् घटना, एक बडे शासक के आधिपत्य मे मालव जातियो का सगठन 57 ई० पू० मे सवत् के प्रवर्तन से उपलक्षित हुई। तब से यह सवत् मालवा मे प्रचलित है। चष्टन और रुद्रदामन् ने मालवा के पडोसी प्रान्तो में भी शासन किया, इसलिए सवत् का प्रचार विन्ध्यपर्वत के उत्तर के प्रदेशो मे भी हो गया।

अय्यर महोदय का यह कथन कि विक्रम-सवत् वास्तव मे मालव सवत् है, स्वत सिद्ध है। कनिष्क के विक्रम-सवत् के प्रवर्तक होने के विरोध मे उनका तर्क भी युक्तिसगत है। किन्तु कनिष्क से कही स्वल्प शक्तिशाली प्रान्तीय विदेशी क्षत्रप, जिसके साथ राष्ट्रीय जीवन का कोई अग सलग्न नही था, सवत् के प्रवर्तन मे कैसे कारण हो सकता था, यह बात समझ मे नही आती। रुद्रदामन् के अभिलेख मे सब वर्णों द्वारा राजा के चुनाव का उल्लेख केवल प्रशस्तिमात्र है। प्रत्येक शासक अपने अधिकार को प्रजासम्मत कहने की नीति का प्रयोग करता है। इसके अतिरिक्त रुद्रदामन् लोकप्रिय हो भी गया हो तो भी उसका यह गुण दो पीढी पहले चष्टन मे, सघर्ष की नवीनता तथा तीव्रता के कारण, नही आ सकता था। श्री अय्यर की यह युक्ति अत्यन्त उपहासनीय मालूम होती है कि मालवादि जातियो ने चष्टन के आधिपत्य मे अपना सगठन किया और इसके उपलक्ष मे सवत् का प्रवर्तन किया। राजनीति का यह साधारण नियम है कि कोई भी विदेशी शासक विजित जातियो को तुरन्त सगठित होने का अवसर नही देता। फिर अपने पराजय-काल मे मालवो ने सवत् का प्रारम्भ किया हो, यह बात भी असाधारण मालूम पडती है।

(4) स्व० डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने जैन अनुश्रुतियो के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि 'जैन-गाथाओ और लोकप्रिय कथाओ का विक्रमादित्य गौतमीपुत्र शातकर्णि था। प्रथम शताब्दी ई० पू० मे मालवा मे मालवगण **वर्तमान**

था, जैसाकि उसके प्राप्त सिक्कों से ज्ञात होता है। शातकर्णि और मालवगण की संयुक्त शक्ति ने शकों को पराजित किया। इसलिए शकों की पराजय में मुख्य भाग लेने वाले शातकर्णि 'विक्रमादित्य' के विरुद से विक्रम-संवत् का प्रवर्तन हुआ। मालवगण ने भी उसके साथ संधि के विशेष ठहराव (स्थिति, आम्नाय) के अनुसार अपना इस समय संगठन किया और इसी समय से मालवगण-स्थितिकाल भी प्रारम्भ हुआ (जर्नल ऑफ बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द 16 वर्ष 1930)।

उपर्युक्त कथन में मालव-सातवाहन-संघ का बनना तो स्वाभाविक जान पड़ता है (यदि इस समय साम्राज्यवादी सातवाहनों का अस्तित्व होता), किन्तु शातकर्णि विक्रमादित्य (?) के विजय से मालवगण गौरवान्वित हुआ और उसके साथ सन्धि करके मालव-संवत् का प्रवर्तन किया, यह बात बिलकुल काल्पनिक और असंगत है। इसके साथ ही यह ध्यान देने की बात है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ने न केवल शकों को हराया, किन्तु शक, छहरात, अवन्ति, आकरादि अनेक प्रान्तों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया (नासिक उत्कीर्ण लेख, एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द 8, पृ० 60)। अतः उसके दिग्विजय की घटना मालवगण-स्थिति के काफी बाद ही जान पड़ती है। साहित्य और उत्कीर्ण लेख, किसी से भी इस बात का प्रमाण नहीं मिलता कि कभी किसी सातवाहन राजा ने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की थी। सातवाहन राजाओं का तिथिक्रम अभी तक अनिश्चित है। अपने मतों को सिद्ध करने के लिए विद्वानों ने उसे घपले में डाल रखा है। किन्तु बहुसम्मत सिद्धान्त यह है कि काण्वों के पश्चात् साम्राज्यवादी सातवाहनों का प्रादुर्भाव प्रथम-शताब्दी ई० पू० के अपरार्द्ध में हुआ। इसलिए आन्ध्रवंश का तेईसवां राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि प्रथम शताब्दी ई० पू० में नहीं रखा जा सकता। सातवाहन राजाओं के लेखों में जो तिथियां दी हुई हैं वे उनके राज्यवर्षों की हैं। उनमें विक्रम-संवत् या किसी अन्य क्रमबद्ध संवत् का उल्लेख नहीं है। जायसवाल के इस मत के सम्बन्ध में सबसे अधिक निर्णायक गाथासप्तशती का प्रमाण मिलता है। आन्ध्रवंश के सत्रहवें राजा हाल के समय में लिखित गाथासप्तशती विक्रमादित्य के अस्तित्व और यश से परिचित है, अतः इस वंश का तेईसवां राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि तो किसी भी अवस्था में विक्रमादित्य नहीं हो सकता।

सीधा ऐतिहासिक प्रयत्न

इस तरह विक्रमादित्य के अनुसंधान में प्राच्यविद्याविशारदों ने अपनी उर्वर कल्पनाशक्ति का परिचय दिया है। किन्तु इस प्रकार के प्रयत्न से विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता की समस्या हल नहीं होती। यदि परम्परा के समुचित आदर के

साथ सोधी ऐतिहासिक खोज की जाय तो सवत् प्रवर्त्तक विक्रमादित्य का पता सरलता से लग जाता है। वास्तविक विक्रमादित्य के लिए निम्नलिखित शर्तों का पूरा करना आवश्यक है—

(1) मालव प्रदेश और उज्जयिनी राजधानी,

(2) शकारि होना,

(3) 57 ई० पू० मे सवत् का प्रवर्त्तक होना, और

(4) कालिदास का आश्रयदाता।

अनुशीलन

(1) यह बात अब ऐतिहासिक खोजो से सिद्ध हो गई है कि प्रारम्भ मे मालव-प्रदेश मे प्रचलित होने वाला सवत् मालवगण का सवत् था। सिकन्दर के भारतीय आक्रमण के समय मालव जाति पजाब मे रहती थी। मालव-क्षुद्रक-गण सघ ने सिकन्दर का विरोध किया था, किन्तु पारस्परिक फूट के कारण मालव-गण अकेला लडकर यूनानियो से हार गया था। इसके पश्चात् मौर्यों के कठोर नियत्रण से मालवजाति निष्प्रभ सी हो गई थी। मौर्य-साम्राज्य के अन्तिम काल मे जब पश्चिमोत्तर भारत पर बाख्त्रियो के आक्रमण प्रारम्भ हुए तब उत्तरापथ की मालवादि कई गण जातिया वहा से पूर्वी राजपूताने होते हुए मध्य-भारत पहुची और वहा पर उन्होने अपने नये उपनिवेश स्थापित किये। समुद्रगुप्त के प्रयाग-प्रशस्ति-लेख से सिद्ध होता है कि चौथी शताब्दी ई० पू० के पूर्वार्द्ध मे उसके साम्राज्य की दक्षिण-पश्चिम सीमा पर कई गण-राष्ट्र वर्तमान थे, किन्तु इससे भी पहले प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई० पू० मे मालवजाति अवन्ति-आकर (मालव-प्रान्त) मे पहुच गई थी, यह बात मुद्राशास्त्र से प्रमाणित है। यहा पर एक प्रकार के सिक्के मिले है, जिन पर ब्राह्मी अक्षरो मे 'मालवाना जय' लिखा है(इण्डियन म्यूजियम कॉइन्स, जिल्द 1, पृ० 162, कनिघम ऑर्केआलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, जिल्द 60, पृ० 165-74)।

(2) ई० पू० प्रथम शताब्दी के मध्य मे मगध-साम्राज्य का भग्नावशेष काण्वो की क्षीण शक्ति के रूप मे पूर्वी भारत मे बचा हुआ था। बाख्त्रियो के पश्चात् पश्चिमोत्तर भारत शको द्वारा आक्रान्त होने लगा। शक जाति ने सिन्ध प्रान्त के रास्ते भारतवर्ष मे प्रवेश किया। यहा से उसकी एक शाखा सुराष्ट्र होते हुए अवन्ति-आकर की ओर बढने लगी। इस बढाव मे शको का मध्य-भारत के गण-राष्ट्रो से सघर्ष होना बिलकुल स्वाभाविक था। बाहरी आक्रमण के समय गण जातिया सघ बनाकर लडती थी। इस सघ का नेतृत्व मालवगण ने लिया और शको को पीछे ढकेलकर सिन्ध-प्रान्त के छोर पर कर दिया। कालकाचार्य की

कथा मे शको को निमन्त्रण देना, अवन्ति के ऊपर उनका स्थायी आधिपत्य तथा अन्त मे विक्रमादित्य द्वारा उनका निर्वासन आदि सभी घटनाओ का मेल इतिहास की उपर्युक्त धारा से बैठ जाता है।

(3) शको को पराजित करने के कारण मालवगण मुख्य का शकारि एक विरुद हो गया। यद्यपि इस घटना से शको का आतक सदा के लिए दूर नही हुआ, तथापि यह एक क्रान्तिकारी घटना थी, और इसके फलस्वरूप लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक भारतवर्ष शको के आधिपत्य से सुरक्षित रहा। इसलिए इस विजय के उपलक्ष मे सवत् का प्रवर्त्तन हुआ और मालवगण के दृढ होने से इसका गण-नाम मालवगण-स्थिति या मालवगण-काल पडा।

(4) अब यह विचार करना है कि क्या मालवगण-मुख्य कालिदास के आश्रय-दाता हो सकते हैं या नही ? अभिज्ञान शाकुन्तल की कतिपय प्राचीन प्रतियो मे नान्दी के अन्त मे लिखा मिलता है कि इस नाटक का अभिनय विक्रमादित्य की परिषद मे हुआ था। (सूत्रधार—आर्ये, इय हि रसभावविशेषदीक्षागुरो विक्रमा-दित्यस्य अभिरूपभूयिष्ठा परिषत्, अस्याच कालिदासप्रथितवस्तुना नवेन अभि-ज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नाटकेन उपस्थातव्यम् अस्माभि, तत् प्रतिपात्रम् आधीयता यत्न। नान्द्यन्ते। —जीवानन्द विद्यासागर सकरण, कलकत्ता, 1914 ई०)। प्राय अभी तक विक्रमादित्य एक तन्त्रिक राजा ही समझे जाते रहे हैं, किन्तु काशी विश्व विद्यालय मे हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष प० केशवप्रसाद मिश्र के पास सुरक्षित अभिज्ञानशाकुन्तल की एक हस्तलिखित प्रति (प्रतिलेखन काल—अगहन सुदी 5 सवत् 1699 वि०) ने विक्रमादित्य का गण से सम्बन्ध व्यक्त कर दिया है। इसके निम्नान्वित अवतरण ध्यान देने योग्य हैं—

(अ) आर्ये, रसभावशेषदीक्षागुरोः **श्री विक्रमादित्यस्य साहसाकस्याभिरूप-भूयिष्ठेय परिषत्।**
अस्याच कालिदासप्रयुक्तेनाभिज्ञानशाकुन्तलनवेन नाटकेनोपस्थातव्यम-स्माभि। (नाद्यन्ते)

(आ) भवतु तव विडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु,
त्वमपि विततयज्ञो वज्रिण भावयेथाः।
गणशतपरिवर्तैरेवमन्योन्यकृत्यै-
नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः ॥ (भरतवाक्य)।

उपर्युक्त अवतरणो मे मोटे टाइप म छपे पदो से यह स्पष्ट जान पडता है कि जिस विक्रमादित्य का यहा निर्देश है, उनका व्यक्तिवाचक नाम विक्रमादित्य और उपाधि साहसाक है। भरतवाक्य का 'गण' शब्द राजनीतिक अर्थ मे 'गण-राष्ट्र' का द्योतक है। 'शत' सख्या गोल और अतिरजित है और 'गणशत' का अर्थ कई गणो का गण-सघ है। 'गण' शब्द के अर्थ की सगति अवतरण (अ) के

रेखांकित पद से बैठती है। विक्रमादित्य के साथ कोई राजतांत्रिक उपाधि नही लगी है। यदि यह अवतरण छन्दोबद्ध होता तो कहा जा सकता था कि छन्द की आवश्यकतावश उपाधियो का प्रयोग नही किया गया है, किन्तु गद्य मे इसका अभाव कुछ विशेष अर्थ रखता है। निश्चय ही विक्रमादित्य सम्राट् या राजा नही थे, अपितु गणमुख्य थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार गणराष्ट्र कई प्रकार के थे—कुछ वार्ताशस्त्रोपजीवी, कुछ आयुधजीवी और कुछ राजशब्दोपजीवी। ऐसा जान पड़ता है कि मालवगण वार्ताशस्त्रोपजीवी था, इसलिए विक्रमादित्य के साथ राजा या अन्य किसी राजनीतिक उपाधि का व्यवहार नही हुआ है।

इन अवतरणो के सहारे यही निष्कर्ष निकलता है कि विक्रमादित्य मालव-गण मुख्य थे। उन्होने शको को उनके प्रथम बढाव मे पराजित करके इस क्रांतिकारी घटना के उपलक्ष म मालवगणस्थिति नामक सवत् का प्रवर्तन किया, जो आगे चलकर विक्रम्-सवत के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विक्रमादित्य स्वय काव्यमर्मज्ञ तथा कालिदासादि कवियो और कलाकारो के आश्रयदाता थे।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि मालवगणस्थिति अथवा मालव-सवत का विक्रम सवत् नाम किस प्रकार स पडा? इसका समाधान यह है कि सवत् का नाम प्रारम्भ मे गणपरक होना स्वाभाविक था, क्योकि लोकतांत्रिक राष्ट्र मे गण की प्रधानता होती है, व्यक्ति की नही। पाचवी शताब्दी ई० पू० के पूर्वार्द्ध मे चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने भारत म अन्तिम बार गणराष्ट्रा का सहार किया था। तब से गण-राष्ट्र भारतीय प्रजा के मानसिक क्षितिज स ओझल होने लगे थे और आठवी-नौवी शताब्दी ई० पू० तक, जबकि सारे देश मे निरकुश एकतंत्र की स्थापना हो गई थी, गणराष्ट्र की कल्पना भी विलीन हो गई। अत मालव-गण का स्थान उसके प्रमुख व्यक्ति विशेष विक्रमादित्य ने ले लिया और सवत् के साथ उनका नाम जुट गया। साथ ही साथ मालवगण मुख्य विक्रमादित्य राजा विक्रमादित्य हो गये। राजनीतिक कल्पना की दुर्बलता का यह एकाकी उदाहरण नही है। आधुनिक ऐतिहासिक खोजो से अनभिज्ञ भारतीय प्रजा मे कौन जानता है कि भगवान् श्रीकृष्ण और महात्मा बुद्ध के पिता गण मुख्य थे। अर्वाचीन साहित्य तक म वे राजा करके ही माने जाते हैं। यह भी हो सकता है कि राज-शब्दोपयोगी गणमुखयो की 'राजा' उपाधि, राजनैतिक भ्रम के युग मे विक्रमादित्य को राजा बनाने म सहायक हुई हो।

प्रथम शताब्दी ई० पू० मे विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता प्रमाणित करने के साथ यह भी आवश्यक जान पडता है कि उन स्थापनाओ का सक्षेप मे विवेचन किया जाय, जिनके आधार पर कालिदास के साथ विक्रमादित्य को भी गुप्तकाल मे घसीटा जाता है और 'विक्रमादित्य' उपाधिधारी गुप्त सम्राटो मे से किसी

एक से अभिन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। वे स्थापनाएं निम्नलिखित विवेचनों पर अवलम्बित हैं—

(1) *कुछ ऐतिहासिकों की धारणा है कि तथाकथित बौद्धकाल में वैदिक* (हिन्दू) धर्म, संस्कृत और साहित्य संकटापन्न हो गये थे। अतः ईसा के एक-दो शताब्दी आगे-पीछे संस्कृत काव्य का विकास नहीं हो सकता था। गुप्तों के आगमन के बाद हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान के साथ संस्कृत-साहित्य का भी पुनरुत्थान हुआ। तभी संस्कृत-साहित्य में कालिदास जैसे कुशल तथा परिष्कृत काव्यकार का होना संभव था। 'पुनरुत्थान' मत के मुख्य प्रवर्त्तक मैक्समूलर थे। पीछे की ऐतिहासिक खोजों से यह मत असिद्ध हो गया है (विस्तृत विवेचन के लिए देखिए, डॉ० जी० ब्यूलर, इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, वर्ष 1913)। 'बौद्ध-काल' में न तो वैदिक धर्म लुप्त हुआ था और न संस्कृत-साहित्य ही। गुप्तकाल के पहले ईसा की दूसरी शताब्दी में सुराष्ट्र के महाक्षत्रप रुद्रदामन के गिरनार अभिलेख में गद्यकाव्य का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण मिलता है ("'पर्जन्येनैकार्णवभूतायामिव पृथिव्यां कृतायां ''''युगनिधनसदृशपरमघोरवेगेन वायुना प्रमथितसलिलविक्षिप्तजर्जरीकृताव''''''एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द 8, पृ० 47)। राजकीय व्यवहार का यह गद्यकाव्य अवश्य ही उस युग में वर्तमान पद्यकाव्य के अनुकरण पर लिखा गया होगा। ई० पू० शुंगकाल में रचित पातंजल महाभाष्य में उद्धृत उदाहरणों में काव्यों की शैली और छन्द पाये जाते हैं (कीलहार्न महाभाष्य का संस्करण)। इसके अतिरिक्त रामायण तथा महाभारत जैसे महाकाव्यों के अधिकांश भाग ई० पू० के लिखे गये हैं। मनु तथा याज्ञवल्क्य स्मृतियां ईसा की *पार्श्ववर्ती शताब्दियों में लिखी गई हैं। काव्य की उपर्युक्त धारा के प्रकाश में* प्रथम शताब्दी ई० पू० में कालिदास के नाटकों और काव्यों की रचना बिलकुल असंभव नहीं जान पड़ती।

(2) कालिदास के काव्यों और बौद्ध पण्डित अश्वघोष के बुद्धचरित नामक काव्य में अत्यधिक साम्य है। कथानक की सृष्टि और विकास, वर्णन-शैली, अलंकारों का प्रयोग, छन्दों का चुनाव, शब्दविन्यासादि में दोनों कलाकारों में से एक-दूसरे से अत्यन्त प्रभावित है। इसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

रघुवंश	बुद्धचरित
ततस्तदालोकन तत्पराणां	ततः कुमारः खलु गच्छतीति
सौधेषु चामीकरजालवत्सु।	श्रुत्वा स्त्रियः प्रेष्यजनात्प्रवृत्तिम् ॥
बभूवुरित्थं पुर सुन्दरीणां	दिदृक्षया हर्म्यतलानि जग्मुः
त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥७-५॥	जनेन मान्येन कृताभ्यनुज्ञाः ॥३-१३॥

यह तो प्रायः सभी विद्वान् मानते हैं कि कालिदास की रचना दोनों में से

श्रेष्ठ है, किन्तु उनमे से कतिपय यह भी मान लेते है कि संस्कृत काव्य के विकास मे अश्वघोष पहले हुए। कालिदास ने उनका अनुकरण कर अपनी शैली का विकास और परिमर्जन किया। अश्वघोष कुषाण सम्राट् कनिष्क के समकालीन थे, जिनका समय प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी ई० पू० है। इसलिए कालिदास का काल तीसरी शताब्दी के पश्चात् सभवत गुप्तकाल मे होना चाहिए (ई० बी० कावेल अश्वघोष का बुद्धिचरित, भूमिका)। विचार करने पर यह युक्ति-परम्परा बिलकुल असगत मालूम पडती है। यह बात विदित है कि प्रारम्भिक बौद्ध-साहित्य पालि प्राकृत मे लिखा गया था। पीछे संस्कृत-साहित्य के प्रभाव और उपयोगिता को स्वीकार कर बौद्ध लेखको ने संस्कृत को अपने साहित्य और दर्शन का माध्यम बनाया। इसलिए संस्कृत की काव्यशैली के प्रचलित और परिष्कृत हो जाने पर उन्होने उसका अनुकरण किया। अत स्पष्ट है कि अश्वघोष ने कालिदास की शैली का अनुकरण किया। यदि उनकी कला अपेक्षाकृत हीन है तो यह अनुकरण का दोष है। प्राय अनुकरण करने वाले अपने आदर्श की समता नही कर पाते।

(3) कालिदास को पाचवी या छठी शताब्दी ई० पू० म खीच लाने मे एक प्रमाण यह भी दिया जाता है कि उनके ग्रन्थो म यवन, शक, पह्लव, हूणादि जातियो के नाम आते है। हूणो ने 500 ई० प० म भारतवर्ष पर आक्रमण शुरू किए अत इनका उल्लेख करने वाले कालिदास का समय इनके पश्चात् होना चाहिए (लिटरेरी रिमेस ऑफ डॉ० भाउदाजी, पृ० 49), परन्तु ध्यान देने की बात तो यह है कि रघुवश मे हूणो अथवा अन्य जातियो का वर्णन विदेशी विजेता के रूप म नही आता। रघु ने अपने दिग्विजय मे उनको भारत की सीमा के बाहर पराजित किया था। अत कालिदास के समय म हूणो को भारत की पश्चिमोत्तर सीमा के पास कही होना चाहिए। चीन तथा मध्य एशिया के इतिहास से प्रमाणित हो गया है कि ई० पू० पहली या दूसरी शताब्दी म हूण पामीर के पूर्वोत्तर मे आ चुके थे (गुल्ड्ज लॉक चीन का इतिहास, जिल्द 1, पृ० 220)।

(4) ज्योतिष के बहुत से सकेत कालिदास के ग्रन्थो म आये हैं। कई एक विद्वानो का यह मत है कि कुषाण काल के बाद भारतीयो ने ज्योतिष के बहुत से सिद्धान्त यूनान और रोम से सीखे थे। इसलिए कालिदास का समय इनके काफी पीछे होना चाहिए। किन्तु इस बात के मानने वाले इस सत्य को भूल जाते हैं कि स्वय यूनानियो ने कई शताब्दी ई० पू० मे बैबिलोनिया के लोगो से ज्योतिष-शास्त्र सीखा था। (मैक्समूलर इण्डिया, व्हाट कैन इट टीच अस ? पृ० 361)। भारतवर्ष चौथी पाचवी शताब्दी ई० पू० मे पारसीक सम्पर्क मे अच्छी तरह आ गया था। अत वह बैबिलोनिया और चाल्डिया का ज्योतिष सीधे आसानी से

सीख सकता था (प्रो० एस० बी० दीक्षित भारतीय ज्योतिष का प्राचीन इतिहास, पृ० 157)। ई० पू० रचित रामायण मे ज्योतिष के सिद्धान्तो का काफी प्रयोग किया गया है (1-18-9-15,-2-15-3 आदि)।

(5) वराहमिहिर की तथाकथित समकालीनता से भी कालिदास का समय पाचवी शताब्दी ई० पू० मे निश्चित किया जाता है। ज्योतिर्विदाभरण मे निम्नलिखित उल्लेख है—

धन्वतरि क्षपणकोमरसिहशकुवेतालभट्टघटखर्पर कालिदासा·।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपते· सभाया रत्नानिवै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

इस अवतरण के सम्बन्ध मे प्रथमत यह कहना है कि इस अनुश्रुति का जिस ग्रन्थ मे उल्लेख है वह कालिदास की रचना नही है। दूसरे, एक-दो को छोडकर यहा जितने रत्न एकत्रित किए गये हैं, वे समकालीन नही। तीसरे, यह अनुश्रुति पीछे की ओर बिलकुल अकेली है, अन्यत्र कही भी इसकी चर्चा नही। अत वराहमिहिर की कालिदास से समकालीनता कल्पनाजन्य मालूम होती है, जिस प्रकार से कि कालिदास और भवभूति के एक सभा मे एकत्र होने की किंवदन्ती।

इस प्रकार कालिदास को गुप्तकालीन और इस कारण से विक्रमादित्य को गुप्त-सम्राट् सिद्ध करने की उक्तिया तर्कसिद्ध नही मालूम पडती हैं। विक्रमादित्य के गुप्त-सम्राट् होने के विरुद्ध निम्नलिखित कठोर आपत्तिया हैं—

(1) गुप्त सम्राटो का अपना वशगत सवत है। उनके किसी भी उत्कीर्ण लेख मे मालव अथवा विक्रम-सवत् का उल्लेख नही है। जब उन्होने ही विक्रम-सवत् का प्रयोग नही किया तो पीछे से उनके गौरवास्त के बाद, जनता ने उनका सम्बन्ध विक्रम-सवत् से जोड दिया, यह बात समझ मे नही आती।

(2) गुप्त-सम्राट् पाटलिपुत्रनाथ थे, किन्तु अनुश्रुतियो के विक्रमादित्य उज्जयिनीनाथ थे। यद्यपि उज्जयिनी गुप्तो की प्रान्तीय राजधानी थी, किन्तु वे प्रधानत पाटलिपुत्राधीश्वर और मगधाधिप थे। मुगल-सम्राट् दिल्ली के अतिरिक्त आगरा, लाहौर और श्रीनगर मे भी रहा करते थे। फिर भी वे दिल्लीश्वर ही कहलाते थे। इसके अतिरिक्त सोमदेवभट्ट ने अपने कथासरित्सागर मे स्पष्टत दो विक्रमादित्या का उल्लेख किया है—एक उज्जयिनी के विक्रम तथा दूसरे पाटलिपुत्र के। उनके मन म इस सम्बन्ध मे कोई भी भ्रम नही था।

(3) उज्जयिनी के विक्रम का नाम विक्रमादित्य था, उपनाम नही। कथासरित्सागर मे लिखा है कि उसके पिता ने जन्मदिन को ही उनका नाम शिवजी के आदेशानुसार विक्रमादित्य रखा, अभिषेक के समय यह नाम अथवा विरुद के रूप मे पीछे नही रखा गया। इसके विरुद्ध किसी गुप्त-सम्राट् का नाम विक्रमादित्य नही था। द्वितीय चन्द्रगुप्त तथा स्कन्दगुप्त के विरुद क्रमश विक्रमादित्य और क्रमादित्य (कही-कही विक्रमादित्य) थे। समुद्रगुप्त ने तो कभी

यह उपाधि धारण नही की[1]। कुमारगुप्त की उपाधि महेन्द्रादित्य थी, नाम नही। उपाधि प्रचलित होने के लिए यह आवश्यक है कि उस नाम का कोई लोकप्रिय तथा लोकप्रसिद्ध व्यक्ति हुआ हो, जिसके अनुकरण पर पीछे के महत्त्वाकांक्षी लोग उस नाम की उपाधि धारण करें। रोम मे 'सीजर' उपाधिधारी राजाओ के पहले सीजर नामक सम्राट् हुआ था। इसी प्रकार विक्रम उपाधिधारी गुप्त नरेशो से पूर्व विक्रमादित्य नामधारी शासक अवश्य ही हुआ होगा, और यह महापराक्रमी मालवगण मुख्य विक्रमादित्य साहसाक ही था।

---

1 इन्दौर राज्यान्तर्गत बमनाला ग्राम मे प्राप्त 'पराक्रम' एव 'श्री विक्रम' उपाधि अकित समुद्रगुप्त की मुद्राओं का अभी समुचित प्रचार न होने के कारण विद्वान् लेखक ने यह मत प्रकट किया है।

—सं०

विक्रम-संवत्

☐ डॉ० विश्वेश्वरनाथ रेउ

भारतवर्ष मे विक्रमादित्य एक बडा प्रतापी राजा माना जाता है। इसके विषय मे कहा जाता है कि यह मालवा का प्रतापी राजा था और शक (सीदियन) लोगो को हराने के कारण 'शकारि' के नाम से प्रसिद्ध हो गया था।

अपनी इस विजय की यादगार मे इसने 'विक्रम-सवत्' के नाम से अपना सवत् प्रचलित किया था, जो आज तक बराबर चला आता है। यह राजा स्वय विद्वान् और कवि था तथा इसकी सभा मे अनेक प्रसिद्ध विद्वान् और कवि रहा करते थे। इसकी राजधानी उज्जैन नगरी थी। परन्तु डॉक्टर कीलहार्न की कल्पना के अनुयायी पाश्चात्य विद्वान् इस बात को स्वीकार करने मे सकोच करते हैं। उनका कहना है कि विक्रमादित्य नाम का कोई राजा नही हुआ है और न उसका चलाया कोई सवत् ही है। आजकल जो सवत् विक्रम के नाम से प्रसिद्ध है, वह पहले 'मालव-सवत्' के नाम से प्रचलित था। और पहले-पहल विक्रम का नाम इस सवत् के साथ धौलपुर से मिले चौहान चण्डमहासेन के वि० स० 898 (ई० सन् 841) के लेख मे जुड़ा मिला है।[1] उसमे लिखा है—

'वसु नवअष्टौ वर्षागतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य'।

इससे पूर्व के शिलालेख और ताम्रपत्र इस सवत् के मिले हैं। उनमे इसका नाम 'विक्रम-सवत्' के बजाय 'मालव-सवत्' लिखा मिलता है। जैसे—

'श्रीर्मालवगणाम्नाते प्रशस्तेकृतसंज्ञिते
एकषष्ट्यधिके प्राप्ते समाशतचतुष्टये[2]।'

अर्थात्—मालव-सवत 461 मे।

'कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वेकाशीत्युत्तरेष्वस्यां मालव पूर्वायां'[3]

---

1 इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, भाग 19, पृ० 35।

2. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 12, पृ० 320।

3 यह लेख अजमेर के अजायबघर मे रखा है।

अर्थात्—मालव सवत् 481 मे।

मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये त्रिनवत्यधिकेऽब्दानां[1]

अर्थात्—मालव-सवत् 493 में।

'पञ्चसु शतेषु शरदां यातेष्वेकान्नवतिसहितेषु
मालवगणस्थितिवशात्कालज्ञानाय लिखितेषु।'[2]

अर्थात्—मालव-सवत् 589 में।

'सवत्सरशतैर्यातैः सपञ्चनवत्यर्गलै सप्तभिर्म्मालवेशानां'[3]

अर्थात्—मालव-सवत् 795 बीतने पर।

इस प्रकार भिन्न भिन्न स्थानो से मिले उपर्युक्त लखो के अवतरणो से पाठकों को विदित हो जायगा कि उस समय तक यह सवत् विक्रम-सवत् के बजाय मालव-सवत् कहलाता था।

यद्यपि धिनिकी (काठियावाड) से मिले 794 के दानपत्र मे सवत् के साथ विक्रम का नाम जुडा मिला है, तथापि उसमे लिखा रविवार और सूर्यग्रहण एक ही दिन न मिलने से डॉक्टर फ्लीट और कीलहार्न उसे जाली बतलाते हैं।

कर्कोटक (जयपुर) से कुछ सिक्के मिले हैं। उन पर 'मालवाना जय' पढा गया है। विद्वान् लोग उन सिक्को को ई० सन् पूर्व 250 से ई० सन् 250 के बीच का अनुमान करते हैं। इससे प्रकट होता है कि शायद मालव जातिवालो ने अपनी अवन्ति देश की विजय की यादगार मे ये सिक्के चलाये हो और उसी समय उक्त सवत् भी प्रचलित किया हो, तथा इन्ही लोगो के अधिकार मे आने से उक्त प्रदेश भी मालव देश कहलाया हो। इसी से समुद्रगुप्त के इलाहाबाद वाले लेख मे अन्य जातियो के साथ साथ मालव जाति के जीतने का भी उल्लेख मिलता है।

इन्ही सब बातो के आधार पर डॉक्टर कीलहार्न ने कल्पना की है कि ईसवी सन् 544 मे मालवे के प्रतापी राजा यशोधर्मन् (विष्णुवर्धन) ने करूर (मुलतान के पास) मे हूण राजा मिहिरकुल को हराकर विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी और उसी समय प्रचलित मालव सवत् का नाम बदलकर 'विक्रम-सवत्' कर दिया था तथा साथ ही इसमे 56 वर्ष जोडकर इस 600 वर्ष पुराना भी घोषित कर दिया था। परन्तु इस कल्पना का कोई आधार नही दिखाई देता, क्योंकि एक तो यशोधर्मन् के 'विक्रमादित्य' उपाधि ग्रहण करने का

1 कॉर्पस इन्स्क्रिपशन इण्डिकेर, भाग 3, पृ० 83 और 154।
2 इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, भाग 19, पृ० 59।
3 इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, भाग 12, पृ० 155

कही भी उल्लेख नही मिलता है, दूसरे, एक प्रतापी राजा का अपना निज का सवत् न चलाकर दूसरे के चलाये सवत् का नाम बदलना और साथ ही उसे 600 वर्ष पुराना सिद्ध करने की चेष्टा करना भी सम्भव प्रतीत नही होता। तीसरे, श्रीयुत सी० वी० वैद्य का कहना है कि डॉक्टर हार्नले और कीलहार्न का यह लिखना कि ई० सन् 544 मे करूर मे यशोधर्मन् ने मिहिरकुल को हराया था, ठीक नही है। उन्होने इस विषय मे अलबेरूनी के लेख से जो प्रमाण दिया है, उससे अनुमान होता है कि उक्त करूर का युद्ध 544 ईसवी के बहुत पहले ही हुआ था।

डॉक्टर फ्लीट राजा कनिष्क को विक्रम-सवत् का चलाने वाला मानते हैं, परन्तु यह भी उनका अनुमान ही है।

मि० स्मिथ और सर भाण्डारकर का अनुमान है कि उक्त मालव-सवत् का नाम बदलने वाला गुप्तवशी राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय था, जिसकी उपाधि 'विक्रमादित्य' थी। परन्तु यह अनुमान भी ठीक नही जचता, क्योकि एक तो जब उस समय गुप्तो का निज का चलाया सवत् विद्यमान था, तब उसे अपने पूर्वजो के सवत् को छोडकर दूसरो के चलाये सवत् को अपनाने की क्या आवश्यकता थी। दूसरे, चन्द्रगुप्त द्वितीय के सौ वर्ष से भी अधिक बाद के ताम्रपत्रो मे मालव-सवत् का उल्लेख मिलता है।

पुराणो मे आन्ध्रवशी नरेश हाल का नाम मिलता है। इसी हाल (सातवाहन) के समय *'गाथासप्तशती' नाम की पुस्तक बनी थी।* इसकी भाषा प्राचीन मराठी है। इसके 65वें श्लोक मे विक्रमादित्य की दानशीलता का उल्लेख इस प्रकार है—

संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्।
चलणेण विक्कमाइच्चचरिअमणुसिक्खिअ तिस्सा॥
(उक्त गाथा का सस्कृतानुवाद।)
संवाहन-सुखरसतोषितेन, ददता तव करे लक्षम्।
चरणेन विक्रमादित्यचरितमनुशिक्षितं तस्याः॥

मि० विंसैण्ट स्मिथ हाल का समय ईसवी सन् 68 (वि० स० 125) अनुमान करते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उक्त समय के पहले ही विक्रमादित्य हो चुका था और उस समय भी कवियो मे वह अपने दान के लिए प्रसिद्ध था।

यद्यपि कल्हण की 'राजतरगिणी' में विक्रमादित्य उपाधि वाले दो राजाओ को आपस मे मिला दिया है, तथापि उसमे के शकारि विक्रमादित्य से इसी विक्रमादित्य का तात्पर्य है। इसको प्रतापादित्य का सम्बन्धी लिखा है।

इसी प्रकार सातवाहन (हाल) के समय के महाकवि गुणाढ्य रचित पैशाची (काश्मीर की ओर की प्राकृत) भाषा के 'बृहत्कथा' नामक ग्रन्थ से भी उक्त समय

से पूर्व ही विक्रमादित्य का होना पाया जाता है। यद्यपि यह ग्रन्थ अब तक नही मिला है, तथापि सोमदेवभट्ट रचित इसके सस्कृतानुवादरूप 'कथासरित्सागर' (लबक 6, तरग 1) मे उज्जैन के राजा विक्रमादित्य की कथा मिलती है।

ईसवी सन् से 150 वर्ष पूर्व उत्तर-पश्चिम से शक लोग भारत मे आये थे। यहा पर उनकी दो शाखाओ का पता चलता है। एक शाखा के लोगो ने मथुरा मे अपना अधिकार स्थापित किया और वहा पर वे 'सत्रप' नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके सिक्को से उनका ईसवी सन् से 100 वर्ष पूर्व तक पता चलता है। दूसरी शाखा के लोग काठियावाड की तरफ गये और वे पश्चिमी 'क्षत्रप' कहलाये। इन्हे चन्द्रगुप्त द्वितीय ने परास्त किया था। परन्तु इन शको की पहली शाखा का, जो कि मथुरा की तरफ गई थी, ईसा के पूर्व की पहली शताब्दी के प्रारम्भ के बाद क्या हुआ, इसका कुछ भी पता नही चलता। सम्भवत इन्हे ईसवी सन् से 58 वर्ष पूर्व के निकट इसी शकारि विक्रमादित्य ने हराया होगा और इसी घटना की यादगार मे उसने अपना सवत् भी प्रचलित किया होगा।

पेशावर के पास तख्तेवाही नामक स्थान से पार्थियन राजा गुडूफर्स (गोण्डोफरस) के समय का एक लेख मिला है। यह राजा भारत के उत्तर-पश्चिमाचल का स्वामी था। इस लेख मे 103 का अक है, पर सवत् का नाम नही है। डॉ० फ्लीट और मि० विन्सेण्ट स्मिथ ने इस 103 को विक्रम-सवत् सिद्ध किया है। ईसा की तीसरी शताब्दी मे लिखी हुई यहूदियो की एक पुस्तक मे राजा गुडूफर्स का नाम आया है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय भी यह सवत् बहुत प्रसिद्ध हो चुका था और इसका प्रचार मालवा से पेशावर तक हो गया था। अत विक्रमादित्य का इस समय से बहुत पहले होना स्वत सिद्ध हो जाता है, परन्तु अभी तक यह विषय विवादास्पद ही है।

विक्रम-सवत् का प्रारम्भ कलियुग सवत् के 3044 वर्ष बाद हुआ था। इसमे से (56 या) 57 घटाने से इसवी सन् और 135 घटाने से शक-सवत् आ जाता है। उत्तरी हिन्दुस्तान वाले इसका प्रारम्भ चैत्र शुक्ला 1 से और दक्षिणी हिन्दुस्तान वाले कार्तिक शुक्ला 1 मे मानते हैं। अत उत्तर मे इस सवत् का प्रारम्भ दक्षिण से सात महीने पहले ही हो जाता है।

इसके महीनो मे भी विभिन्नता है। उत्तरी भारत मे महीनो का प्रारम्भ कृष्णपक्ष की 1 से और अन्त शुक्लपक्ष की 15 को होता है। परन्तु दक्षिण भारत मे महीनो का प्रारम्भ शुक्लपक्ष की 1 से और अन्त कृष्णपक्ष की 30 को होता है। इसीलिए उत्तर मे विक्रम-सवत् के महीने पूर्णिमान्त और दक्षिण मे अमान्त कहलाते हैं। इससे यद्यपि उत्तर और दक्षिण मे प्रत्येक मास का शुक्लपक्ष तो एक ही रहता है, तथापि उत्तरी भारत का कृष्णपक्ष दक्षिणी भारत के कृष्ण पक्ष से एक मास पूर्व होता है। अर्थात् जब उत्तरी भारत वालो का चैत्रकृष्ण

होता है तो दक्षिणी भारत वालो का फाल्गुनकृष्ण रहता है। परन्तु दक्षिणवालो का महीना शुक्लपक्ष की 1 से प्रारम्भ होने के कारण शुक्लपक्ष मे दोनो का चैत्र शुक्ल हो जाता है।

पहले काठियावाड, गुजरात और राजपूताने के कुछ भागो मे इस सवत् का प्रारम्भ आषाढ शुक्ला 1 से भी माना जाता था, जैसाकि निम्नलिखित प्रमाणो से सिद्ध होता है—

अडालित (अहमदाबाद) से मिले लेख मे लिखा है—

'श्रीमन्नृपविक्रमसमयातीत आषाढादि सवत् 1555 वर्षे शाके 1420 माघमासे पचम्या।'

इसी प्रकार—डूगरपुर के पास से मिले लेख मे लिखा है—

'श्रीमन्नृपविक्रमार्कराज्यसमयातीत सवत् 16 आषाढ़ादि 23 वर्षे (1623) शाके 1488।'

इसके अतिरिक्त जोधपुर आदि म सेठ लोग इस सवत् का प्रारम्भ श्रावण कृष्णा 1 से मानते हैं।

सवत्-प्रादुर्भाव

□ आ० ने० उपाध्ये

अन्य साधनो की अपेक्षा, विक्रम-सवत् ने ही विक्रमादित्य का नाम आज तक जीवित रखा है। यह सवत् आजकल भारतवर्ष के अनेक भागो मे प्रचलित है। जहा तक गुजरात और मध्य देश के जैन लेखको का सम्बन्ध है, उन सबने अपनी प्रशस्तियो मे किसी ग्रन्थ विशेष के निर्माण अथवा प्रतिलिपि की तिथि का उल्लेख करते हुए मुख्यत इसी सवत् का उपयोग किया है। कभी-कभी वीरनिर्वाण-सवत् के निर्णय करने के सम्बन्ध म भी इसका उपयोग किया है, कुछ ग्रन्थकारो ने तो शक-काल और विक्रम-काल दोनो का ही उल्लेख किया है, और कुछ स्थानो पर तो 'विक्रम-शक' जैसे वाक्याश का प्रयोग मिलता है। उक्त विस्तृत विवेचन मे न पडकर यहा कुछ सम्बन्धित एव स्पष्ट उद्धरण दिये जाते हैं, जिनमे विक्रम-सवत् विक्रमादित्य की मृत्यु से प्रचलित हुआ, ऐसा कहा गया है।

(1) देवसेन जिसने अपना दर्शनसार धारा मे सवत् 990 मे समाप्त किया था (देखिये जैन हितैषी, भाग 13, भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीच्यूट विवरण का भाग 15, खण्ड 3-4) कुछ जैन सघो के उत्पत्ति की तिथि निम्न प्रकार से देता है—

(1) एक्क-सए छत्तीसे विक्कम-रायस्स मरण-पत्तस्स।
सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो सघो ॥ 11 ॥

(2) पच-सए छत्तीसे विक्कम-रायस्स मरण-पत्तस्स।
दक्खिण-महुरा जादो दाविड-सघो महा-मोहो ॥ 28 ॥

(3) सत्त-सए तेवण्णे विक्कम-रायस्स मरण-पत्तस्स।
णदियडे वरगामे कट्ठो सघो मुणेयव्वो ॥ 38 ॥

(2) वही लेखक अपने भावसग्रह (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, न० 20 बम्बई सवत् 1978) मे श्वेतपट सघ के जन्म का उल्लेख इस प्रकार करता है—

(1) छत्तीसे वरिस-सए विक्कम रायस्स मरण-पत्तस्स।
सोरट्ठे उप्पण्णो सेवड़-सघो हुवलहीए ॥ 137 ॥

इसी छन्द का वामदेव (जो विक्रम-सवत् की 15वी अथवा 16वी शताब्दी के लगभग थे) ने अपने सस्कृत भावसग्रह मे आधार लेकर निम्नलिखित श्लोक लिखा है—

सषट्त्रिंशे शतेऽब्दानां मृते विक्रमराजनि ।
सौराष्ट्रे वलभीपुर्यामभूत्तत्कथ्यते मया ॥ 188 ॥

(3) अमितगति अपने सुभाषितरत्न सन्दोह (निर्णय-सागर-सस्करण) की निर्माण-तिथि इस प्रकार देता है—

समारूढे पूतत्रिदिशवसतिं ('वसतिविक्रम') विक्रम नृपे ।
सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पञ्चाशदधिके ।
समाप्त (समाप्ते) पञ्चम्यामवति धरणीं मुञ्जनृपतौ ।
सिते पक्षे पौषे बुधहितमिद शास्त्रमनघम् ॥ 922 ॥

अपनी धर्मपरीक्षा मे वह केवल इस प्रकार उल्लेख करता है—

सवत्सराणां विगते सहस्रे ससप्ततौ विक्रमपार्थिवस्य ।

(4) रत्ननन्दी अपने भद्रबाहु-चरित्र मे इस प्रकार लिखता है—

मृते विक्रमभूपाले सप्तविंशतिसंयुते ।
दशपञ्चशतेऽब्दानामतीते शृणुतापरम् ॥ 157 ॥

देवसेन धारा मे रहता था और अमितगति मुज का समकालीन था । उपर्युक्त कथनों से सन्देहातीत रूप से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये ग्रन्थकार किसी गणना-विशेष का सहारा नही ले रहे थे, वरन् वास्तविक रूप से उनका विश्वास था कि विक्रम-सवत् उसी तिथि से प्रारम्भ हुआ जिस दिन अमितगति के शब्दो मे विक्रम 'देवों के पूत निवास' को प्रस्थान कर गये ।

संवत् और संस्थापक

□ जगनलाल गुप्त

आज ससार का पचमाश विक्रम-सवत् के प्रवर्त्तक जिस महापुरुष की द्विसहस्राब्दी का उत्सव मना रहा है, उसी के अस्तित्व को योरप के विद्वानो ने (और स्कूल-कॉलेजो मे पठन-पाठन के लिए इतिहास-पुस्तक लिखने वाले भारतीयो ने भी) शकास्पद बना दिया है, यह केवल काल की विडम्बना है। विक्रम-सवत् का प्रचार भारतवर्ष के वणिक् समाज के द्वारा ससार के कोने-कोने मे पाया जाता है, इसके लिए भारत का राष्ट्र सदैव उसका ऋणी रहेगा, क्योकि विक्रम-सवत् की रक्षा करके उस अग्रेजी से अनभिज्ञ, अर्द्ध-शिक्षित और गवार समझे जाने वाले इस भारतीय वणिक् ने उन ग्रेज्युएटो से बढकर देश और राष्ट्र की सेवा की है जो सम्राट् विक्रमादित्य के अस्तित्व को शकास्पद ही नही बना रहे, प्रत्युत उनके अस्तित्व को मिटा रहे हैं। चीन, अरब, अफ्रीका, योरप, जापान या अमेरिका, सब जगह भारतवर्ष के व्यापारी और ज्योतिषी सदैव विक्रम-सवत् का उपयोग करके अपना काम चलाते हैं, और भारतवर्ष भर मे तो प्रत्येक हिन्दू ही इसका उपयोग करता है। अत हमे कहना पडता है कि यदि इस सवत् का इतना अधिक प्रचार न होता तो कदाचित् इस सवत् के अस्तित्व को भी विवाद का विषय इन महानुभावो की कृपा से बनना पडता। तो भी यह प्रश्न तो उठाया ही जा रहा है कि इस सवत् का प्रचार अधिक पुराने समय से नही रहा है, एव इसका सम्बन्ध विक्रमादित्य से नही है क्योकि प्राचीन उल्लेखो मे इसके साथ विक्रम का नाम उल्लिखित नही पाया जाता। दूसरी शका यह है कि विक्रमादित्य नामक कोई सम्राट् उज्जयिनी मे आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व ऐसा नही हुआ जिसके द्वारा इस प्रचलित विक्रम-सवत् की स्थापना की गई हो।

प्रथम, हम विक्रम-सवत् के प्राचीनत्व पर विचार करेंगे। आईने-अकबरी के लेखक ने तो इस सवत् का उल्लेख किया ही है, किन्तु उससे भी पहले अबूरेहा ने इसका उल्लेख अपने यात्रा-विवरण मे स्पष्ट रूप से किया है और इन दोनो विद्वानो ने विक्रमादित्य तथा उसकी विजय के साथ इसका सम्बन्ध बताया

है। किन्तु इससे भी पूर्व अनेक शिलालेखो मे इस सवत् का प्रयोग किया गया है। विक्रमादित्य के नाम से इस सवत् का पुराना उल्लेख श्रीएकलिंगजी के शिलालेख मे सवत् 1028 (सन् ईसवी 971) का प्राप्त होता है (जर्नल ऑफ बॉम्बे रॉयल एशियाटिक सोसायटी ब्राच, भाग 22, पृ० 166), किन्तु इसस भी पूर्व धौलपुर के शिलालेख मे विक्रम-काल के नाम से सवत् 898 (सन् 841) मे इसका उल्लेख किया गया है—

वसुनवाष्टौ वर्षा गतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य ।
वैशाखस्य सितायां रविवारयुतद्वितीयायां ।।
(Indian Antiquary, Vol 20, p 406)

इससे पहले इस सवत् को 'मालवकाल' ग्यारसपुर के एक शिलालेख मे कहा गया है—

मालवकालाच्छरदां षट्त्रिंशतसयुतेष्वतीतेषु नवसु शतेषु ।

यह संवत् 936 (सन् 879 ई०) का उल्लेख है। 'मालवेश' के नाम से भी कहीं-कहीं इसे लिखा गया है, और इस मालवेश पद का अर्थ केवल विक्रमादित्य ही हो सकता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। यह उल्लेख मैनालगढ के शिलालख मे सवत् 1226 (सन् 1170 ई०) का है—

मालवेश गतवत्सरैः शतै द्वादशैश्च षड्विंशपूर्वकैः ।।

किन्तु इसमे भी पूर्व इस सवत् का व्यवहार शिलालेखो मे किया गया है और वहा इसका नाम 'मालवगण-सवत्' है। इस प्रकार के एक उल्लेख मे मालवगणो को मालवेश भी (बहुवचन) कहा है—

पञ्चसु शतेषु शरदां यातेष्वेकानवतिसहितेषु
मालवगणस्थितिवशात् कालज्ञानाय लिखितेषु ।
सवत्सरशतैर्यातैः सपञ्चनवत्यर्गलैर्सप्तभिर्मालवानाम् ।।

यह सवत् 795 (सन् 729 ई०) का उल्लेख है। इसमे भी पहले के उल्लेख ये हैं—

मालवानागणस्थित्या यातेशतचतुष्टये
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानमृतौ सेव्यघनस्तने ।।

सवत् 493 (सन् 436 ई०)।

श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसज्ञिते ।
एकषष्ट्यधिके प्राप्ते समाशतचतुष्टये ।।

यह सवत् 461=सन् 404 ई० का उल्लेख है। इसमे मालवगणो के साथ इसे कृत-सवत् भी कहा है। इससे अपेक्षाकृत पुराने लेखो मे इसका नाम केवल 'कृत' ही मिलता है—

कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेऽष्टाविंशेषु फाल्गुणबहुलस्य पंचदश्यामेतस्यां पूर्वायां ।

यह सवत् 428 = 372 ईसवी का उल्लेख है,

यातेषु चतुर्षु कृतेषु सौम्येष्वसित सोत्तरपदेषु 33 वत्सरेषु ।
शुक्ले त्रयोदश दिने भुवि कार्तिकस्य मासस्य सर्वजनचित्तसुखावहस्य ॥

इसमे सवत् 400 = सन् ई० 343 का उल्लेख भी 'कृत' नाम से ही किया गया है । इससे भी पूर्व—

कृतयोर्द्वयोर्वर्षशतयोर्द्व यशीतयोः ।

सवत् 282 = सन् 225 के नान्दसा-स्तभ-लेख मे शक्तिगुणगुरु के पष्ठिरात्रि यज्ञ का उल्लेख प्राप्त होता है और यहा भी इस सवत् का नाम 'कृत' ही दिया है ।

ये सभी उद्धरण फ्लीट के 'गुप्त-इन्सक्रिप्शन्स' नाम ग्रन्थ से भिन्न-भिन्न विद्वान् लेखको ने उद्धृत किये हैं । इस विवरण से यह स्पष्ट है कि विक्रमादित्य का नाम इस सवत् के साथ नवी शती मे लग चुका था, इससे पूर्व मालवेश कहे जाने वाले मालवगण इस सवत् के प्रवर्तक माने जाते थे । कालान्तर मे गण-राज्य पद्धति सम्बन्धी बातें सर्व-साधारण की दृष्टि से लोप हो जाने पर 'माल-वेशाना गणाना' के स्थान मे केवल मालवेश या विक्रम ही लिखा जाने लगा । किन्तु 'मालवगण' का जब उल्लेख किया जाता था तो साथ ही यह भी कहा जाता था कि मालव-गणो की स्थिति (कायमी, Establishment of the Malava-gans) से प्रारम्भ होने वाला सवत् । इसी ऐतिहासिक घटना के आधार पर इसे मालव-काल (मालव-युग, Malava Period) भी कहा गया था । किन्तु इन नामो से भी पुराना नाम कृत-सवत् है । हमारा विचार है कि इसे कृत न पढकर 'कृत्त' या 'कृत्य' पढना अधिक उचित है । इस पर आगे लिखा जायगा ।

यहा यह महत्त्वपूर्ण घटना भी स्मरण रखने योग्य है कि सवत् 386 और उसके पश्चात् इस सवत् का व्यवहार नेपाल जैसे एकान्त प्रान्त मे भी यथेष्ट होने लगा था जैसा कि डॉ० भगवानलालजी इन्द्र ने नेपाल के शिलालेखो के सम्बन्ध मे लिखते समय सिद्ध किया है । (Indian Antiquary, Vol XIII, pp 424-26)

तो भी पाठको को आश्चर्य होना सभव है कि इन प्राचीन उद्धरणो मे जहा विक्रम के नाम का उल्लेख नही पाया जाता वहा विक्रम के शकारि होने एव शको की पराजय के सम्बन्ध मे इस सवत् के प्रारम्भ होने का सकेत भी कही नही है । किन्तु चाहे यहा शको का स्पष्ट उल्लेख न भी किया गया हो तो भी मालव-गण स्थिति शब्दो का ठीक अर्थ यही है कि मालवगणो की सत्ता आरम्भ होने का सवत् । मालवो ने अपनी सत्ता किस प्रकार स्थापित की, यह

इतिहास से स्पष्ट होने की बात है। इस नाम से पुराना नाम 'कृत' है जिसे हम 'कृत्त' या 'कृत्य' पढना उचित समझते हैं। 'कृत्त शब्द का अर्थ 'कत्ल', 'वध' या 'शत्रु का नाश' है। राजनीति में शत्रु-वध के लिए कृत्या (स्त्रीलिंग) शब्द प्राचीन ग्रन्थो मे सर्वत्र व्यवहृत किया गया है, उसी का रूप 'कृत्य' और 'कृत्त' हो सकता है। जो विद्वान् इस पद को कृत्ययुग या सत्ययुग के अर्थ मे पढते हैं, वे कदाचित् यह भूल जाते हैं कि युगवाचक शब्द 'कृत्' है 'कृत' नही, फिर इस भ्रम का एक परिणाम या कुपरिणाम यह होता है कि इस शब्द के आधार पर इसके सस्थापक को अश्वमेध आदि वैदिक क्रियो का प्रवर्तक मानकर जैनो और बौद्धो का द्रोही सिद्ध करने के लिए पुष्यमित्र को विक्रमादित्य सिद्ध करना पडता है। सत्य बात तो यह है कि भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास म साम्प्रदायिक उत्पीडन अथवा धार्मिक मतभेद या दार्शनिक सिद्धान्तो की विभिन्नता के आधार पर रक्तपात की बात नितान्त अश्रुत थी। भारतवर्ष की सस्कृति इस सम्बन्ध मे अत्यन्त उच्च एव सहिष्णु रही है। यदि यहा विचारो की स्वतत्रता की रक्षा विद्वानो ने न की होती, जो एक प्रकार से उनके लिए वैयक्तिक प्रश्न भी था, तो यहा अनेक प्रकार के दर्शनो का प्रादुर्भाव कैसे सम्भव होता? ज्योतिषशास्त्र सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त ग्रन्थ कैसे निर्माण हो सकते थे? तत्ववाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, कर्मवाद, ज्ञानवाद, निराकार वाद, साकारवाद आदि अगणित वादो की सृष्टि कैसे होती? सक्षेप मे भारतवर्ष के विषय म 'नैको मुनिर्यस्य मतिर्न भिन्न' जैसी लोकोक्ति का जन्म कदापि नही हो सकता था। साम्प्रदायिक उत्पीडन की उपस्थिति मे बौद्ध और जैन धर्म के आचार्यों और सस्थापको को पुराणो मे अवतार और महापुरुष के रूप मे उल्लिखित क्या किया जाता? महात्मा बुद्ध को पुराणो म विष्णु का अवतार कहा है और भागवत मे ऋषभदेव का सविस्तार इतिहास लिखा गया है। फलत विक्रम-सवत् की स्थापना भी धर्म के नाम पर किये गये रक्तपात पर करने का विचार नितान्त अभारतीय, भारतीय सभ्यता और सस्कृति के विरुद्ध है। पुष्यमित्र की ही बात लीजिए। कुछ बौद्ध लेखो के आधार पर, जो विदेशी बौद्धो ने राजनीतिक हेतुओ से उसी प्रकार प्रेरित होकर लिखे है, जैसे आजकल के विदेशी विद्वान् लिखते रहते हैं, पुष्यमित्र के विषय मे कहा जाता है कि इसने जैन और बौद्धो का दमन बडी निर्दयता से किया था एव इनके मठो को सम्पूर्ण भारतवर्ष म जलाकर नष्ट कर डाला था। इसने वैदिक धर्म की पुन स्थापना करके फिर से वैदिक युग ला दिया था, इसीलिए इस कृतयुग या कृत-सवत् की सृष्टि की गई थी। किन्तु तनिक विचारने से ही यह स्पष्ट हो सकेगा कि पुष्यमित्र के सम्बन्ध म पुराणकारो तथा अन्य भारतीय प्राचीन विद्वानो ने कभी ऐसी धारणा नही बनाई। कम से कम उसे धर्म के रक्षक एव विधर्मियो के नष्ट करने वाले के रूप मे भारत के विद्वत्समाज ने कभी भी

उल्लिखित नही किया। वह उसे ऐसा जानते, मानते और समझते ही नही थे। इसके लिए यहा एक प्रमाण देना ही बस होगा। हर्षचरित के प्रसिद्ध विद्वान् लेखक गद्य के आचार्य बाण से हमारे विज्ञ पाठक परिचित है। जिस कट्टर शैव कुल म इस सारस्वत का जन्म हुआ था, यहा पुत्रो के नाम तक 'अच्युत' 'ईशान' 'हर और 'पाशुपत जैसे सम्प्रदाय-भावपूर्ण रखे जाते थे। 'कृतोपनयनादि-क्रिया-कलाप बाण के पिता चित्रभानु के एक भाई का नाम त्र्यक्ष था। महाराज हर्ष का निमत्रण-पत्र पाकर 'कृतसध्योपासन' बाण ने उस पर विचार किया था और 'भगवान् पुराराति' मे दृढ भक्तिपूर्वक विश्वास करके उसने हर्ष के दरबार मे जाना निश्चय किया था। 'गृहीताक्षमाल' बाण 'देवदेवस्य विरूपाक्षस्य क्षीरस्नपनपुरसरा' पूजा करके राजद्वार पर पहुचा। कहने का अभिप्राय यह है कि बाण साम्प्रदायिक दृष्टि स कट्टर शैव था और उससे यह आशा नही की जा सकती कि वह किसी जैन या बौद्ध धर्म के उन्पीडक वैदिक सम्राट् के लिए कोई निन्दापूर्ण वाक्य लिखेगा। प्रत्युत् उससे तो यही आशा है कि वह पुष्यमित्र जैसे वैदिकयज्ञ यागो के पुन प्रचलित करने वाले सम्राटो का प्रशसापूर्वक अभिनन्दन ही करेगा। वही क्या, जैन और बौद्ध विद्वानो को छोडकर ऐस सम्राटो की प्रशसा तो प्रत्यक विद्वान् के द्वारा साधारणत होनी चाहिए। किन्तु हम देखते हैं कि बाण ने ही पुष्यमित्र का अनार्य तक लिखा है और वह उसी कार्य के लिए जो उसन वैदिक धर्म के उद्धार के लिए किया था—उसने जैन या बौद्ध मौर्य महाराज बृहद्रथ को मारकर मगध का सिहासन स्वय हस्तगत करके ही तो, योरोपियन विद्वानो के कथनानुसार, बौद्ध-धर्म का नाश एव वैदिक धर्म का पुनरुत्थान किया था, इसी पर बाण ने लिखा है—

प्रतिज्ञादुर्बलञ्च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेषसैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यबृहद्रथ पिपेश पुष्यमित्रः स्वामिनम्।

अभिप्राय यह है कि भारतवर्ष के ऐतिहासिक विद्वानो की दृष्टि मे साम्प्रदायिक उत्पीडक नरेशो का न कभी कुछ मान था और न यह कार्य प्रतिष्ठाजनक समझा जाता था। फलत सेनापति पुष्यमित्र (जो अग्निमित्र का पिता एव मौर्यवश का अन्तक था) भी न तो साम्प्रदायिक अत्याचार करने वाला सम्राट् था और न उसको इस कार्य के लिए भारतवर्ष म कोई सार्वजनिक सम्मान प्राप्त हो सकता था, फिर नये सवत् की स्थापना का स्वागत तो इस प्रकार के रक्तपात के उपलक्ष्य मे भारतवासी कब स्वीकार कर सकते थे।

'मालवगणस्थित्यब्द' के साथ आरम्भ से ही मालवेश विक्रमादित्य के नाम का सम्बन्ध न होने का एक कारण कदाचित् यह भी है कि मालवा की राज्य-

शासन प्रणाली गण-शासन पद्धति थी जो एक प्रकार की प्रजातंत्र या प्रतिनिधि-तंत्र की प्रणाली थी। ऐसी सामूहिक राज्य-प्रणाली मे किसी विशेष सार्वजनिक राज-कार्य जैसे जय-पराजय, सधिविग्रह का यश किसी एक व्यक्ति को देने म सघ मे फूट पडने का भय बना रहता है। महाभारत, शान्तिपर्व के 81वें अध्याय मे इस फूट पडने के भय को लेकर, तथा गण-शासन की कठिनताओ पर बहुत स्पष्ट रूप से भगवान् कृष्ण के द्वारा ही कहलाया गया है। उन्ही कठिनताओ को विचार कर मालवगण की विजय के उपलक्ष्य मे स्थापित सवत् के यश को सघ ही मूलत प्राप्त कर सकता था। केवल सघपति, फिर चाहे वह विक्रम हो अथवा कोई और हो, नही अपना सकता था। यह भी हो सकता है कि सघपति ने स्वय फूट पडने की आशका से उस यश को सघ के ही अर्पण कर दिया हो और इस प्रकार सघपति विक्रम की उदारता से वह सवत् मालव-गण-सघ के नाम से ही प्रसिद्ध किया गया हो। किन्तु शको का पराभव एक अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण घटना थी, इस महान् कृत्य या कृत्या के वीर सेनापति का नाम किसी प्रकार भी नही भुलाया जा सकता था, अत इतिहास ने शको के इस कृत्य के करने वाले (जिसे अलकार की भाषा में युद्ध-यज्ञ का होता कहना उचित होगा) सेनापति विक्रम का नाम विशेष रूप म याद रखा, वह श्रुति और उपश्रुति तथा व्याख्यानादि के द्वारा सर्वसाधारण मे क्रमानुगत प्रसिद्ध होता चला गया, और जब गण-शासन सम्बन्धी बातें भूल गई तो सवत् के इतिहास को स्पष्ट रखने के लिए उसके साथ सेनापति या सघपति का नाम मिला दिया गया।

किन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या वस्तुत प्राचीनकाल मे कोई विक्रम नामक व्यक्ति सवत् का सस्थापक हुआ भी था और यदि ऐसा व्यक्ति कोई हुआ था तो कब ? इस पर हमारा नम्र निवेदन है कि यदि कोई व्यक्ति हुआ ही नही था तो फिर यह नाम आ कहा से गया ? विक्रम को स्पष्ट रूप से 'शकारि' कहा जाता है, जिसका अर्थ यही है कि सवत्कार विक्रम ने शको का घोर पराभव किया था। मालवगण ने किस व्यक्ति की अधिनायकता मे शको का यह सर्वनाश किया था, अन्तत कोई व्यक्ति तो उनका मुख्य नायक या सेनापति रहा होगा। बिना सेनापति के युद्ध चल ही किस प्रकार सकता था। बस जो भी व्यक्ति शको के विरुद्ध अभियान करने में मालवगण-राष्ट्र का अधिनायक था, वही विक्रम था।

किन्तु प्राचीन लेखो म भी विक्रम-सवत्कार के नाम का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। बृहत्कथामजरी म इस विक्रम की दिग्विजय का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

> ततो विजित्य समरे कलिंगनृपतिं विभुः।
> राजा श्रीविक्रमादित्यः स्त्रीप्रायः विजयश्रियम्।

अथ श्री विक्रमादित्यो हेलया निर्जिताखिलः ।
म्लेच्छान् काम्बोजयवनान् नीचान् हूणान् सबर्बरान् ।
तुषारान् पारसीकाश्च त्यक्ताचारान् विशृंखलान् ।
हत्वाभ्रूभगमात्रेण भुवो भारमवारयत् ।
त प्राह भगवान् विष्णुस्त्व ममाशो महीपते ।
जातोसि विक्रमादित्य पुरा म्लेच्छशशाकत. ।

यहा विक्रमादित्य को इसकी शूरवीरता के कारण विष्णु का अशावतार तक कहा गया है।

बृहत्कथामजरी का मूल आधार गुणाढ्य का पैशाची भाषा का ग्रन्थ बृहत्कथा रहा था। गुणाढ्य प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन के आश्रित और समकालीन थे—

तत' स मर्त्यवपुषा माल्यवान् विचरन् वने ।
नाम्ना गुणाढ्य् सेवित्वा सातवाहनभूपतिम् ॥ (कथासरित्सागर।)

इसका अर्थ यह है कि गुणाढ्य विक्रम-सवत् के थोडे समय पश्चात् ही हुए थे, इसीलिए कथासरित्सागर के सम्पादक विद्वद्वर श्री दुर्गाप्रसाद शास्त्री ने इस विद्वान् का समय 78 ई० के आसपास स्वीकार किया है। इसी गुणाढ्य के पैशाची भाषा के मूलग्रन्थ बृहत्कथा को लेकर सस्कृत मे दो ग्रन्थ लिखे गये थे—(1)बृहत्कथामजरी, और (2) कथासरित्सागर। कथासरित्सागर से ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य के अनुकरण पर आध्र सम्राट् कुन्तल सातकर्णि ने भी दिग्विजय की एव उसी के अनुकरण पर अपना विरुद विक्रम रखकर शालिवाहन का प्रसिद्ध शक-सवत् चलाया था। अपने नाम की पृथकता प्रकट करने के लिए उसने अपने विरुद के साथ विषमशील (क्रोधी या असहिष्णु) और जोडा था। यह शालिवाहन 16वें आध्र नरेश महेन्द्र-मृगेन्द्र सातकर्णि का पुत्र था जिसे भागवत मे शिवस्वस्ति एव ब्रह्माण्ड पुराण मे मृगन्द्र स्वातिकर्ण लिखा है। पार्जीटर की सूची मे इसे 12वी सख्या पर उल्लिखित किया है और यूनानियो द्वारा इसका नाम माम्बरस सरगनस (Mambaras Saraganas Senior) लिखा गया है। कुन्तल सातकर्णि भागवत का गौतमीपुत्र पार्जीटर की सूची मे 13वा आध्र नरेश है, किन्तु पुराणो की सूची मे इसका क्रम 17वा है और यूनानियो ने इसे युवक सरगनस (Junior Saraganas) लिखा है। शालिवाहन शकाब्द का सस्थापक यही कुन्तल सातकर्णि है, जिसके विषय म कथासरित्सागर मे लिखा है—

नाम्ना त विक्रमादित्य हरोक्तेनाकरोत्पिता ।
तथा विषमशील च महेन्द्रादित्यभूपतिः ॥

इसके पिता ने शिव के कहने से इस पुत्र का नाम विक्रम भी रखा था। इसने—

सापरान्तच्छदेवेन निर्जितो दक्षिणापथः।
मध्यदेषः ससौराष्ट्रः सबगागा च पूर्वदिक्।
सकश्मीरा च कौवेरो काष्ठा च करदीकृता।
तानितान्यपि च दुर्गाणि द्वीपानि विजितानि च।
म्लेच्छसघाश्च निहिताः शेषाश्च स्थापितावशे।
ते ते विक्रमशक्तेश्च प्रविष्टाः कटके नृपाः।

दिग्विजय के पश्चात् राजधानी को लौटने पर सम्राट् कुन्तल सातकर्णि विषमशील विक्रमादित्य का जिस प्रकार स्वागत किया गया था, उसका भी कुछ वर्णन देखिए—

जय विजितसकलपार्थिव विनत शिरोधारि तात गुर्वाज्ञ।
जय विषमशील विक्रमवारिनिधे विक्रमादित्य।
जय जय तेज साधितभूनगणम्लेच्छविपिनदावाग्ने।
जय देव सप्तसागरसौम्यमही मानितोनाथ।

इस शालिवाहन शकाब्द के सस्थापक के विषय मे यह ऐतिहासिक तत्त्व सदैव स्मरण रखने योग्य है कि इस महान् विजेता ने भी विक्रम-सवत् के सस्थापक की नाईं शको का पराभव किया था और उसी की स्मृति मे यह शकाब्द भी विक्रमाब्द मे 135 वर्ष पश्चात् चलाया गया था। इसके शको से युद्ध करने का वृत्तान्त जैन ग्रन्थो मे जिस प्रकार ज्ञात होता है, उसे यहा विस्तार मे न देकर उस सम्बन्ध के मूल-वाक्यो को ही उद्धृत किया जाता है—

भरकच्छपुरेऽत्रासीद् भूपतिर्नरवाहन।
ससमृद्धात्मकोषस्य श्रीमदप्यवमन्यते ॥ 1 ॥
इतः प्रातिष्ठानपुरे पार्थिवः शालिवाहनः।
बलेनापि समृद्धः स रुरोध नरवाहनम् ॥ 2 ॥
थानयत्परशीर्षाणि यस्तस्याऽऽदान्महाधिकः।
लक्ष विलक्ष तत्तस्य नित्य घ्नन्ति तद्भटाः ॥ 3 ॥
ह्रा तस्यापि भटाः क्षेप्यानिन्युः सोदान्नकिञ्चन।
सोऽय क्षीणजनो नष्ट्वा पुनरेति समान्तरे ॥ 4 ॥
पुनर्नष्ट्वा तथैवेति नाभूद् तद्ग्रहणक्षमः।
अथैके मायया ह्यलं सचिवो निरवास्यत ॥ 5 ॥
स परम्परयात्रासीद् भरुकच्छराधिपः।
अपास्तोऽल्पापराधोऽपि निजामात्यस्ततः कृतः ॥ 6 ॥

ज्ञात्वा विश्वस्तं सोऽवक्त राज्यं प्रायेण लभ्यते ।
तदन्यस्य भवस्यार्थे पाथेयं कुरु पार्थिव ॥ 7 ॥
धर्मस्थानविधानाद्यैर्द्रव्यप्रायाय ततत: ।
आगान्मन्त्रिगिरा हालः पार्थिवोऽप्याह मन्त्रिणं ॥ 8 ॥
मिलितोऽसि किमस्य त्वं सोऽवदन्नमिलाम्यहम् ।
अथान्तःपुरभूषादि प्रविणैस्त तदाक्षिपत् ॥ 9 ॥
हालेऽथ पुनरायाते निर्द्रव्यत्वान्ननाश सः ।
नगर जगृहे हालो द्रव्यप्रणधिरेषिका ॥ 10 ॥

ये श्लोक जिनमे शक नरेश नरवाहन या नहपान की पराजय का वृतान्त दिया है, श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के आवश्यक सूत्र के उत्तरार्द्ध की 1304वी गाथा के भाष्य मे भद्रबाहु ने नियुक्ति भाष्य मे लिखे हैं, जिस पर हरिभद्रसूरि की वृत्ति भी है ।

शको को हराकर विक्रम या विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने की प्रथा ही, जान पडता है, भारतवर्ष मे पड गई थी, इसी से विक्रमादित्य के शकारि नाम होने का भी विशेष महत्त्व प्रतीत होता है । ऊपर किस प्रकार शालिवाहन ने शको को परास्त करके विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की, यह प्रमाणित किया गया है । इसके पश्चात् इतिहास मे गुप्तवश के सस्थापक चन्द्रगुप्त प्रथम ने इस उपाधि को ग्रहण किया था, ऐसी सम्भावना अनेक ऐतिहासिक विद्वान् करते हैं, किन्तु स्मिथ इसे विश्वसनीय स्वीकार नही करते (The Early History of India, p 347) । चन्द्रगुप्त प्रथम के उपलब्ध सिक्को से भी उसके विक्रम-पद ग्रहण करने की घटना सिद्ध नही होती । उसने शको पर कोई विजय भी प्राप्त नही की थी । उसके पश्चात् समुद्रगुप्त महान् के पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विक्रमादित्य का पद ग्रहण किया था । एक प्रकार के उसके सिक्को पर लिखा मिलता है, 'श्रीविक्रम' और इस लेख के बाईं ओर लक्ष्मी की बैठी मूर्ति है, दूसरी ओर इस सोने के सिक्के पर 'देवश्री-महाराजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्त' अकित है । एक और प्रकार के सिक्को पर एक ओर 'देवश्री-श्री चन्द्रगुप्तस्य विक्रमादित्यस्य' भी लिखा पाया जाता है । चन्द्रगुप्त के एक प्रकार के सिक्के अग्निकुण्ड के सामने खडे हुए राजा की मूर्ति वाले है, जिनके दूसरी ओर पद्म पर खडी लक्ष्मी की मूर्ति है । इस मूर्ति के दाहिनी ओर 'विक्रमादित्य' लिखा है। ऐसे प्रकार के सिक्को मे से कुछ पर तो—

'क्षितिमवजित्यसुचरितैर्दिवं जयति विक्रमादित्य ।'

उपगीति छन्द भी लिखा पाया जाता है । इससे भी अधिक सिंह को मारते हुए राजा के भी चन्द्रगुप्त के कुछ सिक्के है, जिन पर एक ओर सिंह पर बैठी

अम्बिका देवी की मूर्ति है, और दूसरी ओर तीरकमान से सिंह को मारते हु राजा की मूर्ति। राजमूर्ति की ओर वशस्थ छन्द मे राजा को 'भुविसिंह-विक्रम लिखा है—

'नरेन्द्रचन्द्रप्रथित (गुण) दिव जयत्यजेयो भुविसिंहविक्रम'।'

और दूसरी ओर 'सिंहविक्रम' ही लिखा है। एक प्रकार के सिक्को पर राज की उपाधि 'श्रीसिंह-विक्रम' है, और एक और प्रकार के सिक्को पर 'अजित विक्रम'। इस प्रकार की कोई साक्षी चन्द्रगुप्त प्रथम के सम्बन्ध मे प्राप्त नहीं होती। इसलिए यही कहना पडता है कि प्रथम चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध मे विक्रमादित्य-पदवी ग्रहण करने की कल्पना ऐतिहासिक आधार स रहित है, और द्वितीय चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध मे निस्सन्देह कहा जा सकता है कि उसने यह पद धारण किया था। किन्तु उसने शको को भी पराजित किया था, तब ही उसने यह पद ग्रहण किया था। स्मिथ ने अपने इतिहास के पृ० 307 पर लिखा है—

'The greatest military achievment of Chandrgupta Vikramaditya was his advance to the Arabian Sea through Malwa and Gujrat and his subjugation of the peninsula of Saurashtra or Kathiawar, which had been ruled for centuries by the Saka dynasty, of foreign origin, known to European scholars as the western Satraps'

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का उत्तराधिकारी कुमारगुप्त प्रथम था और इसके शासनकाल मे हूण लोगो के आक्रमण फिर भारत पर होने लगे थे। भारतवर्ष के इतिहास मे इनको भी शको के साथ गिना गया है और कुमारगुप्त ने अवश्य इन्हे मारकर भगाया था, तब ही उसने भी विक्रम' पद ग्रहण किया था क्योकि उसके कुछ सिक्को पर वशस्थ छन्द म 'कुमारगुप्तो युधि सिंहविक्रम' लिखा पाया जाता है। कुछ सिक्को पर तो 'कुमारगुप्तो युधिसिंह विक्रम' ही लिखा है। एक प्रकार के सिक्को पर 'श्रीमान् व्याघ्रबलपराक्रम' भी लिखा है। किन्तु इसके पुत्र स्कन्दगुप्त ने तो इन हूणो को बडी करारी पराजय दी थी जिसके कारण बहुत समय तक इन्होंने भारत की ओर मुह नही किया था और इसीलिए स्कन्दगुप्त ने भी विक्रमादित्य की पदवी स्वीकार की थी (स्मिथ का इतिहास पृ० 326) 'महाराजाधिराज प्रथम कुमारगुप्त के मृत्यु के उपरान्त उनका बडा बेटा स्कन्दगुप्त सिंहासन पर बैठा। स्कन्दगुप्त ने युवराज रहने की अवस्था मे पुष्यमित्र और हूण लोगो को परास्त करके, अपने पिता के राज्य की रक्षा की थी। कहा जाता है कि युवराज्य भट्टारक स्कन्दगुप्त ने अपने पितृकुल की विचलित राजलक्ष्मी को स्थिर रखने के लिए तीन रातें भूमि पर सोकर बिताई थी' (बागलार इतिहास प्रथम भाग, पृ० 62-63)। इस महान् वीर सम्राट के एक

प्रकार के सिक्को पर एक ओर 'जयति दिव श्रीक्रमादित्य' और दूसरी ओर 'क्रमादित्य' लिखा है। स्कन्दगुप्त के मालवा वाले सिक्को मे उसे स्पष्ट ही 'परमभागवतमहाराजाधिराजश्रीस्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' पढा जाता है। उसके ऐसे ही एक प्रकार के चादी के सिक्को पर भी 'परमभागवतश्रीविक्रमादित्यस्कन्द-गुप्त' तथा अन्य प्रकार के सिक्को पर भी यही लेख उपलब्ध होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शक, हूण आदि म्लेच्छ जातियो को परास्त करने के उपलक्ष्य मे विक्रमादित्य का पद भारतवर्ष के राजा स्वीकार करते थे और विक्रमादित्य का शकारि नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। राजनीतिक भाषा मे यो कहना उचित होगा कि विदेशी विजेताओ से स्वदेश की दासता का जुआ हटाने वाले महापुरुष ही विक्रम नाम से प्रसिद्ध होते थे एव वे अपने नाम से सवत् भी चला लेते थे, और विक्रमाब्द भी, शकाब्द के समान भारतवर्ष मे से एक विदेशी सत्ता को नष्ट करके उसे स्वतन्त्र बनाने की स्मृति का सवत् है। यह एक राष्ट्रीय सवत् है, साम्प्रदायिक नही, तभी इसकी रक्षा वैदिक और अवैदिक सब प्रकार के साहित्य मे की गई है।

किन्तु हमको यहां वह तर्क भी देखना उचित है, जिसके आधार पर योरोपियन विद्वान विक्रम नाम के किसी व्यक्ति के अस्तित्व को भी नही मानते तथा यह भी कहते है कि जिस समय से आजकल इसकी गणना की जाती है, उससे कई सौ वर्ष पश्चात गणना करने के ज्योतिष सम्बन्धी कार्यों के लिए इस सवत् की स्थापना की गई थी।

आरम्भ मे ही हम यह स्मरण करा देना उचित समझते हैं कि ज्योतिष सम्बन्धी कार्यों के लिए करण ग्रन्थो मे सामान्यत और प्राय सर्वत्र शकाब्द का प्रयोग किया गया है क्योकि वह वर्ष चैत्र से सर्वत्र आरम्भ होता है, विक्रम-वर्ष का उपयोग ज्योतिष के करण ग्रन्थो मे नही के बराबर है, अत यह युक्ति नितान्त निर्बल है। तो भी डॉ० फर्गुसन ने सर्वप्रथम कहा था कि इस सवत् की स्थापना सन् 544 ई० मे हुई थी और तब ही गणना करके इसका आरम्भ 57 ई० पू० से माना गया था। स्मिथ का मत ऊपर दिया है। डॉ० वीबर और होल्ट्जमैन का मत भी फर्गुसन से मिलता है। किन्तु डॉक्टर पिटर्सन और डॉक्टर ब्युहलर सवत्कार विक्रम-पदधारी व्यक्ति का अस्तित्व ईसा के 57 ई० पू० मे ही स्वीकार करते थे फिर चाहे उस व्यक्ति का नाम कुछ भी रहा हो।

ऐसा जान पडता है कि ग्रेगरी के सशोधित पचाग (Calendar) का इतिहास योरोप के फर्ग्युसन और उनका अनुकरण करने वाले विद्वानो की दृष्टि मे था। वर्तमान ईसवी सवत् का मूल जूलियस सीजर का स्थापित और सशोधित पचाग था, और जूलियस सीजर ने स्वय रोमन सवत् मे सशोधन करके अपना सवत् चलाया था। रोमन सवत् का आरम्भ रोमन अनुश्रुतियो के अनुसार

रोम के प्रथम शासक नूमा के समय से माना जाता था और वह 355 दिन का गिना जाता था जो एक प्रकार से चान्द्रवर्ष की मोटी गणनामात्र थी, क्योंकि चान्द्रवर्ष का मान 354 दिन 8 घटे 48 मिनट 36 सेकिण्ड होता है। इस हिसाब से रोमन सवत् मे प्रति वर्ष सौरवर्ष से 10 और 11 दिन के मध्यवर्ती अन्तर पडता था। उधर रोम के पुरोहित और ऋत्विजो को अपने धार्मिक और राष्ट्रीय कृत्य ऋतुओं की समानता का ध्यान रखकर भी कराने पडते थे, और वे इसी हेतु से कभी-कभी फरवरी मास की 23 तारीख के पश्चात् 27 दिन का एक अधिक मास गिनकर वर्ष मे 13 मास गिन लेते थे, और अपने चान्द्र वर्ष को स्थूल रूप से सौर वर्ष के निकट ले आते थे। किन्तु इस विधि से चान्द्र और सौर वर्षों का पारस्परिक अन्तर कभी भी पूर्णतया दूर नही होता था तथा जूलियस सीजर के समय मे यह अन्तर 90 दिन का हो गया था, अर्थात् जो घटना 25 जुलाई को घटी गिनी जाती थी, वस्तुत वह 25 अप्रैल की घटना होती थी। कहने का अभिप्राय यह है कि उक्त अन्तर के कारण 25 अप्रैल को 25 जुलाई गिना और समझा जाता था। यह अन्तर बहुत अधिक था, और ऋतुओ के आधार पर मनाये जाने वाले रोमन लोगो के उत्सवो मे बडी विच्छृखलता उत्पन्न हो गई थी—वसन्त के पर्व और उत्सव शीतऋतु मे पडने लगे थे। सीजर ने अपने समय के सर्वोत्तम गणितज्ञ ज्योतिवियो से सम्मति ली और 23 फरवरी के पश्चात् 23 दिन का एक मास तथा 67 दिन का एक और महीना इस प्रकार 90 दिन के दो अधिक मास गिनकर सीजर ने जुलाई ईसवी सन से पूर्व 46 वर्ष मे रोमन संवत् का सशोधन किया। 67 दिन का महीना नवम्बर के अन्त मे और दिसम्बर आरम्भ होने से पूर्व बढाया गया था, और इस प्रकार उस वर्ष मे दिसम्बर जो दसवा मास गिना जाता था 12वा मास गिना गया और आगे से वर्ष का आरम्भ भी प्रथम जनवरी से गिना जाने लगा, किन्तु इसमे पूर्व वर्ष का आरम्भ 1 मार्च से होता था। इस प्रकार 46 ई० पू० का वर्ष 445 दिन का एव 'अन्धाधुन्धी' का वर्ष समाप्त हो जाने पर 45 ई० पू० की प्रथम जनवरी से रोमन सवत की गणना सौर मास मे होने लगी। किन्तु केवल इस सशोधन से ही रोमन सवत् की गणना ज्योतिष या ऋतुचक्र की दृष्टि से बिलकुल ठीक नही हो गई थी। सीजर ने अपने प्रचलित वर्ष को 365-1/4 दिन का नियत किया था, और इस प्रकार प्रति चतुर्थ वर्ष म फरवरी म 29 दिन गिन-कर इस 1/4 की गणना को पूर्ण किये जाने का नियम उसने बनाया था। किंतु वास्तविक गणना से इस मान मे कुछ मिनट अधिक गिने जाते थे, लगभग 11 मिनट 10 सेकिण्ड। सन् 1582 ईसवी (सवत 1639 विक्रम) मे पोप ग्रेगरी ने इस भूल का सशोधन भी किया और वर्ष का मान 365 दिन 5 घण्टा 49 मिनट 12 सकिण्ड निश्चय करके उस वर्ष की गणना मे 11 दिन कम कर

दिये, 12 सितम्बर के स्थान मे 11 सितम्बर के पश्चात एकदम 23 सितम्बर गिना गया। इस सुधरे हुए मान के सवत् को ईसवी सन् माना गया और इसी के आधार पर गणना करके ईसाई धर्म की पिछली घटनाओ का क्रम स्थापित किया गया एव ईसाई सवन् का आरम्भकाल निश्चय किया गया था। इस प्रकार जो ईसाई सवन् का आरम्भकाल निश्चित किया गया था वह एक प्रकार से महात्मा ईसा का जन्मकाल भी था, किन्तु यह निश्चय किया हुआ जन्मकाल वास्तविक जन्मकाल मे 4 वर्ष पीछे है। अस्तु। इस ईसाई सवत् को पोप ग्रेगरी ने सवत् 1639 मे गणना करके पीछे की डेढ सहस्र वर्ष की घटनाओ का निर्धारण भी इसी के आधार पर किया था और इस तरह पाठको की दृष्टि मे यह बात बैठती है कि ग्रेगरी के सवन् का आरम्भ ईसवी सन् के आरम्भ से होता है, अत ग्रेगरी का समय या जन्मकाल भी ईसा की प्रथम शती म ही होना चाहिए। किन्तु यह बात वास्तविकता से दूर है, तो भी यह ऐतिहासिक सत्य है कि उसने लगभग डेढ सहस्र से भी अधिक वर्ष पीछे अपने सवत् की स्थापना करके (जिसे सवन् की स्थापना न कहकर पचाग का सशोधन कहना ही अधिक उचित है) पिछली घटनावली को भी उसी के आधार पर गिना और उसका समय निर्धारण किया। फर्ग्युसन और फ्लीट आदि योरोपियन विद्वान ग्रेगरी के पचाग सशोधन की समानता को ध्यान मे रखकर उसी मानदण्ड से विक्रम सवत् के विषय मे भी यह तर्क लगाते हैं कि 500 या 700 वर्ष पीछे इस सवन की स्थापना करके इसी के आधार पर पिछली घटनावली को अकित किया गया होगा एव इस सवत् को भी, इसी कारण से कि 57 ई० पू० तक की घटनाए इसके आधार पर गणित की गई थी, तभी से आरम्भ हुआ स्वीकार कर लिया गया होगा।

किन्तु वस्तुत यह तर्क नितान्त निराधार और हेत्वाभास मात्र है। प्रथम तो ग्रेगरी और जूलियस सीजर के सम्मुख एक सवन् पहले मे वर्तमान था जिसका उक्त दोनो सुधारको ने सशोधन मात्र किया था, फिर उनका सशोधन भी केवल पचाग का सशोधन था, सवत् के वास्तव आरम्भ काल के विषय मे उन्होने कुछ भी निर्णय नही किया था। यहा विक्रम-सवन के सम्बन्ध मे यह कहना नितान्त असत्य है कि इसके पचाग का सशोधन किसी चन्द्रगुप्त आदि गुप्त नरेश या हर्ष यशोधर्मन आदि सम्राट ने किया था। पचागसशोधन को बतलाने वाली कोई भी अनुश्रुति इस सवत् के साथ उक्त सम्राटो के सम्बन्ध म भारतीय इतिहास को ज्ञात नही है, वह बिलकुल अश्रुतपूर्व है। यदि पचाग-सशोधन किया गया हो तो उसके विषय मे दो कल्पनाओं म से कोई एक स्वीकार करनी होगी, अर्थात (1) विक्रम-सवत् किसी अशुद्ध पचाग के साथ पहले से प्रचलित था जिसमे अशुद्धि इतनी अधिक बढ गई थी कि रोमन पचाग की

भाति पर्वों और उत्सवो का ऋतु विपर्यय भी होने लगा था, उसी को दूर करने के लिए यह प्रयास किया गया था। इस तर्क मे हम विक्रम-सवत और उसके अशुद्ध पचाग की सत्ता पहले से ही स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु इस सवत् के अशुद्ध पचाग का तो कोई भी इतिहास उपलब्ध नही होता, अत यह कल्पना विद्वत्समाज मे स्वीकार कदापि नही की जा सकती, (2) दूसरी कल्पना यह हो सकती है कि सवत् की स्थापना-मात्र उनका कार्य था, और उसी समय जब (चन्द्रगुप्त आदि जिस किसी के द्वारा भी यह स्थापित किया गया था) इसके सस्थापक ने इसे आरम्भ किया था वर्तमान प्रचलित पचाग के साथ इसे प्रारम्भ किया था। किन्तु इसम प्रश्न यह उठता है कि प्रारम्भ करने वाले इन सम्राटो को इसकी क्या आवश्यकता पडी थी कि वे इस सवत् को चलाकर भी इसका श्रेय किसी कल्पित व्यक्ति को देने के लिए व्यग्र थे ? उन्होंने किस आधार पर, किसके अनुकरण पर शकारि विक्रमादित्य का नाम इसके साथ जोडा ? मालवा, मालव-गण आदि से इसका सम्बन्ध क्यो मिलाया ? इसी प्रकार के और भी अनेक तर्क इस विषय मे उपस्थित होगे। वस्तुत जब डॉक्टर ब्यूहलर और डॉक्टर कीलहार्न ने यह सिद्ध कर दिया है, एव ऐसे शिलालेख आदि प्राचीन लिखित प्रमाण भी उपलब्ध हो चुके हैं, जिनका उल्लेख इस निबन्ध के आरम्भ मे ही किया गया है, कि यह सवत् 544 ईसवी से बहुत पहले से व्यवहार मे आ रहा था, तो इस तर्क का मूल्य कुछ भी नही रह जाता।

ससवत् का उल्लेख भारतवर्ष के राष्ट्रीय साहित्य मे, चाहे वह जैन हो या अजैन, बौद्ध हो या अबौद्ध, वैदिक हो या अवैदिक, सर्वरूपेण राष्ट्रीय ढग से किया गया है। इसे राष्ट्र को अत्याचारपूर्ण विदेशी शासन से स्वतन्त्रता प्राप्त होने की तिथि माना जाता रहा है। यह किसी भारतीय नरेश के साम्प्रदायिक उत्पीडन का इतिहास नही है, किन्तु उस स्वतन्त्रता के युद्ध का इतिहास इसमे अनुप्राणित है जिसके लिए ससार भर के सभ्य राष्ट्र सदैव व्याकुल रहते हैं, जिसका समादर हमारी सस्कृति मे सर्वोपरि है, एव जिसे स्मरण करके हम आज भी स्वतन्त्रता प्राप्त करने की आशा करते हुए जीवित हैं। भारतवासी इस स्वतन्त्रता प्राप्त करने की प्राचीन तिथि को किसी प्रकार भी भुला नही सकते। उस तिथि को, जिसके सस्थापक ने अपना सर्वस्व, अपना अस्तित्व, अपना व्यक्तित्व अपना निजी नाम और गोत्र उसके ऊपर निछावर कर दिया, किसी प्रकार भी नही भुलाया जा सकता, भले ही ये पाश्चात्य विद्वान कितने ही तर्काभास इसके विरुद्ध उपस्थित करें।

एक बात और, कुछ विद्वान नहपान (नरवाहन) को इस सवत् का प्रवर्तक मानते हैं। ऐसे विद्वानो मे श्री राखालदास बनर्जी मुख्य है। डॉक्टर फ्लीट महोदय की सम्मति मे कनिष्क ने इसका आरम्भ किया था और सर जान मार्शल तथा

रैप्सन के मत मे अजेस या अय नामक सम्राट् ने इसे चलाया था। इन सबके उत्तर मे हमे एक ही बात कहनी है और वह यह कि ये सब सम्राट् शक अर्थात् विदेशी थे। यदि इन्होने कोई सवत भारतवर्ष मे चलाया होगा (या चलाया होता) तो वह भारतवर्ष की गुलामी के आरम्भ का सवत् हो सकता था। कौन बुद्धिमान ऐसा है जो यह स्वीकार करेगा कि बौद्धिक और आत्मिक ज्ञान मे भारतवर्ष जैसा समृद्ध देश अपनी गुलामी की तिथि को, सार्वजनिक रूप से, सदा के लिए, स्वीकार कर सका होगा। फिर इन सभी विद्वानो के मत सर्व-सम्मत या निर्भ्रान्ति भी नही हैं और गणना से वे शकाब्द के अधिक निकट आते हैं, किन्तु शकाब्द के निर्णय का प्रश्न यहा नही उठाया जा सकता। यह स्वीकार किया जा सकता है, (और ऐसा उचित भी है) कि इन सम्राटो ने अपने स्वतत्र सवत् लगभग उसी समय मे चलाए हो जब उन्होने उनकी गणना आरम्भ की थी, किन्तु उपरोक्त हेतु के कारण उनके सवत् का अस्तित्व तो उन्ही के वश की सत्ता के साथ-साथ समाप्त हो जाना स्वाभाविक और अनिवार्य था। राष्ट्र उनके सवतो को अपनी सस्कृति मे किसी प्रकार भी स्थान नही दे सकता था। प्राच्यविद्यामहार्णव स्वर्गीय श्री काशीप्रसादजी जायसवाल ने विक्रमादित्य का व्यक्तित्व गौतमीपुत्र शातकर्णि मे स्वीकार किया है और उनका मत श्री हरितकृष्णदेव को भी मान्य है। किन्तु इस आध्र-सम्राट् की शकविजय का तो दूसरा शकाब्द भारत मे प्रचलित है। उनका ऐसा परिणाम किसी ऐतिहासिक गगना की भूल के आधार पर भी हो सकता है। कुछ भी हो, इस प्रश्न का निर्णय विक्रमादित्य के व्यक्ति के साथ ही किया जा सकता है।

योरोपियन विद्वानो मे डॉक्टर स्टेन कोनो के विचार सबसे अधिक स्पष्ट और पुष्ट हैं, जिन्होने इस सवत् का प्रवर्तक उज्जयिनी के महाराज सम्राट् विक्रमादित्य को स्वीकार और सिद्ध किया है। यही बात निम्नलिखित प्राचीन जैन गाथा मे भी कही गई है—

> कालान्तरेण केणाइ उप्पादिट्ठा सगाण तवसम्।
> जावो मालवराया नामेण विक्कमाइच्च ॥65॥
> तथा
> नियवो सवच्छरो जेण ॥68॥ (कालकाचार्यकथानक)

गुर्जर-देश-भूपावली मे भी इस सम्राट् के सम्बन्ध मे कुछ श्लोक दिए हैं, जिन्हे यहा उद्धृत करना आवश्यक है—

> वीरमोक्षाच्च सत्पुन्तायुते वर्षचतु:शते।
> व्यतीते विक्रमादित्यः उज्जयिन्यामभूदितः ॥12॥

सत्वसिद्धाग्निवेताल - प्रमुखानेकदेवतः ।
विद्यासिद्धो मंत्रसिद्धः सिद्धसौवर्णपूरुषः ॥13॥
धर्मादिगुणविख्यातः स्थाने स्थाने नरापरैः ।
परीक्षाकषपाषाण-निघृष्टः सत्त्वकञ्चनः ॥14॥
स सम्मानैः श्रिया दानैः नराणामखिलामिलाम् ।
कृत्वासवत्सराणां स आसीत् कर्ता महीतले ॥15॥
षडशीतिमित राज्य वर्षाणांतस्य भूपतेः ।
विक्रमादित्यपुत्रस्य ततो राज्य प्रवर्तितम् ॥16॥
पञ्चत्रिंशद्युते भूपवत्सराणां शते गते ।
शालिवाहन भूपोऽभवद्वत्सरे शककारकः ॥17॥

विक्रम-कला

□ डॉ० मोतीचन्द्र

भारतीय इतिहास के दो-चार अत्यन्त विवादग्रस्त प्रश्नो में एक प्रश्न विक्रम-सवत् की ई० प० पहली शताब्दी मे स्थापना भी है। एक पक्ष प्रथम शताब्दी ई० पू० मे विक्रम के ऐतिहासिक अस्तित्व को स्वीकार करता है तो दूसरा पक्ष चन्द्रगुप्त द्वितीय को ही भारतीय इतिहास तथा अनुश्रुति का विक्रम मानता है। विक्रम-सवत् पहले मालवा तथा उसके आसपास के देशो मे मालव तथा कृत-सवत् के नाम से ख्यात था, इस प्रश्न को लेकर भी ऐतिहासिकों मे काफी चर्चा रही है। विक्रम-सवत् का जटिल प्रश्न तब तक उनकी चर्चा की एक विशेष सामग्री रहेगा जब तक कोई ऐसा ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नही होता, जिससे नि सन्दिग्ध भाव से एक शकोच्छेदक विक्रम की ऐतिहासिक स्थापना प्रथम शताब्दी ई० पू० मे हो सके। विक्रम-सवत् का प्रश्न कितना भी जटिल क्यो न हो, एक बात तो जैन अनुश्रुतियो के आधार पर कही ही जा सकती है कि विक्रम की प्रथम शताब्दी ई० पू० मे ऐतिहासिक स्थिति वास्तविक है। ये विक्रम कौन थे ? इस विवादग्रस्त प्रश्न पर इस छोटे से लेख मे विचार करना सम्भव नही। हमे तो इस लेख मे केवल यही दिखलाना है कि विक्रमकाल मे भारतीय कला की कितनी उन्नति हुई।

विक्रम के ऐतिहासिक रूप को अगर हम थोडी देर के लिए अलग रखकर केवल विक्रम के शाब्दिक अर्थ पर विचार करे तो पता चलता है कि वैदिककाल मे विक्रम शब्द का प्रयोग आगे बढने के अर्थ म हुआ है तथा बाद मे यही शौर्य तथा बल का द्योतक हो जाता है। विक्रम के इन शाब्दिक अर्थों से यही बोध होता है कि विक्रम-युग भारतीय इतिहास म उस युग को कहते थे, जिसमे सभ्यता के धीमे पडते हुए स्रोत म एक ऐसी बाढ आए जिससे युग-युगान्तर से जमी हुई कीच-काई बहकर आप्लावित भूमि पर नयी मिट्टी की एक ऐसी तह जम जावे जिसमे पैदा हुई अपार आत्मिक अन्नराशि मानव वर्ग का मानसिक पोषण कर सके तथा जिसमे उत्पन्न हुए रग बिरगे सुगन्धित सास्कृतिक पुष्प अपनी सुरभि से दिशाओं को भर दे। विक्रम-युग मे एक ऐसे पुरुषश्रेष्ठ राजा का जन्म होता है

जो अपनी भुजाओ के बल से विदेशी सत्ता को उखाड फेकता है तथा उस सार्व-भौम राज्य की स्थापना करता है, जिसका उद्देश्य प्रजापालन, व्यापारवृद्धि, कला की उन्नति इत्यादि होता है। वैदिक तथा पौराणिक युग म जिन उद्देश्यो को लेकर चक्रवर्ती सम्राट् की कल्पना की गई है, विक्रम-युग भी करीब-करीब *उन्ही भावनाओ का प्रतीक है। जिस प्रकार चक्रवर्तियो के रथो के* अप्रतिहत पहिए देश के एक कोने से दूसरे कोने तक घूम सकते थे, उसी प्रकार विक्रम-युग के राजाओ के रथो के पहिये भी। पर विक्रम-युग की एक और विशेषता थी। सास्कृतिक उत्तेजना से लोकाराधन तथा लोककल्याण की भावनाओ को इस युग मे इतना अधिक प्रोत्साहन मिलता है जिससे मनुष्य की अन्तर-चेतनाओ के तार समस्वर होकर बजने लगते हैं, जिससे भावनाओ के सागर मे प्रबल तरगें उठने लगती हैं। जिनम डूबकर कला और साहित्य एक नय रग मे रंगकर एक नयी अनुभूति से आलोडित होकर हमारे सामने आते हैं। इस दृष्टि-कोण से विक्रम-युग केवल राजनीतिक उथल-पुथल से स्वराज्य की पुण्यमयी भावना को ही हमारे सामने नही रखता, उसका उद्देश्य तो हम सबमे उस मानसिक स्फूर्ति का प्रजनन है जो सब साहित्य और कलाओ की जननी है। प्रथम शताब्दी ई० पू० *म साहित्य-क्षेत्र की विशेष उथल-पुथल का तो हमे ज्ञान नही है* पर कला के क्षेत्र मे तो एक नवीन धारा बही, जिसके प्रतीकस्वरूप आज भी साची के तोरण तथा नासिक और कारल की बौद्ध लेणें खडी हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के युग ने कवि सम्राट् कालिदास को हमारे सामने रखा तथा कला मे उस रस की धारा बहाई जिससे गुप्त कला अमर हो गई। यह इसी युग की प्रेरणात्मक शक्ति का फल है जिससे अनुप्राणित होकर भारतीय कला तथा साहित्य के अमर सिद्धान्त देश की चारदीवारी लाघते हुए अफगानिस्तान, मध्य-एशिया, चीन, जापान, कोरिया, बरमा, लका, मलाया इत्यादि मे जा पहुचे।

विक्रम-युग म एक ओर तो राजनीतिक प्रगति हो रही थी। शको को हरा कर विक्रमादित्य देश को एकता के सूत्र मे बाँधने का प्रयत्न कर रहे थे, दूसरी ओर कला के क्षेत्र म भी एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहा था। पिछले मौर्यकाल तथा शुगकाल की *कला सादृश्यवाद के सिद्धान्त स अनुप्राणित थी। इस कला का* सम्बन्ध न तो रसशास्त्र स था न आध्यात्मिकता इसे छू गई थी। इस कला का उद्देश्य जीवन की वास्तविकताओ का, आमोद प्रमोद का सीधा-सादा अलकरण था। जिस तरह जातक की प्राचीन कथाए जीवन के साधारण से साधारण पहलू को हमारे सामने बिना किसी बनावट के या शृगार के रख देती हैं, उसी प्रकार भरहुत के अर्धचित्र (relief) हमे भारत के तात्कालिक जीवन क अनेक पहलुओ को किसी आदर्श से रगे बिना हमारे सामने रख देते हैं। नाच रग, खेल-कूद, आपानक, वस्त्र, आभूषण तथा भारतीय जीवन के और बहुत स पहलुओ का

चित्रण इस कला का विशेष उद्देश्य है। शुगकालीन कलाजीवन के कितने निकट थी, इसका पता हमे शुगकाल की मूर्तियो से मिलता है। बसाढ भीटा, कौशाम्बी इत्यादि जगहो से मिली हुई मिट्टी के अर्धचित्रो की यह एक खास विशेषता है कि उनमे देवी-देवताओ को छोडकर शुगकालीन स्त्री-पुरुषों के चित्र अंकित हैं, जिनसे हम तत्कालीन जीवन की बहुत-सी बातें जान सकते हैं। भरहुत की कला म अलकारिक उपकरणो का प्रयोग भी केवल चित्रो की शोभा बढाने के लिए ही किया गया है। फर्गुसन ने इन अर्धचित्रो के अलकारो के बारे मे जो लिखा है, वह आज भी सत्य है—

'Some animals such as elephants, deer and monkeys are better represented than any sculpture known in any part of the world, so too are some trees and the architectural details are cut with an elegance and precision that are very admirable. The human figures too, though very different from our standard of beauty and grace, are truthful to nature, and where grouped together combine to express the action intended with singular felicity'

(फर्गुसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, पृ० 36)

'कुछ पशु जैसे हाथी, हिरन तथा बन्दरो का चित्रण ऐसा हुआ है जैसा ससार की और किसी मूर्तिकला म नही हो पाया है। कुछ पेडो तथा वस्तु की सूक्ष्मताओ का चित्रण ऐसी सुन्दरता तथा खूबी के साथ हुआ है जिससे हमारा चित्त उनकी ओर खिंचता है। मनुष्य-मूर्ति की बनावट भी, गोकि उनकी बनावट हमारी सुन्दरता के मापदण्ड से भिन्न है सादृश्य लिये हुए है। तथा जहा उनकी कल्पना समूह मे होती है वहा वह बडी खूबसूरती तथा सरलता से अपनी योजना के उद्देश्यो को भली-भाति प्रकट कर देती है।'

भरहुत की इस कला का प्रसार एक स्थानिक न होकर भारतवर्ष मे बहुत दूर तक फैला हुआ था। पूना के पास भाजा लेण के अर्धचित्र इसी युग के कुछ विकसित अवस्था के चित्र हैं। बेदसा, कोन्दाने, पीतलखोरा तथा अजण्टा की दस नम्बर की गुफाए भी इसी समय बनी। साची के 1 तथा 2 नम्बर के स्तूप भी इसी युग मे बने हैं। उडीसा मे उदयगिरि तथा खडगिरि की गुफाए भी इसी युग की देन हैं।

लगभग 70 ई० पू० शुग राज्य का अन्त हुआ तथा काण्व या सातवाहनो ने विजित राज्य पर अपना अधिकार जमाया। सातवाहन इसके बहुत पहले से ही पश्चिम तथा दक्खिन मे अपना राज्य जमाए हुए थे। ईसवी सदी के लगभग पचास वर्ष पहले उन्होंने पूर्वी मालवा (आकर) पर अपना अधिकार जमाया।

शातकर्णि राजाओ की छत्रच्छाया मे भरहुत की अर्धविकसित कला उस पूर्णता को प्राप्त हुई जिसको लेकर हम आज के दिन भी साची की कला पर गौरव करते हैं। साची के वडे स्तूप के चारो तोरण तथा स्तूप नम्बर 3 का तोरण करीब 50 वर्षों के अन्तर मे बने। इस बात का ठीक-ठीक पता नही चलता कि ये तोरण किस सातवाहन राजा के समय मे बने। साची के बडे स्तूप के दक्खिनी तोरण पर एक लेख है जिसमे श्री शातकर्णि का उल्लेख है, पर शातकर्णि नाम के आन्ध्र-वश म बहुत से राजे हो गए हैं, इसलिए साची-स्तूपवाले शातकर्णि की पहचान ठीक-ठीक नही हो सकती थी। बूलर इत्यादि विद्वानो का मत था कि वे ई० पू० दूसरी शताब्दी के श्री शातकर्णि ही हैं जिनका उल्लेख नानाघाट तथा हाथीगुफा के अभिलेखो मे आया है (मार्शल, दी मॉनुमण्टस् ऑफ साची, जिल्द 1, पृ० 5)। पर मार्शल का मत है कि साची की उन्नत कला को देखते हुए यह बात अमान्य है। साची के श्री शातकर्णि पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार या तो श्री शातकर्णि द्वितीय थे *जिन्होंने 56 साल राज्य किया और जिनका समय ई० पू०* प्रथम शताब्दी मे था अथवा महेन्द्र शातकर्णि तृतीय अथवा कुन्तल शातकर्णि थे। अभाग्यवश मालवा के सातवाहन युग का आरम्भिक इतिहास अभी अन्धकारमय है। दूसरी शताब्दी ई० म जब इस अन्धकार म कुछ प्रकाश की आभा मिलती है तब हम गौतमीपुत्र शातकर्णि को आकर-अवन्ति का राजा पाते हैं। जैन अनुश्रुतियो के अनुसार, जिनमे कालकाचार्य की कथा प्रसिद्ध है, 61-57 ई० पू० उज्जयिनी पर शको का अधिकार था। यह भी पता चलता है कि प्रथम शताब्दी ई० के अन्त मे आकर-अवन्ति पर क्षहरातो का कुछ दशको तक अधिकार था। इस अधिकार का अन्त 125 ई० म श्रीगौतमीपुत्र शातकर्णि न आकर-अवन्ति को जीतकर किया। लेकिन मालवा बहुत दिनो तक आन्ध्रो के हाथ म न टिक सका, लगभग 150 ई० मे महाक्षत्रप रुद्रदामा ने विजित देशो को पुन अपने अधिकार मे कर लिया।

उपर्युक्त विवरण स साची के वडे स्तूप के तोरणो के समय के बारे मे दो बाते प्रकट होती हैं। एक तो यह कि ये तोरण ई० पू० प्रथम शताब्दी म बने, और दूसरे यह कि आकर उस समय आध्रवश के शातकर्णि नाम के किसी राजा के अधिकार म था। जैन तथा ब्राह्मण अनुश्रुतियो के अनुसार इसी काल म उज्जयिनी के विक्रमादित्य की स्थापना होती है। अब प्रश्न यह उठता है कि ये विक्रमादित्य कौन थे और उनका प्रतिष्ठान के शातकर्णि राजाओ स क्या सम्बन्ध था? इस लेख का विषय विक्रमादित्य की *ऐतिहासिकता प्रमाणित करना नही* है। पर जहा तक कला का सम्बन्ध है यह निर्विवाद है कि इसी युग मे भारतीय कला मे एक ऐसी नूतनता और ओज का समावेश हुआ जैसा पहले कभी नही हुआ था। यह तो ठीक-ठीक नही कहा जा सकता कि किन-किन कारणो से

प्रेरित होकर कला अपने पुराने तथा जीर्ण आवरण को छोडकर नवीनता की ओर झुकने लगती है, पर इतिहास इस बात का साक्षी है कि किसी महान् राजनीतिक उथल-पुथल के साथ ही साथ कलाकारो के दृष्टिकोण मे भी अन्तर आने लगता है। उनके हृदय के कोनो मे छिपे हुए जीर्णशीर्ण कला के सिद्धान्त नयी स्फूर्ति से उत्प्रेरित होकर युग की कला को एक नये साचे मे ढालते हैं। राजा तथा प्रजा की रक्त प्रणालियों मे बहते हुए सास्कृतिक ओज को ये कलाकार मूर्त रूप देते हैं। उदाहरणार्थ गुप्त-युग को लीजिए। कुषाण-साम्राज्य के अन्तिम दिनों की ओजहीन कला उस टिमटिमाते हुए दीपक के समान है जिसका तेल जल चुका है फिर भी उसकी बत्ती उकसाई जाती है जिससे उस दीप का प्रकाश, चाहे वह कितना ही धीमा क्यो न हो, थोडी देर तक ढहते हुए महल मे उजाला रख सके। लेकिन गुप्तयुग की कला को लीजिए तो मालूम पडता है कि दीपक तो वही पुराना है लेकिन नवीन तेल-बत्ती से सुशोभित होकर अपने जाज्वल्यमान स्निग्ध प्रकाश से वह दिशाओ को आपूरित करने लगता है। गुप्ता की साम्राज्य स्थापना भारतीय इतिहास की एक महान् घटना है। उस साम्राज्य का उद्देश्य भारतीय सस्कृति तथा ब्राह्मण-धर्म को पुनरुज्जीवन देना था। विदेशियों के ससर्ग से दूषित कला, धर्म तथा सस्कृति को पुन उसके प्राचीन पथ पर आसीन करना ही गुप्त-युग की विशेषता है। अब हम देख सकते है कि एक महान् राजनीतिक-घटना का कला की उन्नति से क्या सम्बन्ध है ? आगे चलकर हम देखेंगे कि विक्रम काल की कला भी गुप्तकालीन कला के समान पथक्रत् थी और अगर हम विक्रम की ऐतिहासिक सत्ता स्वीकार करते है तो साची इस बात की साक्षी है कि विक्रम युग जिसकी कथा हम आज के दिन भी शहरो मे, देहातों में, अपने बडे बूढो से सुनते है, केवल राजा की न्याय-परायणता तथा कवियो के समादर के लिए ही विख्यात नहीं था, उस काल मे कलाकारो को भी वही आदर मिला जिसके फलस्वरूप उन्होंने भारतीय कला को एक नये रास्ते पर चलाया।

साँची की पहाडी, जिस पर स्तूप बने हुए है, भोपाल रियासत मे जी०आई० पी० रलवे के साची स्टेशन के बहुत पास स्थित है। पहाडी 300 फीट से भी कम ऊची है तथा उसके ढालो पर झाड झखाडो से काफी हरियाली रहती है। खिरनी के हजारो पेड अपनी सघन छाया से पथिको और चरवाहो को आराम पहुचाते रहते है। वसन्त मे ढाक के फूल पहाडी पर आग-सी लगा देते हैं। प्रकृति देवी के इस सुन्दर उद्यान मे आत्मचिन्तनरत बौद्धो ने साची के स्तूपो की कल्पना की। प्राचीन लेखो मे साची का नाम काकणाव या काकणाय आता है लेकिन चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय मे इसका नाम काकनाद बोट पडा। सातवी शताब्दी मे इसका नाम बदलकर बोटश्री पर्वत हो गया (मॉनुमेण्ट्स् ऑफ साची, जि० 1, पृ० 12)।

आए या उसके पहले। महावंश में लिखा है कि अशोक की रानी देवी अपने पुत्र महेन्द्र को विदिशा के पास चेतियगिरि के विहार में महेन्द्र की लंका-यात्रा से पहले ले गई। कुछ विद्वान् चेतियगिरि को ही सांची का पुराना नाम मानते हैं, पर इस बात की सत्यता की परख अभी तक नहीं हो पायी है।

सांची का बड़ा स्तूप अण्डाकार है, जिसका सिर कटा हुआ है। यह अण्ड चारों ओर एक मेधि से घिरा हुआ है जिसका मुतस्सा प्राचीन काल में प्रदक्षिणा पथ का काम देता था। इस पर चढ़ने के लिए दक्षिण की तरफ दोहरी सीढ़ियां बनी हुई हैं। जमीन की सतह पर इस स्तूप को घेरे हुए एक दूसरा प्रदक्षिणा पथ है जो वेदिका से घिरा हुआ है। वेदिका की बनावट बिलकुल सादी है लेकिन उसके चारों ओर चारों दिशाओं को लक्ष्य करते हुए चार तोरण हैं। पहले विद्वानों की धारणा थी कि इस स्तूप का आकार अशोक के समय से ज्यों का त्यों बना हुआ है तथा तोरण द्वितीय शताब्दी ई० पू० में बनाए गए। बाद की खोज से ये धारणाएं भ्रमात्मक साबित हुई हैं। असल में बात यह है कि अशोक के समय में स्तूप सादे ईंटों का था, बाद में उसमें भव्यता लाने के लिए भक्तों ने इसे आवरणों से ढक दिया। सर जॉन मार्शल के कथनानुसार स्तूप पर आवरण चढ़ाने के पहले किसी ने उसे तोड़-फोड़ दिया था और शायद यह काम पुष्यमित्र शुंग की आज्ञा से किया गया था। स्तूप इस बुरी तरह से तोड़ा गया कि यह कहना मुश्किल है कि अशोक के समय में इसका क्या रूप था। लेकिन जांच करने से पता चलता है कि आरम्भ में इसका अण्ड नीचे से 60 फीट चौड़ा था। इसके चारों ओर एक चबूतरा था और सिरे पर छत्रावलियों से युक्त वेदिका से घिरी हुई एक हर्मिका थी। इसके दोनों प्रदक्षिणा पथों की वेदिकाएं शायद लकड़ी की बनी हुई होंगी और स्तूपों की तरह बुद्ध का कोई अस्थिचिह्न इस स्तूप में भी गाड़ा गया होगा, जो स्तूप के तोड़े जाने पर गायब हो गया (वही, पृ० 24 25)।

अशोक के बाद जब हम इस स्तूप के इतिहास पर ध्यान देते हैं तो पता चलता है कि दूसरी शताब्दी ई० पू० में किसी शुंग राजा के राज्यकाल में ही इसकी इतनी अच्छी तरह से मरम्मत हुई जिससे वह बिलकुल नया सा हो गया। पत्थर के आवरण से पूरा स्तूप, प्रदक्षिणा-पथ, वेदिका इत्यादि ढक दिए गए और उन पर बढ़िया चूने का पलस्तर कर दिया गया। स्तूप तैयार हो जाने पर उसके सिरे पर वेदिका सहित छत्र चढ़ाया गया। बाद में स्तूप को घेरे हुए पत्थर की बृहदाकार वेदिका बनी जिन पर दाताओं के नाम खुदे हैं। संक्षेप में शुंगकाल में सांची के बड़े स्तूप की यही अवस्था रही होगी।

सातवाहन-युग में स्तूप के चारों ओर चार तोरण बनाए गए जो अपनी विशालता तथा सुन्दर गढ़न के लिए भारतीय कला में अद्वितीय हैं। सबसे पहले

दक्षिण का तोरण बना और इसके बाद क्रमश उत्तरी, पूर्वी और पश्चिमी तोरण बने। इन तोरणो की कला की क्रमिक उन्नति मे ऐसा पता लगता है कि ये सब तोरण 20 या 30 वर्षों के अन्तर मे बने होगे। इन चारो तोरणो की बनावट एक-सी है। हर एक तोरण मे दो स्तम्भ हैं, जिनकी खुभियो (Capital) पर तीन-तीन सूचिया अवलम्बित हैं। खुभियो पर सटे पेट वाली सिंह मूर्तिया या बौनो की मूर्तिया, और उन्ही खुभियो मे निकलती हुई यक्षिणियो, वृक्षिकाओ और शाल-भञ्जिकाओ की मूर्तिया सबसे निचली सूची के बाहर निकले हुए कोनो को सभाले हुए थी। सूचियो के अन्तरालो मे भी यक्षिणियो इत्यादि की मूर्तिया थी और सूचियो के घुमटेदार अशो पर हाथी या सिंह की मूर्तिया थी। बाकी बचे हुए अन्तर स्थान मे हाथीसवार और घुडसवारो की मूर्तियां थी। इन सवारो की बनावट मे एक विशेषता यह थी कि ये दो मुहवाले थे। दक्षिणी तोरण की सूचियो के अन्त स निकलती हुई गधर्व मूर्तिया है। उत्तरी तोरण मे ऐसी ही गधर्व मूर्तियां सबमे पहले निचले सूची के छोरो से निकलती दिखलाई गई हैं। शेष दोनो तोरणो मे ये मूर्तिया नही पाई जाती। तोरणो के सिरे पर हाथी या सिंह पर चढे हुए धर्मचक्र की आकृति तथा उसके बगल मे त्रिरत्न अकित थे। स्तम्भ इत्यादि जातक कथाओ तथा नाच-रग, आपानक इत्यादि के दृश्यो मे भरे हैं। इनमे चैत्र-वृक्षो तथा स्तूपो के, जो गौतम बुद्ध तथा और मानुषी बुद्धो के चिह्नस्वरूप थे, काल्पनिक पशु-पक्षियो और गधर्वों के तथा और भी बहुत से चित्र-विचित्र अलकरणो से अकित है।

साची के स्तूप नम्बर दो पर बने हुए अर्धचित्रो की जाच-पडताल से हमे इस बात का पता चलता है कि अधिकतर चित्र भरहुत की पुरानी परिपाटी के अनुसार बने थे, लेकिन उनमे कुछ ऐसे भी चित्र है जिनसे कला के विकसित सिद्धान्तो का आभास मिलता है। कारीगरी की यह असमानता भरहुत की कला मे भी पाई जाती है। इस अनैक्यता का कारण भरहुत की कला का प्राचीन दासकला के बन्धनो मे निकलकर प्रस्तर को अपना आलम्बन बनाना भी हो सकता है। नवीन आलम्बन के लिए शिल्पियो का धीरे-धीरे तैयार होना स्वाभाविक था। इस तैयारी के युग मे कुछ शिल्पी अधिक ग्रहणशील रहे होगे और कुछ कम। इसीलिए कुछ चित्र अच्छे बन पडे है और कुछ बुरे। भरहुत के करीब 100 वर्ष बाद जब साची के तोरण बने तब कला कही अधिक उन्नतशील हो चुकी थी लेकिन फिर भी इसमे पुरानी कला के रूढिगत सिद्धान्त अपना सिर बीच-बीच मे ऊपर उठाते दीख पडते हैं। प्राचीनता की इस झलक को कलाकारो की धार्मिक कट्टरता नही कहा जा सकता। असल मे बात यह है कि भारतीय कला सदा से प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रूढिगत सिद्धान्तो के पक्ष मे रही है। लेकिन प्रगतिशीलता की भी उसमे कमी नही थी। जब-जब ऐसे अवसर आए जिनमे

कला को एक नया रास्ता ग्रहण करना पडा तब-तब भारतीय कलाकारो ने सहर्ष नयी कला का स्वागत किया। लेकिन बाप-दादो के समय से चली आई हुई कला को एकदम से भूल जाना असम्भव था और इसलिए हम सातवाहन-युग की विकसित कला मे भी कभी-कभी पुरानेपन की झलक पा जाते हैं। कारीगरी की असमानता का एक दूसरा कारण हो सकता है कि सब कारीगर विशेषकर मूर्तिकार अथवा चित्रकार एक ही साचे मे ढले हुए नही होते। इनमे कुछ अच्छे होते हैं, कुछ मध्यम और कुछ कामचलाऊ। एक ऐसे बडे काम मे जहा ऐसे सैकडो कारीगर लगे हो यह अवश्यम्भावी है कि थोडे-से मामूली कारीगर भी काम मे लग गए हो, जिनके घटिया काम से पूरे अलकार मे कही-कही विषमता आ गई हो। उदाहरणार्थ, भरहुत के अजातशत्रुवाले स्तभ (कनिघम, स्तूप ऑफ भरहुत, प्ले० 17) की तुलना साची के उसी प्रकार के दृश्य से कीजिए (मार्शल, वही जि० 3, प्ले० 34 सी और 35 ए) तो पता चलता है कि इस फलक मे भरहुत-युग से गढन अच्छी है, रेखाए भी सुस्पष्ट है, फिर भी कलाकार कुछ प्राचीन रूढियो को छोडने मे असमर्थ-सा दीख पडता है। मनुष्य एक-दूसरे से सटे हुए एक के ऊपर दूसरी कतार मे प्राचीन परिपाटी के अनुसार खडे किए गए है। लेकिन साथ ही साथ प्राचीन मुद्राओ के प्रदर्शन का यत्न यहा नही दीख पडता। शुग-काल मे सम्मुख चेहरा, उलटा चेहरा तथा एक-चश्मी शबीह का अधिक प्रयोग होता था, तीन-चौथाई चेहरा तो कभी-कभी ही दिखलाया जाता था। पर साची के प्राचीन रूढिगत अर्धचित्रो मे चेहरे अधिकतर तीन चौथाई अग मे दिखलाए गए है। भरहुत के चित्रो मे दूरी दिखलान के लिए मूर्तियाँ एक-दूसरे के ऊपर कतारो से सजा दी गई है लेकिन उनकी नाप ज्यो की त्यो रक्खी गई है, दूर होने स उनमे छुटाई-बडाई नही आने पायी है। साची के पुराने अर्धचित्र मे मूर्तिया एक ही सतह पर रखी गई है, लेकिन दूरी दिखलाने के लिए पिछली कतारो मे मूर्तिया कद म कुछ छोटी दिखला दी गई है। साची के अर्धचित्रो मे एक बात मान ली गई-सी दीख पडती है कि सबसे निचली पक्ति दर्शक से सबसे पास वाली है और सिरे की पक्ति सबसे दूर।

साची के रूढिगत चित्रो का विवरण समाप्त करने के पहले हम उनकी बारीकियो का सक्षेप नीचे दे देते है। सबस पहले इन अर्धचित्रो मे हम प्राचीन प्रथा के अनुसार मूर्तियो की समानान्तर पक्ति-बद्धता देखते है। इनम दूरी दिखाने की प्रथा नही-सी है। भरहुत की तरह चित्र कठपुतली की तरह न होकर उनमे भाव की योजना है, जिससे उनम एक स्फूर्ति तथा जीवन का उद्भास होता है। लेकिन एक बात मार्क की है कि इन चित्रो मे व्यक्तिगत सादृश्य की कमी है।

साची के बाकी अर्धचित्र, जिनकी सख्या 90 प्रतिशत से कम नही है, रूढ़िवाद से प्रायः परे है। कही-कही प्राचीन रूढिया कलाकार के मार्ग मे रोड़े अटकाने

का प्रयत्न करती हैं। पर उनमे इन चित्रो का कुछ बनता-बिगडता नही। जैसा पहले कहा जा चुका है, इन तोरणो के बनाने मे बहुत से कारीगर लगे होंगे, इनमे कुछ अच्छे होगे और कुछ बुरे। इस बात का पता साची के अच्छे-बुरे चित्रो से मिलता है। 'बुद्ध चिह्न के लिए लड़ाई' (*मार्शल, वही, जि० 1, पृ० 112*) वाले अर्धचित्र मे साची की कला उच्चतम शिखर पर पहुच गई। इसमे बाएँ तरफ एक नगर है जिसके फाटक की ओर नागरिक सिपाही, राजे-महराजे कुछ हाथी तथा घुडसवार, कुछ रथी, घटा, शख तथा वशी के तुमुल निनाद से आपूरित भीडभाड के साथ आगे बढ रहे है। ससार मे शायद कोई भी ऐसा अर्धचित्र नही जहा भीडभाड का, जिसमे राजे-महाराजे गरीबों से कन्धा सटाकर चल रहे हो, जिनमे प्राचीन सभ्यता के बाह्य आवरण रूप शान-शौकत तथा आगे बढते हुए जनसमूह की गति का इतना सुन्दर चित्रण हो। 'मार-विजय' (वही, पृ० 114) भी साची की कला के उत्कृष्ट उदाहरणो मे है। मध्य मे बुद्ध का सिहासन पीपल के नीचे लगा हुआ है। दाहिनी ओर मार की पराजित सेना अस्तव्यस्त होकर भाग रही है तथा बाईं ओर देवगण बाजे बजाते हुए तथा झडे हिलाते हुए सिहासन की वन्दना करते हुए आगे बढ रहे हैं। प्राचीन अनुश्रुतियो के आधार पर देव-मूर्तियो का अकन एक-सा हुआ है, लेकिन मार-सेना का अकन बहुत ही ओजपूर्ण है। भागती हुई सेना मे जिसमे पशु, दानव इत्यादि हैं, एक गति लक्षित होती है, इसमे शान्त तथा रौद्र का अपूर्व सामजस्य होते हुए भी थोडा-सा हास्य का पुट है। भागता हुआ एक दानव अपने गिरे हुए साथी को त्रिशूल से गोदकर उठा रहा है। मालूम पडता है हडबडाहट मे वह अपना-पराया भूल गया है, अथवा इस गडबडी मे अलक्षित भाव से शायद वह अपनी पुरानी शत्रुता का बदला निकाल रहा है। जो कुछ भी हो, इस अकन मे दानवता के प्रति एक व्यग्य है।

साची के अर्धचित्रो मे कला की दृष्टि से सुन्दर चित्र इतने अधिक है कि उनका वर्णन इस छोटे से लेख मे नही हो सकता। केवल इन चित्रो के विषयमात्र का उल्लेख हो सकता है। (1) इन चित्रो मे बुद्ध-जीवन से सम्बन्ध रखने वाले यथा जन्म, महाभिनिष्क्रमण, सम्बोधि, धर्मचक्र प्रवर्तन तथा महापरिनिर्वाण के बहुत से चित्र हैं, जो दुहराए भी गए हैं। जातको से सम्बन्धित भी बहुत से चित्र हैं। (2) दूसरी श्रेणी मे यक्ष और यक्षिणियो की मूर्तिया आती है। साची के चारो तोरणो के निचले भाग मे उभारदार यक्ष मूर्तिया खुदी हुई हैं। शायद ये लोकपाल हो। (3) तीसरी श्रेणी मे पशु-पक्षियो की मूर्तिया आती है। चित्रो मे इनका अकन प्राय जोडो मे है। पशुओ की योजना अधिकतर 'नकली खुभियो' पर की गई हैं। पशुओ मे कुछ तो वास्तविक हैं और कुछ काल्पनिक। कभी-कभी पशु सजे हुए और वाहकयुक्त है, और कभी सादे। पशुओ मे बकरे, घोड़े, बैल, भैंसें, हिरन, ऊट, हाथी, सिंह तथा सिंह-शार्दूलो की अधिकता है। सिंह-

शार्दूल तथा पक्ष-युक्त सिंह भारतीय कला मे पश्चिम एशिया की कला से आए। मयूर का उपयोग कभी-कभी सूचियो के आगे बढे हुए अश को सजाने के लिए हुआ है।

साची के तोरण अपने भिन्न-भिन्न प्रकार के पुष्प-अलकरणो के लिए प्रसिद्ध हैं। साची में अकित आलकारिक पुष्प और पौधे सादृश्य लिये हुए तो है ही, पर साथ ही साथ भारतीय कलाकारो ने अपनी आलकारिक प्रवृति से उनके अकन मे एक नया चमत्कार पैदा कर दिया है। अधिकतर पुष्प-अलकरण भारतीय हैं तथा उनके नक्शे भारतीय कलाकारो के सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण के द्योतक हैं। पुष्पो मे सबसे अधिक उपयोग कमल का हुआ। कमल भारतीय सभ्यता मे अष्ट-निधियो मे एक माना गया है तथा सब वरो के दायक तथा कल्पद्रुम और कल्प लता से इसका सम्बन्ध है। निधि का द्योतक और वरदायक होने से ही सम्भवत यह बौद्धधर्म और सघ मे बुद्ध का प्रतीक स्वरूप हो गया। साची में कही-कही इसका अकन सीधा और ज्यामितिक है, और कही-कही इसकी योजना गोमूत्रिकाओ मे हुई है। कमल के लचीले बल खाते हुए डठल अलकार में एक अपूर्व माधुरी का समावेश करते है। साची मे ऐसी गोमूत्रिकाए सीधेसादे गढ़े हुए पत्थर के रूखेपन को बहुत अश तक हटाने मे समर्थ होती हैं। साची मे एक जगह अगूर की लता का भी आलकारिक प्रयोग है। यह अलकार बाहर से लिया गया मालूम पडता है। लेकिन इस अलकरण के अन्तरालो मे अकित खिले हुए कमल तथा पशुद्वयो की मूर्तिया इस अलकार को शुद्ध भारतीय रूप देने में समर्थ होती हैं।

साची मे जिस कला का परिवर्द्धन और सस्कार हुआ, उस कला का प्रसार सारनाथ तक हुआ। सारनाथ में साची काल के बारह उत्कीर्ण स्तम्भ पाए जाते हैं। भीटा से एक मिट्टी की बनी हुई एक गोल तख्ती मिली है, जिस पर की कारीगरी साची के अर्धचित्रो मे बहुत मिलती है। ऐसा लगता है, मानो किसी हाथी-दांत के बने छापे से यह नक्शा छाप दिया गया हो।

दक्षिण मे इस काल की कला का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण गुडिमल्ल का शिवलिंग है। परशुरामेश्वर नाम मे उत्तरी आरकट जिले मे रेणुगुट के पास गुडिमल्ल मे आज के दिन भी शिव की इस भव्य मूर्ति की पूजा होती है। लिंग पाच फीट ऊचा है और उसके निचले भाग मे दो भुजाओ वाले शिव की मूर्ति अकित है। मूर्ति के हाथो मे अकस्वरूप मेढा, परशु तथा पूर्ण घट हैं। मूर्ति एक जमीन पर पडे हुए यक्ष पर स्थित है। पत्थर पर बडी अच्छी पालिश है तथा मूर्ति भरहुत और साची की यक्ष मूर्तियो मे बहुत कुछ मिलती है, लेकिन कारीगरी और सच्ची अभिव्यक्ति की दृष्टि से साची और भरहुत के अर्धचित्रो से कही बढकर है।

महाराष्ट्र मे विक्रम-युग मे या इससे थोडा हट बढकर लेणों की बनावट मे तथा सजावट मे उन्नति हुई। नासिक के पाण्डुलेण मे चैत्य-गृह तथा नहपान-विहार इस युग की देन हैं। चैत्य-गृह का बाहरी रुख दो खण्डो मे विभाजित है। निचले हिस्से मे एक महराबदार दरवाजा है तथा दूसरे खण्ड मे बडा 'गवाक्ष' एक (चन्द्रशाला वातायन) है। द्वार पर यक्ष-मूर्ति की योजना है। नहपान-विहार मे खम्भो के पाये घटाकार हैं तथा खुभियाँ घटाकार। यह अलकार कार्ले के चैत्यगृह मे अधिक विकसित अवस्था मे पाया जाता है। कार्ले की लेण भारतीय वस्तुकला के उत्कृष्टतम उदाहरणो मे एक है और शायद इसका समय विक्रम के समय मे हो या कुछ हटकर। इस लेण का नाप 124 × 45 फीट है। स्तूप दो वेदिकाओ से परिवेष्टित है तथा ऊपर का लकडी का पुराना छत्र अब भी सुरक्षित है। नासिक की तरह चैत्यगृह का मुखडा दो खडो मे विभाजित है। निचले खण्ड मे तीन द्वार है तथा ऊपरी सहन मे एक बडा चन्द्रशाला वातायन है। चैत्य-गृह के दोनो ओर गलियारे छोडते हुए स्तम्भो की पक्तिया हैं। इनके सिरे से उठती हुई काठ की तिल्लिया अण्डाकार छत को छाती थी। नीचे के खण्ड मे द्वारो के अन्तरालो मे मूर्तिया अकित है। दाताओ की अपनी धर्मपत्नियो के साथ वृहदाकार मूर्तियाँ तो प्रथम शताब्दी ई० पू० की हैं, लेकिन बुद्ध की उत्कीर्ण मूर्तिया गुप्तकाल की बनी मालूम पडती हैं। निचले दर-वाजो के आगे निकलता हुआ एक दूसरा द्वार है जिसके बगल मे कई खण्ड तक वास्तु-अलकरण (इमारती लिखावट) अकित है। इनमे सबसे निचली इमारती लिखावट को हाथियो की मूर्तिया अपनी पीठो पर सभाले हुए हैं। पत्थर मे बहुत से गड्ढे इस बात के साक्षी हैं कि सिंहद्वार के पहले कोई लकडी का दरवाजा या पोल रही होगी। चैत्य के बाहर एक धर्मचक्र से मडित ध्वज स्तम्भ है। इस कला की ओर भी बहुत सी छोटी मोटी गुफाए है जिनका विस्तार भय से यहा वर्णन नही किया जा सकता। उसकी कला के क्षेत्र म विशेष महत्ता भी नही है।

अजन्ता की नौवी और दसवी गुफाओ से इस बात का पता चलता है कि विक्रम-युग मे चित्रकला कितनी उन्नत अवस्था को पहुच चुकी थी। इन गुफाओ के चित्रो मे साची की तरह साफे बाधे हुए आदमी तथा लम्बे तथा बहगीवाले चोगे पहने हुए शिकारी तथा सिपाही दिखलाए गए है। इस काल की चित्रकला म वह तरलता तथा भावयोजना जिनसे गुप्तकाल मे अजन्ता के चित्रो को अमरत्व मिला नही है, फिर भी उनमे एक ओज और गुरुता है। रगो के सवाल जवाब से इस काल के चित्रकार अवगत थे, तथा रगो के भारी और हलकेपन से पोल (model-ling) दिखलाने मे भी वे समर्थ थे। साची मे, जैसा कहा जा चुका है, मानव-आकृति के अकन में सादृश्य की कमी है लेकिन अजन्ता के चित्रो की आकृतियो में अपनापन है।

शार्दूल तथा पक्ष-युक्त सिंह भारतीय कला में पश्चिम एशिया की कला से आए। मयूर का उपयोग कभी-कभी गुनियों के आगे बढ़े हुए अंश को सजाने के लिए हुआ है।

सांची के तोरण अपने भिन्न भिन्न प्रकार के पुष्प-अलंकरणों के लिए प्रसिद्ध हैं। सांची में अंकित आलंकारिक पुष्प और पौधे सादृश्य लिये हुए तो हैं ही, पर साथ ही साथ भारतीय कलाकारों ने अपनी आलंकारिक प्रवृत्ति से उनके अंकन में एक नया चमत्कार पैदा कर दिया है। अधिकतर पुष्प-अलंकरण भारतीय हैं तथा उनके नक्शे भारतीय कलाकारों के सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण के द्योतक हैं। पुष्पों में सबसे अधिक उपयोग कमल का हुआ। कमल भारतीय सभ्यता में अष्ट-निधियों में एक माना गया है तथा सब वरों के दायक तथा कल्पद्रुम और कल्प लता से इसका सम्बन्ध है। निधि का द्योतक और वरदायक होने से ही सम्भवतः यह बौद्धधर्म और संघ में बुद्ध का प्रतीक स्वरूप हो गया। सांची में कहीं-कहीं इसका अंकन सीधा और ज्यामितिक है, और कहीं-कहीं इसकी योजना गोमूत्रिकाओं में हुई है। कमल के लचीले बल खाते हुए डंठल अलंकार में एक अपूर्व माधुरी का समावेश करते हैं। सांची में ऐसी गोमूत्रिकाएं सीधेसादे गढ़े हुए पत्थर के रूखेपन को बहुत अंश तक हटाने में समर्थ होती हैं। सांची में एक जगह अंगूर की लता का भी आलंकारिक प्रयोग है। यह अलंकार बाहर से लिया गया मालूम पड़ता है। लेकिन इस अलंकरण के अन्तरालों में अंकित खिले हुए कमल तथा पशुद्वयों की मूर्तियां इस अलंकार को शुद्ध भारतीय रूप देने में समर्थ होती हैं।

सांची में जिस कला का परिवर्द्धन और संस्कार हुआ, उस कला का प्रसार सारनाथ तक हुआ। सारनाथ में सांची काल के बारह उत्कीर्ण स्तम्भ पाए जाते हैं। *भीटा से एक मिट्टी की बनी हुई एक गोल तख्ती मिली है, जिस पर की* कारीगरी सांची के अर्धचित्रों से बहुत मिलती है। ऐसा लगता है, मानो किसी हाथी-दांत के बने छापे से यह नक्शा छाप दिया गया हो।

दक्षिण में इस काल की कला का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण गुडिमल्लम का शिवलिंग है। परशुरामेश्वर नाम से उत्तरी आरकट जिले में रेणुगुंट के पास गुडिमल्लम में आज के दिन भी शिव की इस भव्य मूर्ति की पूजा होती है। लिंग पांच फीट ऊंचा है और उसके निचले भाग में दो भुजाओं वाले शिव की मूर्ति अंकित है। मूर्ति के हाथों में अकस्वरूप मेढा, परशु तथा पूर्ण घट हैं। मूर्ति एक जमीन पर पड़े हुए *यक्ष पर स्थित है। पत्थर पर बड़ी अच्छी पालिश है तथा* मूर्ति भरहुत और सांची की यक्ष मूर्तियों से बहुत कुछ मिलती है, लेकिन कारीगरी और सच्ची अभिव्यक्ति की दृष्टि से सांची और भरहुत के अर्धचित्रों से कहीं बढ़कर है।

महाराष्ट्र मे विक्रम-युग मे या इससे थोडा हट बढकर लेणो की बनावट मे तथा सजावट मे उन्नति हुई। नासिक के पाण्डुलेण मे चैत्य-गृह तथा नहपान-विहार इस युग की देन हैं। चैत्य-गृह का बाहरी रुख दो खण्डो मे विभाजित है। निचले हिस्से मे एक महराबदार दरवाजा है तथा दूसरे खण्ड मे बडा 'गवाक्ष' एक (चन्द्रशाला वातायन) है। द्वार पर यक्ष-मूर्ति की योजना है। नहपान-विहार मे खम्भो के पाये घटाकार हैं तथा खुभियाँ घटाकार। यह अलकार कार्ले के चैत्यगृह मे अधिक विकसित अवस्था मे पाया जाता है। कार्ले की लेण भारतीय वस्तुकला के उत्कृष्टतम उदाहरणो म एक है और शायद इसका समय विक्रम के समय मे हो या कुछ हटकर। इस लेण का नाप 124× 45 फीट है। स्तूप दो वेदिकाओ से परिवेष्टित है तथा ऊपर का लकडी का पुराना छत्र अब भी सुरक्षित है। नासिक की तरह चैत्यगृह का मुखडा दो खडो मे विभाजित है। निचले खण्ड मे तीन द्वार हैं तथा ऊपरी सहन मे एक बडा चन्द्रशाला वातायन है। चैत्य-गृह के दोनो ओर गलियारे छोडते हुए स्तम्भो की पक्तिया हैं। इनके सिरे मे उठती हुई काठ की तिल्लिया अण्डाकार छत को छाती थी। नीचे के खण्ड मे द्वारो के अन्तरालो मे मूर्तिया अकित हैं। दाताओ की अपनी धर्मपत्नियो के साथ वृहदाकार मूर्तियाँ तो प्रथम शताब्दी ई० पू० की हैं, लेकिन बुद्ध की उत्कीर्ण मूर्तिया गुप्तकाल की बनी मालूम पडती हैं। निचले दरवाजो के आगे निकलता हुआ एक दूसरा द्वार है जिसके बगल मे कई खण्ड तक वास्तु-अलकरण (इमारती लिखावट) अकित हैं। इनमे सबसे निचली इमारती लिखावट को हाथियो की मूर्तिया अपनी पीठो पर सभाले हुए हैं। पत्थर मे बहुत से गड्ढे इस बात के साक्षी हैं कि सिंहद्वार के पहले कोई लकडी का दरवाजा या पोल रही होगी। चैत्य के बाहर एक धर्मचक्र से मडित ध्वज-स्तम्भ है। इस कला की ओर भी बहुत-सी छोटी मोटी गुफाए हैं जिनका विस्तार भय स यहा वर्णन नही किया जा सकता। उसकी कला के क्षेत्र म विशेष महत्ता भी नही है।

अजन्ता की नौवी और दसवी गुफाओ से इस बात का पता चलता है कि विक्रम-युग में चित्रकला कितनी उन्नत अवस्था को पहुच चुकी थी। इन गुफाओ के चित्रो मे साची की तरह साफे बाधे हुए आदमी तथा लम्बे तथा बहगीदाने चोगे पहन हुए शिकारी तथा सिपाही दिखलाए गए हैं। इस काल की चित्रकला म वह तरलता तथा भावयोजना जिनमे गुप्तकाल मे अजन्ता के चित्रो को अमरत्व मिला नही है, फिर भी उनमें एक ओज और गुरुता है। रगो के सवार-जवाव से इस काल के चित्रकार अवगत थे, तथा रगो के भारी और हलकेपन से पोत (modelling) दिखलाने मे भी वे समर्थ थे। साची मे, जैसा कहा जा चुका है, मानव-आकृति के अकन मे सादृश्य की कमी है लेकिन अजन्ता के चित्रो की आकृतियो मे अपनापन है।

विक्रम-काल की कला के उपरोक्त विवरण से यह पता चल गया होगा कि देश की राजनीतिक प्रगति के हाथ मे हाथ मिलाकर कला किस तरह आगे बढ रही थी। भारतीय दृष्टिकोण से तो कला की यह उन्नति विक्रम-युग के सर्वांगीण सास्कृतिक अभ्युत्थान की एक अग मात्र थी। लेकिन कुछ विदेशी विद्वानो के मतानुसार इस उन्नति का कारण भारतीय कला पर पजाब तथा बाह्लीक की ग्रीक कला का प्रभाव है। यह एक अजीब सी बात है। अनेक युगो मे जब-जब भारतीय सस्कृति अथवा कला ने आगे कदम उठाया है तब-तब यूरोपीय विद्वानो ने यह दिखलाने की भरपूर चेष्टा की है कि यह उन्नति विदेशी छाप को लेकर हुई, मानो भारतीयो मे स्वत उन्नत होने की शक्ति का विकास ही नही हुआ था। इस सम्बन्ध मे एक ध्यान देने योग्य बात है। ससार मे कला की उन्नति तथा अवनति का इतिहास देखने मे हम उस नैसर्गिक नियम का पता चलता है जिसके अप्रतिहत चक्र की अनुगामिनी होकर कला एक समय आगे बढती हुई उच्चतम आदर्शों तक पहुँच जाती है और फिर उसी कला के रूढिगत सिद्धान्त धीरे-धीरे स्वतत्र अभिव्यक्ति का गला घोटकर उसे गहरे खड्ड मे गिरा देते हैं। यह नियम ससार की सब कलाओ के लिए लागू रहा है और भारतीय कला भी इस नियम का अपवाद नही है। इसलिए यह कहना कि समय-समय से विदेशी सिद्धान्त ही गिरती हुई भारतीय कला को स्फूर्ति प्रदान करते रहे हैं, गलत होगा। इस बात को मानने मे किसी को कोई आपत्ति नही हो सकती कि भारतीय कला ने समय-समय पर बहुत से अलकार विदेशी कलाओ से लिये हैं तथा उनको ठेठ भारतीय साचे मे ढालकर इतना अपना लिया है कि उनकी जड का पता लगाना तक मुश्किल हो जाता है। लेकिन इससे यह तो नही कहा जा सकता कि भारतीय कला की सर्वांगीण उन्नति उन थोडे से विदेशी अलकारो पर ही अवलबित है। उस उन्नति की जड की खोज मे हम उस काल विशेष की राजनीतिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक क्षेत्रो की जाच पडताल करनी होगी जिनका अवलम्बन लेकर कला आगे बढती है। साची की कला के बारे मे सर जान मार्शल का यह कहना कि साची के अर्धचित्रो मे सादृश्ययुक्त अकन है, केवल दिमागी उपज ही नही कुछ ठीक नही मालूम पडता। नमूने के सामने बिठाकर या प्रकृति की शोभा निरीक्षण करते हुए चित्र बनाने की प्रथा भारतीय पद्धति के विपरीत है। चितन से ही आकृति को मूल रूप देना भारती कला की एक विशेषता रही है। इसका प्रमाण भरहुत मे तथा साची मे अर्धचित्रो से मिलता है तथा गुप्तकाल की चिन्तनशील कला से। मार्शल जब सादृश्य की ओर इशारा करते है तो उनका सम्भवत तात्पर्य यह है कि इस युग मे भारतीय कला मे सादृश्य विदेशी कला की देन है। लेकिन जब हम साची की कला मे सादृश्य की ओर झुकाव देखते हैं तो हमे यह न समझ लेना चाहिए कि मानसिक चिन्तन से रूप-भेद की कल्पना

जो प्राचीन भारतीय कला का आदर्श था, इस युग मे कोरे सादृश्यवाद मे परिणत हो गया। इसका तो केवल यही उत्तर है कि इस काल मे मानसिक शक्तियो मे दृढीकरण से रूपभेद की कल्पना को एक सहारा मिला और यही कारण है कि तत्कालीन मूर्तियो मे वाह्याको का भरहुत की मूर्तियो के बनिस्वत अधिक सुस्पष्ट भाव से अकन हुआ है।

साची के अर्धचित्रो का विधान ऐसे सुचारु रूप से हुआ है कि प्रस्तर मे अकित कथाए अपने आप बोलती-सी दीख पडती हैं। उस समय की सस्कृति मे इतिहास के लिए ये चित्र रत्नभाण्डागार की तरह हैं। साची की कला का विषय बौद्ध धर्म है। अर्धचित्रो मे अकित जातक-कथाए दर्शक के हृदय को बौद्धधर्म की ओर आकर्षित करती हैं। लेकिन विचार करके देखा जाय तो पता लगता है कि जिस जीवन का चित्रण साची के अर्धचित्रो मे दिया गया है उनका धर्म के गूढ तत्त्वों से बहुत कम सम्बन्ध है। गुप्तकाल की बौद्ध या शैव या वैष्णव मूर्तियो मे आत्मचिन्तन के गूढ तत्त्वो का सन्निवेश है। भरहुत तथा साची की कला मे यह बात नहीं पायी जाती, इसका उद्देश्य आत्मचिन्तन तथा साधना को असाधारण जनता के सामने रखना नही है, इसका उद्देश्य तो जनसमूह के उस जीवन को रखना है जो बिना किसी बनाव-चुनाव के उनका अपना है। स्खलितवस्त्रा-यौवनोन्मत्ता यक्षिणियो की कल्पना के उद्गम स्थान को ढूढने के लिए हमे बौद्ध या ब्राह्मण धर्म की खोज नही करनी चाहिए। इस कला का उद्गम तो उस हसते-खेलते समाज से हुआ, जिसके जीवन म काम और अर्थ की वही महिमा थी जो धर्म और मोक्ष की। अगर हम थोडी देर के लिए यह भी मान लें कि जिस लोक-धर्म की व्याख्या साची के अर्धचित्रो द्वारा की गई है उसका उद्देश्य कामोत्तेजकता की आड मे धर्मवृद्धि था तो यह कहना पडेगा कि वह लोक-धर्म बौद्धो या उपनिषदो की शिक्षा के सर्वदा विपरीत था। इस लोक-धर्म की जड तो मातृपूजा की उस प्राचीन परिपाटी म मिलेगी जो ससार के कोने-कोने मे फैली हुई थी। यही कारण है कि बौद्ध और ब्राह्मण दार्शनिको ने अपनी नित्य-साधना मे कला को विशेष महत्त्व नही दिया। क्योकि ई० पू० प्रथम शताब्दी तक कला रसास्वादन या ब्रह्मास्वाद का सोपान नही हो गई थी। बौद्ध धर्म ने तो कला का माध्यम केवल इसलिए स्वीकार किया कि उसके द्वारा साधारण वर्ग का मन धर्म की ओर आकृष्ट हो सके। यह तभी सम्भव था जब साधारण जनता को मनचीती वस्तु मिले, जो उसकी बुद्धि को कसरत न कराकर ठीक ऐसे अलकार, आकृतिया तथा दृश्य उनके सामने रक्खे, जिनमे वह अपना प्रतिबिम्ब देख सकें।

विक्रम । ऐतिहासिक उल्लेख

□ श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव

हमारे परम सौभाग्य से वीर विक्रमादित्य का लीलाक्षेत्र अवन्ति-मालवा प्रदेश और उसकी राजधानी उज्जैन, राष्ट्र-सस्कृति के महान् रक्षक एव प्रचारक पुनीत शिन्दे राजवश के अधीन होने के कारण हमको भारतीय सभ्यता के उस सर्वोत्कृष्ट पुरुष श्रीविक्रमादित्य के अवतारकृत्य की द्वितीय सहस्राब्दी समाप्त होने के उपलक्ष्य मे, उत्सव सम्पन्न करने का जो विशिष्ट अवसर प्राप्त हुआ है, उसके विषय मे केवल इतना ही कथन अलम होगा कि सुयोग के कारण उनके विषय मे हमारे देश के कोने-कोने मे जो विविध उत्सव, सहस्रो सभाए, विभिन्न चर्चा और तत्कालीन भारतीय सस्कृति के विवेचन सम्बन्धी विद्वानो मे विचार विनिमय हुआ, यदि वह ग्रन्थ-रूप मे प्रकाशित किया जाय तो उसके अनेक सहस्र पृष्ठ सहज ही मे हो सकेंगे। भारतीय सस्कृति सम्बन्धी ऐसी विवेचनात्मक और परम रमणीय तथ्यबोधोत्पादक चर्चा कम-से-कम विगत वर्षों मे नहीं हुई।

वास्तव मे श्री सावरकरजी के शब्दो मे 'विक्रम' अब कोई व्यक्ति विशेष नही, वरन् वह भारतीय सस्कृति का प्रतीक बन गया है। खाल्डियन, सुमेरियन, ईजीप्शियन आदि सभ्यताए नष्ट-भ्रष्ट हो गई। आज उनका नामलेवा तक नही रहा, किन्तु हम उसी पूज्य पुरुष के वशज और उत्तराधिकारी दो हजार वर्षों के असख्य दिवस गिन-गिनकर उनके द्वारा प्रवर्तित सवत्सर की द्वि सहस्राब्दी समाप्ति-उत्सव सम्पन्न करने को जीवित हैं, क्या यह हमारे लिए कम अभिमान और स्फूर्ति का विषय है? विक्रम नामक एक ही व्यक्ति हुआ या अनेक, यह विवाद भी इस बात का परिचायक है कि भारतीय सस्कृति ही एक से अधिक पराक्रमी पुरुषो की परम्परा निर्माण कर सकती है। आज इस देश मे शकारि विक्रम का नाम अमर है, क्योकि उन्ही के प्रबल प्रताप और पुरुषार्थ के कारण शको का नामोनिशान तक यहा नही रहा। ऐसी दशा म क्या विक्रम का नाम कभी 'यावत् चन्द्र दिवाकरौ' इस धरातल से विस्मृत हो सकता है?

विक्रम नामधारी सम्राट ईसा से पूर्व हुए या अनन्तर? उस नाम का कोई पुरुष हुआ भी या यह केवल उपाधि है, आदि प्रश्नो के विषय मे कई मत हैं।

एक पक्ष प्रबल युक्तियो द्वारा वर्तमान विक्रम-सवत्-प्रवर्तक उस महान् व्यक्ति विक्रमादित्य का ईसा पूर्व 57 वर्ष मे होना घोषित करता है तो दूसरा पक्ष गुप्तवशीय सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त को ही वास्तविक विक्रमादित्य उपाधिधारी बताता है। कुछ विद्वान् आध्रभृत्य शातकर्णि, पुष्यमित्र, एजेस, कनिष्क, दशपुर के राजा यशोधर्मदेव आदि विभिन्न शासको को ही विक्रमादित्य घोषित करते हैं। विक्रम शब्द के साथ ही शकारि, कालिदास, नवरत्न, विक्रम-सवत-गणना की प्रथा आदि विषयो को सयुक्त कर देने से विक्रमादित्य का यथार्थ इतिहास अत्यन्त क्लिष्ट एवम दुरूह बन गया है। ऐतिहासिक दतकथाओ मे कुछ विकृति या तोड-मरोड भले ही हो जाए, किन्तु उनका आधार कुछ ऐतिहासिक तथ्य अवश्य ही होता है, अतएव दो हजार वर्षों जैसे लम्बे समय तक जो बात इस देश मे प्रचलित हो रही हो, वह सहसा निर्मूल होगी, यह बात मानने को कोई भी तैयार नही होगा। अहमदाबाद के प्रसिद्ध इतिहासकार श्री शाह अपने 'प्राचीन भारतवर्ष' मे विक्रम की उपाधि धारण करने वाले 15 व्यक्ति बताते हैं, अतएव जिस व्यक्ति का अनुकरण इतने अधिक रूप मे पाया जाए, क्या उसके अस्तित्व के विषय मे ही शका प्रदर्शित करना योग्य कहा जा सकता है ? शकारि विक्रमादित्य ईसा पूर्व 57वें वर्ष मे अवश्य हुए, इसमे कोई सन्देह नही। भारतीय परम्परा के अनुसार जहा एक ही वश मे पूर्वजो के नाम दुहराने की प्रथा अस्तित्व मे है, वहा एक से अधिक विक्रम नामधारी व्यक्तियो का प्रमाण मिल जाय तो तत्सबन्धी शका होना भी स्वाभाविक ही है। 25 वर्ष पूर्व किसको ज्ञात था कि हमारे देश मे पाच हजार वर्ष पूर्व के 'मोहन जोदडो' और 'हडप्पा' जैसे लुप्त नगर प्रकट होंगे। इसी प्रकार कौन कह सकता है कि यदि सौभाग्य से उज्जैन या मालवा के प्राचीन स्थानो के अवशेषो का उत्खनन किया जाए तो विक्रम सम्बन्धी और भी प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण साधन उपलब्ध नही होगे, अतएव हमे इस लेख के द्वारा यही देखना है कि विक्रम सम्बन्धी वास्तविक तथ्य क्या है ?

विक्रम सम्बन्धी ख्यातो का साराश तो यही है कि विक्रम उज्जयिनी (अवन्तिका) के राजा गन्धर्वसेन के पुत्र थे। अपने बडे भाई शख को मारकर वे गद्दी पर बैठे। अनन्तर अपना राज्य अपने छोटे भाई भर्तृहरि को देकर वे तप करने वन को चले गये, किन्तु भर्तृहरि के राज्य से उदासीन हो जाने के कारण फिर से उन्होन राजपाट सभाला। उनकी भगिनी का नाम मैनावती था तथा गौड देशाधिपति गोपीचन्द उनके भागिनेय थे। विक्रम ने बडा यश कमाया और विदेशी आक्रामक शको का पराभव करके अपने नाम का विकम-सवत् प्रचलित किया। वे विद्या और कलाओ क उपासक तथा कालिदासादि नवरत्न पडितो के आश्रयदाता थे, आदि।

विक्रम सम्बन्धी पैशाची, प्राकृत, अर्धमागधी, सस्कृत तथा हिन्दी, मराठी,

बगाली, गुजराती आदि भाषाओं मे विपुल साहित्य है, और उनसे सम्बन्धित असख्य कहानिया यत्र-तत्र बिखरी पडी हैं। उनका तुलनात्मक अध्ययन और विवेचन सहजसाध्य बात नही है। उनके आधार पर ऐसे विलक्षण प्रश्न उद्भूत होते हैं कि उनके उत्तर भी सतोषजनक रूप से नही दिये जा सकते।

विक्रम के कुटुम्बी—पिता, माता, भाई, बहन, भानजा, सवत् प्रचलन का यथार्थ समय, कालिदासादि नवरत्न, उनकी सभा के पडित, नाषपय आदि प्रश्न भी उनके चरित्र के साथ जोड दिये जाए तो वह 'भानुमति के पिटारे' से कम मनोरजक और दुर्गम्य नही होगा। तत्सम्बन्धी काफी चर्चा हो चुकी है और वर्तमान परिस्थिति मे उसके विवेचन का अन्त होना ही असम्भव है, जब तक कि एकाएक पृथ्वी के गर्भ से अन्य दबी-छिपी सामग्री प्रकाश मे न आ जाय। अतएव यहा पर इस लेख के द्वारा हम उस महापुरुष सम्बन्धी अब तक के उपलब्ध ऐतिहासिक उल्लेखो का ही विवेचन करेंगे।

ऐतिहासिक प्रमाणो के आधार पर यह तो सभी कोई स्वीकार करते हैं कि ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी मे पजाब मे मालव नामक एक वीर जाति बसती थी और उनका एक स्वतन्त्र गणराज्य था। लखनऊ पुरातत्व म्यूजियम के अध्यक्ष श्री वासुदेवशरणजी ने खोज की है कि पाणिनि के खडकादिभ्यश्च सूत्र के गणपाठ मे 'क्षुद्रकमालवस्सेना सज्ञायाम्' जैसा उल्लेख पाया जाता है, जिससे क्षुद्रक-मालव इन उभय जाति की सेना होना सिद्ध है। सिकन्दरकालीन सभी यूनानी इतिहासकारो ने मालवों के युद्ध का वर्णन किया है। मालवो ने ग्रीको के साथ बडी वीरता से घोर युद्ध किया था। जयपुर राज्य के करकोट नगर मे दूसरी शताब्दी ईसा के पूर्व के मालव जाति के अनेक सिक्के प्राप्त हुए है, जिन पर 'मालवानाजय' ऐसा उल्लेख पाया जाता है। इससे ज्ञात होता है कि मालव जाति ने कारणवश या अपने कार्यक्षेत्र को विस्तृत करने के उद्देश्य से पजाब का परित्याग कर राजपूताने की ओर प्रस्थान किया था।

उस समय राजपूताने मे भी मालवो के अतिरिक्त उत्तम भद्रो का गण-राज्य था, अतएव उन दोनों जातियो मे सघर्ष हुआ। शकस्थान के शको की क्षहरात नामक शाखा ने सौराष्ट्र पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था तथा क्षहरातो का तक्षशिला और मथुरा पर भी अधिकार था। सौराष्ट्र के द्वितीय शक राजा नहपान के जामातृ उषवदात ने मालवो के विरुद्ध उत्तम भद्रा को सहायता दी थी, जिसका उल्लेख नासिक गुफा के शिलालेख मे पाया जाता है (इ० ए० 8।78)। अनन्तर मालव राजपूताने से प्रस्थान कर वर्तमान मालवा में आ बसे, जिससे यह प्रान्त उन्ही के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ज्ञात होता है कि मालवो का सौराष्ट्र के क्षहरातोंसे पुनश्च सघर्ष हुआ, अतएव मालवगणा के नेता ने सैनिक सगठन करके तत्कालीन हिन्दू सम्राट् दक्षिणापथेश्वर सातवाहन

राजराज गौतमीपुत्र श्री शात्कर्णि की सहायता से शको का विनाश करके उन्हें मालवा से खदेड दिया, जिसका उल्लेख नासिक प्रशस्ति मे पाया जाता है, यथा **'आकरावति राजस, सक यवन-पह्लव निसूदनस वरवारण बिक्रम चारु विवकमस्य'** तथा **'खखरात वस निरवसेस करस'** इन लेखो मे क्षहरात वश का नि पात करने का स्पष्ट उल्लेख है। अनन्तर मालवो ने दक्षिणापथेश्वर से सन्धि की एवम् विदेशियो के पराजय तथा स्वराज्य की स्थापना के फलस्वरूप मालवो का सगठन तथा उनके गण की प्रतिष्ठा हुई। वही घटना 'मालवगण स्थिति' को वतलाती है और वही नूतन सवत्-स्थापना का कारण हुई। मालवगणो का अधिपति विक्रमादित्य ही था। हमारे पुराणो मे कई राजवशो का उल्लेख पाया जाता है और सौभाग्य से उनमे भी यह घटना अंकित है। भविष्य पुराण मे लिखा है कि—

'शकाना च विनाशार्थमार्यधर्मविवृद्धये।
जातः शिवाज्ञया सोऽपि कैलासात् मुह्य कालयात्'
विक्रमादित्यनामानं पिता कृत्वामुमोहह ॥

× × ×

गंधर्वसेनश्च नृपो देवदूतात्मजो बलिः
शिवाज्ञया च नृपतिर्विक्रमस्तनयस्ततः।
शतवर्षं कृतं राज्यं देशभक्तस्ततोऽभवत्।

यदि भविष्य पुराण की रचना आधुनिक भी मान ली जाय तो भी, वायु, मत्स्य, विष्णु आदि पुराणो मे गर्दभिल्ल राजा के साथ विक्रमादित्य का वर्णन भी पाया जाता है। उक्त पुराण चतुर्थ शताब्दी से प्राचीन होना सभी को स्वीकार है।

ईसा की प्रथम शताब्दी मे सातवाहन राजा हाल ने गाथासप्तशती नामक प्राकृत ग्रन्थ की रचना की, जिसमे विक्रमादित्यनरेश का स्पष्ट उल्लेख है। यथा **'सवाहण सुहरस तोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्। चलणेन विक्कमाइत्त चरिअ अणु सिक्खिअ तिस्सा'** इसका अर्थ है 'सवाहण (पगचम्पी) से प्रसन्न होकर नायिका के चरण ने तुम्हारे हाथ मे लाक्षा (महावर) का रग सजात करते हुए विक्रम नरेन्द्र के चरित्र को सीखा है। (खडिता नायिका), क्योकि विक्रम ने भी सम्वाधन (शत्रु की सेना को बन्धन करने) से सन्तुष्ट होकर अपने भृत्य के हाथ में लक्ष (लाख रुपये) दिये थे।' अब तक कोई विद्वान् उक्त प्रमाण का खण्डन नही कर सका है और उससे निर्विवाद सिद्ध है कि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी मे विक्रम-सवत् स्थापक विक्रम नरेन्द्र अवश्य हुए हैं।

महाकवि गुणाढ्य ने पैशाची भाषा में बृहत्कथा नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसका समय ईसा की द्वितीय शताब्दी निश्चित है। अनन्तर उसी के आधार

पर कवि क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथामजरी नामक ग्रन्थ की रचना की। इन दोनो ग्रन्थो के आधार पर ही कवि सोमदेव ने कथासरित्सागर लिखा। उसमे महेन्द्रादित्य तथा सौम्यदर्शना के तप से प्रसन्न होकर शिवगण माल्यवान् के विक्रम का अवतार लेकर पृथ्वी को म्लेच्छो से छुडाने की कथा अकित की है। इसमे उल्लिखित सकेत 'गण', 'माल्यवान्', 'म्लेच्छ (शक)' आदि विचारणीय हैं जो स्पष्टतया विक्रमादित्य को ही इगित करते हैं। सोमदेव ने पाटलिपुत्र के एक और विक्रम का उल्लेख किया है, अतएव उक्त उल्लिखित विक्रम मालवाधिप शकारि ही थे।

जैन ग्रन्थो मे भी विक्रमादित्य सम्बन्धी उल्लेख पाये जाते हैं और यद्यपि उनका रचनाकाल अनन्तर का है, फिर भी हमे सहसा उनमे वर्णित जनश्रुतियो पर विश्वास करना ही पडता है। धनेश्वर सूरि विरचित शत्रुजयमाहात्म्य (रचना काल विक्रम-सवत् 477), मेरुतुगाचार्य रचित पट्टावलि, प्रबन्धकोष तथा तेरहवी शताब्दी मे लिखित प्रभावक चरित्र के कालकाचार्य-कथानक से शकारि *विक्रम सम्बन्धी बहुत कुछ बातें ज्ञात होती हैं। जैन साधु कालकाचार्य की भगिनी* सरस्वती ने भी उस धर्म की दीक्षा ली थी। वह परम सुन्दरी थी। अवन्ति के गर्दभिल्ल राजा ने बलात् उसका अपहरण किया, जिससे कालकाचार्य कुपित होकर शको को मालवे पर चढाई करने के लिए लिवा लाया और यहा पर उनका राज्य स्थापित हुआ। अनन्तर विक्रमादित्य (गर्दभिल्ल-सुत) ने शको को पराजित करके पुन अपना राज्य स्थापित किया और नया सवत् चलाया। उक्त घटना कालकाचार्य-कथानक मे निम्न रूप मे अकित की है—

'शकानां देशमुच्छेद्य कालेन कियतापि हि।
राजा श्रीविक्रमादित्यः सार्वभौमोऽपमोभवत्॥
सच्चोन्नत महासिद्धिः सौवर्णपुरुषोदयात्।
मेदनीमनृणां कृत्वा व्यरचद्वत्सर निजम्॥'

अर्थात् विक्रमादित्य ने शको को नष्ट करके अपना राज्य फिर से सम्पादन किया और उस विजय के उपलक्ष्य मे नया सवत् चलाया। प्रभावक चरित्र के मूल प्राकृत चरित्र मे भी उक्त श्लोक विद्यमान है और प्रसिद्ध पश्चिमीय पडित डॉ० स्तीन कोनो तथा केसरी के सम्पादक श्री करन्दीकरजी उसको प्रामाणिक मानते हैं।

काशी विश्वविद्यालय के डॉ० अलतेकर उसे प्रक्षिप्त बताते हैं, किन्तु प्रमाणो से सिद्ध है कि शुग वश के अनन्तर मालवा पर परमार राजा का आधिपत्य हुआ। राजा देवदूत परमार का पुत्र गर्दभिल्ल उर्फ गन्धर्वसेन था। उसी का पुत्र विक्रमादित्य था, जो सम्भवत परधर्मीय जैन सरस्वती की कोख से उत्पन्न होने

के कारण विषमशील भी कहलाता था। गन्धर्वसेन के पहले के चार और उक्त तीन कुल सात राजाओ ने 72 वर्ष तक मालवे पर राज्य किया। मेरुतुगाचार्य रचित पट्टावलि मे उल्लेख है कि नभोवाहन के पश्चात् गर्दभिल्ल ने उज्जैन मे 13 वर्ष तक राज्य किया, किन्तु उसके उक्त कथित अत्याचार के कारण कालकाचार्य ने शको से उसका पराभव कराया। शको का यहा पर 14 वर्ष तक आधिपत्य रहा, किन्तु गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शको से अपना राज्य छुडा लिया। विक्रम ने साठ वर्ष तक राज्य किया, उसके पुत्र विक्रमचरित्र उर्फ धर्मादित्य ने 40 वर्ष तक राज्य किया, आदि। धनेश्वर सूरी विरचित शत्रुजय-माहात्म्य मे भी विक्रम का उल्लेख है। उसका रचनाकाल विक्रम-सवत 477 बताया जाता है, किन्तु डॉक्टर अल्तेकरजी ने यह सिद्ध किया है कि उसमे उल्लिखित शिलादित्य नामक राजा का अस्तित्व ही नही था। इस प्रकार अनेक ग्रन्थो म उल्लिखित जनश्रुतियो को अविश्वसनीय क्योकर माना जाय, जबकि अन्य ऐतिहासिक प्रमाणो से ईसा पूर्व सवत् 60 मे शको का राज्य उज्जैन तक फैला हुआ था और अनन्तर वह नष्ट भी हुआ, तो क्या यह घटना अपने आप घटित हो गई? अस्तु।

यद्यपि ईसा पूर्व मालवा प्रान्त पर मौर्य सम्राट् अशोक तथा अनन्तर कण्व-वशीय पुष्यमित्र के अधिकार होने के स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध है, किन्तु ऐतिहासिक आधार पर यह नि सन्देह कहा जा सकता है कि अवन्ति देश मे स्थान-स्थान पर गणराज्यो का आधिपत्य था, जिनके पचासो प्रकार के कार्षापण अर्थात् पचमार्क सिक्के हमको उपलब्ध हुए हैं, अतएव सम्भव है कि चक्रवर्तित्व या सम्राट् के नाते वे गणराज्य भी देशकाल की परिस्थिति के अनुसार उनके करद राज्य हो गए हो। विक्रमादित्य का वश उन्ही गणराज्यो मे से एक था। मालवा मे घोष-मति (मौजा घसोई, परगना सुवासरा), उज्जैन, महेश्वर आदि प्राचीन स्थानो पर गन्धर्वसेन सम्बन्धी कई प्रकार की कहानिया प्रचलित हैं।

पौराणिक आख्यानो तथा नाथपथ सम्बन्धी ग्रन्थो म भी इस सम्बन्धी उल्लेख पाये जाते हैं। सुलोचन गन्धर्व के शापित होकर एक कुम्हार (कमठ-कुलाल) के यहा खर होने तथा राजकन्या सत्यवती से उनका परिणय आदि बातें नवनाथ भक्तिसार जैसे मध्यकालीन मराठी ग्रन्थो मे पायी जाती हैं।

विक्रमादित्य ने ही महाराजा शालकर्णि की सहायता से शको का पराभव किया, अतएव उनका शकारि कहलाना सर्वथा स्वाभाविक है। वही विचारणीय घटना नूतन विक्रम-सवत् स्थापित करने का कारण हुई। उक्त घटना की ऐतिहासिकता के विषय मे मतभेद नहीं है किन्तु मालवा मे उपलब्ध प्राचीन शिलालेखो के आधार पर डॉक्टर अल्तेकरजी का कहना है कि उनमे केवल 'कृत' नामक सवत् का उल्लेख है, मालव तथा विक्रम शब्द उसके साथ

वाद को जोड़े गए हैं, अतएव कृत नामक किसी वीर ने ही उसको प्रचलित किया है।

ईसा पूर्व 57वें वर्ष नूतन सवत् प्रचलित होने, शकों का मालवा में पराजय आदि ऐतिहासिक घटनाओं के विषय में तो उक्त डॉक्टर महोदय को कोई आक्षेप नहीं है। केवल सवत्-प्रतिष्ठाता के नाम का ही प्रश्न सुलझाने को रह जाता है। हाल के विवाद में ही अल्तेकरजी ने उक्त प्रश्न उपस्थित किया है। उसके उत्तर में कोई कहता है कि कृत्तिका-नक्षत्र और कार्तिक से विक्रम-सवत आरम्भ होने के कारण ही वह आरम्भ में 'कृत' कहलाया तो कोई साठ सवत्सरों की कल्पना के साथ ही आविर्भूत नूतन सवत्-प्रचलन के कारण नूतन-कृत ज्योतिष सिद्धान्त ही उक्त नामकरण का कारणीभूत होना बताते हैं। म्लेच्छों के पराभव के कारण कृत अर्थात सतयुग प्रचलित होने की बात भी कही जाती है। किन्तु पौर्वात्य और पाश्चात्य पंडित यह तो एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि ईसा पूर्व 57वें वर्ष *नूतन सवत् अवश्य ही प्रचलित हुआ, अलबत्ता उसके प्रतिष्ठापक के विषय में* मतभेद है।

सबसे पहले प्रसिद्ध पश्चिमीय पंडित फरगुसन ने यह प्रतिपादित किया कि सवत् 544 में कोरूर स्थान पर शकों का पराभव हुआ था। अतएव उसके उपलक्ष्य में उक्त सवत् उज्जैन के राजा हर्ष (मन्दसौर के राजा यशोधर्मदेव) ने प्रचलित किया, किन्तु इसके पूर्व के सवत् 493 तथा 529 के शिलालेख मन्दसौर में प्राप्त हो चुके हैं, अतएव फरगुसन की बात अपने आप ही खण्डित हो जाती है। डॉ० फ्लीट ने कनिष्क के राज्यारोहण से उसका सम्बन्ध स्थापित किया, किन्तु उसका समय अनन्तर का है और नूतन खोज से वही शक-सवत् का प्रचलित करने वाला सिद्ध हो चुका है।

डॉक्टर विंसेण्ट स्मिथ ने गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय को उसका प्रतिष्ठापक माना है, किन्तु गुप्तों का अपना निजी स्वतंत्र सवत् था। साथ ही उसका समकालीन आज तक कोई ऐसा शिलालेख नहीं मिला, जिसमें किसी सवत् के साथ विक्रम का नाम जुड़ा हो।

डॉक्टर कीलहार्न ने कार्तिक मास में युद्ध के लिए *प्रस्थान* करने की ऋतु होने से विक्रम-सवत् की उत्पत्ति बताई है, तो डॉक्टर मार्शल ने पार्थियन राजा 'एजेस' द्वारा उसका प्रचलित करना बताया है, किन्तु उसका समय तथा मालवा से सम्बन्ध होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। भारतीय पंडितों में से डॉक्टर भाण्डारकर ने पुष्यमित्र के शकों के पराजित करके ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा करने के उपलक्ष्य में 'कृत' सवत् की प्रतिष्ठा होना बताया है, किन्तु शुंग नरेश का शासनकाल 180 ईसा पूर्व था। श्री गोपाल अय्यर ने Chronology of Ancient India में *गिरनार लेख के आधार पर* रुद्रदामन् को

विक्रम-सवत् का प्रतिष्ठापक बतलाया है। किन्तु वह भी ठीक नही जचता। स्वर्गीय डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवालजी ने गौतमीपुत्र शातकर्णि को ही नासिक गुफा-लेख के विक्रम शब्द के आधार पर तथा मालवगणो की सहायता से शको का सहार करने के उपलक्ष्य मे उक्त विरुद धारणा करने तथा नूतन सवत प्रचलित करने की बात कही है, किन्तु दक्षिणापथ के राजा का मालवा मे सवत् प्रचलित करना असम्भव मालूम पड़ता है। साथ ही शिलालेखो मे विक्रम शब्द केवल पराक्रम के लिए उपयुक्त हुआ है, क्योकि शातकर्णि के अन्य लेखो या सिक्को पर उक्त विरुद पाया नही जाता।

समुद्रगुप्त महान् पराक्रमी सम्राट् था। उसकी हाल ही मे कुछ स्वर्ण-मुद्राए होनकर राज्य के भीकन गाव के निकट उपलब्ध हुई हैं। उनमे एक मुद्रा पर 'श्री विक्रम' जैसा स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। उसमे कम-से-कम स्मिथ का यह कथन तो असत्य साबित हो चुका है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ही सबसे पहले विक्रमादित्य विरुद धारण किया था। समुद्रगुप्त महान् पराक्रमी सम्राट् थे, इसीसे कुछ विद्वानो का यह भी मत है कि वे ही विक्रमादित्य हो, किन्तु यह बात भी जचती नही, क्योकि समुद्रगुप्त रचित श्रीकृष्ण-चरित्र-ग्रन्थ उपलब्ध हो चुका है, जिसमे राजा शूद्रक के विक्रमादित्य होने की बात लिखी है, किन्तु शूद्रक सम्बन्धी अभी तक कोई प्रामाणिक ऐतिहासिक साधन उपलब्ध नही हुए, इसीसे कुछ विद्वान् पुष्यमित्र को ही शूद्रक होने की कल्पना करते है। पुष्यमित्र कदापि सवत् प्रवर्तक नही हो सकता, इसका विवेचन हम ऊपर कर आये हैं।

उक्त विभिन्न विचार-प्रणाली के आधार पर यह तो निसकोच कहा जा सकता है कि अभी तक बहुमत विक्रमादित्य सम्बन्धी मत स्थिर नही कर सका है।

अब हम विक्रम-सवत सम्बन्धी विभिन्न मतो का अवलोकन करेगे। अब तक मालवा या अन्यत्र जितने भी शिलालेख उपलब्ध हो चुके है। उनमें सबसे प्राचीन लेख जयपुर राज्यान्तर्गत बरनाला ग्राम में प्राप्त सवत 284 के यूप लेख पर 'कृतेहिं' (=कृत) नामक एक सवत् का उल्लेख पाया जाता है। कोटा राज्य के बडवा के सवत् 295 तथा उदयपुर राज्य के नानका ग्राम के सवत 282 म भी उसी कृत सवत् का उल्लेख है। इसी कृत सज्ञा का यथार्थ अर्थ मालवा प्रान्त के मन्दसौर मे भी प्राप्त सवत् 461 "श्रीमालव गणाम्नाते प्रशस्ते कृत सज्ञिते। एकषष्ट्यधिके प्राप्ते, समाशत चतुष्टये।" के लेख म पाया जाता है।

अर्थात् मालवगण द्वारा स्थापित कृत-सवत का उसमे स्पष्ट उल्लेख है। सवत् 493 तथा 589 के मन्दसौर के लेखो तथा नगरी के सवत 481 के लेख मे 'मालवगणस्थितिवशात्कालज्ञानाय विहितषु', 'मालवा पूर्वयाम्' जैसे उल्लेखो से

उसका परिणाम ठीक विक्रम-सवत् से मिलता-जुलता है। ग्यारसपुर (भेलसा) के सवत 936 वाले लेख मे उसे मालव देश का सवत् बताया है। इससे यह सिद्ध है कि विक्रम-सवत् मालवा के मालवगण द्वारा ही प्रचलित हुआ था। जब बहुत काल बीत जाने पर सर्व साधारण जनता को मालव-गणाधिपति विक्रमादित्य की विस्मृति होने लगी, तब मालव-सवत् बाद मे विक्रम-सवत् मे परिणत किया गया, जो उस महापुरुष की स्मृति अमर रखने के सर्वथा योग्य था। विक्रम-सवत् का सबसे पहला उल्लेख धौलपुर में प्राप्त चण्डमहासेन के सवत् 898 के शिला-लेख मे पाया जाता है। अनन्तर बीजापुर के राष्ट्रकूट विदग्धराज के सवत् 973 वाले लेख मे 'विक्रमगतकाल' तथा नवसारी मे प्राप्त चालुक्य कर्कराज के सवत् 1131 के ताम्रपट मे भी 'विक्रमादित्योत्पादित सवत्सर' जैसा उल्लेख पाया जाता है। इससे यह सिद्ध है कि जिस प्रकार गुप्त-सवत् अनन्तर वल्लभी मे परिवर्तित हो गया, उसी प्रकार मालव-सवत् का भी विक्रम-सवत् में रूपान्तर हो गया। गुजरात के चालुक्यो ने उसका खूब प्रचार किया।

इस प्रकार हम महान् सम्राट् विक्रमादित्य तथा विक्रम-सवत् सम्बन्धी विभिन्न इतिहासकारो के दृष्टिकोणो का विहगावलोकन कर चुके। अभी स्पष्ट प्रमाणाभाव के कारण तत्सम्बन्धी एक मत नही हो सका है। अतएव हमे भावी अन्वेषण की बाट देखना ही उचित मालूम देता है। जनश्रुतिया तथा प्राप्त साधनो के आधार पर तो यही कहना अलम् होगा कि—

यत्कृतम् यन्न केनापि, यद्दत्तं यन्न केनचित्।
यत्साधितमसाध्य च विक्रमार्केण भूभुजा॥

अर्थात् विक्रमादित्य ने वह किया जो आज तक किसी ने नही किया, वह दान दिया जो आज तक किसी ने नही दिया तथा वह असाध्य साधना की जो आज तक किसी ने नही की, अतएव उनका नाम अमर रहेगा।

विक्रम का न्याय

□ मेजर सरदार श्री कृ० दौ० महाडिक

जिस प्रकार आज कोई भारतवासी यह जानने का प्रयत्न नही करता कि राम और कृष्ण भारतीय इतिहास के किस काल मे हुए थे और वे ऐतिहासिक व्यक्ति है भी या नही, परन्तु उनको अपने जीवन का आदर्श तथा उद्धारक मानता है, ठीक उसी प्रकार भारतवर्ष की जनता मे विक्रमादित्य भी ऐतिहासिक राजा न होकर भारतवर्ष के आदर्श नरेश की भावना-मात्र रह गया है। विक्रमादित्य का नाम लेते ही हमारे हृदय-पटल पर एक आदर्श नृपति की तसवीर खिंच जाती है। विक्रमादित्य के विषय मे प्रचलित दन्तकथाओ मे ऐतिहासिक सत्य कितना है, यह विवाद की बात है, परन्तु उनमे भारतीय जनता की विक्रम-भावना का पूर्ण समावेश है, इसमे सन्देह नही।

भारतीय न्याय का सच्चा आदर्श क्या इसे पूरी तरह जानने के लिए हमे प्राचीन स्मृतियो के साथ इन विक्रम-विषयक दन्तकथाओ से भी सहायता मिल सकती है। विक्रमादित्य के न्याय के विषय मे एक कथा नीचे लिखे प्रकार से जनता मे प्रचलित है। महाराज विक्रमादित्य रात्रि मे अपनी राजधानी मे गश्त लगाया करते थे। एक दिन जब वे वेश बदले घूम रहे थे तो उन्होने देखा कि कुछ चोर चोरी करने की तैयारी मे हैं। राजा ने सोचा कि इन्हे दण्ड देने की अपेक्षा इनका सदा के लिए सुधार कर देना अधिक उचित होगा। इस विचार से राजा उनसे मिले और अपने आपको उनका सहधर्मी बतलाकर उनके साथ हो लिये वे लोग एक धनवान व्यक्ति के यहा चोरी करने गये और बहुत-सी सम्पत्ति ले आए। जब उस सम्पत्ति का बटवारा हो रहा था उस समय महाराज वहा से चल दिए और नगर-रक्षको द्वारा उन चोरो को पकडवाकर सबेरे दरबार मे उपस्थित करने को कहा। दूसरे दिन दरबार मे चोरो ने देखा कि रात का उनका साथी स्वय सिंहासन पर बैठा है। उन्होंने कहा—'राजा ! जिस कार्य मे आप स्वय हमारे साथ थे, उसमे हमे दड कैसा ?' राजा ने उनसे कहा कि तुम्हारे बचने का एक ही मार्ग है। यदि तुम कभी चोरी न करने का प्रण करो

और आगे परिश्रम करके अपनी जीविका उत्पन्न करने का वचन दो तो तुम्हे मुक्ति मिल सकती है। उनके वचन देने पर राजा ने उन्हे मुक्त कर दिया, उनके रोजगार का उचित प्रबन्ध कर दिया और धनवान व्यक्ति का सब धन उसे वापस लौटा दिया।

यह केवल किंवदन्ती है। इसे इतिहास-सिद्ध बात माना जाए, यह मेरा आग्रह नही है। मैं तो केवल इतना कहना चाहता हू कि इस छोटी-सी कहानी मे न्याय के सम्बन्ध मे वह भावना छिपी हुई है, जिसे भारतवर्ष ने सदा से आदर्श मान रखा है। यही कारण है कि यह लोककथा भारतीय नरेश के आदर्श—विक्रम—के साथ जोड दी गई है। इसलिए विक्रम की न्याय-भावना, अर्थात् भारतीय न्याय-भावना का आदर्श जानने के लिए इस कथा मे छिपे तत्त्वो का विश्लेषण करना उचित होगा। ये तत्त्व निम्नलिखित हैं—

(1) अपराधी की ओर से तटस्थ रहने से समाज का कल्याण नहीं होता। हमारा प्रधान उद्देश्य अपराधी का सुधार होना चाहिए। इस प्रकार एक अपराधी सुधरकर अच्छा नागरिक तो बन ही जाएगा, साथ ही अपराध बन्द होकर प्रजा को सुख-शान्ति मिलेगी।

(2) अपराधी को दण्ड देने का विचार प्रधान न होना चाहिए। प्रधान बात तो यह है कि ऐसे साधन काम मे लाए जाए, कानून ऐसे बनाये जाए जिससे अपराधो की रोक हो।

(3) प्रजा मे सुख-शान्ति रहे, उसके धन-जन की हानि न हो, यह देखने का कर्त्तव्य शासन (गवर्नमण्ट) का है। यदि किसी की चोरी हो जाए तो या तो चोरो का पता लगाकर उनसे वह धन असल धनी को दिलाया जाए या उनसे दिलाया जाए जिनके जिम्मे सुरक्षा का काम हो।

अब आगे हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि ये भावनाए जो विक्रम सम्बन्धी एक लोककथा मे गुथी हुई हैं, वास्तव मे भारतीय न्याय की मूल भावनाए है।

अपराधो की रोक की ओर हमारे शास्त्रकार विशेष ध्यान देते रहे है। वे दण्ड का उद्देश्य यही मानते थे। मनुस्मृति में लिखा है कि दण्ड समस्त प्रजा का शासन करता है, दण्ड ही सब लोगो की रक्षा करता है (दण्ड: शास्ति प्रजा सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति। मनुस्मृति, अध्याय 7, श्लोक 18)। इस प्रकार प्राचीन काल मे दण्डो के प्रकार ऐसे रखे गए थे, जिससे अपराध करने की प्रवृत्ति रुके। प्रारम्भ मे अपराधी को केवल 'धिग्दण्ड' देना ही काफी समझा जाता था। उससे यह आशा की जाती थी कि केवल डाट-फटकार करने एव समझा देने से ही वह अपराध करने से रुक जाएगा और वह भला नागरिक बनेगा। इतने पर भी यदि वह न सुधरे और घोरतर अपराध करे तब समाज को उससे सजग

रखने के लिए उसके शरीर पर कोई इस प्रकार का चिह्न बना देते थे, जिससे स्पष्ट प्रकट हो कि उसे अपराध करने की आदत है। साथ ही उसका अग भग करके उसे अपराध करने से असमर्थ कर दिया जाता था। उदाहरण के लिए जब कोई व्यक्ति बार-बार जेब काटने का अपराध करता पाया जाता था तो उसका हाथ काट डालते थे। इस प्रकार वह उस दुष्ट कर्म के करने से असमर्थ हो जाता था। *यह स्मरण रहे कि ऐसे भयकर दण्ड असाध्य अपराधियो को ही* दिए जाते थे।

इसके अतिरिक्त नागरिको का यह कर्तव्य रखा गया था कि वे अपराध होने की रोक करें। यदि किसी के सामने कोई अपराध हो रहा हो और वह उसे रोके नही तो उसे भी दण्ड दिया जाता था। यदि कोई व्यक्ति किसी को चोट पहुचा रहा हो और कोई अन्य व्यक्ति वहा खडा हो तो उसका कर्त्तव्य है कि वह निर्बल की रक्षा करे। ऐसा न करने पर उसे दण्ड मिलता था।

चोरी आदि से जिसकी हानि होती थी उसकी पूर्ति भी करायी जाती थी। यदि चोर अथवा डाकू पकडा न जा सके तब हानि को पूरा कराने के विषय मे शास्त्रकारो ने जो नियम बनाए हैं, वे जानने योग्य हैं। नारद स्मृति मे लिखा है कि यदि गोचर भूमि के भीतर डकैती हुई हो तो उस भूमि के स्वामी का कर्तव्य है कि वह अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर डाकू को पकडे, और यदि डाकुओ के खोज उस भूमि के बाहर जाते न मिलें तो उससे, डाके मे गया धन दिलाया जाएगा। यदि डाकुओ के खोज उस भूमि के बाहर चले गए हो तो वह धन पडोसी मार्गपाल (Watchman) तथा दिक्पाल (Governor) को देना होगा।

याज्ञवल्क्य ने इस विषय पर लिखा है कि जिस ग्राम की सीमा म डकैती हो उसको *या जिस ग्राम तक* डाकुओ के खोज मिलें उस ग्राम को डाके का धन देना चाहिए, और जब डकैती एक कोस से दूर हुई हो तो आसपास के पाच ग्रामो स धन दिलाया जाय (याज्ञवल्क्यस्मृति, अध्याय 2, श्लोक 272)।

मनुस्मृति म लिखा है कि जब किसी अपराधी को राजा द्वारा दण्ड प्राप्त हो जाता है तब वह अपने पाप से पूर्णत मुक्त हो जाता है (मनुस्मृति, अध्याय 8, श्लोक 318)। इससे स्पष्ट है कि दण्ड प्राप्त कर लेने के पश्चात अपराधी पूर्ण नागरिक अधिकार प्राप्त कर लेता था। वह फिर इस बात के लिए स्वतन्त्र था कि समाज मे भला जीवन व्यतीत करे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विक्रम के न्याय स सम्बन्धित ऊपर लिखी हुई लोककथा मे भारतवर्ष के न्याय-सम्बन्धी आदर्श की भावना पूर्णत निहित है। इनके विपरीत यदि हम आज के कानूनो को इन सिद्धान्तो की कसौटी पर कसें तो यह उतने खरे नही उतरेंगे। आज का कानून अन्धे के हाथ की लकडी

अधिक है। वह अपराधी को ताडना करना ही जानता है। योरप मे न्याय की मूर्ति अन्धी बनाई जाती है। उसे केवल दण्ड देने से मतलब है। उसका प्रभाव क्या होगा, अपराधी सुधरेगा या नही, यह उसे दिख ही नहीं सकता। परन्तु हमारे शास्त्रो मे न्याय की कल्पना अन्धे के रूप मे नही की गई है। वह अपराध रोकना और अपराधी का सुधार करना अपना प्रधान कर्तव्य मानता है। अत आवश्यकता इस बात की है कि आगे हमारे कानून विक्रम की न्याय की भावना से युक्त बनाए जाएं और उनके निर्माण के समय भारतीय सिद्धान्तो पर भी पूर्ण विचार कर लिया जाए।

विक्रमकालीन न्यायालय

□ श्री गोविन्दराव कृष्णराव शिन्दे,
□ श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

भारतीय संस्कृति का विकास—प्राचीन भारतीय संस्कृति की यह एक विशेषता रही है कि देश में अनेक राजनीतिक हलचलों के होते हुए भी उसके विकास में कोई बाधा नहीं आई है। जो नवीन परिस्थिति उत्पन्न होती थी, उसका समन्वय करके और उसे अपने आप में घुला-मिलाकर वह आगे बढ़ने लगती थी। इसका प्रधान कारण तो यह था कि जब नगरों और राज्यों में राज-वंश बदलते थे उस समय भारत की ग्राम-संस्था तथा यहां के ऋषि-मुनियों के आश्रम सुरक्षित ही रहते थे। समाज का नियन्त्रण करने वाले शास्त्रों की रचना होती थी इन आश्रमों में और उनका पालन होता था ग्रामों में। भारतीय संस्कृति के ये दो मूलाधार जब तक अविचल रहे तब तक भारतीय संस्कृति नियमित तथा दृढ़ रूप से प्रगति करती रही। प्राचीन भारत के न्यायालयों तथा उनके द्वारा प्रयुक्त नियमों आदि पर विचार करते समय भी इस तथ्य पर ध्यान रखना आवश्यक है। बहुत समय तक अविच्छिन्न रहने वाले प्रवाह द्वारा निर्मित होने के कारण न्यायालय एवं न्याय की भावना प्राचीन भारत में प्रायः एक-सी रही। बाह्य परिस्थितियों के कारण कुछ विस्तार की बातों में भले ही अन्तर आ जाय, परन्तु मूल सिद्धान्त वे ही रहे हैं।

विक्रमकालीन न्यायालय से तात्पर्य—इस बात का निर्णय तो इतिहास के विद्वान् करेंगे कि विक्रमादित्य कौन थे, वह केवल एक विरुद है अथवा नाम? वे चक्रवर्ती चन्द्रगुप्त थे अथवा मालवगण के नेता? हमारे निबन्ध के आशय के लिए तो यह मानना ही बहुत है कि विक्रमीय संवत्सर दो सहस्र वर्ष पुराना है, भले ही उसके नाम बदलते रहे हों। और हम जब विक्रमकालीन न्यायालयों पर विचार करना चाहते हैं, तो हमारा काम केवल इतने से चल जाता है कि हम ईसवी पूर्व प्रथम शती के आसपास के भारतीय न्यायालयों की खोजबीन करें।

उस समय के न्यायालयो से सम्बन्धित शास्त्रो की जब हम खोज करने निकलते हैं तो हमारी दृष्टि मनुस्मृति एव याज्ञवल्क्य स्मृति पर पडती है। भारतीय इतिहास के पडित मनुस्मृति का रचनाकाल ईसा से 170 वर्ष पूर्व के लगभग मानते है और याज्ञवल्क्य का समय ईसा की दूसरी शताब्दी बतलाया जाता है। इस बीच मे इन्ही दोनो स्मृतियो के सिद्धान्त माने जाते थे। अतएव यदि अपने विषय का प्रतिपादन हम इन दोनो स्मृतियो को प्रधान आधार बनाकर करें तो हम लगभग यह कह सकते है कि हमने विक्रमकालीन न्यायालय का विवेचन किया है। इन दोनो स्मृतियो के अतिरिक्त यदि अन्य ग्रन्थो का सहारा लिया जाय तब इन न्यायालयो का चित्र और भी स्पष्ट हो जाता है। अत इन दोनो स्मृतियो को मूलाधार बनाकर साथ साथ तद्विषयक अन्य ग्रन्थो का उपयोग भी इस लेख मे किया गया है।

मामलों के पद—आज जिस प्रकार न्यायालय अपराध अथवा सम्पत्ति सम्बन्धी दो विभागो मे बटे हुए हैं उस प्रकार प्राचीनकाल मे नही थे। एक ही न्यायालय दोनों प्रकार के मामलो मे निर्णय दे देता था। मनु ने सम्पूर्ण मामलो को अठारह भागो मे बाट दिया है—(1) ऋण, (2) धरोहर, (3) बिना स्वामित्व के कोई माल बेच देना, (4) साझेदारी, (5) दी हुई वस्तु वापिस लेना, (6) वेतन न देना, (7) ठहरावों का पालन न करना, (8) क्रय-विक्रय मे बदल जाना, (9) पशुओ के स्वामी तथा पालको के बीच विवाद, (10) सीमा-विवाद, (11) मारपीट, (12) गाली, (13) चोरी, (14) साहस, (15) व्यभिचार, (16) पति-पत्नी के कर्तव्य, (17) बटवारा और, (18) जुआ।[1]

नारद ने इनको एक सौ तीस प्रकारो मे विभाजित कर दिया है। इस प्रकार प्राय सभी साम्पत्तिक एव अपराध सम्बन्धी झगडे इन 'पदो' पर चल सकते थे।

---

1 तेषामाद्यमृणादान निक्षेपोऽस्वामिविक्रय ।
सम्भूय च समुत्थान दत्तस्यानपकर्म च ॥
वेतनस्यैव चादान सविदश्च व्यतिक्रम ।
क्रयविक्रयानुशयो विवाद स्वामिपालयो ॥
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके।
स्तेय च साहस चैव स्त्रीसग्रहणमेव च।
स्त्रीपुधर्मो विभागश्च द्यूतामाह्वय एव च
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥ (मनु०, अ० 8, श्लो० 4-7)

राजा का कर्त्तव्य—न्यायदान करना राजा का प्रधान कर्त्तव्य था। राज्य मे जो पाप अथवा अनाचार किए जाते थे उनका उत्तरदायित्व राजा पर होता था। यदि राजा द्वारा किसी निरपराध को दण्ड मिल जाय अथवा अपराधी को दण्ड न मिले तो उसे अपयश के अतिरिक्त नरकवास का भय था।[1] राजा से तात्पर्य उस व्यक्ति से है जिसको प्रजा के शासन का अधिकार हो, यह आवश्यक नही है कि वह क्षत्रिय ही हो। इसके अतिरिक्त इससे यह ज्ञात होता है कि स्मृतिकार की दृष्टि मे केवल राजतन्त्र ही नही थे, गणतन्त्र भी थे। न्याय करते समय नृप को क्रोध और लोभ से रहित होना चाहिए। न्यायदान मे व्यक्तिगत द्वेष अथवा अन्य कारणो से उत्पन्न हुए क्रोध को भी स्थान नही था और न आर्थिक लाभ को स्थान था।[2]

न्यायालय के सदस्य—इतने प्रतिबन्धो के साथ भी राजा अकेला न्यायदान करने के लिए नही बैठता था। याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि न्याय करते समय राजा के पास सम्मति देने वाले ब्राह्मण भी होने चाहिए और उसे ऐसे सभासद भी (जिनकी सख्या सात, पाच या तीन होनी चाहिए) अपने साथ के लिए चुन लेने चाहिए जिनमे नीचे लिखे गुण हो[3]—

---

1. अदण्ड्यान्दण्डयन्राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
   अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥ (मनु० अ०, 8, श्लो० 129)
2. यह व्यवस्था भारत के न्याय की ईसवी सन् के बहुत पूर्व की है। इसके विपरीत इसकी उस समय के बहुत बाद की योरोप में प्रचलित न्याय-प्रणाली से तुलना करना उपयोगी होगा। नॉरमन काल की न्याय पद्धति पर लिखते हुए कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के राजनियम के अध्यापक श्री जैक्सन लिखते हैं—

   "The holding of Courts was not thought of as being a public service The right to hold a Court and take the profit to be made, was more in the nature of private property. It was on the same footing as the right to run a ferry and exclude anyone else from running a *ferry* in competition"

   'The Machinery of Justice in England' p.2.
3. श्रुताध्ययनसम्पन्ना धर्मज्ञा सत्यवादिन. ।
   राज्ञा सभासद कार्या रिपौ मित्रे च ये समा. ॥ (याज्ञवल्क्य)

(१) जो मीमासा, व्याकरण आदि जानते हों,
(2) जिन्होंने वेदादि का अध्ययन किया हो,
(3) जो धर्मशास्त्र जानते हो,
(4) जो सत्यवक्ता हो और
(5) जो शत्रु तथा मित्र को समान समझते हो।

इनके अतिरिक्त कात्यायन ने यह भी लिखा है कि सभा मे ऐसे वैश्यो को भी बैठाया जाय जो धर्मशास्त्र के नियम समझते हो।

अन्य अधिकारी—राजा को चाहिए कि ऐसे दो व्यक्तियो को क्रमश गणक[1] (Accountant) तथा लेखक (Scribe) नियुक्त करे[2] जिनमे नीचे लिखे गुण हो—

(1) जो व्याकरण जानते हो,
(2) जो अभिधान (कोष) के जानकार हो,
(3) जो पवित्र हो और
(4) जो विभिन्न लिपियो के ज्ञाता हो।

इनके अतिरिक्त एक सत्यनिष्ठ, विश्वसनीय एव बलिष्ठ शूद्र साध्यपाल के रूप मे नियुक्त किया जाता था, जो साक्षियो और वादी-प्रतिवादियो को लाता था तथा उनकी रक्षा करता था एव मामलो के अन्य साधन उपलब्ध करता था।

प्राड्विवाक—इस अधिकारी की स्थिति राजा की उपस्थिति मे कुछ स्मृतियो मे अनिश्चित-सी है। याज्ञवल्क्य स्मृति मे ऊपर उल्लिखित अधिकारियो के अतिरिक्त, राजा के उपस्थित रहते और किसी अधिकारी की आवश्यकता नही बतलाई है। परन्तु नारद[3] और व्यास की यह सम्मति ज्ञात होती है कि राजा की मौजूदगी मे भी प्राड्विवाक (मुख्य न्यायाधीश) होना चाहिए। इनके मतानुसार इसका कार्य राजा की उपस्थिति मे अर्थी और प्रत्यर्थी से प्रश्न करना और उसके कथनो की जाच करना है।

सभा मण्डप—राजा, ब्राह्मण और सभासद आदि की यह सभा न्यायदान

---

1. शब्दाभिधानतत्त्वज्ञौ गणना कुशलौ शुची।
नानालिपिज्ञौ कर्तव्यौ राजा गणकलेखकौ॥
2. इन गणक और लेखक को मृच्छकटिक मे क्रमश 'श्रेष्ठि' और 'कायस्थ' कहा है।
3. धर्मशास्त्र पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थित।
समाहितमति पश्येद्व्यवहाराननुक्रमादिति॥

करती थी। जिस भवन में यह सभा बैठती थी, वह 'व्यवहार-मण्डप' या 'अधिकरण-मण्डप' कहलाता था।[1] कात्यायन उसे 'धर्माधिकरण' नाम देते हैं और लिखते हैं कि 'धर्माधिकरण' वह स्थान है, जहा धर्मशास्त्र के अनुसार सत्य और असत्य में भेद किया जाता है और जो वास्तव में न्याय का स्थान है।[2] इसके निर्माण के विषय में बृहस्पति लिखते हैं कि राजा को गढ के भीतर एक ऐसा भवन बनवाना चाहिए जिसके चारो ओर जल एव वृक्ष हो और उसमें पूर्व की ओर उचित रूप में निर्मित पूर्वाभिमुख 'धर्माधिकरण' होना चाहिए।[3]

समय और छुट्टियां—कात्यायन और बृहस्पति यह निश्चय करते हैं कि मामलो को दोपहर के पूर्व सुनना चाहिए। सूर्योदय के पश्चात् डेढ घण्टे से लेकर दोपहर तक न्याय सभा का कार्य चलता था।

सवर्त के अनुसार प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, त्रयोदशी, चतुर्दशी और अमावस्या तथा पूर्णिमा को न्यायालय का कार्य नही करना चाहिए।[4]

निर्णय—ऊपर लिखे विवेचन से यह तो स्पष्ट ही है कि राजा का न्याय-दान म सबसे प्रधान स्थान था। परन्तु वह निरकुश नही था। राजा का कर्तव्य था कि धर्मशास्त्र के नियमो का पालन करते हुए और प्राड्विवाक की सम्मति पर स्थिर रहते हुए एकचित्त होकर क्रमानुसार मामलो का निपटारा करे।[5] राजा को स्वर्ग तभी प्राप्त हो सकेगा, जब वह प्राड्विवाक, अमात्य, ब्राह्मण, पुरोहित और सभ्यो की सहायता से धर्मशास्त्र के अनुसार मामलो पर विचार करेगा।

राजा अपने अधिकार का दुरुपयोग नही करे, इसके लिए ऊपर लिखे स्वर्ग और नरक के प्रलोभन तथा भय तो थे ही, साथ ही राजा को अभिषेक के समय प्रतिज्ञा भी लेनी होती थी। मनु ने राजा के लिए दण्ड की भी व्यवस्था की

---

1 अरे शोधनक ! व्यवहारमडप गत्वासनानि सज्जी कुर्वीत ····
[illegible] (मृच्छकटिकम्, नवम् अक)

3 दुर्गमध्ये गृह कुर्याज्जलवृक्षान्वित पृथक्।
प्राग्दिशि प्राड्मुखी तस्य लक्षण्या कल्पयेत्सभाम् ॥

4 चतुर्दशी ह्यमावस्या पौर्णमासी तथाऽष्टमी।
तिथिष्वासु न पश्येत व्यवहारान्विचक्षण ॥

5 धर्मशास्त्र पुरस्कृत्य प्राडविवाक मते स्थित।
समाहितमति पश्येद्व्यवहारानन्नुक्रमादिति ॥ (नारद 1, 35)

है।[1] और कौटिल्य ने राजा को यह चेतावनी दी है कि स्वेच्छाचारी राजा का नाश हो जाता है।[2] इस प्रकार प्राचीन भारत में इस बात के पर्याप्त बन्धन थे, जिसके कारण राजा अन्याय नहीं कर सकते थे।

राजा के पश्चात् न्याय में प्रधान हाथ प्राड्विवाक का था। राजा की उपस्थिति में वह राजा को न्याय करने में सम्मति देता था और राजा की अनुपस्थिति में वह प्रधान न्यायाधीश होता था। परन्तु उस दशा में भी सम्भवत प्राड्विवाक का निर्णय राजा के पास अन्तिम स्वीकृति को जाता था और उस निर्णय पर दण्ड की व्यवस्था स्वयं राजा करता था।[3] यह उसी प्रकार की व्यवस्था थी जैसे कि आज प्रिवी कौन्सिल अपने निर्णय सम्राट् की ओर से लिखती है।

ऊपर लिखा जा चुका है कि राजा के साथ कुछ ब्राह्मण भी आवश्यक रूप से बैठते थे। उनका कर्त्तव्य था कि यदि धर्मशास्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध कोई बात हो रही हो अथवा अन्याय हो रहा हो तो वे चुप न रहें। इसके लिए मनु ने कहा है कि या तो न्यायसभा में जाए ही नहीं, यदि जाए तो सत्य अवश्य कह दे। ऐसा व्यक्ति यदि चुप रहता है या असत्य बोलता है तो पाप का भागी होता है।[4] परन्तु इन ब्राह्मणों का कर्त्तव्य यहीं समाप्त हो जाता है। यदि राजा फिर भी दुराग्रह करे तो उसके निवारण करने का कर्त्तव्य इनका नहीं है।[5]

परन्तु इसके विपरीत नियुक्त किये हुए सभ्यों का यह भी कर्त्तव्य है कि वे मामले पर अपनी सम्मति देने के अतिरिक्त, यदि राजा अन्यायपूर्ण आचरण

---

1 कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्य: प्राकृतो जन: ।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्य सहस्रमिति धारणा ॥ (अ० 8, श्लो० 336)

2 इसके विपरीत केम्बिसेस के समय में फारस के न्यायाधीशों द्वारा बनाया गया यह विधान देखना उपयोगी होगा, जिसके अनुसार 'राजा या बादशाह जो कुछ चाहता था कर सकता था'—जायसवाल द्वारा उल्लिखित रालिंसन कृत हिरोडोटस।

3 अधिकरणिक—आर्य चारुदत्त ! निर्णय वयं प्रमाणम्, शेषं तु राजा। मृच्छकटिकम्, व्यवहार नामक नवम् अंक।

4 सभा वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्यं वा समंजसम्।
अब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्विषीति॥ (मनु०, अ० 7, श्लो० 13)

5 अनियुक्तानां पुनरन्यथाभिधानेऽनभिधाने वा दोषो, न तु राज्ञो ऽनिवारणे। (मिताक्षरा)।

करे तो उसका निवारण करे।[1] राजा के अन्याय करने पर जो उसका समर्थन करते हैं वे राजा के साथ ही उस पाप के भागी होते हैं, अतः उन्हें राजा को समझाना चाहिए।[2]

इतना ही नहीं, यदि ये सभ्य लोग राग अथवा भय के कारण धर्मशास्त्र के प्रतिकूल कार्य करें तो उन्हें विवाद के धन से दूना अर्थ-दण्ड दिया जाना चाहिए।[3] यह दण्ड प्रत्येक सभ्य से अलग-अलग इसी परिमाण से वसूल किया जाता था।

अन्य वैश्य, शूद्र आदि जो सभ्य उपस्थित होते थे उनका कार्य विशेष मामलों में रूढ़ियों और श्रेणीगत रीति-नीति का परिचय देना था।[4]

अन्य न्यायालय और अपील—ऊपर वर्णन किया हुआ न्यायालय राज्य का सर्वोच्च न्यायालय होता था। यद्यपि इस न्यायालय में भी मौलिक मामले (Original Cases) प्रस्तुत हो सकते थे, परन्तु वह वास्तव में अपील का न्यायालय था। इसके अतिरिक्त कुल, श्रेणी, पूग या गण और व्यक्तियों को भी राजा द्वारा न्याय करने के अधिकार दिये जाते थे।[5] इन न्यायालयों को विशेष प्रकार के मामले सुनने का अधिकार था, क्योंकि प्राचीन न्याय-पद्धति का यह मान्य

---

1 नियुक्तानां यथावस्थितार्थकथनेऽपि यदि राजाऽन्यथा करोति ।
तदाऽसौ निवारणीयोऽन्यथाऽदोषः ॥

2 अन्यायेनापि तं यान्तं येऽनुयान्ति सभासदः ।
तेऽपि तद्भागिनस्तस्माद्बोधनीयः सतैर्नृपः ॥ (कात्यायन)

3 रागाल्लोभाद्भयाद्वापि स्मृत्यपेतादिकारिणः ।
सभ्याः पृथक् पृथग्दण्ड्या विवादाद्द्विगुणं दमम् ॥ (याज्ञवल्क्य 4)

4 इस प्रसंग में न्याय-सभा में बैठने वाले धर्मशास्त्रज्ञ ब्राह्मणों तथा सभ्यों के साथ वर्तमान जूरियों तथा असेसरों की तुलना करना उपयोगी होगा। असेसर केवल सम्मति दे सकते हैं, उसे मानना या न मानना न्यायाधीश के मन की बात है। यही दशा सम्मति देने वाले ब्राह्मणों की थी। भेद यह है कि आज असेसर कोई बिना पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी हो सकता है, पहले केवल धर्मशास्त्र ज्ञाता ही हो सकते थे। आज जूरी का प्रायः वही कर्त्तव्य है जो पहिले 'सभ्यों' का था। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि आजकल तो असेसर और जूरी केवल कुछ मामलों में ही नियुक्त होते हैं परन्तु प्राचीन काल में प्रत्येक मामले में उनका रहना निश्चित था।

5 नृपेणाधिकृता पूगा श्रेणयोऽथ कुलानि च ।
पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेयं व्यवहारविधौ नृणाम् ॥ (याज्ञवल्क्य)

सिद्धान्त था कि जिस प्रकार का मामला हो उसे सुनने के लिए उसी प्रकार की न्याय-सभा होनी चाहिए ।

कुल द्वारा किये हुए निर्णय पर श्रेणी, और श्रेणी के निर्णय पर पूग, एव पूग पर राजा द्वारा अधिकृत पदाधिकारी विचार कर सकते थे । इस नृप द्वारा अधिकृत व्यक्ति के निर्णय के विरुद्ध राजा स्वय अपील सुनता था ।

वास्तव मे प्राचीन भारत की यह विशेषता थी कि राजा तक बहुत कम मामले जाते थे । कुल, श्रेणी एव गणो की न्याय सभाए ही उन्हे निपटा देती थी । कुछ प्रकरण ऐसे अवश्य थे जिन्हे केवल उच्च न्यायालय ही सुन सकते थे । उदाहरणार्थ 'साहस' (गम्भीर अपराध) पूग या गण के न्यायालय नही सुन सकते थे ।

कार्यवाही लिखी जाती थी—ऊपर लिखा जा चुका है कि न्याय-सभा मे एक लेखक अथवा कायस्थ भी होता था । उसका कार्य कार्यवाही के आवश्यक विवरण लिखना था । न्याय के लिए प्रार्थना-पत्र लिखित प्रस्तुत नही होते थे । प्रत्यर्थी (मुद्दाअलेह अथवा मुलजिम) के उपस्थित हो जाने पर अर्थी (मुद्दई अथवा फरियादी) का कथन लिख लिया जाता था और उसके नीचे उसका नाम, जाति आदि लिखी जाती थी तथा साल, मास और दिन भी लिखा जाता था ।[1] कात्यायन ने इसके लिखने की विधि विस्तारपूर्वक बताई है । वे कहते है कि अर्थी का यह कथन पहले खडिया के काष्ठ-फलक पर लिखा जाय और फिर शोधन करके पत्र (कागज या अन्य भोज-पत्र आदि) पर लिखा जाय । इसी प्रकार अर्थी की उपस्थिति मे प्रत्यर्थी का उत्तर लिखा जाता था । ऐसा प्रत्युत्तर लिखा जाने के पश्चात् ही अर्थी को वे साधन (साक्ष्य) लिखा देने पडते थे, जिनसे वह अपने कथन की पुष्टि करता था । साक्षियो के कथन भी लिखे जाते थे ।[2] और अन्त मे जय-पत्र (डिक्री) लिखा जाता था । इस जय-पत्र मे अर्थी-प्रत्यर्थी के कथन, दोनो पक्षो का साक्ष्य और सभा का निर्णय तथा उससे लागू होने वाला न्याय का सिद्धान्त लिखा जाता था । उस पर अध्यक्ष के हस्ताक्षर तथा राजकीय मुद्रा लगाई जाती थी ।

वकील—यहा इस बात पर भी विचार प्रकट कर देना समीचीन होगा कि प्राचीन राज-सभाओ म वकीलो द्वारा पैरवी होती थी अथवा नही । यह तो निश्चित है कि जिस रूप मे आज वकील कार्य करते है उस रूप मे न तो

1 प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्य यथावेदितमर्थिना ।
समामासतदर्धाहर्नामजात्यादिचिह्नितम् ॥ (याज्ञवल्क्य)

2 मृच्छकटिक, नवम् अक ।

प्राचीन भारत मे कोई वर्ग था और न योरप मे ही। आज वकीलो के प्रधानत दो कार्य हैं। एक तो वे मामले को राजनियम के अनुसार अग्रसर करने मे न्यायालय के सहायक होते हैं और दूसरे वे अर्थी अथवा प्रत्यर्थी के स्थान पर उपस्थित होते हैं। प्राचीन भारत मे न्यायसभा की जो बनावट थी उसके कारण पहले कार्य के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता न हो सकती थी। न्याय-सभा मे उपस्थित ब्राह्मणो एव नियुक्त सभ्यो का यही कार्य था। वे धर्मशास्त्र के नियमो मे पारगत होते थे। उनकी उपस्थिति मे प्राड्विवाक या राजा राज-नियम सम्बन्धी भूल न कर सकता था।

दूसरे कार्य के लिए, अर्थात् स्वय उपस्थित न होकर दूसरे को नियुक्त करने का आदेश स्मृतियो मे है। अप्रगल्भ, जड, वृद्ध, स्त्री, बालक और रोगियो को यह अधिकार था कि वे अपनी ओर से कथन करने के लिए या उत्तर देने के लिए उचित रूप से नियुक्त व्यक्ति भेजें।[1] इनके कथनो पर जय या पराजय अवलम्बित होती थी।[2] ऐसे व्यक्तियो को, जो पक्षकारो के न तो निकट सबधी होते थे और न विधिवत् नियुक्त होते थे, यदि वे किसी पक्षकार की ओर से बोलते थे, दण्ड मिलता था।[3]

जिस प्रकार आज कुछ गम्भीर अपराधो की दशा म न्यायालय मे व्यक्तिगत उपस्थिति अनिवार्य होती है या अनिवार्य की जा सकती है, उसी प्रकार प्राचीन भारत मे भी नियम था। कुछ अपराध ऐसे थ जिनके विचार मे स्वय उपस्थित होना पडता था।[4]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि वकीलो का वर्ग वर्तमान रूप मे प्राचीन भारत मे नहीं था, फिर भी उनके कारण जो भी सुविधा आजकल मिलती है, वह प्राचीनकाल मे भी प्राप्त थी।

---

1 अप्रगल्भजडोन्मत्तवृद्धस्त्रीबालरोगिणाम् ॥
पूर्वोत्तर वदेद्बधुर्नियोक्तोऽन्योऽथवा नर ॥ (बृहस्पति)

2 अर्थिना सनियुक्तो वा प्रत्यर्थिप्रेरितोऽपि वा।
यो यस्यार्थे विवदते तयोर्जयपराजयौ॥ (नारद)

3 यो न भ्राता न च पिता न पुत्रो न नियोगकृत्।
परार्थवादी दड्य स्याद्व्यवहारेपु विब्रुवन ॥ (कात्यायन)

4 ब्रह्महत्यासुरापाने स्तेयेपु गुर्वगनागमे।
मनुष्यमारणे स्तेये परदाराभिमर्शने॥
अभक्ष्यभक्षणे चैव कन्याहरणदूपणे।
पारुष्ये कूटकरणे नृपद्रोहे तथैव च॥ (कात्यायन)

मृच्छकटिक—शूद्रक का मृच्छकटिक नाटक कुछ विद्वानो के मत से ई० पू० प्रथम शताब्दी अर्थात् हमारे विक्रमकाल म लिखा गया है। अपने निर्माणकाल के सामाजिक जीवन का इसमे बहुत सुन्दर चित्रण है। सौभाग्य से उसमे एक मुकद्दमे का भी वर्णन आ गया है। स्मृतियो मे दिए हुए *सिद्धान्तो का कार्यान्वित* रूप क्या था, यह इससे प्रकट होता है। इसमे न्यायालय और उससे सम्बन्धित कर्मचारियों के नाम आए हैं। मृच्छकटिक के व्यवहार नामक नवम् अक म सबसे आरम्भ मे 'शोधनक' आता है। इस कर्मचारी का कार्य आसनो को सजाना, कार्यार्थियो को बुलाना आदि था। यही सम्भवत स्मृतियो का 'साध्यपाल' है। आजकल के चपरासी और खलनामी दोनो का कार्य इसने किया है। न्याय सभा को 'व्यवहार-मण्डप' कहा गया है और न्यायाधीश को 'अधिकरणिक'। यही स्मृतियो का प्राड्विवाक् है। इसके साथ ही श्रेष्ठि तथा कायस्थ आते हैं। अधिकरणिक, श्रेष्ठि एव कायस्थ आदि के यथास्थान बैठ जाने पर शोधनक 'व्यवहार-मण्डप' के बाहर जाकर आवाज लगाता है कि जो कार्यार्थी हो वे अपने मामले प्रस्तुत करें। आगे प्रकट होता है कि अभियोग मौखिक ही निवेदन किया जाता था और 'कायस्थ' उसे लिखता था। यह लिखना प्रारम्भ मे खरिया द्वारा ही होते हैं। आगे मामले के पक्षकार एव न्यायाधीश का कर्त्तव्य भी बतलाया गया है। अर्थी और प्रत्यर्थी के ऊपर घटनाओ को सिद्ध करने का भार था तथा न्यायाधीश का कर्त्तव्य उनका अय निर्धारित करना था। न्याय का कार्यक्रम प्रारम्भ होते ही सब सम्बन्धित व्यक्ति बुलाए जाते हैं।

यहा एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। मृच्छकटिक मे अभियुक्त को उस समय तक निर्दोष समझकर उसका पूर्ण सम्मान किया गया है, जब तक कि उस पर अभियोग सिद्ध नही हो गया। कथन लेने की प्रणाली भी आजकल के न्यायालयो के समान ही बतलाई गई है। न्यायाधीश, श्रेष्ठि एव कायस्थ अभियुक्त से प्रश्न करते है। अभियोग के प्रमाणित होते ही अभियुक्त को आसन पर से उठाकर भूमि पर बैठा दिया जाता है। न्यायाधीश (अधिकरणिक) केवल निर्णय देता है, दण्ड का विधान राजा के हाथ म ही है। राजा के पास निर्णय तुरन्त ही भेज दिया जाता है और वह दण्ड की व्यवस्था भी उसी समय कर देता है। वध-दण्ड की व्यवस्था होने के कारण अपराधी 'चाण्डाल' को सौप दिया जाता है।

इस दृश्य म दो-तीन बातें बहुत मार्के की हैं। अभियोगी राजा का साला है, परन्तु फिर भी अभियुक्त को प्रारम्भ मे निरपराध समझकर ही आदर मिलता है। दूसरी बात यह है कि यद्यपि न्यायाधीश चारुदत्त को निरपराध समझता है, परन्तु फिर भी प्रत्यक्ष प्रमाण के सामने उसे झुकना पडता है, भले ही उसकी

सहानुभूति अन्त तक चारुदत्त के साथ रहती है। तीसरी बात न्याय की शीघ्रता है।

यद्यपि नाटकीय वातावरण लाने के लिए नाटककार को थोडी-सी स्वतत्रता ग्रहण करनी पडी होगी, फिर भी यह दृश्य तत्कालीन न्याय का वास्तविक उदाहरण माना जा सकता है।

इस अक मे प्राचीन काल की न्यायालय सम्बन्धी शब्दावली भी निहित है।

न्याय के अन्य उदाहरण—भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य मे न्याय के उदाहरणो की कमी नही है। उनसे हमारी प्राचीन न्याय-प्रणाली पर बहुत प्रकाश पडता है। विक्रमीय प्रथम शताब्दी के बहुत पूर्व लिखे गए जातको मे जेतवन सम्बन्धी विवाद बहुत प्रसिद्ध है। इसमे एक पक्षकार राजकुमार था दूसरा साधारण श्रेष्ठि। परन्तु विजय श्रेष्ठि की हुई और इसमे न्यायाधीश की निष्पक्षता स्पष्टत प्रमाणित होती है। विक्रमीय सवत् के पश्चात् भी सस्कृत ग्रन्थो मे अनेक न्यायो के उदाहरण प्राप्त होते हैं। राजतरगिणी मे तो एक स्थल पर एक गरीब के स्वत्व के सामने स्वय राजा को झुकते बताया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज से प्राय दो सहस्र वर्ष पूर्व न्यायालय एव न्यायदान की जो परम्परा चल रही थी, वह बहुत व्यवस्थित तो थी ही, साथ ही अनेक अशो मे वह आज की व्यवस्था से श्रेष्ठतर भी थी। अन्त मे हम अपना यह लेख शूद्रक द्वारा बतलाए हुए न्यायाधीश के लक्षण को दुहराते हुए समाप्त करते हैं—

> शास्त्रज्ञः कपटानुसारकुशलो वक्ता न च क्रोधन-
> स्तुल्यो मित्रपरस्वकेषु चरित दृष्ट्वैव दत्तोत्तरः॥
> क्लीवान् पालयिता शठान् व्यथयिता धर्म्यो न लोभान्वितो
> द्वार्भावे परतत्त्वबद्धहृदयो राज्ञश्च कोपापहः॥

विक्रम का सिंहासन

□ कर्नल राजराजेन्द्र श्री मालोजीराव नृसिंहराव शितोले

विक्रमादित्य के नाम के साथ जनश्रुति ने दो वस्तुओं को अमिट रूप से सम्बद्ध कर दिया है, एक तो बत्तीस वाचाल पुतलियो से युक्त उनका सिंहासन और दूसरा उनका सतत साथ देनेवाला वैताल।

इस लेख मे हम विक्रमादित्य के सिंहासन का वर्णन जनश्रुति एव अनुश्रुति के अनुसार करेगे। सिंहासन बत्तीसी की कथा है कि एक बार इन्द्रलोक मे इस बात की होड लगी कि रम्भा और उर्वशी मे अधिक कलापूर्ण नृत्य किसका है। इसका निर्णय करने के लिए प्रसिद्ध कला पारखी वीर विक्रमादित्य स्वर्ग मे बुलाए गए और उन्होने अपनी कला-मर्मज्ञता से इन्द्र सभा को प्रसन्न कर दिया। इन्द्र ने उन्हे एक अत्यन्त दिव्य सिंहासन उपहार मे दिया। यह सिंहासन बहुत ही अप्राप्य एव बहुमूल्य रत्नो से खचित था।

उस सिंहासन मे बत्तीस पुतलिया बनी हुई थी और उनके सिर पर चरण रखकर इस सिंहासन पर आसीन होते थे, ऐसा सिंहासन बत्तीसी के एक पाठ मे लिखा है। इससे यह ज्ञात होता है कि सिंहासन के ऊपर चढने की जो सीढिया थी, उन पर बत्तीस पुतलिया बनी हुई थीं। परन्तु इसी का दूसरा पाठ मिलता है जिसने यह ज्ञात होता है कि उस सिंहासन मे बत्तीस उपसिंहासन थे और उनमें यह बत्तीस पुतलिया लगी हुई थी। उपसिंहासन का अर्थ पाये हो सकता है अथवा सिंहासन की सीढिया। एक तीसरे पाठ मे केवल यह लिखा है कि उस सिंहासन मे देदीप्यमान तेज पुज बत्तीस पुतलिया थी। इसी से मिलता-जुलता जैनो मे प्रचलित पाठ है, जिसमें लिखा है कि वह सिंहासन बत्तीस पुतलियो से सुशोभित था। इस प्रकार हम देखते है कि सिंहासन बत्तीसी के विभिन्न पाठ-

कारो ने इन पुतलियों का स्थान अलग-अलग कल्पित किया है।[1]

इन पुत्तलियो के विषय मे भी एक कथा प्रचलित है। यह बत्तीस पुतलिया पूर्व मे पार्वती की सखिया बत्तीस सुरागनाए थी। एक बार वे एक सुन्दर आसन पर बैठी हुई थी कि उन्हे भगवान् शकर ने विलासपूर्ण दृष्टि से देखा। भगवती गौरी ने इसे देख लिया और क्रुद्ध हो शाप दिया 'निर्जीव पुत्तलिकाए होकर इन्द्र के सिंहासन से लग जाओ' इस कथा से इस सिंहासन की कल्पना और भी स्पष्ट हो जाती है। यह सिंहासन इन पुतलियो के उससे लगने के पूर्व ही पूर्ण था। यह तो पीछे से आकर लग गई थी।

इन्द्र प्रदत्त विक्रम के इस सिंहासन का मूल रूप कल्पित करने के लिए भारत के प्राचीन शिल्पशास्त्र मे वर्णित सिंहासन के आकार-प्रकार पर दृष्टि डालना उचित होगा।

सिंहासन से तात्पर्य है सिंह-मुद्रित मनोहर आसन (मानसार, अध्याय 45, श्लोक 204)। यह सिंहासन राजाओ के लिए होता था। राजाओ के राज्याभिषेक के लिए सिंहासन का होना आवश्यक समझा गया है। प्राचीन भारत मे ही क्या, ससार के समस्त प्राचीन तथा अर्वाचीन देशो म राज्याभिषेक के समय विशिष्ट एव बहुमूल्य आसनो का उपयोग होता रहा है। प्राचीन भारत मे अभिषेक की चार स्थितिया मानी गई हैं और उनके अनुसार चार प्रकार के

---

1 सिंहासन बत्तीसी के चार पाठ मिले हैं। इनमे सिंहासन के विषय मे नीचे लिखे पाठ मिलते हैं—

(1) महार्घवररत्नखचितम् सिंहासनम्··· ··तत्सिंहासने खचिता द्वात्रिंशत् पुत्तलिका सन्ति तासाम् शिरसि पदम् निधाय तत्सिंहासन अध्यासितव्याम् (दक्षिण पाठ)

(2) ············रत्नसिंहासनम् महत्।
उपसिंहासनानि अत्र द्वात्रिंशत् तेषु पुत्तलिका।
तन्मूर्धनि चरण न्यस्य समारोहेत् महासनम्।
अस्मिन् सिंहासने स्थित्वा सहस्रम् शरदम् सुखम्।
भुव पालय भूपाल ······· ··········' ॥ (श्लोकबद्ध पाठ)

(3) दिव्यरत्नखचितम् चन्द्रकान्तमणिमय सिंहासनम् च दत्तम्। तस्मिन् सिंहासने देदीप्यमानास् तेज पुज इव द्वात्रिंशत् पुत्तलिका सन्ति। (सक्षिप्त पाठ)

(4) द्वात्रिंशच्चालिभजिका चालितम् कान्तचन्द्रकान्तमणिमयम्···। (जैन पाठ)

सिहासनो का वर्णन है—(1) प्रथमासन, (2) मगलासन, (3) वीरासन और (4) विजयासन।

इन आसनो के भी दस प्रकार बतलाए गए है—(1) पद्मासन, (2) पद्मकेसर, (3) पद्मभद्र, (4) श्रीभद्र, (5)श्रीविशाल (6) श्रीवन्ध, (7) श्रीमुख, (8) भद्रासन, (9) पद्मबन्ध और (10) पादबन्ध। बैठने वाले नरेन्द्र की स्थिति के अनुसार ये आसन बनवाये जाते थे। पद्मासन नामक सिहासन शिव अथवा विष्णु के लिए होता था। पद्मभद्र चक्रवर्ती नरश प्रयोग करते थे, श्रीमुख मडलेशो के काम मे आता था, और पादबन्ध 'अष्टगृह राजाओ के उपयोग की वस्तु थी।

सिहासन के पाए सिह की आकृति के होते थे परन्तु पादबन्ध आसनो मे तथा वैश्य तथा शूद्र जाति के छोटे राजाओ के आसनो म सिह की आकृति नही बनाई जाती थी और उनके केवल चार पाये होने थे। अन्य सिंहासनो के छह पाये हुआ करत थे।

हिन्दू धर्मशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार राजा की अथवा राजसस्था की उत्पति दैवी बतलाई गई है। इस ससार म अराजकता के कारण जो कष्ट फैले हुए थे उन्ह, मिटाने के लिए तथा जगत् के रक्षार्थ ईश्वर ने राजा को बनाया और इन्द्र वायु यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र तथा कुबेर के अश से उसका निर्माण किया।[1]

यदि राजा से तात्पर्य केवल एकतत्री राजा से न मानकर शासन करने वाली सस्था के प्रतिनिधि से लिया जाय तो ये लक्षण किसी भी शासन प्रणाली से लागू हो सकते हैं।

इस राजा के अधिकार का मूल धर्मशास्त्र के अनुसार राज्याभिषेक सस्कार है। प्राचीन ग्रन्थो म अभिषेक की जो रीति वर्णित है उसम सिंहासन का प्रधान

---

1 अराजकेहि लोकेऽस्मिन्सर्वतोविद्रुत भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभु ॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ॥
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रानिर्हृत्य शाश्वती ॥ (मनुस्मृति, अ० 7, श्लो० 3 तथा 4)

स्थान है। राज्याभिषेक का सिंहासन[1] प्रारम्भ मे खदिर की लकडी का बना होता था और उस पर सिंह की चर्म बिछी रहती थी। वह अत्यन्त विशाल होता था। अभिषेक के अतिरिक्त राज-सभा, न्यायसभा एव यज्ञो मे भी राजा सुन्दर सिंहासनो पर आरूढ होता था।

राजा अथवा राज-सस्था की उत्पत्ति जब दैवी है, तो यह आवश्यक है कि सिंहासन की कल्पना के साथ-साथ दैवी भावना सम्बद्ध कर दी जाय। विक्रम के सिंहासन को भी इन्द्र द्वारा प्रदत्त कल्पित किया गया है। उसमे जो सौन्दर्य-वर्धन के लिए बत्तीस पुत्तलिकाए लगी हैं, वे देवागनाए हैं, और वे इतनी सुन्दर हैं कि जिन्हें देखकर कामारि शकर के मन मे भी क्षोभ हुआ। अत हम यह देखते हैं कि इस सिंहासन मे जिन-जिन बातो की कल्पना की गई है वे सार्थक तथा सहेतुक हैं।

इस सिंहासन की एक अन्य विशेषता है, उस पर बैठने का प्रभाव। इस सिंहासन को देते समय इन्द्र ने विक्रमादित्य से कहा था 'इस सिंहासन पर बैठना और ससार की रक्षा करना'। इस पर बैठने का प्रभाव भी अद्भुत था। महा-दरिद्रमन ब्राह्मण भी जब उस टीले पर चढता था, जिसके नीचे यह सिंहासन दबा हुआ था, तो उसका हृदय अत्यन्त उदात्त एव उदार विचारो से भर जाता था। राजा भोज ने भी इसकी परीक्षा की थी। वह स्वय उस टीले पर चढा और उसके हृदय मे राजोचित पूत विचारो का उदय इस प्रकार हुआ 'मैं ससार की रक्षा करूगा, सब के दु खो और क्लेशो का हरण करूगा, समस्त ससार के कल्याण का प्रयत्न करूगा, दैन्य का नाश करूगा, पाप का उन्मूलन कर दूगा, साधुओ का परित्राण और दुष्टो का विनाश करूगा'। सिंहासन पर बैठने का प्रभाव ही इस प्रकार का हो कि राजा मे उपयुक्त गुणो का अपने आप स्फुरण हो और जिस राजा मे ये गुण न हो और प्रयत्न करने पर उत्पन्न भी न हो सकते हो उसे राजसिंहासन पर आसीन होने का अधिकार नही है, इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए ही मानो सिंहासनबत्तीसी लिखी गई है। विक्रमादित्य के

---

1 इस विषय मे स्वर्गीय विद्वान् डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल ने लिखा है—आविद् या घोषणा के उपरान्त राजा काठ के सिंहासन (आसन्दी) पर आरूढ होता है, जिस पर साधारणत शेर की खाल बिछी रहती है। इस अवसर के लिए चार मत्र हैं। आगे चलकर जब हाथीदात और सोने के सिंहासन बनने लगे, तब भी काठ के सिंहासन का व्यवहार किया जाता था।......यज्ञो मे भरतो के सिंहासन की बनावट या तर्ज प्रसिद्ध है। (देखिए हिन्दू राज-तन्त्र, दूसरा खण्ड, पृ० 48)

परलोक गमन के पश्चात् जब मन्त्रियो ने देखा कि ऐसा गुणवान राजकुमार उसके वश मे नही है तो उसे अपवित्र और लाछित कराने के बजाय भूमि मे गाड देना उचित समझा और जब एक सहस्र वर्ष उपरान्त राजा भोज ने उस पर आरोहण का प्रयत्न किया तो एक-एक पुतली ने विक्रम के एक-एक गुण का वर्णन किया और बहुत चुभता हुआ एव सीधा प्रश्न किया, 'राजा भोज! यदि तुझमे ये गुण हो तभी तू इस सिहासन पर चढ।'

राजा के लिए बहुमूल्य सिंहासन का निर्माण ससार के प्राय सभी देशो मे होता था। राज्याभिषेक के उपरान्त भी उनका उपयोग होता था। योरप मे पहले यह मच के ऊपर होता था जिसमे सीढिया लगी होती थी। इस पर आसीन होना वहा के राज्यारोहण-समारोह का एक विशेष अग था। सुलेमान के तख्त के विषय मे कल्पना है कि वह हाथी दात का बना हुआ था और उस पर स्वर्ण-स्तर चढे हुए थे, उसके बाजुओ मे दो सिहो की मूर्तिया थी और उसकी छै सीढियो पर भी सिह के जोडे बने हुए थे। फारस के अब्बास नामक सम्राट् का सिहासन सफेद स्फटिक का बना हुआ था। रूस के पीटर महान् के प्रपिता जार माइकेल फियोडोरोविच के स्वर्ण सिंहासन मे आठ सहस्र नीलमणि, पन्द्रह सौ माणिक्य और दो विशाल पुखराज जडे हुए थे। भारत के मुगल सम्राट् शाहजहा का मयूर-सिहासन अत्यन्त प्रसिद्ध है। उसमे चादी की सीढिया थी। उसके पाए सोने के थे, उसमे रत्न जडे हुए थे और उसमे मयूर के पखो की रत्नजटित आकृति बनी हुई थी। उसकी लागत बारह करोड स्वर्ण-मुद्रा बतलाई जाती है।

सम्राट् और राजा ही नही, साधु-सन्त भी अपने विशिष्ट सिंहासनो पर बैठते हैं। योरप के पोप का अत्यन्त सुन्दर एव बहुमूल्य आसन है। भारत के आचार्यों के गद्दीधारी भी विशिष्ट आसनो का प्रयोग करते हैं। भारत मे बुद्ध भगवान् की कुछ मूर्तिया एव चित्रो मे उन्हे सिंहो से अकित आसनो पर आसीन चित्रित किया है।

यह सब वर्णन प्रसगवश किया गया है। इस लेख का उद्देश्य अनुश्रुति और जनश्रुति मे कल्पित विक्रम के सिंहासन का रूप निरूपण करना ही है। यह रूप हमे सिहासन बत्तीसी के विविध पाठो के अध्ययन से तथा उसके साथ सिहासन की शास्त्रीय कल्पना मे स्पष्ट हो जाता है। सिंहासन बत्तीसी के रचयिता (तथा प्रतिलिपिकारो) का अन्य उद्देश्य[1] चाहे जो रहा हो परन्तु उसमे राज्य-सिहासन का अत्यन्त मनोहर वर्णन और राज-धर्म की विस्तृत, हृदयग्राही एव स्पष्ट व्याख्या मिलती है और उनका सम्बन्ध भारत के शौर्य, औदार्य एव विक्रम के प्रतीक विक्रमादित्य से कर दिया गया है।

1 निश्चय ही यह उद्देश्य धीमतों के अनुरूप कालयापन एव सकल-लोक-चित्त-चमत्कृत करना ही है।

विक्रम और वेताल

□ राजशेखर व्यास

'वेतालपचविंशति' सुन्दर कथा ग्रन्थ है। सस्कृत-कथा-साहित्य मे इसका अपना स्वतन्त्र स्थान है। इसमे विक्रम और वेताल की कथा गूथी गयी है और वह बहुत ही रोचक है।

यद्यपि कथा-कल्पना के लिए तत्कालीन समाज-स्थिति और वातावरण का आधार अपेक्षित है, तथापि कथा-गाथा-ग्रन्थो का मूल्याकन ऐतिहासिक आधार पर अवलम्बित नही माना जाता। इसी परम्परा के कारण उक्त रचना की गई थी। इसमे केवल 'कथा-मात्र' का महत्त्व प्राप्त है। इससे अधिक इस वेताल-कथा को इतिहास की कसौटी पर कभी कसा भी गया कि नही, यह पता नही लगता। वेतालपचविंशति का अनेक भाषाओ मे अनुवाद हुआ है, और जन-साधारण में वह बहुत लोकप्रिय बनी हुई है। सस्कृत से उतरकर जनभाषा मे 'वेतालपचीसी' के रूप मे वह सर्वगम्य और सर्वप्रिय बनी चली आ रही है। वेताल की इस रसमय-कथा-मालिका की यह विशेषता है कि हर कथा के पूरे होने-न-होने वेताल अपने प्रथम स्थान पर वापस लौट आता है और पाठक के मन मे अपूर्ण परितृप्ति की लालसा बनी रहती है।

आदि वंतकथा

वेताल की उक्त कथा मे विक्रम का स्थान ही विशिष्ट है। इस कथा के आरम्भ की परम्परा कब से और किन कारणो से समाज के समक्ष आई तथा प्रचलित हुई, इसका ठीक पता नही है। किन्तु यह स्पष्ट है कि यह अभिनव नही है। शताब्दियो से इसका प्रचार चला आया है। इस कथा का स्रोत आरम्भ मे थोडे फेर के साथ कथा-सरित्सागर मे उपलब्ध होता है। अवश्य ही कथा-सरित्सागर मे इसका अवतरण पैशाचीभाषा की बृहत्कथा-मजरी से होना चाहिए जिसका सक्षिप्त रूप कथा-सरित्सागर है। क्षेमन्द्र के बाद 14वी शताब्दी मे सौराष्ट्र देश के मेरुतुग सूरी ने अपनी 'प्रबन्ध चितामणि' मे जनश्रुति से लेकर कुछ कथाओ को सगृहीत किया है। विभिन्न प्रदेशो और जनवाणी मे पहुचकर

मूल कथाओं मे दन-कथा के नियमानुसार कुछ नवीनीकरण, परिवर्तन भी सम्भव हुआ हो परन्तु तथ्यो मे विशेष अन्तर नही आया। हा, कथाए कुछ व्यापक रूप लेकर विस्तार पाती चली आयी और चिरजीवन लिये हुई हैं।

यदि स्कदपुराण और उसके अन्तर्गत अवतीखड को 9वी शती की रचना ही स्वीकार की जाए, तो नवम शती म विक्रम और वेताल की घटना को इतनी अधिक ख्याति एव लोकप्रियता प्राप्त हो गई थी कि यह एक तथ्य वस्तु से सम्बद्ध है और उसका अस्तित्व रहा है। इस ख्याति के वशीभूत होकर ही वेताल की समाधि ने पुराणो मे स्थान प्राप्त किया होगा।

जैसा नाम से स्पष्ट है, उक्त कथा का नायक 'विक्रम' है। इसलिए यह कथाचक्र विक्रम के वर्तुल मे ही घूमता रहता है। तदनुसार, इसमे विक्रमादित्य के राज्यारोहण की बडी ही रोचक कथा वर्णित हुई है। सक्षेप मे उसका आशय इस प्रकार है।

कथा बेताल की

उज्जैन के राजसिहासन पर कुछ समय से कोई राजा एक दिन से अधिक नही टिक पाता था। बैठने के दिन ही रात को कोई शक्ति उसे अपना लक्ष्य बना लेती थी। फलत प्रतिदिन जनता मे से एक व्यक्ति चुनकर लाया जाता था और ढिढोरा पीटकर आमन्त्रित किया जाता था। इस प्रकार, एक रोज उज्जैन के निवासी विक्रम नामक क्षत्रिय का भी अवसर आया। विक्रम सिंहासन पर आसीन हुआ और उसने विचार किया कि जो शक्ति शासक की बलि ले लेती है, उसे क्यो न अन्य भक्ष्य पदार्थों से सन्तुष्ट किया जाए और साहस से मुकाबला किया जाए। इस विचार के अनुसार ही अनेक प्रकार के पक्वानो का निर्माण कर महल मे सजाया गया और हाथ मे खडग लेकर विक्रम एकात मे छुप कर खडा रहा। ठीक मध्य रात्रि के गहन अधेरे म सहसा द्वार की ओर से धूम्र-पटल और लपटो के साथ यमदूत की तरह एक भयानक पुरुष ने अन्दर प्रवेश किया, और आते ही क्षुधातुर होकर सजे हुए पकवानो पर धावा बोल दिया। आज की मधुर सामग्री से वह बहुत सतुष्ट तथा प्रसन्न हो गया। थोडी देर विश्राति की और गर्जन कर कहा—'जिसने आज इतनी सुन्दर व्यवस्था की हो, वह यदि यहा हो, तो प्रकट हो जाए। हम उसे अभय वचन देते हैं।' अभय पाकर विक्रम उस विकराल व्यक्ति के समक्ष प्रकट हो गया। उस प्रसन्न व्यक्ति ने अपना परिचय 'अग्निबेताल' के रूप मे दिया और विक्रम को सहर्ष उज्जैन का राजा घोषित किया, तथा विक्रम द्वारा अपने दैनिक भोजन-पोषण की व्यवस्था की स्वीकृति प्राप्त कर ली। प्रात काल जनता ने विस्मय के साथ देखा कि विक्रम जीवित है और शासन के सूत्रो को निर्भय होकर सचालित कर रहा

है। अब वेताल विक्रम का सहायक बन गया था। यह कथा बडी रोचकता के साथ प्रतिपादित की गई है तथा इस कथा से सबद्ध अन्य कथाएँ बनती-बढती चली गयी।

मालवा मे इस कथा को एक तथ्य के रूप मे माना जाता है और कुछ ऐसे आधार भी मिलते हैं, जिनसे विचार करने का अवसर प्राप्त होता है।

विक्रम का सहायक बेताल

यह सुप्रसिद्ध है कि उज्जैन मे सवत-प्रवर्तक विक्रमादित्य का राज्य रहा है। और यह भी प्रख्यात है कि विक्रम का सहायक अथवा मित्र 'बेताल' भी था। क्षेमकर ने कथासरित्सागर मे इस बेताल का नाम 'अग्निशिख' बतलाया है। उसी को जनकथा के आचार्य मेरुतुग ने 'अग्निवर्ण' कहा है। दोनो नामो मे विशेष अन्तर नही है। यही जनभाषा मे चलकर 'अगिया बैताल' हो गया है। इस अगिया बैताल का उज्जैन म एक बहुत पुरातन मन्दिर बना हुआ है। यह शताब्दियो से अस्तित्व बनाए हुए है और उस बेताल-कथा की ऐतिहासिक सगति का औचित्य प्रतिपादित करता है। न जाने कबसे इस वेताल मन्दिर पर नवरात्र मे नियमित पूजा होती है और शासकीय व्यवस्था रहती आई है। यहा बलि-प्रथा है, जो उक्त कथा की सगति का समर्थन कर रहा है। इससे विदित होता है कि उज्जैन मे अवश्य ही वेताल का अस्तित्व रहा है। सम्भव है कि विक्रम से उसका किसी प्रकार का सम्बन्ध रहा हो। वेताल-कथा की पृष्ठभूमि मे कोई तथ्य-घटना अवश्य नही है। इमे पौराणिक समर्थन भी सुलभ है। हमने प्राय पुराण-कथाओ की समीक्षा तथ्यान्वेषण की दृष्टि से नही की है। उन्हे उपेक्षित समझा है। पुराण-कथाओ के साक्ष्य म आज भी अनेक स्थल उन स्थानो (नगरो) मे प्रत्यक्ष देखे जा सकते है, उनको लेकर ही कथानको की रचना हुई है। इनके रूपको का आवरण हटा दिया जाए तो वे स्वय-आत्म समर्थन के लिए उपस्थित हैं, यदि वेताल की उक्त कथा, केवल कथा-मात्र, या प्रकल्पित ही हो, तो यह मन्दिर, बलि-प्रथा और पुराण-समर्थन क्या वस्तु हैं?

पुराणों मे भी उल्लिखित

यदि स्कन्दपुराण और उसके अन्तर्गत अवतीखड को 9वी शती की रचना ही स्वीकृत की जाए, तो नवम शती मे विक्रम और वेताल की घटना को इतनी अधिक ख्याति एव लोकप्रियता प्राप्त हो गई थी कि यह एक तथ्य वस्तु से सबद्ध है और उसका अस्तित्व रहा है। इस ख्याति के वशीभूत होकर ही वेताल की समाधि ने पुराणो मे स्थान प्राप्त किया होगा। इसके सिवा कथा-सरित्सागर के मूल पैशाची के स्रोत वाली बृहत्कथा को कौन आधुनिक कहने का साहस

कर सकता है जिसमे इस वेताल-कथा का प्रथम उल्लेख हुआ है।

विक्रम के नवरत्नो की मालिका मे भी उक्त वेतालभट्ट का उल्लेख है। इसकी रचना का स्वतन्त्र अस्तित्व नही मिलता, किन्तु अत्यन्त पुरातन ग्रन्थो मे कुछ श्लोको का बेतालभट्ट के नाम के साथ उल्लेख मिलता है तथा 'भट्ट' शब्द के साथ मे जुडे होने के कारण बेताल के ब्राह्मण होने का प्रमाण है और वह अवश्य ही प्रचड व्यक्तित्व रहा है। इसलिए उसके नाम के साथ अनेक कथा-सूत्र जुडते गए होगे। अग्निबेताल नाम मे भी उसकी प्रखरता और प्रचडता विदित होती है। नवरत्नो वाले बेताल और अग्निवर्ण बेताल सम्भवत अभिन्न हो। विक्रम की शासन-प्राप्ति से बेताल का सम्बन्ध यह बतलाता है कि कोई प्रचड व्यक्ति बेताल विक्रम पूर्व इस अवती म अपना प्रचड नेतृत्व रखता हो और शासन को अपने नियन्त्रण मे लिये हुए हो। विक्रम जैसे योग्य व्यक्ति को पाकर उसे शासक बनाने मे सहायता की और बाद मे विक्रम का सहयोगी, अमात्य आदि रहा हो।

वेताल पचविंशति का वेताल केवल कल्पित कथा का ही पात्र रहा होता, तो *पैशाची की बृहत्कथा से उतरकर 11वी शती के कथा सरित्सागर, मेरुतुग* और नवी शती के स्कदपुराण तक कैसे स्थान प्राप्त करता और किसी काल्पनिक कथा-पात्र का मन्दिर आज तक सदियो की परम्परा लिये कैसे स्थापित होता? अवश्य ही वेताल के व्यक्तित्व से प्रभावित हो अनेक कथा-सूत्र ग्रथित हुए होगे, जैसे विक्रमादित्य को लेकर आज तक शतश कथाए प्रचलित हैं। इस वेताल-पचविंशति की कथा के तथ्यान्वेषण की ओर पुरातत्वविदो का ध्यान अवश्य आकृष्ट होना चाहिए।

लोककथाओं में विक्रम

□ शान्ति चन्द्र द्विवेदी

मनुष्य-जगत के सवाक होने के कुछ ही काल बाद से लोककथा का प्रादुर्भाव समझना चाहिए। उसके बीज और विकास के साधन तो मनुष्य परिवार के साथ ही मानने पड़ेंगे। साधारण भाषा मे उसे हम आदिकाल से चली आती मानेंगे। इस मान्यता से मनुष्य के मानसिक विकासकालीन बारीक इतिहास को छोडकर अन्य शास्त्रीय व्यतिरेक भी नहीं होगा और हमको कहानी के प्रचलन के प्रारम्भ के समय की कुछ कल्पना भी हो सकेगी।

पूर्व की अनुश्रुति अनादि है। प्रत्यक्ष घटनाए भी मनुष्य आदिकाल से अनवरत देख रहा है। मानस जगत् के उसके भाव अनन्त है और उसकी कल्पनाओ का विशाल आकाश भी अपरिमेय है। इन सबमे उसकी दिलचस्पी भी घनी है। यही सब लोककथा के मूलतत्त्व हैं। कथाकार अपनी इच्छानुसार इनसे कहानी का शरीर गढकर अपनी वाणी से उसे अनुप्राणित कर देता है। कथा-प्रवक्ता की इच्छा ही उसके रूप की सर्वोपरि स्रष्टा है।

आदिकाल से लोककथाए कही और सुनी जाती रही हैं। इस अखड परम्परा के कारण उनमे अनुपम सौन्दर्य आ गया है। किन्तु इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि जो लोककथाए आदिकाल मे प्रचलित थी, वही आज भी हैं। लोककथाओ की रचना और विकास तथा उनके सस्करण का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमे थोडे निकट से उनका अध्ययन करना होगा।

प्रत्येक कथा की रचना छोटे-छोटे कथानको से होती है। उदाहरणत विक्रमादित्य और राजा कर्ण की कथा का पूर्वार्ध, (1) अकाल पडना, (2) राजहस के एक जोडे का भोजन की टोह मे निकलना, (3) विक्रम द्वारा उनका सत्कार, (4) खजाने के मोती समाप्त होना, (5) विक्रम का दूसरे के दुख से लिए व्यथित होना, (6) राजपाट छोडकर पत्नी सहित मुफलिसी के जीवन के लिए निकलना, (7) राजा का लुहार के यहा नौकरी करना, (8) भगवान् के दर्शन, (9) राजा द्वारा केवल उन दो पक्षियो के भोजन के लिए याचना, (10) राजा के बगीचे मे मोतियो के झाड इत्यादि इन छोटे-छोटे कथानको से बना है। इन छोटे कथानकों के और भी छोटे हिस्से होना सम्भव है। कथा के इन छोटे-

छोटे पुर्जों को हम मूल कथानक अथवा मूल कल्पना कहेगे। इन मूल कथानको अथवा मूल कल्पनाओ के मिश्रण तथा परिवर्तित और व्यामिश्र रूपो स सारा लोक-साहित्य निर्मित हुआ है। निर्मित कथानक असख्य हैं और फिर कल्पना भी अनन्त हैं। अत इन मूल कथानको अथवा कल्पनाओ की सख्या भी सीमाहीन है। किन्तु कथाओ म इनका मिश्रित और परिवर्तित रूप खूब ही पाया जाता है। वह सर्वथा- स्वाभाविक भी है। एक ही कथानक अथवा कल्पना बिलकुल उसी रूप मे अथवा थोडे-बहुत परिवर्तन के साथ अनेक कथाओ मे पायी जाती है। केवल विक्रमादित्य की कहानियो मे ही विक्रम स्वय भी पद्मिनी से विवाह करते हैं तोते के शरीर म उनके आश्रयदाता राजा को भी वे पद्मिनी प्राप्त कराते हैं और उनका पुत्र भी पद्मिनी से विवाह करता है। इन घटनाओ को सम्बद्ध बनाने के लिए यह कल्पना की जा सकती है कि सिंहलद्वीप मे अनेक पद्मिनी पैदा होती हैं। किन्तु यह कल्पना कथाकार की भावना के विरुद्ध है। वह तो ससार मे पद्मिनी केवल एक मानता है और उसको उसका नायक प्राप्त करता है। इस प्रकार नायक पद्मिनी से विवाह करता है—यह लोककथाओ मे एक व्यापक कल्पना हुई। इसी प्रकार की व्यापक कल्पनाओ को हम व्यापक मूल कथानक अथवा व्यापक मूल कल्पना कहेगे।

आदिकाल से ये मूल कथानक प्रचलित है, ये अखण्ड परम्परा से कहे-सुने गये हैं, अत इनम नर्मदा के ककडो सरीखा शिवत्व आया है। प्रश्न उठता है कि क्या सारे मूल कथानक आदिकाल म ही कथाओ मे जोड दिये गये और वे ही आज तक चले आ रहे हैं? तर्क और वास्तविकता—ये दोनो ही इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते है। ऊपर ही देख चुके है कि मूल कथानको की सख्या का अन्त नही है। मनुष्य की परम्परा आगे बढ रही है—उसकी कल्पना का मार्ग प्रशस्त है और पार्थिव घटनाए भी वह नित्य नवीन देख रहा है। अत अनगिनत सख्या म नयी मूल कल्पनाओ का निर्माण अवश्यम्भावी है। और वैसा होता भी है। वीर विकरमाजीत और राजा भोज इत्यादि विशिष्ट नामा की कहानिया उनके प्रादुर्भाव के पहले कैसे बन सकती थी। इसके साथ ही पुरानी बात भूलने की आदत भी मनुष्य मे है। अत पुरानी मूल कल्पनाओ का लोककथाओ मे से लोप होना और नवीन मूल कल्पनाओ का उनमे स्थान पाना, यह स्वाभाविक क्रम है—यद्यपि इस नियम का आभास वास्तविकता को बहुत ही अधिक शक्तिशाली अन्वीक्षण यत्र द्वारा देखने पर ही हो सकता है।

वास्तविक तथ्यो का अध्ययन करन पर हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि लोककथाओ म परिवर्तन अत्यन्त धीमी गति से होते हैं। अत अमित काल पूर्व की कल्पनाए हम उनमे सुरक्षित पा सकते है। दस चार चौदह विद्या के निधान' इस प्रयोग मे हम विक्रमकालीन परिगणन की परिपाटी आज भी लोककथा प्रवक्ता के मुह से सुन सकते है। लोककथा साहित्य मे क्रान्ति के अवसर

व्यवहारत न के बराबर आते हैं। अच्छे से अच्छे और बुरे से बुरे युग के स्मरण भी इस महासागर मे इस पार से उस पार तक एक पूरी हिलोर नही उठा पाते है—तरग का अनुभव भले ही किया जा सके। लोककथाओ मे विस्मरण और सवर्धन की प्रक्रियाओ के सस्करण भी बडे धीमे होते हैं। बिना आधार के नवीन रचना तो अपवाद ही हो सकती है। और इस कारण इन कथाओ का सौन्दर्य सदा सतेज रहता है। लोक कथा का सस्कारकर्ता एक चिर सुन्दर वस्तु मे अपना सुन्दर दान जोड देता है और उस पर भी उसका प्रकाशन का अधिकार सुरक्षित नहीं होता। उससे आगे की परम्परा उसको पूरी तरह परखकर उसका पूरा उपयोग करती है। लोककथा कोरे कागज पर काली स्याही बनकर नही रहती। उसका अधिष्ठान तो लोकमानस है। परीक्षण स्थल मे ही सतत निवास के कारण लोककथाओ का ऐसा मर्मस्पर्शी रूप है।

बुन्देलखण्ड मे दिनभर के कामो से निपटकर रात्रि को भोजन आदि से निवृत्त होकर निश्चिन्तता से बैठने के लिए लोग जुडते हैं। यही लोककथा का अनुष्ठान होता है। कथा प्रवक्ता अपनी कहानी कहता है, एक व्यक्ति उस समाज म से 'हूका' देता है और बाकी सब व्यक्ति मौन रहकर सुनते हैं। इस अनुष्ठान म हूका एक अपरिहार्य साधन है। 'हूका' देने का ढग बडा आकर्षक होता है। प्रवक्ता के विराम स्थलो पर (जो वाक्य पूरा होने तक अनेक बार आते है) 'हू !', 'हा' साव !', 'और का !', 'ऐसई है !' इत्यादि उत्तर देना तो साधारण है। किन्तु प्रवक्ता का 'सहो भरने' के लिए 'चल दए हैं !' 'पोहोच गए हैं !', 'धन्न है !', 'पटक दए हैं !' सदृश उत्तर घटना-वर्णन के अनुसार चतुर 'हूका' देने वाला देता है। लोककथा के इस ठाठ के लिए स्थान अथवा ऋतु का बन्धन नही है। खेत, खलिहान, अथाई अथवा कोडे (अग्निकुण्ड) पर जहा कही भी समय काटने की अथवा मनोरजन की आवश्यकता होती है—यह कहानिया कही-सुनी जाती देखी जा सकती हैं। घर मे बच्चो को सोने के लिए छोटी-छोटी कहानिया कहकर बहलाया जाता है।

श्रव्य साहित्य होना लोककथा की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। पुस्तको के पन्ना म बन्द न होकर उन्मुक्त भागीरथी की भाति उसकी युग-युग की यात्रा ने कहानी कहने की एक स्वतन्त्र कला को विकसित किया है। कुशल प्रवक्ता अपने श्रोताओ को कहानी के प्रत्यक्ष दर्शन करा देने मे असमर्थ होता है। प्रवक्ता के हावभाव और वाक्य विन्यास श्रोता को दर्शक बना देत हैं। बीच बीच मे दोहा चौबोला अथवा गीत भी आन जात हैं। लिपिबद्ध की जाने पर भी इन कथाओ का सौन्दर्य अक्षुण्ण रहता है, किन्तु कहन की कला तो इनमे चमत्कार ला देती है। जिस प्रकार कहानी कही जाती है, उस प्रकार लिखी जाना सम्भव नहीं है।

इन कथाआ का सस्कारकर्त्ता जान अथवा अनजान म प्रवक्ता ही होता है।

प्रवक्ता होना किसी का विशेष अधिकार नही। कोई भी व्यक्ति जो कहा
जानता है और उसे सुनाता है—प्रवक्ता है। निश्चित रूप से पहले वह
कहानिया का श्रोता रहा होता है। एक बात महत्त्व पूण है कि किसी कथा मे श्रोता
का यदि यह ज्ञात होता है कि कुछ अश बदला है तो उसकी चर्चा छिड जा
है। और जिस प्रकार लिखे साहित्य म 'पाठभद' का प्रकरण चलता है, उ
प्रकार इन लोककथाआ म 'हमने तो ऐसी ही सुनी है, 'हमने इससे इस प्रक
भिन्न सुनी है इस प्रकार का प्रवचन भेद' का प्रकरण चलता है। लोककथाओ
परिवत्तन उचित नही है—इस भावना का ऊपर के व्यवहार से आभास मिल
है। किन्तु इनम परिवर्त्तन होत तो हैं ही। प्रयास स भी और अनायास भी
प्रवक्ताओ द्वारा ही होन है। प्रवक्ता के मस्तिष्क म कथा की केवल मूल कल्पना
रहती है। भाषा और कथा के शरीर की बाहरी सजावट—यह सब प्रवक्ता
अपना निजी होता है। इस कारण कथानक के बारीक परिवत्तन के अतिरिक्त
कथा क कलेवर म प्रवक्ता क व्यक्तित्व की छाप निश्चित है। प्रवक्ता की साम
जिक एव आर्थिक अवस्थाओ और रुचियो का भी लोककथाआ पर पर्याप्त प्रभा
पडता है। एक ही कहानी म विक्रम को एक प्रवक्ता सिपाही बनाता है औ
दूसरा जोगी। यह प्रवक्ता क्रमश सिपाही और जोगी है। पहला प्रवक्ता कच
दन वाला दैत्य बताता है और दूसरा ऋषि समूह। कथाओ मे जादू का जो
भी एक विशिष्ट कल्पना वान समाज मे ही पाया जाता है। लोकमानस क
अध्ययन करन के लिए लोककथा एक महत्त्वपूर्ण साधन है।

'बातसी न झूठी, बतासा सी न मीठी, घडी का विसराम—जानै सीताराम
सक्कर को घोडा सकलपारे की लगाम, छोड दो दरियाव म चला जाय छमाछम
छमाछम। हाथभर के मियाँसाब, सवा हाथ की डाढी, हलुवा के दरिया म बह
चल जात हैं—चार कौर इधर मारते हैं, चार कौर उधर मारत हैं। इस पा
घोडा, उस पार घास—न घास घोडे को खाय न घोडा घास को खाय। इतने के
बीच मे दो लगाई धीच मे, तऊ न आये रीत म, तब धर कढोरे कीच म, झट आ
गए बस रीत म। हसिया-सी सूधी तकुया-सी टेढी, पहला सौ करों[1], पथरा सौ
कौंरौ[2], हातभर ककरी नौ हात बीजा—होय होय खरे गुन होय[3]। बतासा का
नगाडौ, पोनी को डका—किडीधूम किडीधूम। जरिया[4] कौ काटौ अठारा हाथ
लावौ—भीत फोर भैंसकं लागौ। कहानिया की बहन महानिया। ताने बसाए
तीन गाव—एक अजर, एक बजर, एक म मासई नइया। जामैं नइया मास[5], वामैं
बसैं तीन कुम्हार—एक लगड़ा, एक लूला, एक क हातई नईया। जाकै नइया हात

1. रुई से भी कठोर, 2 पत्थर से भी कोमल, 3. खेरे (गाव—चैतन्या रोपित) के गुण से होता है, 4. झरबेरी, 5. आदमी।

तानै वनाई तीन हडिया—एक ओगू, एक वोगू, एक कै ओठई नइया। जाकै नइया ओठ, ताय बिसाए[1] तीन जनी[2]—एक औरू, एक बौरू[3] एक कै मौहई[4] नइया। जाकै नइया मोह, वानै चुरए[5] तीन चांउर—एक अच्चौ, एक कच्चौ, एक के चोटई नइयां। बानै नेउतो तीन वाम्हन—एक अफरौ[6] एक डफरौ, एक कै पेटई नइया ··· । जो इन बातन को झूठी समझै तौ राज को डण्ड और जात को रोटी। कहता तो कहता पर सुनता सावधान चइए। न कहनवारे को दोस, न सुननवारे को दोस, दोस वाको जाने बात वनाकैं ठाडी करी। और दोस वउको नइया, काएके बानैं तो रैन काटबे को बात वनाई—दोस बाको जो दोस लगावे। और दात सच्चियइ हुइए काएके तबईं तो कही गई।'—इस प्रकार की भूमिका के साथ बुन्देलखण्डी कथा प्रवक्ता अपनी कहानी का प्रारम्भ करता है।

ऊपर की भूमिका से उसकी कथा का पूरा परिचय मिल जाता है। इसी प्रकार की अलकारिक भाषा मे उसकी कहानी होती है। वह चेतावनी दे देता है कि कल्पना की उडानें असम्भव की सीमा तक ली जावेंगी। और यह सभी बुन्देलखण्डी लोककथाओ मे है। किसी भी प्रकार की कल्पना करने मे कथाकार को थोडी भी हिचक नही है। पशु, पक्षी, पर्वत, वृक्ष—सबको वह अपनी कथा मे मनुष्य की वाणी प्रदान कर सकता है। जड प्रकृति भी आपस म वार्तालाप कर सकती है। आलौकिक और असम्भव चमत्कारो का वर्णन उसके लिए सहज है—जैसा भूमिका की घटनाओ मे किया गया है। मरे आदमी जिन्दा हो जाते है, इच्छा करते ही सोने के सतखण्डे महल खडे हो जाते हैं और चुटकी बजाते ही काठ का घोडा हवा मे उडने लगता है। किन्तु 'जो इन बातन को झूठी समझै तो राजको डण्ड और जात को रोटी······सच्चियई हुइए काएके तबईं तो कही गई' भूमिका का यह अश भी ध्यान देने योग्य है। घटनाए अत्यन्त कल्पित और असम्भव होते हुए भी उनमे एक केन्द्रीय सत्य होता है, जिसके लिए वह सारी कथा कही गई होती है। लोककथा 'घडी घडी का बिसराम' और 'रैन काटने के लिए' होने हुए भी उसका उपयोग धर्म और नीति का व्यापक, सीधा और प्रभावशाली प्रचार करने के लिए किया गया है। तत्त्व मे प्रवेश लोककथाकार सरल कर देता है। मनुष्य जगत् के युग-युग के अनुभव भी इन लोककथाओ मे सकलित है। इन कथाओ की वय बहुत अधिक होने से उसी अनुपात से इनमे ग्रथित ये अनुभव भी परिपक्व होते हैं। प्राचीन लिपिबद्ध धार्मिक और नैतिक कथा साहित्य को लोककथा का गौरवयुक्त पद प्राप्त हुआ है। और हमारे

---

1. मोल लेती हैं, 2. स्त्रिया, 3 मूक, 4. मुह ही, 5. पकाये, 6 पेट भरा हुआ, तृप्त।

मतानुसार तो ये कथाए मूलत लोककथाए ही हैं—बाद मे उनका संकलन, सम्पादन और उपयोग तथा प्रक्षेप किया गया है। धर्मप्राण भारत मे धर्म और नीति का लोककथा साहित्य पर बहुत अधिक प्रभाव होते हुए भी मानस जगत् के अन्य भावो की भी अभिव्यक्ति इनमे थोडी भी नही पिछडी है। सभी भावो का इस महोदधि म पूरा उत्कर्ष देखा जा सकता है। इसी कारण प्रवक्ता अपनी भूमिका म कहता है कि कहता तो कहता पर सुनता सावधान चइए।'

इतिहास का प्रभाव लोककथाओ पर बहुत थोडा दिखता है। यदि ऐतिहासिक वृत्त इनमे मिलें तो कथाकार को कोई उज्र नही है। किन्तु यदि वह भ्रष्ट रूप मे हो तो कोई आश्चर्य नही है। क्योकि प्रवक्ता को तो अपने केन्द्रीय सत्य के प्रतिपादन और मनोरजन से अधिक वास्ता है—इतिहास के प्रति शायद वह बिलकुल उदासीन है।

'राजा-रानी और राजकुमार-राजकुमारी'—इनके चित्रणो की ही भरमार लोककथाओ मे होती है, यह भ्रामक कल्पना एकदम निर्मूल है। चिमऊ चोर, कलिया भगिन, गडरिया, धोबी, पुतबिलासी नाई, सतला जोगी, सिपाही, गधा, घोडा, कुत्ता, बैल, ऊट, हाथी, बन्दर, स्यार, लडैया लुखैया, शेर, चीता, सेठ-साहूकार, महत, कोतवाल, सरदार, राजा रानी, राजकुमार-राजकुमारी—सबका महत्त्व लोककथाओ म एक-सा है। इन कथाओ म गडरिया भी सेठ की लडकी पर अनुरक्त हो सकता है और वह भी उसके पास जा सकती है। 'बादसाह अखब्बरा' गडरिया को अपना मित्र बनाता है और विक्रम अपनी प्राणरक्षा के लिए कलिया भगिन के पास जाते हैं। अतीत मे सामाजिक और आर्थिक वैषम्य का अस्तित्व होते हुए भी लोकमानस उसके कारण कभी व्यथित नही हुआ और न उसे ईर्ष्या ही हुई क्योकि साधनो की सुलभता और जीवन की [सरलता उसे यथेष्ट मस्त बनाए थी। इसी कारण यह साम्ययोग इन कथाओ म है।

इन बुन्देलखण्डी लोककथाओ म राजा बीर बिक्रमाजीत की कहानियों को सम्मानपूर्ण पद प्राप्त है। य गम्भीर और शुभ समझी जाती हैं। पूछे जाने पर प्रवक्ता कहते हैं कि 'राजा बीर बिकरमाजीत, पर दुख के काटनहार हते, चौदा विद्या क निधान हते। उन सरीखो राजा तो पृथवी पै होबौ मुसकिल है। सेर और बकरिया उनके राज मे एक घाट पै पानी पियत हते।' विक्रम की कथाए प्रवक्ता बडे आदर से सुनात है। यह पवित्र और शुभकर मानी जाती हैं। राजाओ के व्यक्तिगत नामो मे जितनी कथाए प्रचलित है, उन सबमे इन कहानियो की सख्या अब तक हमे सबसे अधिक मिली है। राम और कन्हैया की तरह बिकरमा नाम भी बुन्देलखण्ड मे खूब मिलेगा।

व्यक्तित्व—यह पहले ही देखा जा चुका है कि लोककथाओ म ऐतिहासिक वृत्तो की विशेष चिन्ता नही की जाती है। अत इनमे वर्णित राजा बीर

विकरमाजीत कौन-सा है इसका निर्णय शास्त्रीय नही हो सकता। किन्तु जितना भी कुछ मसला अटकल के लिए उपलब्ध है, उसके अनुसार यह राजा वीर विकरमाजीत उज्जैन नगरी का स्वामी और विक्रम-सवत् का प्रवर्तक ही सिद्ध होता है।

'चौदा विद्या के निधान, परदुख के काटनहार राजा वीर विकरमाजीत' यह प्रशस्ति बुन्देलखण्डी लोककथाओ मे विक्रम का नाम आने पर सदा उपयोग मे लाई जाती है। हमारा यह आग्रह नही (न हमारा यह क्षेत्र ही है) कि गौतमी-पुत्र सातकर्णि को शकारि विक्रम माना जाय, परन्तु उसकी नासिक-प्रशस्ति लोककथा के हमारे विक्रमादित्य के वर्णन से बहुत मिलती-जुलती है। माता गौतमी बालश्री उस लेख मे अपने पुत्र सातकर्णि के लिए लिखती हैं—'राजाओ के राजा, गौतमी के पुत्र, हिमालय-मेरु-मन्दार पर्वतो के समान सार वाले, असिक असक मुलक सुरठ कुकुर अपरान्त अनूप विदर्भ आकर (और) अवन्ति के राजा, विंझ छवत पारिजात सह्य कण्हगिरि मच सिरिटन मलय महिद सेटगिरि चकोर पर्वतो के पति, सब राजा लोगो का मण्डल जिसके शासन को मानता था ऐसे, दिनकर की किरणो से विबोधित विमल कमल के सदृश मुख वाले, तीन समुद्रो का पानी जिसके वाहनो ने पिया था ऐसे, प्रतिपूर्ण चन्द्रमण्डल की श्री से युक्त प्रियदर्शन, अभिजात हाथी के विक्रम के समान, नागराज के फण ऐसी मोटी मजबूत विपुल दीर्घ शुद्ध भुजाओवाले, अभयोदक देते देते (सदा) गीले रहनेवाले निर्भय हाथोवाले, अविपन्न माता की सुश्रूषा करनेवाले, त्रिवर्ग और देशकाल को भली प्रकार बाटने वाले, पौरजनो के साथ निर्विशेष सम सुख-दुखवाले, क्षत्रियो के दर्प और मान का मर्दन करने वाले, शक यवन पह्लवो के निपूदक, धर्म से उपार्जित करो का विनियोग करने वाले, कृतापराध शत्रुओ की भी अप्राणहिंसा-रुचिवाले, द्विजो और अवरो के कुटुम्बो को बढानेवाले, खखरातवश को निरवशेष करनेवाले, सातवाहन कुल के यश के प्रतिष्ठापक, सब मण्डलो से अभिवादित चरण, चातुर्वर्ण्य का सकर रोक देनेवाले, अनेक समरो मे शत्रु-सघो को जीतनेवाले, अपराजित विजयपताका युक्त और शत्रु जनो के लिए दुर्धर्ष सुन्दर पुर के स्वामी कुलपुरुष परम्परा से आये विपुल राजशब्द वाले, आगमो के निलय, सत्पुरुषो के आश्रय, श्री के अधिष्ठान, सद्गुणो के स्रोत, एक-धनुर्धर, एक-शूर, एक-ब्राह्मण, राम केशव अर्जुन भीमसेन के तुल्य पराक्रमवाले, नाभाग नहुप जनमेजय······ ययाति राम अम्बरीप के समान तेजवाले······श्रीसातकर्णि······' बुन्देलखण्डी लोककथाओ मे राजा वीर विकरमाजीत के चरित्र को अध्ययन करने पर सहसा यह कल्पना होती है कि माता गौतमी बालश्री ने अपने लेख मे उसी का सक्षेप लिखा है जो जन-जन के हृदय पर अकित था और जिसकी स्मृति आज भी जनता के हृदय में सुरक्षित है। ''गौतमीपुत्र' 'विक्रमादित्य' भले ही न हो पर

विक्रम विषयक लोककथाचार और नासिक-अभिलेख के लेखक की शैली में कोई अन्तर नहीं है।

प्रजापालक और परदुख के काटनहार—जुन्नेलखण्डी लोककथाओं में विक्रमादित्य का सबसे बड़ा गुण उनकी प्रजापालकता और परदुख निवारण बताया है। उसका चित्रण भी सबसे अधिक किया गया है। 'अभयोदक देते देते (सदा) गीले रहनेवाले निर्भय हाथोंवाले''''''त्रिवर्ग और देशकाल को भली प्रकार बाटनेवाले, पौरजनों के साथ निर्विशेष सम सुख-दुखवाले, धर्म से उपार्जित करों का विनियोग करनेवाले, कृतापराध शत्रुओं की भी अप्राणहिंसा रुचिवाले, द्विजो और अवरों के कुटुम्बों को बढ़ानेवाले, माता गौतमी बालश्री द्वारा वर्णित श्री शातकर्णि के इन गुणों का आरोप लोककथाओं के विक्रमादित्य में भी बड़ी सुन्दरता से किया गया है।

राजा वीर विक्रमाजीत अपनी प्रजा का सुख-दुख जानने के लिए रात को बहुधा उज्जैन नगरी में वेश बदलकर घूमते दिखाई देंगे। किसी का दुख मालूम हुआ कि उसको मिटाने के लिए उनकी आत्मा अत्यन्त विकल हो जाती है। उसका दुख मिटाने के लिए बड़ा से बड़ा खतरा भी वे मोल लेते हैं। वन में आग लगती है। एक साप विह्वल होकर शीतल होने के लिए राजा से अपने को मुख में रख लेने की प्रार्थना करता है। विक्रम रख लेते हैं—यद्यपि पीछे से साप उनके पेट में घुसकर उनको जलधर रोग से पीड़ित कर देता है। चोर उनके महल में चोरी करते हैं तो वे स्वय उसकी शोध करते हैं और चोरों को दण्ड आजीविका के रूप में मिलता है। कोई दो औरतों की कथा सुनकर विक्रम वहीं दौड़ जाते हैं और अपनी सगीत निपुणता के कारण उनके राजा को इन्द्रसभा से ले आते हैं। कोई नवयुवक परदेस गया। बहुत दिनों से उसके न लौटने के कारण उसके कुटुम्बी व्याकुल हैं तो राजा वीर विकरमाजीत उसे ढूढने जाते हैं। और क्योंकि उसे राजा की नौकरी से छुट्टी नहीं मिलती है, अत वे स्वय उसकी जगह नौकरी करते हैं और उसे घर भेजते हैं।

दुष्काल से पीड़ित राजहंसों का एक जोड़ा विक्रम के पास आता है। खजाने के मोती उनके सत्कार में समाप्त होने को आते हैं। राजा को शका होती है कि वे राजहस के जोड़े को मोती न चुगा सकेंगे और इस प्रकार उनको कष्ट होगा। 'जब मैं न कुछ पक्षियों के एक जोड़े का भी पोषण नहीं कर सकता तब ऐसे राजपाट का क्या अर्थ ?' ऐसा चिन्तन करते हुए विक्रम रानी सहित आत्मग्लानि से राजपाट छोड़कर मुफलिसी के जीवन के लिए निकल जाते हैं और एक लुहार के यहा मजदूरी पर रहते हैं। भयकर आत्मग्लानि और पक्षियों के उस जोड़े की चिन्ता तीव्रता की इस मात्रा तक पहुचते हैं कि भगवान् उनको दर्शन देते हैं और वरदान मागने को कहते हैं। राजा वीर बिकरमाजीत को न तो इस

समय वैभव की लालसा ही जाग्रत होती है और न मुक्ति की भावना ही। वे तो उन पक्षियो के लिए भोजन ही मागते है—जो उनको उनके बगीचे मे सदाबहार सदा फलेफूले मोतियो के वृक्षो के रूप मे मिला है।

उज्जैन नगरी मे दो दिन पहले ही विवाह होकर आई एक स्त्री का पति मर जाता है। विक्रम वहा पहुचते हैं। वह कहती है 'राजा वीर विकरमाजीत, तेरे राज मे मैं विधवा भई। तै तो पराए दुख को काटनहार है, मेरो दुख न हर सकै है?' विक्रम लाश को न जलाने की हिदायत देकर रवाना होते है। अपनी जान पर खेलकर अमृतवंती (वह अगूठी जिससे अमृत टपकता है) देवी से वरदान मे लाते है। उससे उस नवयुवक को जिन्दा करते हैं। सन्तला जोगी एक सेठ की बहू को ले भागता है। वह बडा भारी जादूगर है। अत उस सेठ के सातो पुत्रो को घोडो सहित उसने पत्थर के बना दिये, जो उस बहू को लेने गये थे। सेठ-सेठानी और उनकी छहो पुत्रवधुओं का परिवार इधर अत्यन्त विकल हो गया था। विक्रम को रात्रि के गश्त मे इसका समाचार मिला। उस बहू और सेठ के उन पुत्रो की मुक्ति के लिए राजा चल पडे। मार्ग मे शिवजी भी उनको सन्तला जोगी के जादू का भय बताते है। किन्तु विक्रम को अपने प्राणो का मोह नही है। वह दुनियाभर के खतरे उठाकर उनका उद्धार करते है।

देशाटन के सिलसिले मे एक नगर मे विक्रम पहुचते है, जहा एक बुढिया रो रही है। आज रात को राजकुमारी के पहरे पर उसके इकलौते पुत्र की बारी है, जहा का पहरेदार प्रतिदिन सवेरे मरा हुआ मिलता है। विक्रम द्रवित होकर बुढिया को सान्त्वना देते हैं और स्वय उस लडके की जगह पहरे पर जाते है, जहा रात्रि मे पहरेदारो की मृत्यु का कारण—राजकुमारी के मुख मे से निकली हुई नागिन को मारते है और इस प्रकार उस कुमारी और आधे राज्य के अधिकारी होते हैं।

आपत्ति के मारे विक्रम एक बार राजा भोज की नौकरी मे जाते है। वहा उन्हें स्यारनी की बोली द्वारा ज्ञात होता है कि आज राजा भोज की मृत्यु है। विक्रम स्यारनी के पीछे दौडते है। स्यारनी देवी के मन्दिर मे घुसती है और वहा विक्रम को स्यारनी के बजाय प्रत्यक्ष देवी के दर्शन होते हैं। राजा भोज की मृत्यु टलने का उपाय विक्रम द्वारा पूछे जाने पर देवी बतलाती है कि किसी अन्य व्यक्ति द्वारा शीशदान दिये जाने पर भोज की मृत्यु टल सकती है। विक्रम उसी क्षण अपना सिर काटकर देवी के चरणो पर चढा देते हैं। पीछे भोज के आग्रह के कारण देवी उनको जीवित करती हैं।

जादू के चक्कर मे पडकर राजा विक्रम तोते के शरीर मे रहकर जीवनयापन कर रहे थे। उनका प्रतिद्वन्द्वी उनके शरीर में रहकर सारे तोते मरवा रहा था। विक्रम एक पेड के पास से निकले जिस पर निन्यानवे तोते बहेलिया के जाल मे

फंसे हुए थे। उनके दुख को देखकर विक्रम कातर हो गये और स्वयं भी उन तोतों के साथ उस जाल में जा फंसे। यद्यपि वे युक्ति से सबको छुटाने के लिए फंसे थे किन्तु दैवयोग से उनकी युक्ति से और सब तोते तो उड़ गये—वे स्वयं बहेलिया के हाथ पकड़े गये और मौत के खतरे का सामना करना पड़ा।

विक्रम की परदुख कातरता का चरम उत्कर्ष तो राजा करन और विक्रम की कथा के उस प्रवचन में हुआ है, जिसमें राजा करन ने राजहंस के जोड़े को बन्दी बनाकर केवल इसलिए दुख दिया कि दुष्काल में विक्रम के यहां उनको पूरा आराम मिला था, अतः वे 'चौदा विद्या के निधान, परदुख के काटनहार राजा वीर विकरमाजीत की ज्य' का घोष करते हुए उसके महल के ऊपर से निकले थे। राजा करन जो रोज सवेरे सवा मन कंचन का दान करता था, यह सहन न कर सका कि उसका यशोगान तो कहीं न सुना गया और विक्रम कोई ऐसा राजा है, जिसकी जय पक्षी भी बोलते हैं। एक रमते जोगी द्वारा विक्रम को राजहंसों की जोड़ी के कष्ट का समाचार मिला। उन राजहंसों का कष्ट मिटाने के लिए वह राजा करन के पास दौड़ आये। यहां उनको एक दूसरे दृश्य ने और भी व्यथित कर दिया। अपना शरीर कढ़ाव में पकाकर ऋषियों को खिलाने के बदले में राजा करन को सवा मन कंचन प्राप्त होता था। राजहंस की जोड़ी को कष्ट देकर राजा करन ने विक्रम को क्रुद्ध करने के लिए काफी मसाला इकट्ठा कर दिया था। किन्तु विक्रम करन के इस दिन-प्रति-दिन के कष्ट को देखकर व्यथित हो जाते हैं। वे अपने शरीर को चीरकर उसमें तीव्र मसाले भरते हैं और उस कढ़ाव में मेवा के साथ पकते हैं। 'धन्न रे राजा बीर बिकरमाजीत, पर दुख के काटनहार!' कहानी के प्रवाह के इस स्थल पर प्रवक्ता और श्रोता सभी के मुंह से सहसा ये उद्गार निकल पड़ते हैं। वह ऋषि-मण्डल इस मास को खाकर बहुत प्रसन्न होता है, क्योंकि आखिर वह मास राजा वीर बिकरमाजीत का था, और मन में संकल्प करता है कि आज राजा करन जो मांगेगा सो पावेगा। जीवित होने पर विक्रम मांगते हैं, 'आजतें राजा करन कढ़ाओ उटन न आवै और सवा मन कंचन रोज पलका तरै पावै।' राजा करन को ऐसे कष्ट से मुक्ति दिलाकर और राजहंस मुक्त करवाकर विक्रम वापस उज्जैन लौटते हैं।

वैभव, विक्रम और यश—'*धन्न रे राजा बीर बिकरमाजीत,* जाके बगीचा में मुतियन के झाड़ फरे!' जहां ऐसा वर्णन हो और अमृतवेती, भगवान् के दर्शन, चाहे जो सुलभ हो, उस वैभव के लिए अधिक क्या कहा जाय। प्रवचन-भेदानुसार दो अथवा चार 'वीर' विक्रम की व्यक्तिगत शक्तियां थीं। इन वीरों में सब कुछ कर सकने की शक्ति थी। विक्रमादित्य के विक्रम का वर्णन उनके साहसी कार्यों द्वारा किया गया है। वे कभी भी अपने प्राणों के लिए हिचकते नहीं हैं।

जो कार्य उनको उचित दिखता है, उसमें वे प्राणों की बाजी लगा देते हैं। सफलता उनकी चेरी दिखती है। अनेक राजाओं की विक्रम के पुत्र के साथ अपनी कन्या के विवाह की लालसा, सुदूर सिंहल में दानव का यह कथन कि विक्रम के पुत्र को देखते ही उस गुफा की अभेद्य वज्रशिला अपने आप तड़क जाएगी, जिसमें उसके प्राणों की बगुली रहती थी, और वैसा ही होना—ये सब विक्रम के यश और पराक्रम के ही परिचायक हैं।

चीन देश की राजकुमारी जिस व्यक्ति से विवाह करने को लालायित थी उसका यश विशाल ही होगा। ऐरावत हाथी और श्यामकर्ण घोड़े के पास जब विक्रम अनायास पहुंचते हैं तो 'धन्न भाग, जो आज चौदा विद्या के निधान, पर-दुःख के काटनहार, राजा बीर बिक्रमाजीत के दरसन पाये।' कहकर कृतार्थ होते हैं। सन्तला जोगी से सेठ के पुत्रों और बहू का उद्धार करने जब विक्रमादित्य जाते हैं तो उन्हें सन्तला जोगी की जान लेने जाना पड़ता है। यह जान 'सात समुन्दर आड़े और सात समुन्दर ठाडे' पार एक टापू पर एक बड़ के पेड़ पर पिंजड़े में टंगी हुई बगुली में थी। उस बड़ के वृक्ष के पत्ते-पत्ते पर साँप और बिच्छू थे। विक्रम समुद्र किनारे पहुंचते हैं। समुद्र के सारे जीवजन्तु विक्रम के दर्शन पाकर धन्य धन्य ध्वनि करते हैं और विक्रम के दर्शन पाकर अपना जन्म सफल मानते हैं। अपनी पीठों का पुल बनाकर विक्रम को उसके ऊपर से निकालकर वे उनको इच्छित टापू पर पहुंचाते हैं। बड़ के ऊपर के साँप-बिच्छू भी समुद्री जीवों की तरह विक्रम के दर्शनों में अपने को धन्य मानते हैं और विक्रम पिंजड़ा लेकर वापस लौटते हैं। इस्माल जोगी के जादू से अपनी रक्षा करने के लिए पद्मिनी से विवाह करने को विक्रम की सिंहलद्वीप की यात्रा में राघव मच्छ का बेटा भी विक्रम के दर्शन से उसी प्रकार अपने को कृतार्थ मानता है और इस ओर से विक्रम को स्वयं अपनी पीठ पर तथा वापस लौटते समय जबकि उनके साथ सात रानियां और अगणित फौज थी, 'झाझर-पातर' पर रखकर उन सबको समुद्र पार कराता है।

अत्यन्त चमत्कारपूर्ण घटना तो यह है कि जब चिमऊ, राजाज्ञा से, ऐसी चीज जो न देखी गई हो और न सुनी गई हो, ढूढ़ता-ढूढ़ता चीन देश की राजकुमारी के उस बगीचे में पहुंचता है जहां अपने आप बिना मनुष्य के रहट चल रहा था, बिना मनुष्य के ही क्यारियों में पानी लग रहा था और फूल चुनने और मालाएं बनने का काम भी अपने आप बिना आदमी के हो रहा था। चिमऊ ने सोचा कि सचमुच ऐसा काम विक्रम ने न देखा और न सुना होगा। फिर भी परीक्षण के लिए उसने विक्रमादित्य की आन दी कि 'चौदा विद्या को निधान, परदुःख को काटनहार, राजा वीर बिक्रमाजीत जो सत्तको साचो होय तो जे सब काम बन्द हो जाय'। वे सब काम उसी क्षण बन्द हो गये। सुदूर

चीन मे लोककथा के विक्रमादित्य की आन ने काम किया।

चौदह विद्या के निधान और जादू—विक्रम पशु-पक्षियो की बोली पहचानते थे, यह तो इन लोककथाओ मे एक व्यापक मूल कल्पना है। तोते के वेश मे विक्रम अपने आश्रयदाता राजा को एक गर्भवती घोडी की खरीद करवाते हैं जिसका पेट चीरने पर उसमे से श्यामकर्ण अथवा उडना घोडा निकलता है। अश्व-विद्या की आत्यन्तिक निपुणता का यह परिचायक है। वेश बदले जब विक्रम पद्मिनी लेकर लौटते हैं, तब मार्ग मे सिंहलद्वीप के किसी अन्य राज्य के नगर मे खर्च चलाने के लिए वे एक लाल बेचने को जाते हैं। राजा का जौहरी उनके लाल मे कुछ खोट बताता है। विक्रम जौहरी से अपना अच्छा से अच्छा लाल बताने को कहते हैं। जौहरी के उस सर्वोत्तम लाल को विक्रम अत्यन्त निकृष्ट श्रेणी का बताते हैं। राजा के आगे शर्त लगाकर दोनो लालो की परीक्षा होती है। चोट पडने पर जौहरी का लाल चार टुकडे हो जाता है और विक्रम का लाल धन तथा निहाई मे गड्ढे कर देता है। जौहरी अपना सर्वस्व विक्रम को देकर हाथ पावो से निकल जाता है और राजा वेश बदले हुए विक्रम को अपना सवाई जौहरी नियुक्त करता है। यह कथा विक्रम के पुत्र के सम्बन्ध मे भी प्रचलित है। जिन कथाओ पर जादू का असर नही पडा है उनमे विक्रम का यह गुण बताया गया है कि अपना शरीर छोडकर दूसरे मृत शरीर मे प्रवेश कर सकते थे। विक्रम की सगीतकला मे आत्यन्तिक निपुणता के वर्णन भी अनेक जगह आते हैं। एक बार विक्रम छत्तीसो वाद्यो का स्वर मिलाकर कोई राग रागिनी बजाते हैं तो इन्द्रलोक मे उसकी मधुर झनकार पहुचती है और इन्द्र के दरबार मे इनको ले जाने के लिए अप्सराए आती हैं।

किन्तु जहा कथाओ पर जादू का असर पडा है, वहा तो ये चौदह विद्याएँ जादू की हो गयी है। विक्रमादित्य केवल चौदह विद्याए जानते हैं जबकि इन कथाओ मे विद्याओ की सख्या इक्कीस तक गिनाई गई है। जादू की कथाओ मे अधिकाश क्रम ऐसा है कि चौदह विद्याए विक्रम जानते है, पन्द्रह उनका प्रति-द्वन्द्वी जानता है और इक्कीस तक की सख्या मे विद्याए वे कन्याए जानती हैं जिनके साथ विक्रम को प्रतिद्वन्द्वी मे बचने के लिए विवाह करना पडता है। पन्द्रहवी विद्या अनेक जगह इन जादू की कथाओ मे वह बताई गई है, जिससे अपना जीव दूसरे मृत शरीर मे इच्छानुसार पहुचाया जा सकता है। विक्रम इस विद्या को सीखने गये—ऐसी अनेक कथाए हैं। प्रवचन भेदानुसार देवी अथवा कलिया भगिन के पास विक्रम यह विद्या सीखने जाते है और किसी कथा मे नाई और किसी मे धोबी उनके साथ लगकर छुपकर यह विद्या सीखता है। कथानक एक ही है कि लौटने मे विक्रम मे उक्त विद्या का प्रदर्शन करने को वह कहता है और विक्रम के अन्य शरीर मे घुसते ही वह स्वय विक्रम के शरीर मे घुसकर

अपने शरीर की दाहक्रिया कर देता है। विक्रम के शरीर में आकर वह विक्रम के जीव को नष्ट करने का उपाय करता है—यद्यपि पीछे प्रयत्न करने पर विक्रम अपने शरीर में आ जाते हैं और उस प्रतिद्वन्द्वी को दण्ड देते हैं। इन जादू की कथाओं में सदा लड़ाइयां आती हैं। लड़ाइयों के लिए ही जादू है—ऐसा मालूम होता है। जादू की लड़ाई में चमत्कार भी खूब होता है। कभी चील बनकर लड़ाई होती है, कभी चिड़िया पर बाज झपटता है। सन्तला जोगी मुर्गा बनकर उस मोती को चुगने के लिए झपटता है जिसमें विक्रम की नवविवाहिता पत्नी ने उनके प्राण छुपा दिये थे, तो वह राजकुमारी बिल्ली बनकर उस मुर्गे पर टूटती है और उसे मार डालती है। इस्माल जोगी पन्द्रह विद्याएं जानता था, उसमें विजय पाने के लिए विक्रम ने सिंहलद्वीप की सात कन्याओं से विवाह किया। उनमें पद्मिनी इक्कीस विद्याएं जानती थी। वापस आकर विक्रम ने जब इस्माल जोगी से युद्ध किया तो विक्रम की हार हुई। पद्मिनी ने इस्माल से कल आने को कहा। दूसरे दिन एक गधे को आदमियों से मरवा कर रख लिया। इस्माल जोगी के आने पर उसने अपनी विद्या बताकर गधे को जीवित करने को कहा। इस्माल ने जैसे ही अपने प्राणों का प्रवेश गधे में किया—पद्मिनी ने उसका शरीर जलवा दिया। इस्माल गधा ही बना रह गया। सब आगे को चल दिये और गधा साथ ले लिया गया। ऐसी चमत्कारपूर्ण घटनाएं इस जादू में सहज हैं। चौदह विद्याओं को जादू का रूप दे देने से निश्चित रूप से उसका असली प्रतिभावान् रूप नष्ट हो जाता है और इसीलिए जादू की कथाओं में 8-9 से 21 तक की गिनती विद्याओं के लिए गिनाई गई है।

विक्रमादित्य का ज्योतिषी—अमरसिंह पण्डित का नाम विक्रमादित्य के ज्योतिषी की तरह आता है। किन्तु इस नाम को अधिक महत्त्व देना उचित नहीं दिखता है। प्रवचनभेद की बाट देखना उचित है। अमरसिंह रात्रि को पत्नी का कुतूहल पूरा करने के लिए घड़े की ज्वार को मोतियों के रूप में परिणत करने वाली घड़ी का शोध कर रहे थे। जब उसने 'हूं' कहा तब पण्डितानी तो चूक गई—घड़े में डण्डा न दे सकी—मकान के पीछे खड़े विक्रम ने उसी समय एक कद्दू पर तलवार मारी। कद्दू के दोनों पलड़े सोने के हो गए। इसी प्रकार दूसरी रात को स्यार की बोली का अर्थ अमरसिंह से सुनकर विक्रम ने दो लाल प्राप्त किये। राजसभा में विक्रम ने अमरसिंह का मान किया और कहा कि 'शोधवेवारो तेरे सरीको और वेधवेवारो मेरे सरीको' होना चाहिए।

विक्रम संवत्—विक्रम संवत् के प्रचलन के सम्बन्ध में बड़ी अद्भुत कल्पना एक कथा में है। अमावस्या के दिन राजसभा में विक्रम द्वारा तिथि पूछी जाने पर अमरसिंह ने पूर्णमासी बतलायी। सभा में सन्नाटा छा गया। सबने पूछा, 'तो आज पूर्णचन्द्र उगेगा ?' अमरसिंह के मुख से निकल तो चुका ही था।

बोले 'हा, उगेगा।' पिता की चिन्ता दूर करने के लिए उनकी पुत्री चन्द्रमा के आराधन के लिए गयी और उस रात्रि को पूर्णचन्द्र उगा। तभी से विक्रम-सवत का प्रचलन हुआ और मासारभ पूर्णिमा के बजाय अमावस्या के बाद से होने लगा। 'सन्न राजा बीर विकरमाजीत को और सक राजा सारवाहन को।'—*प्रसिद्ध कथाप्रवक्ता सूरी महले ने इस कथा के अन्त मे एक 'जनवा' की मुस्कराहट* के साथ यह कहा था। इस कथा का अधिक स्पष्ट प्रवचन कदाचित् मिले।

सारवाहन—सारवाहन शालिवाहन का ही रूपान्तर समझना चाहिए। हमारी कथाओ म सारवाहन को विक्रम का औरस पुत्र बताया गया है। विक्रम की कथाओ मे एक व्यापक मूल कल्पना है कि राजा किसी कुमारी से विवाह करता है अथवा उसे अधब्याही करके छोड आता है। यह विवाहिता छल से राजा से पुत्र उत्पन्न करती है। यह पुत्र जाकर राजा को छल-बल स नीचा दिखाता है। बाद का परिचय होता है और राजा अपनी पत्नी को बुला लेता है और यह लडका राजकुमार होता है। किन्तु सारवाहन की कथा मे रानी के नवविवाहित होने का कोई उल्लेख नही है। रानी गर्भवती महल मे ही होती है। रानी के गर्भ के सम्बन्ध मे ज्योतिषी विक्रम को बताते हैं कि इस रानी के गर्भ स ऐसा पुत्र होगा जो बल बुद्धि विक्रम और यश म उनको परास्त करेगा। विक्रम उस रानी को मरवाने की आज्ञा देते हैं। रानी किसी प्रकार अपनी प्राणरक्षा करती है। *एक कुम्हार उसे अपनी धर्म की पुत्री बनाकर रखता है। रानी के गर्भ से* सारवाहन पैदा होता है। वह बडा होता है। कुम्हार उसे खेलने के लिए मिट्टी के घोडे और सिपाही बना-बनाकर देता है, जिन्हे वह घर की छत पर रखता जाता है। छत इस फौज स भर जाती है। एक दिन चार भाइयो का एक ऐसा प्रकरण जिसका न्याय स्वय विक्रम नही कर सके थे, सारवाहन निपटाता है। विक्रम को इसका समाचार मिलता है। *वह सारवाहन को बुलावा भेजते हैं,* जिसकी वह अवज्ञा करता है। विक्रम एक बडी फौज लेकर उस पर चढाई करत हैं। उसकी माता अपनी छिगुरी का रक्त छिडककर अथवा प्रवचन भेदानुसार देवी अमृत से उसकी मिट्टी की फौज मे जीवन डाल देती है। युद्ध म सारवाहन विजयी होता है। बाद को विक्रम को यह ज्ञात होने पर कि सारवाहन उनका ही पुत्र है, वे प्रसन्न होकर उसे साथ लिवा ल जात हैं। इस कथा म राजा के *अन्य पुत्रो की तरह सारवाहन ने छल-बल नही किया है—प्रत्यक्ष युद्ध ही किया है। लेकिन सिंहासन बत्तीसी अथवा विक्रम-चरित्र म वर्णित शालिवाहन की तरह इनम सारवाहन को विक्रम का सहारक नही बताया गया है।*

सारवाहन का चित्रण बडा जगमगाता हुआ किया गया है। विपत्ति के कारण सारवाहन के साथ की बरात और धनधान्य सब विवाह को जाते हुए मार्ग मे नदी म डूब जाते हैं। उस नगर मे पहुचने पर उसके भी हाथ-पाव कट

जाते हैं। किन्तु स्वयवर मे राजकुमारी सारवाहन के गले मे माला डालने की प्रार्थना हाथी से करती है। हाथी उस ठूठ के गले मे माला डालता है। इसके बाद देवताओ द्वारा सारवाहन का मान होता है। उनकी कचन की काया होती है और 'करम, धरम, लछमी और सत्त' के जिस प्रकरण को त्रैलोक्य मे कोई भी नही निपटा सका था, उसको निपटाकर सारवाहन वापस लौटते हैं।

विक्रमादित्य और स्त्री समाज—लोककथाओ मे त्रिया चरित्र राजा वीर बिक्रमाजीत के चरित्र से बडा बताया गया है। परीक्षण के बाद स्वय विक्रम इस बात को स्वीकार करते हुए बताये गए हैं। अनेक स्थलो पर विक्रम स्त्रियो से लज्जित होते बताये गये हैं। स्त्रियो के आगे राजा की प्रतिभा कम होना—यह एक व्यापक मूल कल्पना दिखाई देती है। जादूगर प्रतिद्वन्द्वी से बचने के लिए तो उनको हमेशा अधिक विद्या जानने वाली कुमारी ढूढनी पडती है, जिससे विवाह करके ही वे अपनी रक्षा कर पाते हैं। यह नवबिवाहिता ही जादूगर शत्रु को हराकर उनकी रक्षा करने मे समर्थ होती है। जादू की कथाओ पर यदि ध्यान न दिया जाए, तब भी उपरोक्त मूल कल्पना बहुत अधिक व्यापक है। जलन्धर के रोगी विक्रम भी अपनी नवविवाहिता पत्नी के प्रयास से ही अच्छे होते हैं।

दुर्बल विक्रम—ग्वालिन अथवा वेश्या को महल मे बुलाया जाना—यह एक मूल कल्पना है जिसमे लोककथाओ के विक्रम की चारित्रिक दुर्बलता का भ्रम हो सकता है। किन्तु यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि लोक मानस मे यह कल्पना एक राजा को दूषित नही करती है।

लोककथाओ मे विक्रम दयनीय होते हुए भी यत्र-तत्र खूब देखे जा सकते हैं। यह व्यापक मूल कल्पना लोकमानस के सासारिक अनुभवो के परिपाक की परिचायक है। जलन्धर के रोगी विक्रम कुए पर अथवा भडभूजे के यहा नौकरी करते देखे जा सकते है। जादू की कथाओ मे तो उनका हाल बहुत ही बुरा हो जाता है। क्योकि वे केवल चौदह विद्याए जानते हैं जबकि अन्य व्यक्ति पन्द्रह से इक्कीस विद्याए तक जानते हैं। इन कथाओ मे विक्रम को कभी अन्य योनियो मे भटकना पडता है, कभी अधिक विद्या जानने वाली कुमारियो से विवाह करने के लिए अथक प्रयास करने पडते है। और विवाह के बाद भी यदि किसी से युद्ध होता है तो विक्रम तो हतप्रभ ही रहते हैं—उनकी नवविवाहिता पत्निया ही उनके प्रतिद्वन्द्वी को हराती हैं।

वह दृश्य भी बडा दयनीय है, जब विक्रम उज्जैन नगरी के बाहर जिस गधे पर बैठकर एड लगाते हैं, वही उनको लेकर गिर पडता है। और वही कुए पर पानी भरती हुई ब्राह्मण की बेटी कहती है, 'राजा काए कौं जे गधा मारें डारत हौ, बौ बोई हतो, जे जेई है।' अपने पुत्र के छल के कारण गश्त के सिलसिले मे

रात्रि मे औरत का वेश किए अथवा कोदो पीसते हुए विक्रम का दिखना—यह ए
व्यापक मूल कल्पना है। किन्तु यह 'पुत्रादिच्छेत्पराजयम्' के अनुसार ही है
क्योकि अनेक जगह विक्रम स्वय 'जब तेरो जाओ छल है मोय, तबई लुआउन
आहों तोय'—यह अपनी नवविवाहिता के अचल पर लिखकर आते हैं।

उपसहार—इन लोककथाओ मे विक्रम के चित्रण को देखकर उनके सम्बन्ध
मे *लोककल्पना का आभास होता है। विक्रम की परदु खकातरता, प्रजापालत*
उदारता, वैभव, यश, पराक्रम और प्रभाव का चित्रण करते हुए लोककथाका
अघाता नही है। कथाओ मे विक्रम अनन्य लोकप्रिय दिखते हैं। नये श्रोता क
जादू सम्बन्धी कहानिया सुनकर यह शका हो सकती है कि विक्रम पराजि
अथवा कम प्रभावशाली क्यो ? किन्तु थोडे बारीक अध्ययन के बाद मालूम ह
जाता है कि लोककथा मे जहा जादू शुरू हुआ कि फिर तो स्वय कथा-प्रवक्त
पर जादू का भूत सवार हो जाता है। इस प्रकार जादू की तो लोककथा एक
स्वतत्र शाखा है, जिसमे बुद्धि का बन्धन प्रवक्ता और श्रोता छोड देते हैं। पुत्र
से पराजित होने और स्त्रियो के आगे विक्रम को दीन बताने की मूल कल्पनाओ
का आधार तो लोक-जीवन का कल्पना-माधुर्य और अनुभवपरिपाक ही है।

लोकजीवन के इस अन्धकारमय युग मे भी विक्रमादित्य का यश शरीर 'होरी
कैसी झाक, दिवारी कैसो दिया' *जैसा बुन्देलखण्डी लोककथाओं मे प्रदीप्तिमान*
है।[1]

---

1 हमने लेखक से 'विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ' के लिए बुन्देलखण्ड मे प्रचलित विक्रम-सम्बन्धी लोककथाओ का अध्ययन करने का अनुरोध किया था, उसके परिणाम-स्वरूप लेखक ने यह विद्वत्तापूर्ण लेख लिखा है।—स०।

आयुर्वेद में विक्रम

☐ आयुर्वेदाचार्य श्री डॉ० भास्कर गोविन्द घाणेकर

पिछली कुछ शताब्दियो से आयुर्वेद की ऐसी निकृष्ट दशा हो गई है कि आयुर्वेद प्रेमी भी स्वय उसकी बहुत तरफदारी नहीं कर सकते। पाश्चात्य लोग जो अपनी चिकित्सा-प्रणाली का उत्कर्ष चाहते हैं, आयुर्वेद को बदनाम करने के लिए उनको अवैज्ञानिक कहकर घृणा की दृष्टि से देखते हैं, और हमारे भारतीय भी उनकी देखादेखी बिना सोचे-समझे और पढे-गुने एक पग आगे बढ़कर आयुर्वेद का उपहास किया करत हैं। परन्तु एक काल ऐसा था जब ज्ञात जगत् आयुर्वेद की ओर श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखा करता था। उसका कारण यह था कि उस कालखण्ड मे भारतवर्ष में आयुर्वेद के एक से एक बढकर, धुरधर विद्वान् उपस्थित थे जिनके अथक परिश्रम और तत्त्वान्वेषण से आयुर्वेद अन्य देशो की चिकित्सा प्रणाली की तुलना मे परम उन्नत और गुरुस्थान पर हो गया था, जिनके चिकित्सा चमत्कारो को देखकर और सुनकर अन्य देशो के लोग दातो तले अगुली दबाते थे और जिनके पास आयुर्वेद का अध्ययन करन के लिए भारतवर्ष की यात्रा करके वैद्यक ज्ञान प्राप्त कर उसका उपयोग अपने वैद्यक मे किया करते थे।

कालक्रमणिका की दृष्टि से भारतीय अन्य शास्त्रो के समान आयुर्वेद का इतिहास बहुत ही अपूर्ण और अनिश्चित स्वरूप का है। एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है जिसका निर्माणकाल ठीक मालूम हुआ है, न एक भी ऐसा प्राचीन ग्रन्थ-कार है, जिसकी जीवनी से हम भली भाति परिचित हो गये हैं। ऐसी अवस्था मे आयुर्वेद के उज्ज्वल काल की ठीक मर्यादा बताना बहुत कठिन है। इस कठिनाई को दूर करके उस काल की स्थूल कल्पना वाचको के सामने रखने के लिए मैंने चार काल खण्ड बनाये हैं, जिनमे आयुर्वेद का इतिहास सक्षेप मे देने की कोशिश की गई है।

(1) वेदपूर्वकाल—आयुर्वेद ससार का एक अत्यन्त प्राचीन वैद्यक शास्त्र है, इस विषय में सब सहमत हैं, परन्तु उसकी प्राचीनता कहा तक पहुचती है, इस

विषय मे मतभिन्नता है। सुश्रुत और काश्यप सहिताकारो के अनुसार पृथ्वीतल पर मनुष्यो की उत्पत्ति होने से पहले आयुर्वेद का अवतार[1] हुआ है। बहुत लोग इस उक्ति को एक पौराणिक कल्पना समझेंगे। परन्तु यह कोरी कल्पना नही है, इसके पीछे वडा भारी तत्त्व छिपा हुआ है जो सहिताकारो की विशाल बुद्धि और सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का साक्ष्य देता है। यदि पशु-पक्षियो की ओर देखा जाय तो उनमे भी अपनी प्रजा की रक्षा का प्रबन्ध करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति दिखाई देती है। मनुष्यो का तो कहना ही क्या है? उनको न केवल वर्तमान प्रजा की किन्तु भावी प्रजा की तथा न केवल स्वास्थ्य रक्षा की किन्तु आर्थिक और सास्कृतिक रक्षा की अत्यधिक चिन्ता लगी रहती है, जिसके परिणामस्वरूप हमेशा लडाई-झगडे हुआ करते हैं। यहा पर केवल स्वास्थ्यरक्षा का ही विचार अभिप्रेत है। इसलिए उस दृष्टि से यदि मनुष्यो की ओर देखा जाए तो भी सब लोग इस विषय मे प्रयत्नशील दिखाई देते है कि अपनी भावी प्रजा सुदृढ और स्वस्थ उत्पन्न हो जाए। आजकल इस प्रयत्न मे सहायता करने के लिए प्रत्येक उन्नतिशील देश मे स्वास्थ्य विभाग की ओर से या शासको की ओर से 'एण्टी-नेटल क्लीनिक' नाम की सार्वजनिक सस्थाए खोली गई हैं। प्रजा उत्पन्न होने से पूर्व उसके परिपालन का कितना महत्त्व होता है, इसका परिचय इन आधुनिक पाश्चात्य 'प्रिनेटल क्लीनिक' (Prenatal clinic) सस्थाओ द्वारा स्पष्ट जाहिर होता है। इस महत्त्व को सामने रखकर काश्यपसहिताकार कौमारभृत्य को[2] आयुर्वेद के अष्टागो मे अधिक महत्त्व का बताते हैं। जब साधारण मनुष्य अपनी भावी प्रजा के परिपालन मे इतने प्रयत्नशील रहते हैं तब यदि सृष्टि का उत्पादक प्रजापति अपनी लाडली और सर्वश्रेष्ठ प्रजा मनुष्यजाति[3] के परिपालन का प्रबन्ध करे या उस पर इस प्रकार का प्रबन्ध करने का आरोप किया जाए तो उसमे आश्चर्य करने का कोई कारण नही दिखाई देता।

अब प्रजा उत्पन्न होने मे पूर्व प्रजापति ने जो आयुर्वेद उत्पन्न किया, उसका स्वरूप किस प्रकार का हो सकता है इस विषय पर विचार किया जाएगा। सभी

---

1 इह खल्वायुर्वेद नाम यदुपागमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजा कृतवान् स्वयम्भू। (सुश्रुत)॥

अथर्ववेदोपनिषत्सु प्रागुत्पन्न स्वयम्भूर्ब्रह्मा प्रजा सिसृक्षु प्रजाना परिपालनायमायुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत् सर्ववित् (काश्यपसहिता)

2 कौमारभृत्यमष्टाना तन्त्राणामाद्यमुच्यते।
आयुर्वेदस्यमहतो देवानामिव हव्यप॥ (काश्यपसहिता)

3 भूताना प्राणिन श्रेष्ठा प्राणिना बुद्धिजीविन। बुद्धिमत्सु नरा श्रेष्ठा। (मनुस्मृति)

लोग जानते हैं कि गुणविकासवाद के अनुसार मानवजाति उत्पन्न होने से पहले चन्द्र, सूर्य तथा तज्जनित दिनरात षड्ऋतु इत्यादि कालविभाग, जल, वायु, खनिज द्रव्य, विविध वनस्पति और प्राणी उत्पन्न हो[1] जाते हैं। इन सब वस्तुओ का मनुष्यो का स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए तथा गिरे हुए स्वास्थ्य को पुनर्स्थापित करने के लिए उपयोग करने का शास्त्र ही आयुर्वेद है। आयुर्वेद के अनुसार कोई द्रव्य अनौषधि[2] नही है, केवल युक्ति की आवश्यकता है। सुश्रुत सहिता के प्रथम अध्याय मे इस प्रकार[3] आयुर्वेद की सक्षिप्त व्याख्या दी गई है और यह भी स्पष्ट किया है कि आगे की सम्पूर्ण सहिता मे केवल इसी का ही विस्तार होगा।

उपर्युक्त विवरण स यह स्पष्ट होगा कि वेद पूर्वकाल मे मनुष्य प्रजापति-निर्मित द्रव्यो का उपयोग अपने स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए तथा बिगडे हुए स्वास्थ्य को पुनर्स्थापित करने के लिए करते रहे और इस प्रकार से स्वास्थ्यरक्षा और व्याधिपरिमोक्ष के सम्बन्ध मे अनुभव प्राप्त करते गए। परन्तु ये सब अनुभव लोगो के मन मे रहे और अक्षर-सम्बद्ध नही हुए। सक्षेप मे वेद पूर्वकाल का आयुर्वेद अलिखित और प्रयोगात्मक था। इसको आयुर्वेद की शैशवावस्था कह सकते हैं।

(2) वेदकाल—इस कालखण्ड मे मनुष्यो मे अपने विचार अक्षरसम्बद्ध करने की बुद्धि और शक्ति आ गई जिससे अन्य विचारो और आचारो के साथ-साथ प्रसगानुरूप वैद्यकीय विचार भी अक्षरसम्बद्ध हो गये। सम्पूर्ण वेद और ब्राह्मण ग्रन्थो का वैद्यकीय दृष्ट्या आलोडन करन पर उनमे आयुर्वेद सम्बन्धी असख्य उल्लख दिखाई देते हैं। ये उल्लेख अन्य वेदो की अपेक्षा अथर्ववेद मे अधिक पाये जाते हैं। इसलिए आयुर्वेद सहिताकारो ने अथर्ववेद को अपना गुरु

---

1 आत्मन आकाश सभूत आकाशाद्वायु। वायोरग्नि। अग्नराप। अद्भ्य पृथिवी। पृथिव्या ओषधय। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नात् पुरुष। अन्नात प्रजा प्रजायन्ते। (तैत्तिरीयोपनिषत)

2 अनेन निदशनेन नानौषधिभूत जगति किंचिद्द्रव्यमस्ति (सुश्रुत)

3 शारीराणा विकाराणामेषवर्गश्चतुर्विध।
प्रकोपे प्रशमश्चैव हेतुरुक्तश्चिकित्सके।
बीज चिकित्सितस्यैतत्स मासन प्रकीर्तितम।
सविशमध्यायशतमस्य व्याख्या भविष्यति (सुश्रुत)

मान लिया है और आयुर्वेद का मूल अथर्ववेद मे ही[1] बताया है। यदि वेदो मे मिलने वाले सब वैद्यकीय उल्लेख शरीर, निघटु, कायचिकित्सा, शल्य चिकित्सा, विष चिकित्सा, जल चिकित्सा, सूर्य चिकित्सा, प्रसूति और कौमार इत्यादि आयुर्वेद के विविध अगो के अनुसार सग्रहीत किये जाए तो एक सुन्दर 'वेदाग आयुर्वेद' का ग्रन्थ बन सकता है। इन उल्लेखो मे जराजीर्ण च्यवन को नवयौवन प्राप्ति[2], युद्ध मे पैर कट जाने पर लोहे के पैर का उपयोग करना[3], छिन्न-भिन्न शरीर को इकट्ठा करके उसमे प्राणप्रतिष्ठापना करना[4], कटे हुए सिर को जोडना[5] अन्धे को नेत्रदान[6] इत्यादि अनेक चमत्कृतिपूर्ण और कुतूहलजनक कर्मों का भी उल्लेख मिलता है, परन्तु इन साधारण तथा विशेष कर्मों को करने की पद्धति, उनकी प्रक्रिया या उपपत्ति का विवरण कही भी नही दिखाई देता, सम्पूर्ण वेदाग आयुर्वेद बिखरा हुआ, असगतिक और मत्रतत्र-घटित (Mystical) स्वरूप मे[7] मिलता है। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि वेदकाल मे वैद्यक ज्ञान

1 तत्रभिषजा चतुर्णामृक्सामयजुर्वेदायुर्वेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या। (चरक)
आयुर्वेद कथचोत्पन्न इति। आह, अथर्ववेदोपनिषत्सु प्रागुत्पन्न। (काश्यपसहिता)

2 युवच्यवानमश्विना जरन्त पुनर्युवान चक्रतु शचीभि। (ऋग्वेद)

3 सद्योजङ्घामायसी विश्पलायै धनेहिते सर्तवे प्रत्यधत्तम् (ऋग्वेद)

4 हिरण्यहस्तमश्विना रराणा पुत्र नरावध्रिमत्या अदत्त। त्रिधाहश्यावमश्विना विकस्तमुज्जीवस ऐरयत सुदानू (ऋग्वेद)

5 आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व शिर प्रत्यैरयन (ऋग्वेद)

6 आक्षी ऋज्राश्वे अश्विनावधत्त ज्योतिरधाय चक्रथुर्विचक्षे।
शत मेषान्वृक्ये चक्षुदानमृज्राश्व ते पिताध चकार।
तस्मादक्षिनासत्या विचक्ष आदत्त दस्राभिषजावनर्वन्॥ ऋग्वेद॥

7 वेदो ह्यथर्वणो दानस्वस्त्ययन बलिमगल होमनियम प्रायश्चित्योपवास मन्त्रादि परिग्रहाच्चिकित्सा प्राह (चरक)
तत्र (अथर्ववेद) हि रक्षाबलि होम शान्ति "प्रतिकर्म विधानमुद्दिष्ट विशेषण॥ (काश्यपसहिता)
आयुर्वेद ने मत्रतत्रादि का पूर्णतया त्याग नही किया, कही-कही उसका प्रयोग किया है। परन्तु चिकित्सा की दृष्टि से इसका स्थान अत्यन्त गौण है। आयुर्वेद ने चिकित्सा का मुख्य आधार आहार विहारादि पथ्य और उसके पश्चात् औषध को माना है। सदा पथ्य प्रयोक्तव्य नापथ्येन स सिद्धति। औषधेन विना पथ्यं सिद्धयते भिषगुत्तमै। विना पथ्य न साध्य स्यादौषधान शतैरपि (हारीतसहिता)

बहुत कुछ बढ गया था, फिर भी एक स्वतत्र शास्त्र बनने के लिए जिस प्रकार की सुसगतिक और सोपपत्तिक उन्नति किसी शास्त्र की होनी चाहिए, उतनी उसकी उन्नति उस समय मे नही हुई थी। इसको आयुर्वेद की विवर्धमानावस्था कह सकते हैं।

(3) विक्रम काल—इस कालखण्ड मे भारतवर्ष मे आयुर्वेद के एक से एक बढकर घुरधर विद्वान् उत्पन्न हुए, जिन्होने अविश्रान्त परिश्रम और तत्वान्वेषण से वेदाग आयुर्वेद मे उसे स्वतत्रशास्त्र बनाने के लिए अत्यन्त आवश्यक और महत्व के अनेक परिवर्तन किए। इनके कुछ उदाहरण दिग्दर्शन के लिए यहा पर दिए जाते हैं।

वेदो मे शरीर का कुछ ज्ञान मिल जाता है, परन्तु वह अत्यन्त अपूर्ण और पशुओ के शरीर का है। आयुर्वेद मनुष्यो का वैद्यक[1] होने के कारण मनुष्य शरीर का ज्ञान वैद्यो के लिए आवश्यक होता है। महर्षियो ने इसलिए मृत मनुष्य-शरीर का परीक्षण करने का[2] उपक्रम किया तथा शरीर के विविध अगो पर चोट लगने के परिणामो को देखकर उन अगो के कार्यों को[3] मालूम करने का प्रयत्न किया। वेदो मे सहस्रावधि वनस्पतियो के उल्लेख[4] मिलते है, परन्तु स्वरूप, गुण, धर्म इत्यादि का विवरण नहीं मिलता। इन्होने उनकी पहचान वनचारियो से[5] प्राप्त की, गुण धर्मों के अनुसार उनके गण बनाये[6], और गुण धर्मों की उपपत्ति रस वीर्य विपाक के अनुसार निश्चित की। वेदो मे अनेक शस्त्र-कर्म मिलत हैं, परन्तु उनकी पद्धति का वर्णन नहीं दिखाई देता। इन्होंने सादे से सादे शस्त्रकर्म से लेकर नासासधान (Rhinoplasty) जैसे अनोखे शस्त्रकर्म तक[7]

---

1 तस्यायुप पुण्यतमो वेदो वेद विदां मत ।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणा लोकयोरुभयोर्हित ॥ (चरक)

2 तस्मान्नि सशय ज्ञान हर्त्राशल्यस्य वाछता।
शोधयित्वा मृत सम्यग्द्रष्टव्योऽग विनिश्चय ॥ (सुश्रुत)

3 क्लैब्य। वदन्ति शौफसश्छेदाद् वृषणोत्पाटनेनच (चरक)

4 शन ते राजन् भिषज सहस्रमुर्वीगभीरा सुमतिष्टे अस्तु (ऋग्वेद)

5 गोपालास्तापसा व्याधा ये चान्ये वनचारिण ।
मूलाहाराश्च ये तेभ्यो भेषज्व्यक्तिरिष्यते ॥ (सुश्रुत)

6 चरक, सूत्र स्थान, अध्याय 4 और सुश्रुत, सूत्र स्थान, अध्याय 38 और 40।

7 They have already borrowed from them (Hindus) the operation of Rhino plasty—Weber's History of Medicine— इस पद्धति को आज भी पाश्चात्य शस्त्र विज्ञान मे भारतीय पद्धति कहते हैं।

सब शस्त्रकर्मों की पद्धति वर्णन की, शस्त्र कर्मों के लिए आवश्यक अनेक उपयोगी यत्रशस्त्र निर्माण किए, शस्त्र कर्म के समय सज्ञाहरण के लिए क्लोरोफार्म के समान मद्य का उपयोग[1] शुरू किया, शस्त्र कर्म के पश्चात् उत्पन्न होने वाले दोष (Sepsis) का निराकरण करने के लिए व्रणबन्धन की वस्तुओ को सूर्य की किरणो से, निंब वचादि जीवाणुनाशक वनस्पतियो के धूपन से, अग्नि मे या उबलते पानी म विशोधित करके[2] काम मे लाने की प्रथा शुरू की, जिसे आधुनिक जीवाणुनाशक व्रण-चिकित्सा-पद्धति की जननी समझ सकते हैं। वेदो म त्रिदोषो का केवल उल्लेख[3] मिलता है, परन्तु उनके स्वरूपादि का विवरण नही दिखाई देता। इन्होंने उनके ऊपर गम्भीर विचार करके उनके प्राकृत तथा विकृत कार्य निश्चित किए, उनके आधार पर सम्पूर्ण औषधि द्रव्यो के गुण धर्म निश्चित किये, विविध रोगों की सम्प्राप्ति ठीक की, उनका वर्गीकरण किया और उनके लिए बहुत सुन्दर और सरल चिकित्सा प्रणाली स्थापित की। वेदो में ज्वर, यक्ष्मा, कुष्ठ इत्यादि सक्रामक रोगो के उल्लेख बहुत मिलते हैं। इन्होंने इन रोगों के प्रसार के साधन मालूम करके[4] स्थान परित्याग, सम्बन्धविच्छेद, रसायन प्रयोग इत्यादि मार्गों द्वारा इनकी रोक-थाम करने मे काफी सफलता प्राप्त की। वेदो मे प्रसवकाल की अवधि दस महीने की[5] बताई गई है। इस

---

1 मद्यप पाययेन्मद्य तीक्ष्ण यो वेदनासह ॥ (सुश्रुत)

2. न केवल व्रण धूपयेत्, शयनासनपित्रणदौर्गन्ध्यापगमार्थं नीलमक्षिकादि परिहारार्थंच ॥ (डल्हण) ॥
धूमो ग्रहशयनासनवस्त्रादिपुशस्यते विषनुत् ॥ (चरक)
उदराम्भेदस्ते वर्तिनिगता यस्य देहिण ।
अग्नितप्तेन शस्त्रेण छिन्द्यात् ॥ (सुश्रुत)
अन्यथा अतप्तशस्त्रच्छेदेन पाकभयस्यात् ॥ (डल्हण)

3 त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रि पार्थिवानि त्रिरुदत्त महदभय । ओमानं श यो ममकायसूनवे त्रिधातु शर्म वहन शुभस्पति । (ऋग्वेद)
त्रिधातु वातपित्त श्लेष्म धातु त्रय शमन विषय सुख वहतम् ॥(सायनभाष्यम)

4 प्रसगाद्गात्रसस्पर्शान्निश्वासात् । सहभोजनात् सहशय्यासना चापिवस्त्र माल्यानुलेपनात् । कुष्ठ ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एवच । औपसर्गिक रोगाश्च सक्रामन्ति नरान्नरम् ॥ (सुश्रुत)

5 धाता श्रेष्ठेन रूपेणास्यानार्या गविन्यो पुमास पुत्रमाधे हि दशममासि सूतवे । यथावातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिण । रावा त्व दशमास्यसाक जरायुणापताव जरायु पद्यताम् ॥ (अथर्ववेद)

अवधि मे कई बार फर्क दिखाई देता है। उन्होने इस विषय की जाच करके इस अवधि की अवैकारिक अधिक से अधिक और कम से कम मर्यादा[1] बताई जो आधुनिक जाच के साथ ठीक-ठीक मिलती है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक पहलुओ स वेशग वैद्यक में इस काल मे परिवर्तन और सुधार होने के कारण आयुर्वेद एक सुसगठित, सर्वांगसुन्दर और स्वतन्त्र शास्त्र बन गया तथा उसकी योग्यता वेदो के बराबर और उपयोगिता[2] वेदो से भी अधिक हो गई।

इस काल मे आयुर्वेद इतना बढ गया था कि एक व्यक्ति के लिए सम्पूर्ण आयुर्वेद का आकलन करके उसके सब अगो का व्यवसाय करना असम्भव सा हो गया था। इसलिए आयुर्वेद शल्यशालाक्यादि आठ अगो मे विभक्त किया गया था, इन अगो के ग्रन्थ भी स्वतन्त्र बनाए गए थे और आधुनिक काल के समान उन अगो के विशेषज्ञ (Specialists) अपना-अपना व्यवसाय[3] राज दरबार तथा अन्य स्थानो मे कार्यक्षमता के साथ तथा लोगो के विश्वास के साथ किया करते थे। *इस काल मे आयुर्वेद की कीर्ति इतनी बढ गई थी कि भारत के बाहरी देशो मे भी वह पहुच गई थी,* जिसके परिणामस्वरूप बाहर के लोग वैद्यकीय ज्ञान प्राप्त करने के लिए भारतवर्ष मे आया करते थे और यहा से वापिस जाने पर

---

1 नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतमस्मिन् जायते। अतोऽन्यथाविकारी भवति। (सुश्रुत)

2 आयुर्वेदमेवान्यत्वे वेदा। एवमेवायमृग्वेद यजुर्वेद सामवेदाथर्ववेदेभ्य पचमो भवत्यायुर्वेद। काश्यपसहिता। (टिप्पणी न० 14 भी देखियेगा)

3 कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भमर्मणि ॥ (रघुवश)
उपातिष्ठन्नथो वैद्या शल्योद्धरणकोविदा।
सर्वोपकरणैर्युक्ता कुशलै साधुशिक्षिता।
कोशं यन्त्रायुधचैव येच वैद्याश्चिकित्सका।
त सगृह्ययौराज्ञा ये चापि परिचारका।
शिबिराणिमहार्हाणि राज्ञा तत्र पृथक् पृथक्।
तत्रासन् शिल्पिन प्राज्ञा शतशा दत्तवेतना।
सर्वोपस्करणैर्युक्ता वैद्या शास्त्रविशारदा ॥ (महाभारत)
चिकित्सका शस्त्रयन्त्रागदस्नेहवस्त्र हस्ता स्त्रियश्चान्नपानरक्षिण्य उद्धर्षणीया पृष्ठतोऽनुगच्छेयु।
आपन्न सत्वाया कौमारभृत्यो गर्भमर्मणि प्रजने च वियतेत।
तस्मादस्यो जागलीविद (विषवैद्य) भिषजश्चासन्ना स्यु ॥ (कौटिलीय अर्थशास्त्र)

भारतीय ज्ञान का उपयोग अपने शास्त्र को समृद्ध करने मे किया करते थे। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि आज भी कई भारतीय प्राचीन वैद्यकीय शब्द विलायती वैद्यक मे[1] दिखाई देते हैं। सिकन्दर जब भारत म आया तब वह अपने सैनिको के साथ वैद्यो को भी ले आया था, परन्तु भारत के सर्पदश की चिकित्सा मे उनको सफलता न मिल सकी। इसलिए उसने यहा के कुछ विषवैद्य अपनी छावनी मे रखे और वापिस जाते समय वह कुछ वैद्यो को साथ लेकर चला गया।

यह काल आयुर्वेद की दृष्टि से उज्ज्वल, दिग्विजयी और शाश्वत कीर्ति देने वाला रहा। इस काल की प्राचीन मर्यादा ठीक-ठीक बताना बहुत कठिन है। परन्तु यह निश्चय से कहा जा सकता है कि सवत्कार विक्रमादित्य के पहले कुछ शताब्दियो से उसके पश्चात कुछ शताब्दियो तक आयुर्वेद की यह उज्ज्वल दशा रही। चूकि यह काल विक्रमादित्य के काल के समान आयुर्वेद के लिए उज्ज्वल, दिग्विजयी और शाश्वत कीर्ति प्रदान करने वाला रहा तथा चूकि इसका मध्य बिन्दु स्वय विक्रम रहा इसलिए मैंने आयुर्वेद के इस काल को विक्रम का नाम दिया है। इस काल को आयुर्वेद की यौवनावस्था कह सकते हैं।

(4) **वाग्भट काल** --भारतवर्ष अत्यन्त प्राचीन काल से सुवर्णभूमि के रूप मे ससार मे प्रसिद्ध रहा। इसलिए उसको लूटने की इच्छा भी अत्यन्त प्राचीन काल से भारतेतर देशो के लोगो म रही। इसका परिणाम यह होता रहा कि भारत पर प्राचीन काल से विदेशियो के आक्रमण होते रहे। जब तक भारतीयो मे क्षात्रतेज चमकता रहा तथा भारत मे विक्रमादित्य के समान पराक्रमी और विद्वानो का आदर करने वाले शासक रहे तब तक इन आक्रमणकारियो की एक भी न चली। परन्तु इनका अभाव होने पर इन्होने भारत मे उत्पात मचाया। इसका परिणाम यह होने लगा कि देश मे अशान्ति फैलने लगी, दारिद्र य बढने लगा और विद्या कला का लोप होने लगा। अर्थात् इस काल मे आयुर्वेद की भी बहुत हानि हुई। इसने बचने के लिए वाग्भट ने अपने समय मे जो आयुर्वेद का अश बचा हुआ था, उसका सग्रह उसके विविध अगो के अनुसार जरा विस्तार से अष्टाग सग्रह मे और सक्षेप से अष्टाग हृदय म किया। इस कालखड मे माधव निदान, सिद्धयोग तथा अन्य ग्रन्थो का जो निर्माण हुआ वह सब सग्रहस्वरूप का था। इसलिए इस काल को सग्रह काल भी कह सकते हैं। इस काल म आयुर्वेद

---

1 शृ गबेर—*Zingiber*, कोष्ठ—*Costus*, पिप्पली—*Piper*, शर्करा—Sakkaron, हृद—Heart, विष—Virus, अस्थ—os osteoro, पित्त—Pituata, शिरोब्रह्म—Cerebrum

की उन्नति नही हुई, अवनति ही होती रही। इसको आयुर्वेद की वृद्धावस्था कह सकते हैं।

(5) भविष्यकाल—वृद्धावस्था के पश्चात् सृष्टि नियम के अनुसार मृत्यु की एकमात्र घटना बाकी रहती है। यह नियम सृष्ट पदार्थों के लिए भले ही लागू हो वेदों और शास्त्रो के लिए नही लागू होता। आयुर्वेद वेद भी हैं और शास्त्र भी।[1] इसलिए उसके लिए यह नियम कदापि भी लागू नही हो सकता। अब सवाल यह उठता है कि क्या आयुर्वेद इस जराजीर्ण दशा मे भविष्य मे रहेगा?' इसका उत्तर है 'कदापि नही, इसका कारण यह है कि आयुर्वेद के पास जराजीर्ण शरीर को नवयौवन[2] प्रदान करने की शक्ति है। अत मुझे विश्वास है कि भविष्य मे आयुर्वेद फिर से नवयौवन प्राप्त करके चिकित्सा जगत् मे सम्मान का स्थान प्राप्त करेगा।

---

1 अस्मिन्शास्त्रे पचमहाभूतशरीरिसमवाय पुरुष इत्युच्यते ॥ (सुश्रुत)
रोगात् शास्ति इति शास्त्रम्। आयुरारोग्य दानेन धर्मार्थ कामादीना शास-नाद्वा शास्त्रम। मरणात् त्रायत इति वा शास्त्रम्।

2 रसायनस्यास्य नर. प्रयोगाल्लभते जीर्णोऽपि कुटिप्रवेशात्।
जराकृत रूपमपास्य सर्वं बिभर्ति रूप नवयौवनस्य ॥ चरक)

भारतीय ज्ञान का उपयोग अपने शास्त्र को समृद्ध करने मे किया करते थे। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि आज भी कई भारतीय प्राचीन वैद्यकीय शब्द विलायती वैद्यक मे[1] दिखाई देते हैं। सिकन्दर जब भारत मे आया तब वह अपने सैनिको के साथ वैद्यो को भी ले आया था, परन्तु भारत के सर्पदश की चिकित्सा मे उनको सफलता न मिल सकी। इसलिए उसने यहा के कुछ विषवैद्य अपनी छावनी मे रखे और वापिस जाते समय वह कुछ वैद्यो को साथ लेकर चला गया।

यह काल आयुर्वेद की दृष्टि से उज्ज्वल, दिग्विजयी और शाश्वत कीर्ति देने वाला रहा। इस काल की प्राचीन मर्यादा ठीक-ठीक बताना बहुत कठिन है। परन्तु यह निश्चय से कहा जा सकता है कि सवत्कार विक्रमादित्य के पहले कुछ शताब्दियो से उसके पश्चात् कुछ शताब्दियो तक आयुर्वेद की यह उज्ज्वल दशा रही। चूकि यह काल विक्रमादित्य के काल के समान आयुर्वेद के लिए उज्ज्वल, दिग्विजयी और शाश्वत कीर्ति प्रदान करने वाला रहा तथा चूकि इसका मध्य बिन्दु स्वय विक्रम रहा इसलिए मैंने आयुर्वेद के इस काल को विक्रम का नाम दिया है। इस काल को आयुर्वेद की यौवनावस्था कह सकते हैं।

(4) वाग्भट काल —भारतवर्ष अत्यन्त प्राचीन काल से सुवर्णभूमि के रूप म ससार मे प्रसिद्ध रहा। इसलिए उसको लूटने की इच्छा भी अत्यन्त प्राचीन काल से भारतेतर देशो के लोगो मे रही। इसका परिणाम यह होता रहा कि भारत पर प्राचीन काल से विदेशियो के आक्रमण होते रहे। जब तक भारतीयो म क्षात्रतेज चमकता रहा तथा भारत म विक्रमादित्य के समान पराक्रमी और विद्वानो का आदर करने वाले शासक रहे तब तक इन आक्रमणकारियो की एक भी न चली। परन्तु इनका अभाव होने पर इन्होने भारत मे उत्पात मचाया। इसका परिणाम यह होने लगा कि देश मे अशान्ति फैलने लगी, दारिद्रय बढने लगा और विद्या-कला का लोप होने लगा। अर्थात् इस काल मे आयुर्वेद की भी बहुत हानि हुई। इससे बचने के लिए वाग्भट ने अपने समय मे जो आयुर्वेद का अश बचा हुआ था उसका सग्रह उसके विविध अगो के अनुसार जरा विस्तार से अष्टाग सग्रह मे और सक्षेप से अष्टाग हृदय मे किया। इस कालखड मे माधव निदान, सिद्धयोग तथा अन्य ग्रन्थो का जो निर्माण हुआ वह सब सग्रहस्वरूप का था। इसलिए इस काल को सग्रह काल भी कह सकते है। इस काल मे आयुर्वेद

---

1 शृ गवेर—Zingiber, कोष्ठ—Costus, पिप्पली—Piper, शर्करा—Sakkaron, हृद—Heart, विष—Virus, अस्थ—os osteoro, पित्त—Pituata, शिरोब्रह्म—Cerebrum

की उन्नति नही हुई, अवनति ही होती रही। इसको आयुर्वेद की वृद्धावस्था कह सकते हैं।

(5) भविष्यकाल—वृद्धावस्था के पश्चात् सृष्टि नियम के अनुसार मृत्यु की एकमात्र घटना बाकी रहती है। यह नियम सृष्ट पदार्थों के लिए भले ही लागू हो, वेदो और शास्त्रो के लिए नही लागू होता। आयुर्वेद वेद भी है और शास्त्र भी।[1] इसलिए उसके लिए यह नियम कदापि भी लागू नही हो सकता। अब सवाल यह उठता है कि 'क्या आयुर्वेद इस जराजीर्ण दशा मे भविष्य मे रहेगा?' इसका उत्तर है 'कदापि नही, इसका कारण यह है कि आयुर्वेद के पास जराजीर्ण शरीर को नवयौवन[2] प्रदान करने की शक्ति है। अत मुझे विश्वास है कि भविष्य म आयुर्वेद फिर से नवयौवन प्राप्त करके चिकित्सा जगत् मे सम्मान का स्थान प्राप्त करेगा।

---

1 अस्मिन्शास्त्रे पचमहाभूतशरीरिसमवाय पुरुष इत्युच्यते ॥ (सुश्रुत)
रोगात् शास्ति इति शास्त्रम्। आयुरारोग्य दानेन धर्मार्थ कामादीना शासनाद्वा शास्त्रम। मरणात् त्रायत इति वा शास्त्रम्।

2 रसायनस्थास्य नर. प्रयोगाल्लभते जीर्णोऽपि कुटिप्रवेशात्।
जराकृत रूपमपास्य सर्वं बिभर्ति रूप नवयौवनस्य ॥ चरक)

विक्रमकाल में उन्नति

□ डॉ॰ रामनिवास शर्मा

भारतवर्ष में एक समय था जब उज्जयिनी में आज से दो सहस्र वर्ष पहले परमभट्टारक महाराज विक्रमादित्य शासन कर रहे थे। भारतवर्ष के सांस्कृतिक विकास, शौर्य और वैभव के वे प्रतीक थे। वे अपने औदार्य, विद्वत्ता, साहित्य-सेवा, अलौकिक प्रतिभा एवं दिग्विजय के कारण सर्वश्रुत थे। वे प्रत्येक बात में इतने अद्वितीय थे कि उनकी उपमा सभवत किसी से भी नही दी जा सकती। उनकी शालीनता, मनुष्यता, वाग्मिता, बुद्धिमत्ता विविध और विभिन्न अनन्त विचित्रताओ के गीत आज भी घर-घर सुनने को मिलते हैं। साराश यह है कि वे माधुर्य और ऐश्वर्य दोनो ही प्रकार की गुण-राशि के अप्रतिम उदाहरण थे।

उनके यहा लोक-विश्रुत बृहस्पति के समान सहस्रो विद्वान् थे। पचासो एकाधिक विषयो के आचार्य थे। अनेक आचार्य-प्रवर थे। ऐसे भी महामहिम उद्भट विद्वान् थे जो कि सरस्वती के वरदपुत्र और कण्ठाभरण कहे जाते थे। इनमे भी उनके अन्यतम विशेषज्ञ पण्डित, कलाकार और राज्य-व्यवस्थापक तो उस समय के सूर्य-चन्द्र ही थे। साथ ही व्यष्टि और समष्टिवादी शास्त्रियो की सख्या भी कम नही थी। किन्तु इन सबमे उनके नवरत्न तो भूतल के अजर-अमर रत्न थे। उनमे भी महाकवि कालिदास तो सर्वोत्कृष्ट महापुरुष थे। ससार के विद्वानो का कथन है कि कालिदास सरस्वती के हृदय की वस्तु थे, साहित्यश्री के शृगार थे, कला-नैपुण्य के आचार्य थे, मानवीयता के प्राण थे, सार्वजनीन और सार्वभौम आदर्श तत्त्वों के पुजारी और चित्रकार थे। सर्वाधिक वे सौन्दर्य के कवि थे। उनका व्यक्तित्व भौतिक, दैविक और आत्मिक विकासोन्मुख तत्त्व-वस्तु का समन्वय-सामजस्यपूर्ण विकास था। ऐसी दशा मे वे एक आदर्श थे। प्रत्येक देश और मानव-समाज की वस्तु थे।

उनका अभिज्ञान शाकुन्तल ससार की सर्वोत्तम पुस्तक है। उसमे विश्व-प्रकृति, मानव-प्रकृति और भारत की आत्मा पूर्णत व्यक्त हुई है। उसकी प्रशसा करना वस्तुत भगवती वीणा-पाणि का ही कार्य है।

उस समय की सम्पूर्ण आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक समृद्धि उन्हीं के चरणों के प्रश्रय से अनुप्राणित और समुन्नत थी। रमा, उमा और गिरा उनकी वशवर्तिनी-सी बनी हुई थी। इन्ही विक्रमादित्य के विषय में एक इतिहासकार इस प्रकार लिखते हैं कि उज्जयिनी-पति विक्रमादित्य गन्धर्वसेन के पुत्र थे। इनका पहला नाम विक्रमसेन था। इन्ही के समय में अवन्तिका को उज्जयिनी नाम मिला। ये चालीस वर्ष की अवस्था में सिंहासन पर बैठे थे। ये बड़े गुणी, न्यायी और वीर थे। इनकी न्यायप्रियता तथा दानशीलता की आज तक ऐसी प्रशंसा है कि इनकी गणना बलि और हरिश्चन्द्र जैसे दानियों के साथ की जाती है। अन्य राजाओं की प्रशंसा करने में भी लोग बलि, विक्रम, राम, युधिष्ठिर आदि से वर्ण्य नरेश की उपमा देते हैं। भारतीय विचारानुसार इनमें राजोचित सभी गुणों का संग्रह था।

इन्ही के लोकोत्तर व्यक्तित्व के विषय में कालिदास अपने ज्योतिर्विदाभरण में लिखते हैं कि वे इन्द्र तुल्य अखण्ड प्रतापी थे, समुद्र की तरह गम्भीर थे, कल्प-तरु के समान दाता थे, रूप में कामदेव-से थे, शिष्ट और शान्त थे, दुष्ट-दमन में अद्भुत थे, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने में अद्वितीय थे।

कविकुल-चूडामणि कालिदास के ग्रन्थों से यह भी व्यंजित होता है कि उनके समय का समाज पूर्ण सम्पन्न था, गुरुकुल-प्रणाली का प्रचार था, ललित कलाओं का समधिक समादर था, शिक्षित स्त्री-पुरुष संस्कृत बोलते थे और शिष्टाचार का मूल्य था, देश धन धान्य सम्पन्न था, व्यापार उन्नति पर था, यन्त्र-विद्या की अच्छी दशा थी, खनिज पदार्थों की अभिवृद्धि का ख्याल था और गृहोपयोगी शिल्प का मान था, गण-तन्त्रों का अस्तित्व था, साम्राज्य-भावना बलवती थी, शासन-सत्ता नियन्त्रित थी, राजा का योग्य होना अनिवार्य था और शासन में ब्राह्मणों का पर्याप्त हाथ था।

इतिहास-मर्मज्ञ स्वर्गीय श्री रमेशचन्द्रदत्त इन्ही विक्रमादित्य के विषय में अपने 'सभ्यता का इतिहास' में इस तरह लिखते हैं कि वह अमर यशस्वी था, हिन्दू-हृदय और हिन्दू की शक्ति का विकासक था और हिन्दुत्व और हिन्दू-धर्म को पुनरुज्जीवित करने वाला था, उसका व्यक्तित्व जाति का पथ-प्रदर्शक था, वह हिन्दू-हित और हिन्दू-साहित्य का उद्धारक था और भारतीय आवश्यकताओं का महान् पूरक था।

यह भी कहा जाता है कि उस समय का भारत प्रत्येक दृष्टि से समुन्नत था। देवता भी इसके गुण-गान करते थे। अन्यान्य देशों और द्वीप-द्वीपान्तरों में इसके नाम की धूम थी। संसार के लोग विक्रम के व्यक्तित्व, नवरत्न और भारतीय समुत्कर्ष के प्रभावों से प्रभावित प्रायः भारत-दर्शनार्थ आया करते थे। ऐतिह्य से तो यह भी प्रमाणित होता है कि ऐसे यात्रियों का तांता-सा बंधा

रहता था ।

किन्तु कुछ विद्वानो की सम्मति मे विक्रम-काल और विशेषत विक्रमादित्य की एक सर्वोत्तम, सर्व-प्रमुख और अन्यतम विशेषता यह भी थी कि वह अपने उत्तरकाल, उत्तरकालीन व्यक्तियो और भारतीय समाज पर अपना प्रभाव पर्याप्त मात्रा मे छोड गए ।

किसी ने सत्य ही कहा है कि विभूतिया अपने जीवनकाल मे जो कुछ मानव-समाज को देती हैं, उससे अधिक वे देश और काल को दे जाती हैं । उनकी यही देन समय पाकर पूर्णत देश-काल की वस्तु बनकर अनन्त समय तक मानव-समाज को लाभ पहुचाती रहती है । इसी दृष्टिकोण से विचार करने पर मालूम होता है कि विक्रम-काल और विक्रम व्यक्तित्व की छाप आज भी भारतीय हृदयो पर स्पष्ट दिखाई देती है । आज भी उससे भारतीय हृदयो को प्रेरणा मिलती है, उत्साह मिलता है । साथ ही एक ऐसी परमोपयोगी और उत्पादक बात भी मिलती है जो इतनी मात्रा मे किसी दूसरे व्यक्तित्व और काल से नही मिल रही है ।

तत्कालीन भारतीय राज-समाज विक्रम-प्रभाव से प्रभावित था । वह प्रभाव इतना हुआ कि अनेक नृपति-पुगवो ने विक्रम के अनुकरणीय गुण, कर्म, स्वभाव और क्रियाकलापों को शोभा, आवश्यकता, अनुकरण प्रियता अथवा महत्त्वाकाक्षा-वश अपनाना शुरू किया । यही नही, अपितु अनेको ने अपने नाम के साथ पदवी की भाति विक्रम शब्द को भी लगाना प्रारम्भ किया । इसी का यह सुफल या कुफल है कि आज भारतीय इतिहास और जनश्रुतियो मे हमे विक्रम-पदवीधारी राजा और सम्राट पर्याप्त सख्या मे मिलते हैं । परन्तु उनमे मुख्य श्रावस्ती का विक्रमादित्य, काश्मीर का विक्रमादित्य मेवाड का विक्रमादित्य और बगाल का विक्रमादित्य हैं ।

इनके सिवा प्रतीच्य और प्राच्य चालुक्य-वशो मे भी पाच विक्रम उपाधि-धारी राजा हुए है । साथ ही दक्षिणापथ के गुत्तल-नामी सामन्त-राज्य मे भी विक्रम पदवीधारी तीन राजा हुए हैं । दाक्षिणात्य वाण-राजवश मे भी प्रभुमेरुदेव-पुत्र विजयबाहु एक विक्रम पदवीधारी राजा हुआ है । इसी तरह कहा जाता है उज्जयिनी के भी असली विक्रमादित्य के सिवा, विक्रम पदवीधारी दो-एक राजा हुए हैं । इनमे एक हूण विक्रमादित्य नामक राजा भी है ।

किन्तु विक्रमादित्य-पदवी धारण करने वाले और तदनुकूल थोडा-बहुत आचरण करने वालो मे श्रेष्ठतम वास्तविक नराधिप तो प्रथम चन्द्रगुप्त विक्रमा-दित्य, समुद्रगुप्त विक्रमादित्य और द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही हैं ।

यदि हमारी शास्त्रीय जनश्रुतिया सत्य है तो अनेक विद्वानों के शब्दो मे यह मानना पड़ेगा कि उक्त तीनो सम्राटो के समय उज्जयिनी सम्राट परम भट्टारक

महाराज के विक्रम-काल का भव्य प्रभाव गुप्तकाल मे भी नामशेप नही हुआ था, अपितु दिनानुदिन बढ ही रहा था। विशेपत द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय तो इतना बढा कि ज्ञात इतिहास मे भारत पहली बार पूर्णोन्नित कहलाने योग्य समझा जाने लगा। तिथि-क्रम की दृष्टि से चीनी, ईरानी और रोमन साम्राज्यो मे भारत ही अपेक्षाकृत विस्तृत और उन्नत माना जाने लगा। और शासन-सौन्दर्य, ज्ञान-विज्ञान, सुखशान्ति और ऋद्धि-सिद्धि आदि सभी बातो मे अद्वितीय भी प्रमाणित हुआ। ऐतिहासिक लोगो की दृष्टि मे यह वह कमय था जब ससार का दिग्दिगन्त इसी के ज्ञानालोक से आलोकित था। इसी से चीन, जापान और योरुप ने भी प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप मे जागृति और सभ्यता का पाठ पढा था।

हमारा विक्रमादित्य

□ श्री गोपालकृष्ण विजयवर्गीय

विक्रमादित्य इतना महान् था कि उसका यह नाम बाद के राजाओ और सम्राटो के लिए एक पदवी ही बन गया। बहुत से लेखक विक्रमादित्य के नाम के पहले सम्राट् शब्द लगाकर उसके समय की राज्य-व्यवस्था का अपमान करते हैं। मुझे तो सम्राट् की अपेक्षा गणाध्यक्ष विक्रमादित्य अधिक प्रिय लगता है, *क्योंकि वह व्यवस्था हमारी आकाक्षित लोकतत्री व्यवस्था के निकट जचती है।* इतने प्रसिद्ध गणाध्यक्ष की ऐतिहासिकता के विषय मे ही अभी वादविवाद चल रहा है, यह हम भारतीयो के लिए बडे खेद की बात है। किन्तु अब तो प्राय अधिकाश विद्वानो ने विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता को स्वीकार कर लिया है। सन् 58-57 ईसवी पूर्व मे विक्रमादित्य ने विदेशी शको को हराकर स्वतन्त्रता का झडा ऊचा किया था, तथा अपना सवत् प्रारम्भ किया था। भारतवर्ष के लिए यह अत्यन्त गौरव की बात है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्राचीनता, उच्च सस्कृति और महान् कार्यों का अभिमान होना चाहिए और इस दृष्टि से विक्रमादित्य हमारे लिए अत्यन्त गौरव और अभिमान की विभूति है।

गणाध्यक्ष विक्रमादित्य सम्बन्धी ऐतिहासिक खोजो के निरूपण मे मैं पडना नही चाहता, मैं तो केवल यह बताना चाहता हू कि विक्रमादित्य के प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या होना चाहिए।

हमे विक्रमादित्य के महत्व को सकुचित नही बना डालना चाहिए। विक्रमादित्य किसी सम्प्रदाय का विरोधी नही था। राष्ट्रीय एकता का प्रतीक विक्रमादित्य मालवगण का महान योद्धा नायक था। उसी रूप मे हमे उसका आदर करना चाहिए। आज के सकुचित साम्प्रदायिक विद्वेष के लिए हमे विक्रमादित्य का उपयोग नही करना चाहिए, किन्तु गणतन्त्रवादी और जनतन्त्रवादी योद्धा नेता के रूप मे हमे उसका स्मरण करना चाहिए। वह साम्राज्यवादी सम्राट भी नही था। वह तो गणतन्त्रवादी समाज का अगुआ था। अब तो जमाना बहुत बदल गया है। आज तो हमे हिन्दू-समाज की जाति-प्रथा तथा छूतछात आदि

कुरीतियो से घोर सघर्ष करना है। आज हम उस पुरानी हिन्दू-समाज-व्यवस्था को पुन स्थापित नही कर सकते जो दो हजार वर्ष पूर्व प्रचलित थी। हर समाज और देश विकासोन्मुख है। हमे पुराने इतिहास और पुरानी सस्कृति का आदर करना चाहिए, तत्कालीन परिस्थिति मे सब से आगे बढे हुए होने का अभिमान करना चाहिए, किन्तु अब हिन्दू-सगठन के बजाय सच्चे हिन्दुस्तानी-सगठन का आदर्श रखना चाहिए। विक्रमादित्य का सम्मान हमे प्रत्येक हिन्दू के हृदय मे ही नही, प्रत्येक मुसलमान, ईसाई आदि के हृदय मे भी, उत्पन्न करना चाहिए। इतनी शताब्दियो तक भारत मे रह लेने के बाद हम एक-दूसरे को अपरिचित या विदेशी नही कह सकते। एक ही आर्य खून के हिन्दू और मुसलमान केवल धर्मभेद के कारण भिन्न-भिन्न या परदेशी नही माने जा सकते। जातीय श्रेष्ठता के सिद्धान्त ने ससार मे कितनी खूनखराबी मचायी है, यह हम आज प्रत्यक्ष देख सकते हैं। गणाध्यक्ष विक्रमादित्य का सम्मान और गौरव हमे आधुनिक युग के आदर्शों से मेल खाने वाले रूप मे मनाना चाहिए।

विक्रमादित्य न केवल योद्धा था, प्रत्युत अच्छा और न्यायपूर्ण शासन-व्यवस्थापक भी था। आज हमे जन-दु ख-भजक, लोकहितैषी, न्याय-प्रेमी विक्रमादित्य से बहुत कुछ सीखना होगा। जनता की कष्ट-कथाओ की जाच करने के लिए वह छद्मवेश मे जनता मे फिरता था, यह भी एक जनश्रुति है। विक्रमादित्य विद्या और सस्कृति का उन्नायक भी था। विक्रमादित्य के नवरत्नो की कथा प्रसिद्ध ही है। नवरत्न उसके साथ थे या नही, इसमे ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही सन्देह हो, परन्तु इसमे सन्देह नही रहा है कि उसने विद्या और सस्कृति को अवश्य प्रोत्साहन दिया था। अनेक विद्वान् उसके काल मे थे और नाटककार कालिदास भी उसी समय मे विद्यमान था।

भारतवर्ष का अतीत काल जैसा महान् और उज्ज्वल था, वैसा ही भविष्य भी महान् और उज्ज्वल होने वाला है। भिन्न-भिन्न सास्कृतिक प्रदेशो के अखिल भारतीय सघ के रूप मे, भिन्न-भिन्न सुन्दर क्यारियो के उद्यान की भाति हमारा यह देश—यही विक्रमादित्य और विक्रमादित्यो का देश—फिर उच्च और गौरवशाली होने वाला है। हमारे पूवजो की कीर्ति जो आज हमारे अज्ञान के कूडे-करकट मे दबी पडी है, सच्चे तेज और चमक के साथ चमकेगी, और भारतीय सभ्यता का सच्चा उत्थान होगा।

जनता का विक्रम

□ श्री सम्पूर्णानन्द

विक्रमादित्य कौन थे, उनके राज्य का विस्तार कितना था, उनके जीवन मे कौन-सी मुख्य-मुख्य घटनाए हुई, उन्होंने कभी अश्वमेध किया या नही, उनका शासनकाल किस वर्ष से किस वर्ष तक था, उनकी परिपद कौन-कौन से विद्वान् सुशोभित करते थे—ये सब प्रश्न महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु इनका महत्त्व विद्वानो के लिए है। साधारण भारतीय, वह भारतीय, जिसका सामूहिक नाम 'जनता' है, इन बातो को नही जानता। उसने इन प्रश्नो को अब तक नही सुना है, सुनकर उसे इनमे कुछ विशेष रस भी नही आ सकता। वह जिस विक्रमादित्य, जिस राजा 'बिकरमाजीत' से परिचित है, उनका व्यक्तित्व ऐतिहासिक विक्रमादित्य से बहुत बडा है। जनश्रुति और सिंहासन-बत्तीसी के विक्रमादित्य ऐतिहासिक खोज की अपेक्षा नही करते। यदि देश-विदेश के विद्वान् मिलकर यह व्यवस्था दे दें कि इस नाम या उपाधि का कोई भी नरेश नही हुआ तब भी लोकसूत्रात्मा जिस विक्रमादित्य को जानती मानती है, उनकी स्मृति सुरक्षित रहेगी। इसका कारण स्पष्ट है। जनता के विक्रमादित्य व्यक्ति नही हैं, वे कई विचारो, कई आदर्शों के प्रतीक हैं।

जनता के विक्रमादित्य आदर्श भारतीय नरेश थे। आदर्श नरेश मे प्राय वे सब गुण होते हैं, जो हीगेल के मत के अनुसार राजसत्ता म पाये जाते है या या कहिए कि आदर्श राजसत्ता मे पाये जाने चाहिए। वह जनता के उत्तम 'स्व' का प्रतीक होता है। मनुष्य से भूल होती ही है, उसका राग-द्वेष, उसका अधम 'स्व' उसको नीचे खीचता है, इसलिए उसे दण्डित होना पडता है परन्तु यदि राज की ओर से समुचित, निष्पक्ष, व्यक्तिगत प्रतिहिंसा आदि भावो से अरजित न्याय होता है तो अपराधी का उत्तम 'स्व' दण्ड की न्यायता को स्वीकार करता है। दण्ड पाना, कष्ट भोगना, किसी को अच्छा नही लगता परन्तु वास्तविक न्याय करने वाले के प्रति द्वेष नही होता। एक अव्यक्त भावना रहती है कि यह

दण्ड भी मेरे भले के लिए दिया जा रहा है। न्यायमूर्ति राजा भी मां-बाप की भांति गुरुजनो मे गिना जाता है। हीगेल के सिद्धान्त के अनुसार राज-सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित होने से व्यक्ति के 'स्व' की पूर्णता और पूर्णाभिव्यक्ति होती है। मैं इस राज का अवयव हूं, मैं इसका हूं, यह मेरा है, ऐसी अनुभूति से अपने मे एक विशेष प्रकार की वृद्धि-सी प्रतीत होती है। राज के सुख-दुख, वैभव मे अपना सब कुछ खोकर मानव परिवर्द्धित हो जाता है, राज की महत्ता अपने मे आरोपित हो जाती है। राज की आज्ञा भार की जगह कर्त्तव्य हो जाती है और उसके लिए जो कुछ त्याग करना पडता है वह सुखद बन जाता है। भारतीय जनता राम, कृष्ण, अर्जुन, युधिष्ठिर, भोज और विक्रम के प्रति ऐसा ही भाव आज भी रखती है। उसके लिए विक्रमादित्य एक राजा मात्र न थे। वे उसके अपने राजा थे, वह आज भी उनके सुख की कथा सुनकर सुखी, उनके दुख से दुखी होती है, उनके बल, विक्रम, वैभव, बुद्धि पर गर्व करती है। तोप, वायुयान, टैंक और महापोत के स्वामी किसी सम्राट् या अधिनायक को उनके बराबर मानने को तैयार नही है। और लोग बलवान् होगे, शासन करते होंगे, अपनी आज्ञाओ को मनवा लेने की सामर्थ्य रखते होगे, परन्तु विक्रमादित्य मे जो अपनापन जान पडता है वह अन्यत्र नही मिलता।

आदर्श भारतीय राजा आदर्श हीगेलीय राज से कुछ बातों मे अधिक ऊंचे स्तर पर होता है। एक तो राजा चेतन होता है, राज जड होता है। जड सत्ता के प्रति वैसा आदर, वैसा स्नेह नही हो सकता जैसा व्यक्ति के प्रति होता है। व्यक्ति के साथ जैसा आदान-प्रदान, जैसा विचार-विनिमय हो सकता है वैसा जड़ संस्था के साथ नही हो सकता। लोकतन्त्रात्मक शासन और समाचार पत्रो के अभाव मे इस प्रकार के सम्बन्ध की आवश्यकता बहुत बढ जाती है। यदि प्रजा-जन की पहुच राजा तक न हो, यदि वह उससे खुलकर बात न कर सके, यदि वह स्वय उनके सुख-दुख की सक्रिय खोज न करता रहे और उनके विचारो को जानने के लिए समुचित प्रबन्ध न करता रहे तो शासन शिथिल पड जायगा। विक्रम उन नरेशो मे थे जिनके शरीर मे भारतीय जनता अपने इस आदर्श को मूर्त मानती है। ऐसा विश्वास है कि विक्रम और उनकी प्रजा मे पूरा स्नेह था, प्रजा को उनसे अपने मन की बात कहने का पूरा अधिकार था, वे जन-मत जानने के लिए इच्छुक रहते थे और उसके अनुसार ही आचरण करते थे। भारतीय नरेश मे दूसरी बात यह होती थी कि वह धर्म का रक्षक होता था। ऐसा माना जाता है कि आदर्श नरेशो के मस्तक पर देवगण का वरद हाथ रहता था और सिद्ध, योगी, विद्याधर, वेताल, भैरव तथा विनायक हर काम मे उनकी सहायता किया करते थे। ऐसे नरेशो के साथ सहयोग करने से ऐहिक के साथ-साथ आत्मिक लाभ भी था, विक्रम सम्बन्धी कहानियों से इस विश्वास की पर्याप्त

पुष्टि होती है ।

विक्रम की गाथा की रचना का श्रेय कवियो को कम, जनता को अधिक है। विक्रमादित्य उपाधिधारी कोई ऐतिहासिक राजा रहा होगा, परन्तु यदि कोई ऐसा व्यक्ति न होता तो जनता किसी कल्पित राजा की सृष्टि करके उसको अपने आदर और स्नेह की माला पहिना देती । उसकी आत्मा तृषित थी और है, किसी ऐसे व्यक्ति को पाये या बनाये बिना उसको चैन नही मिल सकता था ।

भारतीय, मुख्यत हिन्दू-आत्मा की अतृप्ति का कारण सास्कृतिक और राजनीतिक है। भारत आज सैकडो वर्षों से परतन्त्र है। पठान और मुगल काल समस्त देश की दृष्टि से पराधीनता का युग भले-ही न रहा हो परन्तु यह मानना ही होगा कि हिन्दू दबा हुआ था। राजा मुसलमान था, शासन का सूत्र जिन लोगो के हाथ मे था वे केवल इस्लाम धर्म के अनुयायी ही न थे वरन् या तो विदेशी थे या उनके कुछ ही पीढियो पहले के पूर्वज विदेश से आये थे। हिन्दू मन्दिर ध्वस्त किये जाते थे, जो बच रहे थे वे शासको की घृणा-मिश्रित दया या उपेक्षा-दृष्टि के सहारे खडे थे। राजभाषा विदेशी थी; पण्डितो की जगह उलमा का समादर था; बातचीत, वेश-भूषा, शील, आचार, सब पर विदेशी छाप पडती जाती थी। हिन्दू की आत्मा त्रस्त, दलित, सकुचित हो रही थी। आज भी वही दशा है, अन्तर केवल इतना है कि जो अवस्था पहले केवल हिन्दुओ की थी, वह आज सारे समाज की है। इस मानस अवस्था को यदि कोई एक शब्द व्यक्त कर सकता है तो वह इच्छाभिघात है। भारतीय फैल नही सकता, जिधर बढ़ना चाहता है उधर ही उसकी इच्छा अभेद्य दीवार से टकराकर चूर्ण हो जाती है।

ऐसी दशा मे आपन्न जाति या तो मर जाती है या फिर अपने अतीत के सहारे जीती है। भारत के भाग्य अच्छे हैं, उसे जीना है, इसलिए उसके अतीत ने उसे सभाल लिया। राष्ट्रीय आत्मा की परख अचूक होती है; वह अतीत मे से उन्ही तत्त्वो को पकडती है जो बल देने वाले, उभारने वाले होते हैं। महाभारत के नायक चिरस्मरणीय व्यक्ति थे, महाभारत निकटतर भी है, परन्तु महाभारत गृहकलह और अपने हाथो अपना सर्वनाश ही तो सिखलाता है। वह लोकप्रिय न हुआ। जनता ने रामायण को अपनाया। उसमे अपने विजय, साम्राज्य-स्थापन, उत्कर्ष की कथा है। हम आज पतित हैं, परन्तु सदा ऐसे न थे, कभी हम भी बडे थे, पृथ्वी पर सम्मान के पात्र थे, रामायण के द्वारा यह भावना हृदयो मे अवतरित होती है और उनको शान्ति देती है।

यही चीज विक्रम की गाथा मे है। राम मनुष्य थे, विष्णु के अवतार भी थे। उनका देवत्व भुलाया नही जा सकता। विक्रम सर्वत मनुष्य थे। उनका जीवन मनुष्य का जीवन था, उनका चरित्र मनुष्य का चरित्र था, उनका सुख-दु ख मनुष्य का सुख-दु ख था। उनके शरीर मे भारत का साधारण मनुष्य अपने को

देखता है, परन्तु को आज के रूप मे नही, प्रत्युत उस रूप मे जिसमे वह होना चाहता है। विक्रम भारत के गौरव, उत्कर्ष, धर्म, त्याग, वैभव और ज्ञान के प्रतीक हैं। उनकी चर्चा करते समय जनता को अपने अतीत की एक झलक देख पड जाती है और अनागत की आशाए फिर हरी हो उठती हैं। न यह झलक व्यक्त होती है, न यह आशाए। यदि ये व्यक्त होती, यदि इनको स्पष्ट शब्दो मे बताया जा सकता तो फिर यह राजनीति के थोडे से विद्वानो की विचार-सामग्री होकर रह जाती। अव्यक्त होने के कारण ही इनका स्थान जनता के दिलो मे है। जब तक भारतीय सस्कृति फिर अपना सिर नही उठा लेती तब तक जनता के विक्रम का स्थान कोटि-कोटि भारतीयो के हृदयो मे सुरक्षित है। इसके बाद इतिहास-वेत्ताओ को अधिकार है, विक्रम की सत्ता को रक्खें या मिटाए।

विक्रम—हमारा अग्नि-स्तम्भ

□ श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी

यूरोपीय इतिहास के कैसर, जार अथवा सीजर की भाँति ही विक्रमादित्य का नाम भी हमारे इतिहास में आकर्षण रखता है। महत्त्वाकांक्षी राजाओं ने उसके नाम से बढ़कर अन्य किसी पदवी को धारण करने की इच्छा नहीं की। गुजरात के सिद्धराज जयसिंह की भाँति अनेक शासक उसके पराक्रम का अनुकरण करने में ही अपने जीवन को खपा गए थे। क्या दिल्ली के अन्तिम हिन्दू शासक के विक्रमादित्य पद ने ही उसे उस विदेशी से, जो मातृभूमि को दासता के बन्धन में जकड़ना चाहता था, युद्ध करने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया था?

वह क्या बात है जिसके कारण इस द्वि-सहस्राब्दी के अवसर पर सम्पूर्ण भारतवर्ष राष्ट्रीय त्योहार मना रहा है? वह कौन-सी भावना है जो हमें उस अविस्मरणीय वीर को पुनः दैवी श्रेणी में रखने के लिए प्रेरित कर रही है?

विदेशियों की दासता के बन्धन में जकड़े हुए हम लोगों के लिए विक्रमादित्य केवल एक ऐतिहासिक स्मृति अथवा एक गौरवशाली नाममात्र ही नहीं है प्रत्युत इससे कुछ अधिक है। वह भारतीय एकता का प्रतीक है, वह चक्रवर्ती हमारी राष्ट्रीय आकांक्षाओं का प्रतिनिधि है। हमारे लिए वह 2000 वर्ष की राष्ट्रीय स्मृति, अतीत गौरव, वर्तमान की स्पृहा भविष्य की लालसा तथा राजनीतिक शक्ति की महत्ता, राष्ट्रीय स्वाधीनता, सामाजिक एकता एवं सांस्कृतिक ऐश्वर्य का सम्मिश्रण है।······

मगध का असुर राजा जरासन्ध कृष्ण द्वारा पराजित हुआ और उसका देश आर्यावर्त में सम्मिलित हो गया। परन्तु पराजित मगध ने अपने विजेताओं पर फिर विजय प्राप्त की। इसके बाद शिशुनागवंशी राजा (ईसा से लगभग 700 वर्ष पूर्व) भारत के चक्रवर्ती राजा हुए हैं। बुद्ध ने धर्म का प्रतिनिधित्व करने वाले सार्वभौम व्यक्तित्व के भाव को बहुत उन्नत किया। यद्यपि उनका प्रभाव *कृष्ण की भाँति तनिक भी राजनीतिक शक्ति पर आश्रित न था। साम्राज्यवादी* शक्ति के देशव्यापी रूप का निर्माण तब हुआ जब चक्रवर्ती मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त (लगभग 325-301 ईसवी पूर्व) तथा शक्तिशाली राजकीय सूत्रों के शिल्पी

कौटिल्य इस भावना को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए मिले कि भारतवर्ष, जो सास्कृतिक दृष्टि से एक है, राजनीतिक दृष्टि से भी एक है। परन्तु भारत का वह स्वप्न उस समय पूरा हुआ जब चन्द्रगुप्त के पौत्र अशोक पाटलिपुत्र की गद्दी पर बैठे। शक्ति-चक्र और धर्म चक्र दोनो का सचालन एक ही हाथ से होता था। यह स्वप्न, जो इतनी सुन्दरता से पूरा हुआ था, आगे चलकर हमारी प्राचीन सस्कृति की एक मूल भावना ही बन गया। हमारे राष्ट्रीय मस्तिष्क मे यह भावना बद्धमूल हो गई कि एक जीवन के अन्तिम लक्ष्य और उद्देश्य की प्राप्ति के लिए धर्म का गठबन्धन अखिल भारतीय राजनीतिक शक्ति से होना आवश्यक है। इस समय राष्ट्रीय मस्तिष्क विक्रमादित्य के विचार को ग्रहण करने के उपयुक्त हो गया।···

शिशुनाग द्वारा स्थापित मगध का वैभव-पूर्ण साम्राज्य ईसा के 79 वर्ष पूर्व तक रहा। उसन भारत को सामाजिक सगठन की एकता और सास्कृतिक दृष्टि प्रदान की। किन्तु मगध की शक्ति का ह्रास हुआ। बख्तर, यवन, पह्लव, यूची आदि बर्बर जातिया भारत मे घुस आई। इसके पश्चात् इस वीर विक्रमादित्य का आगमन हुआ। उसके पराक्रम के विस्तृत विवरण हमे ज्ञात नही परन्तु उसने उन बर्बर जातियो को पूर्णरूपेण खदेड दिया, दमन किया और उनको आत्मसात् कर लिया। यह महान् कार्य था जो भारत के राष्ट्रीय मस्तिष्क मे अमर ज्वाला के अक्षरो मे अकित है।···

परशुराम अवतारी पुरुष थे। उन्होने धर्म के शत्रुओ का नाश किया। परन्तु वे अपनी उग्रता के कारण प्रिय न बन सके। श्रीकृष्ण भी अवतारी पुरुष थे। उन्होने भी धर्म का पक्ष लिया था पर उनके लिए सिर पर राजमुकुट नही था। अशोक ने भी धर्म का पक्ष लिया परन्तु उन्हे सुरक्षित साम्राज्य 'पैतृक' सम्पत्ति के रूप मे प्राप्त हुआ था। यह सौभाग्य केवल विक्रमादित्य को प्राप्त हुआ कि वे जनता के सर्वाधिक प्रियपात्र अपनी मानवता के नाते बन सके। उन्होने बर्बर जातियो को मार भगाया और शक्तिशाली राजशक्ति की स्थापना की। कला और साहित्य को प्रोत्साहित किया, धर्म की रक्षा की और सबसे अधिक उन्होने पीडितो एव सहायतार्थियो का प्रतिपालन किया। उनमे परशुराम, श्रीकृष्ण, बुद्ध और अशोक की उज्ज्वल स्मृतिया का अद्भुत सम्मिश्रण था। वे अपने मानवोचित अतएव प्रिय गुणो के कारण हम लोगो के अत्यधिक प्रिय हैं। विक्रमादित्य तभी से राष्ट्र के प्रिय बन गए।

(भाषण से उद्धृत)

गुजराती साहित्य में विक्रम

☐ दीवान बहादुर श्री कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी

विक्रम-संवत् की द्वि-सहस्राब्दी पर उत्सव के आयोजन के विचार की उत्पत्ति के साथ ही यह प्रश्न सम्पूर्ण देश के विवेचन का विषय बन गया है कि क्या इस सवत् के प्रवर्तक का अस्तित्व वास्तव मे कभी रहा है ? और यदि रहा है तो इस नाम का कोई एक सम्राट् हुआ है अथवा एक से अधिक ? और वह कोई काल्पनिक व्यक्ति था अथवा वास्तविक, और यह प्राकृतिक है कि गुजराती लेखक भी इस पर विचार करने मे सलग्न हों। शास्त्री रेवाशकर मेघजी पुरोहित नामक सस्कृत के विद्वान् पडित उनमे से एक हैं और उन्होने ऐतिहासिक तथा पौराणिक उदाहरण उद्धृत करते हुए यह तथ्य स्थापित किए हैं—(1) विक्रमादित्य का अस्तित्व सम्राट् के रूप म रहा है, (2) उसकी राजधानी मालवान्तर्गत उज्जयिनी थी, (3) उसने ईसवी पूर्व 57 से पहले विक्रम सवत् का प्रवर्तन किया, तथा (4) यह सवत् युधिष्ठिर द्वारा प्रवर्तित सवत् के समाप्त होने पर प्रचलित किया गया। इसके अतिरिक्त उन्होने यह भी सिद्ध किया है कि यह सवत् मालव[1] सवत् के नाम से भी प्रसिद्ध था।

प्राचीन गुजराती साहित्य मे शासक के रूप मे विक्रम की अनेक विशेषताओ मे हारू-उल-रशीद की भाति उसके साहसपूर्ण कार्यों का वर्णन भी मौलिक रूप मे नही वरन सस्कृत से अनूदित रूप मे किया गया है। जहा तक मराठी साहित्य का सम्बन्ध है वैताल पच्चीसी के पाठ का आधार मूल सस्कृत का हिन्दी अनुवाद था,[2] तथापि कवि सामल (विक्रम सवत् 1774-1821) द्वारा गुजराती मे लिखित वैताल पच्चीसी अधिक प्राचीन थी। इसके छन्दो की रचना सन् 1719

---

1. 'शक-प्रवर्तक, पर-दुख-भजन महाराज विक्रमादित्य' पृष्ठ 6 से 9 तक 'गुजराती' का दीवाली-अक (24 अक्टूबर 1943 आपाढ वदी राम एकादशी, सवत् 1999)।
2. किकणी टेल्स ऑफ विक्रम (1927), भूमिका।

तथा 1729 के बीच मे हुई। इस ग्रन्थ की रचना करने मे कवि को दस वर्ष लगे। इसका मराठी रूपान्तर सन् 1830 मे किया गया। इस प्रकार गुजराती रूपान्तर लगभग एक शताब्दी अधिक प्राचीन था।

इसका रचयिता और इसका नाम 'सिंहासन बत्तीसी' अथवा सिंहासन की बत्तीस कहानिया रखनेवाला कवि सामल अठारहवी शताब्दी मे प्राचीन गुजराती साहित्य के तीन ज्योतिर्मय स्तम्भो मे से एक था और आख्यानकारो का शिरोमणि माना जाता था। वह सस्कृत से पौराणिक उपाख्यानो का अनुवाद करके उनको गाकर सुनाता था। उस काल मे असस्कृतज्ञ श्रोताओ के बीच सस्कृत श्लोक के स्थान पर देशभाषा मे आख्यान गाकर सुनाने की यह प्रणाली गुजरात मे बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुई थी।

सामल व्रजभाषा जानते थे, फिर भी उन्होने सस्कृत पाठ[1] को ही अपना आधार बनाया और उन्होने जहा चाहा परिवर्तन भी कर दिए।

सामल के रचनाकाल मे कविताओ के कथानको का आधार शास्त्रो से ग्रहण करने की कवियो मे प्रथा थी। कल्पना-प्रसूत रचनाए निषिद्ध मानी जाती थी। इस कारण सामल को अपनी रचना मे धार्मिकता का पुट देना पड़ा।

सामल की कहानियो ने देश के भीतरी भाग मे भी प्रवेश प्राप्त किया था। उसकी कहानियों ने केरा जिले मे राखीदास नामक एक धनी जमीदार का ध्यान आकर्षित किया। वह विद्या का सरक्षक था। उसने सामल को बुलवाया, अपने साथ रहने को उसे आमत्रित किया तथा उसके भरण-पोषण के निमित्त कुछ भूमि भी प्रदान की। इस उपहार के बदले सामल ने राखीदास का नाम अमर कर दिया और उसे भोज के समकक्ष बना दिया। सामल की प्रत्येक रचना मे उसकी अत्यधिक प्रशसा है।[2]

सामल के जीवन का उद्देश्य उपदेशात्मक था। लोकप्रिय भाषा मे लिखित तथा पठित कहानियो तथा उपाख्यानो द्वारा वह जनसाधारण को अनियमित, अनैतिक तथा निरानन्द जीवन से दूर ले जाकर सदाचार के मार्ग पर ले जाना चाहता था, इसके लिए उसने प्रत्येक सहायक साधन को ग्रहण किया। सम्राट् विक्रमादित्य को वह सदैव 'पर-दु ख-भजन' के नाम से पुकारता है और उसके साहसपूर्ण कार्यो का वर्णन करने वाली आख्यायिकाए उसके उपर्युक्त उद्देश्य की सिद्धि के लिए

---

1. 'सिंहासन बत्तीसी' ले० अम्बालाल बी० जैन, बी० ए०, प्रथम भाग 1926, पृ० 3—जहा कवि कहता है कि उसने अपने प्राकृत मे रचे ग्रथ के लिए सस्कृत को आधार बनाया है।
2. Mile-stones in Gujrati Literature—ले० कृ०मो० झवेरी, पृ० 97 प्रथम सस्करण 1914।

उपयुक्त ज्ञात हुई, अन उसने दस वर्ष पर्यन्त उन्हे उचित तथा लोकप्रिय रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया।

वह विक्रम का जन्म तथा उसके साहसपूर्ण कार्यों का उल्लेख सक्षेप अथवा विस्तार रूप से विभिन्न स्थानो पर करता है, जिसमे कुछ इस प्रकार हैं—

वह विक्रम का वश-क्रम गन्धर्वसेन म वतलाता है जिसने त्र्यम्बकसेन की लडकी म विवाह किया। गन्धर्वसन रात्रि को देवता का रूप तथा दिन मे गधे का रूप धारण कर लेता था। एक दिन गधे का चर्म उसकी सास द्वारा जला दिया गया, और परिणामस्वरूप नगर के विनाश के रूप मे आपत्ति आई। रानी, जो उस समय गभवती थी, भागी और उसने एक ऋषि के आश्रम मे आश्रय लिया। जहा उसन एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम विको रखा गया। उसने उज्जैन मे वेताल पर विजय प्राप्त की और उस स्थान का राजा हो गया तथा अन्तत उसने भरत खण्ड पर एक-छत्र सम्राट् के रूप म शासन किया।[1] आगे नन्दा नाम की पुतली के मुख से कहलवाया गया है—सुनो राजा भोज! यह उस *राजा विक्रमादित्य का सिहासन है जिसका नाम 'पर-दुख-भजन' है।* वह इन्द्र के पास से आया है, वह शूरवीर है तथा धैर्यवान भी है। उसने चक्रवर्ती के रूप मे शासन किया तथा एक सवत् प्रचलित किया, वह सभी स्त्रियो के लिए (अपनी स्त्री के अतिरिक्त) भाई के समान था और वह नारायण का भक्त था। उसन ससारभर को मुक्त कर दिया और उसके राज्य म अहर्निश आनन्द ही आनन्द छाया रहता था।[2]

उसकी उदारता का वर्णन करने के लिए 'अहरनी अवनीकारी' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। 'अहरनी' शब्द वास्तव म ऋणी है। यह आख्यायिका प्रचलित है कि आश्विन मास के अन्तिम दिन वह अपनी समस्त प्रजा को एक साथ बुलाता था और अनुसन्धान के पश्चात् ऋणी होने वाले प्रत्येक व्यक्ति को ऋणमुक्त कर देता था, जिससे प्रत्येक मनुष्य नव वष के दिन कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा स अपनी-अपनी आय व्यय पुस्तक को, जहा तक आरम्भ का सम्बन्ध है, बिना लिखे से प्रारम्भ कर सके। यही कारण है कि विक्रम-सवत् का नया वर्ष कार्तिक पृष्ठ शुक्ला प्रतिपदा मे प्रारम्भ होता है।

पीढ भी एक आख्यायिका[3] म उसने विक्रम की उत्पत्ति तथा उसके राज्य वर्णन व विकास एव विस्तार के लिए तीन पृष्ठ लिखे हैं। यहा उसने विक्रम

1 सिहासन वत्तीसी, भाग 1, ले० अम्बालाल बी० जैन, बी० ए० (1926) पृ० 5, प्रथम आख्यायिका।

2 वही, पृ० 25-26।

3 वही, पृ० 160-63, चतुर्थ कथा।

के भाई भर्तृहरि का उल्लेख भी किया है, जो अन्तत सन्यासी हो गया था।

विमला नाम की पुतली द्वारा कही गई दशम आख्यायिका, जो गन्धर्वसेन की आख्यायिका कही जाती है[1] इस कहानी से भिन्न है। उसमे विक्रम के जन्म तथा राज्य का सविस्तार वर्णन है। इसमे प्रभाव को, जो पीछे मे विक्रम का सचिव हुआ, उसका भाई बना दिया है। उनकी माता अम्बक पाडया अम्बकवती मे रहती थी जो भूकम्प द्वारा विनष्ट हो जाने के पश्चात् पुनर्निर्मित होने पर खेम्भे (खम्भायत) के नाम मे प्रसिद्ध हुई। प्रत्येक सवत् का वर्ष-चक्र प्रभव[2] के नाम से प्रारम्भ होता है। अपने वशीकृत वैताल से उसने यह जान लिया था कि वह 135 वर्ष 7 मास 10 दिवस तथा 15 घडी तक जीवित रहेगा। सम्भवत यह समय पैठण के शालिवाहन (विक्रम सवत् के 135 वर्ष पश्चात्) के सवत् के प्रारम्भ के समकालीन होने से विक्रम का जीवन इतना रखा गया है।

विक्रम के जीवन तथा राज्य का और भी भिन्न रूप सामल की वैताल पच्चीसी नामक रचना मे प्राप्त होता है, जो बत्तीस कहानियो की अपेक्षा अधिक विस्तृत रचना मे सम्मिलित है। कहानी के भूमिका भाग मे वह राजा भोज के शासन का यशोगान करता है और कुछ आगे चलकर पचदण्ड के छत्र का वर्णन करता है तथा यह बतलाता है कि विक्रम ने कैसे और किन परिस्थितियो मे जन्म लेकर राज्य किया।[3]

राजा विक्रम के शौर्य, औदार्य तथा अन्य सद्गुणो के साथ उसकी राजधानी का वर्णन एक अन्य स्थान पर भी प्राप्त होता है।[4]

जहा तक धार्मिक गुणो का सम्बन्ध है, सामल श्रीमद्भागवत्, रामायण तथा विक्रम-चरित को समान मानता है। वह विक्रम-चरित को भी परमार्थ और पुण्य से ओतप्रोत पाता है।[5]

---

1. सिंहासन बत्तीसी, भाग 1, ले० अम्बालाल बी० जैन, बी० ए०, (1926), भाग 2, पृ० 501-540।
2 (1) कालिदास का ज्योतिर्विदाभरण (2) 'गुजराती' प्रेस बम्बई द्वारा प्रकाशित पचाग।
3 बृहत् काव्यदोहन, भाग 6, पृ० 491-92, गुजराती प्रेस बम्बई द्वारा प्रकाशित।
4 कवि दलपतराय कृत काव्यदोहन, द्वितीय माला (1805)।
5. भगवानलाल बी० जैनी कृत सिंहासन बत्तीसी का भाग 2, पृ० 570।

इस प्रकार विक्रम ने प्राचीन गुजरात के अत्यन्त विश्रुत कवियो मे से एक की लेखनी द्वारा प्रत्येक गुजरात निवासी के हृदय मे अमिट स्थान प्राप्त कर लिया है और उसके हृदय मे विक्रम-प्रवर्तित सवत् की पुण्यस्मृति उस समय सजीव हो जाती है जब वह अपने दैनिक जीवन एव कार्यों को सब कालो के सर्वश्रेष्ठ गुण-सम्पन्न एव एक शूर सम्राट् द्वारा प्रवर्तित सवत् के वर्षों द्वारा नियन्त्रित करता है।

चीनी साहित्य मे विक्रम

□ श्री विश्व-पा (फा चेंउ)

प्राचीन भारत के सर्वश्रेष्ठ शक्तिशाली और महान् शासको मे, जिन्होंने अपने आदर्श एव शौर्यपूर्ण कार्यों से आर्य सस्कृति और सभ्यता को गौरव प्रदान किया तथा देशवासियो का ध्वस करने वाले विदेशी आक्रमणकारियो को खदेड दिया, हमारे मत से विक्रमादित्य सबसे अधिक स्तुति एव प्रशसा के पात्र हैं। ये महान् शासक राष्ट्र-प्रेम तथा देश प्रेम से ओत-प्रोत थे। उन्होंने अपने अद्वितीय सैन्य-सामर्थ्य से केवल सीथियनो को ही बाहर नहीं निकाल दिया था और न केवल सम्पूर्ण भारतवर्ष को ही एक सूत्र मे बाध दिया था, वरन् अपने तीव्र उत्साह और गुण-ग्राहकता द्वारा वे धर्म, कला तथा साहित्य के सरक्षक एव आश्रयदाता भी बने थे। इन महान् सम्राट के सुशासन एव सर्वोच्च नेतृत्व मे देशवासियों ने धर्म-राज्य के शान्तिदायक वैभव तथा सौख्य का पूर्ण उपभोग किया था। यही कारण है कि जब चीनी यात्री शुआन्-चुआँड् 630 ईसवी मे बुद्ध-धर्म की उच्च-शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से भारत मे आया, तब उसने इनकी उदार कृतियो के सम्बन्ध मे बहुत कुछ सुना और उसे अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'सी-यू-की' अथवा 'पश्चिमी साम्राज्यो के बुद्ध-धर्म सम्बन्धी सस्मरण' मे लिखा। उस ग्रन्थ से हमे ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य कितने उदार थे। वे अपनी धन-राशि निर्धनो एव भिक्षुकों को अत्यन्त मुक्त हस्त होकर वितरित किया करते थे। अपने सुख अथवा भोग-विलास के लिए एक पैसा भी बचा रखने की चिन्ता वे नही करते थे। निम्नलिखित अवतरण से हमे उनके सम्बन्ध मे स्पष्ट विवरण प्राप्त होता है—

> 'उस समय श्रावस्ती के महाराज विक्रमादित्य का यश दूर-दूर तक फैला हुआ था। उन्होंने अपने अमात्यो को सम्पूर्ण भारतवर्ष मे पाच लक्ष स्वर्ण-मुद्राए प्रतिदिन वितरित करने की आज्ञा दी थी और वे प्रचुर रूप से (सर्वत्र) निर्धन, अनाथ तथा पीडितो की आवश्यकताए पूरी करते थे। साम्राज्य के साधनक्षीण होने के भय से महाराज के कोषाध्यक्ष ने स्थिति उनके समक्ष उपस्थित की और कहा, 'महाराज! आपका यश आपकी निम्नतम

प्रजा तक पहुच गया है और उसका विस्तार पशु-सृष्टि तक हुआ है। आप निखिल-ससार के निर्धनो की सहायता के अर्थ (अपने व्यय मे) पाच लक्ष स्वर्ण मुद्राओ की वृद्धि करने की आज्ञा देते हैं। इस प्रकार आपका कोष रिक्त हो जाएगा, तब कृषको पर नवीन कर लगाने पड़ेंगे, अन्तत जिनका परिणाम भूमि का चरम शोषण होगा और फिर असन्तोष का घोष सुनाई देगा तथा शत्रुओ को उत्तेजना मिलेगी। यह सत्य है कि सम्राट् दानशीलता का यश अर्जित करेंगे, परन्तु आपके अमात्य सबकी दृष्टि मे सम्मान खो देंगे।' महाराज ने उत्तर दिया, 'किन्तु मैं अपनी निज की बचत मे से निर्धनो की सहायता की इच्छा करता हू। मैं किसी कारण से भी अपने निजी लाभ के लिए बिना विचारे देश पर भार नही डालूगा।' तदनुसार उन्होने निर्धनो के लाभ के लिए पाच लक्ष की वृद्धि की।[1]

किन्तु उनके शासनकाल मे एक दु खद घटना घट गई। प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु के आचार्य महातपस्वी मानोर्हित का देहावसान उस समय हो गया, और यह समझा जाता है कि इस तपस्वी की मृत्यु म विक्रमादित्य कारणभूत थे। विक्रमादित्य के प्रशसको और जीवनी लेखकों के लिए निम्न घटनाए कुछ आकर्षक होगी—

इसके कुछ समय पश्चात्[2] ये महाराज वाराह की मृगया मे व्यस्त हुए। मार्ग भटक जाने पर उन्होने एक व्यक्ति को मार्ग-निर्देश करने पर एक लक्ष मुद्राए प्रदान की। इधर शास्त्रो के आचार्य मानोर्हित ने एक व्यक्ति से क्षौर कराया और उसे इस कार्य के लिए तत्काल एक लक्ष स्वर्ण मुद्राए दे दी। इस उदार कार्य का उल्लेख प्रधान इतिहासकार द्वारा इतिवृत्त मे किया गया। महाराज इसे पढकर लज्जित हुए, उनका अभिमानी हृदय इससे निरन्तर व्यथित होने लगा और इसीलिए उन्होने मानोर्हित पर दोपारोपण कर दण्डित करने की इच्छा की। इस उद्देश्य से उन्होने विद्वत्ता की श्रेष्ठ कीर्ति वाले सौ विभिन्न धार्मिक व्यक्तियो की एक परिषद की घोषणा की और यह आदेश दिया कि 'मैं विभिन्न (भ्रान्त) मतो को नियन्त्रित और वास्तविक (शास्त्रार्थ की) सीमाओ का निर्धारण करना चाहता हू। विविध धार्मिक सम्प्रदायो के मत इतने विभिन्न हैं कि किस पर विश्वास किया जाय—मस्तिष्क यह नही जान पाता। अत आज अपनी अधिकतम योग्यता मेरे आदेशो के पालन म लगा दीजिए।' शास्त्रार्थ के लिए मिलने पर उन्होने दूसरा आदेश दिया कि नास्तिक मत के आचार्य

---

1 'बुद्धिस्ट रिकॉर्ड ऑव दी वेस्टर्न वर्ल्ड' भाग 1, पृ० 107-108, एस० बीलकृत अंग्रेजी अनुवाद।

2. ऊपर अवतरित घटनाओ के पश्चात्।

अपनी योग्यता के लिए विश्रुत हैं। श्रमण तथा बौद्ध मतावलम्बियों को उचित है कि वे अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को भली प्रकार से देख लें। वे विजयी होकर बौद्धमत को समादर प्राप्त कराएंगे, किन्तु पराजित होने की दिशा में उनका उन्मूलन कर दिया जायगा।' इस पर मानोर्हित ने नास्तिकों से शास्त्रार्थ किया और उनमें से 99 को निरुत्तर कर दिया। अब एक नितान्त अयोग्य व्यक्ति उनके लिए शास्त्रार्थ को बिठाया गया तथा महत्त्वहीन वाद-विवाद के लिए (मानोर्हित) ने अग्नि तथा धूम का विषय प्रस्तुत किया। इस पर महाराज तथा नास्तिकों ने यह कहकर कोलाहल किया कि शास्त्रों का आचार्य मानोर्हित वाग्व्यवहार में भ्रान्त हो गया है। उसे पहले धूम तथा पीछे अग्नि कहना चाहिए था। वस्तुओं का यह स्थिर क्रम है।' कठिनाई का स्पष्टीकरण करने के इच्छुक मानोर्हित को एक शब्द भी सुनाने का अवसर नहीं दिया गया। इस पर लोगों के अपने साथ किए गए ऐसे व्यवहार से लज्जित होकर उन्होंने अपनी जिह्वा दांतों से काट डाली और अपने शिष्य वसुबन्धु को इस प्रकार उपदेश लिखा, 'दुराग्रही व्यक्तियों के समूह में न्याय नहीं होता, मूढ़ व्यक्तियों में विवेक नहीं होता।' इस प्रकार लिखने के पश्चात् उनकी मृत्यु हो गई। यह घटना वास्तव में शोचनीय है, परन्तु हम यह समझ सकते हैं कि संभवतः महाराज विक्रमादित्य का यह अभिप्राय नहीं था।[1]

यहां यह कहना असम्बद्ध न होगा कि चीनी भाषा में विक्रमादित्य का नाम 'छॉव् जिर्' है, जिसका अर्थ है विक्रम (विक्रमण करना, ऊपर निकालना) + आदित्य।

1 यह अधिक सम्भव है कि यह दन्तकथा शुआँन-त्सुआँङ् के समय में साम्प्रदायिक कारणों से प्रचलित की गई हो और यह निश्चय ही संवत्-प्रवर्तक उज्जयिनी-नाथ विक्रमादित्य से सम्बन्धित नहीं है, यह तो श्रावस्ती के महाराज की कथा है।—सं०।

जैन साहित्य में विक्रम

□ डॉ० बनारसीदास जैन

महाराज विक्रमादित्य का नाम भारतवर्ष मे जितना ही अधिक प्रसिद्ध है, पाश्चात्य विद्वानो ने उतना ही अधिक उनके अस्तित्व मे सन्देह प्रकट किया है। इसका कारण यह है कि न तो विक्रमादित्य के समय का बना हुआ कोई ऐसा ग्रन्थ विद्यमान है जिसमे उनका स्पष्ट उल्लेख हो, और न कोई ऐसे प्राचीन शिलालेख या मुद्रा प्राप्त हुए हैं, जिनमे उनका नाम या वृतात अंकित हो। ऐसी दशा मे पाश्चात्य विद्वानो के लिए विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता मे सन्देह करना स्वाभाविक बात थी। यद्यपि कथासरित्सागर (लम्बक 18) तथा उसके पाश्चात्यकालीन ग्रन्थो म विक्रमादित्य सम्बन्धी बहुत से उल्लेख और कथाए पायी जाती हैं, परन्तु वे अर्वाचीन तथा परस्पर विरोधी होने से विश्वसनीय नही समझी जाती। इस प्रकार की अधिकतर सामग्री जैन साहित्य मे मिलती है। लेकिन जैन साहित्य अति विशाल है। इसका बहुत बडा भाग अभी तक प्रकाशित नही हुआ, और जो प्रकाशित हो चुका है, वह भी सारे का सारा किसी एक पुस्तकालय मे प्राप्य नही है। अत विक्रम सम्बन्धी जो वृत्तान्त यहा लिखा जाता है, वह सम्पूर्ण नही कहा जा सकता।

पहले उन ग्रन्थो की सूची दी जाती है, जिनमे विक्रमादित्य का चरित्र अथवा उल्लेख मिलते हैं। ये ग्रन्थ प्राय सबके सब श्वेताम्बर सम्प्रदाय के हैं। दिगम्बर ग्रन्थो का इस लेख म समावेश नही किया जा सका। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से उल्लेख हो। इन उल्लेखो मे जो परस्पर भेद दिखाई देता है, उसका कारण यह है कि विक्रमादित्य किसी व्यक्ति विशेष का नाम नही था, यह तो एक विरुद है, जिसे कई राजाओ ने धारण किया। पीछे होने वाले लेखको ने एक विक्रमादित्य का वृतात दूसरे के साथ मिला दिया। चूकि उज्जयिनीपति महाराज विक्रमादित्य अधिक प्रसिद्ध थे, इसलिए सब घटनाए उन्ही के जीवन से सम्बद्ध हो गई।

साहित्य-सूची

1. वीरनिर्वाण और विक्रम-संवत् का अन्तर बताने वाली प्राचीन गाथाएं जो बहुत से ग्रन्थों में उद्धृत मिलती हैं।
2. सं० 1290 अथवा 1294 में एक जैनाचार्य द्वारा रचित पञ्चदण्डात्मक विक्रमचरित्र (प्रकाशक—हीरालाल हंसराज, जामनगर, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा)।
3. सं० 1334 में प्रभाचन्द्र द्वारा रचित प्रभावक-चरित (सिंघी जैन ग्रन्थमाला)। विशेषकर कालकाचार्य, जीवसूरि और वृद्धवादिसूरि-चरित।
4. सं० 1361 में मेरुतुंग द्वारा रचित प्रबन्धचिन्तामणि (सिंघी जैन ग्रन्थमाला)। विशेषकर विक्रमार्क-प्रबन्ध और सातवाहन-प्रबन्ध।
5. *सं० 1364 और 1389 में जिनप्रभसूरि द्वारा रचित विविधतीर्थकल्प* (सिंघी जैन ग्रन्थमाला)। विशेषकर अपापा-बृहत्कल्प, प्रतिष्ठानपुरकल्प, कुडुंगेश्वरकल्प।
6. सं० 1405 में राजशेखर द्वारा रचित प्रबन्धकोश (सिंघी जैन ग्रन्थमाला)। विशेषकर जीवदेवसूरि-प्रबन्ध, वृद्धवादि-सिद्धसेन-प्रबन्ध, सातवाहन-प्रबन्ध, विक्रमादित्य प्रबन्ध।
7. सं० 1450 से पूर्व किसी आचार्य ने महाराष्ट्री प्राकृत में सिंहासन-द्वात्रिंशिका[1] रची।
8. सं० 1450 के आस-पास तपागच्छीय देवसुन्दरसूरि के शिष्य क्षेमंकरसूरि ने नं० 7 के आधार पर संस्कृत गद्यपद्यमयी सिंहासनद्वात्रिंशिका रची।
9. सं० 1471 के लगभग कासद्रहगच्छ के देवचन्द्रसूरि के शिष्य उपाध्याय देवमूर्ति ने विक्रमचरित नाम का ग्रन्थ रचा। इसमें 14 सर्ग हैं। उनके नाम—विक्रमादित्य की उत्पत्ति, राज्य-प्राप्ति, स्वर्ण-पुरुष-लाभ, पञ्चदण्ड-छत्र-प्राप्ति, द्वादशावर्तवन्दनक-फलसूचक-कौतुक-त्रयवीक्षि, देवपूजाफलसूचकस्त्रीराज्यगमन, विक्रमप्रतिबोध, जिन-धर्म-प्रभावसूचक-हंसावली-विवाह, विनयप्रभाव, नमस्कारप्रभाव, सत्त्वाधिक-कथा-कोश,

---

1. महाराष्ट्री की सिंहासन-द्वात्रिंशिका के होने में इजर्टन महोदय ने शंका प्रकट की है। देखिए विक्रमचरित, हार्वर्ड ओरियण्टल सीरीज, पुस्तक 26, प्रस्तावना, पृ० 55।

दानधर्मप्रभाव, स्वर्गारोहण, और अन्तिम सर्ग सिंहासन-द्वात्रिंशत्कथा।[1]

10. स० 1490 मे पूर्णिमागच्छीय अभयचन्द्रसूरि के शिष्य रामचन्द्रसूरि ने दर्भिका ग्राम (डभोई) मे उपर्युक्त ग्रन्थ न० 9 के आधार पर सस्कृत पद्यबन्ध 32 कथा रूप विक्रमचरित्र रचा। इसकी श्लोक-सख्या 6020 है।
11 स० 1490 मे उक्त रामचन्द्रसूरि ने सस्कृत गद्य-पद्य मे 2250 श्लोक प्रमाण खम्भात मे पचदण्डातपत्र-छत्र-प्रबन्ध की रचना की। प्रकाशक—हीरालाल हसराज, जामनगर, सन् 1912, प्रोफेसर वेबर, सन् 1877।
12 स० 1494 मे तपागच्छीय मुनि सुन्दरसूरि शिष्य शुभशीलगुण ने भी एक विक्रमचरित्र बनाया (हेमचन्द्र ग्रन्थमाला, अहमदाबाद)।
13 स० 1616 मे सिद्धिसूरि ने सस्कृत पर से सिंहासनबत्रीशी (गुजराती मे) बनाई।
14 स० 1636 मे हीरकलश ने विस्तार करके सिंहासनबत्रीशी (गुजराती मे) बनाई।
15 स० 1638 मे मगलमाणिक्य ने विक्रम राजा और खापरा चोर का रास (गुजराती मे) बनाया।
16 स० 1638 मे मल्लदेव ने विक्रम-चरित्र पचदण्ड कथा की रचना की।
17 स० 1678 म सघ (सिंह) विजय ने भी विस्तृत सिंहासनबत्रीशी की रचना की।
18 विक्रम की सत्रहवी शताब्दी म समयसुन्दर ने सस्कृत गद्य मे सिंहासन-*द्वात्रिंशिका रची। (पजाब जैन भडार, सूची न० 2937)।*
19 स० 1777 मे 1785 म सामलभट्ट ने अपनी सिंहासनबत्रीशी की रचना की। इसमे पचदण्ड की कथा उपर्युक्त ग्रन्थ न० 2 से ली गई है।

---

1 मोहनलाल दलीचन्द देसाई कृत 'जैन साहित्य नो सक्षिप्त इतिहास', पृ० 682।
इस ग्रन्थ की दो प्रतिया ऐसी मिलती हैं जो कर्ता के समय के आस-पास लिखी गईं। एक तो स० 1482 म मदपाट (मेवाड) म राजा कुम्भकर्ण के राज्य मे वेसग्राम म कासद्रहगच्छ के देवचन्द्रसूरि (कर्ता के गुरु) के शिष्य उद्योतन सूरि के पट्टधर शिष्य सिंहसूरि ने अपने लिए वाचनार्थ शीलसुन्दर से लिखवाई (वेबर न० 1773)। दूसरी उसी सिंहसूरि ने स० 1495 मे महीतिलक से लिखवाई (लीबडी भडार)। इसकी श्लोक सख्या 5300 है।

20 राजमेर कृत विक्रमचरित्र । लगभग 2000 श्लोक प्रमाण । सस्कृत पद्य । (पजाब जैन भडार, सूची न० 2327) ।

21 लाभवर्द्धन कृत विक्रमादित्य चौपई । लगभग 1000 श्लोक प्रमाण । गुजराती (पजाब जैन भडार, सूची न० 2330) ।

22 पूर्णचन्द्र कृत विक्रमपचदण्ड-प्रबन्ध । श्लोक प्रमाण 400 (जैन ग्रन्थावली, पृ० 260) ।

23-24 जैन ग्रन्थावली, पृ० 260 पर दो विक्रमनृप-कथाओ का उल्लेख है। एक का श्लोक प्रमाण 234, दूसरी पद्यबद्ध का 225 है।

25-26 जैन ग्रन्थावली, पृ० 218 पर एक विक्रम-प्रबन्ध तथा दूसरे विद्यापति भट्ट कृत विक्रमादित्य-प्रबन्ध का उल्लेख है।

27 जैन ग्रन्थावली, पृ० 259 पर इन्द्रसूरि कृत विक्रमचरित्र का उल्लेख है (पीटर्सन, रिपोर्ट 5)।

28 कालकाचार्य-कथानक जिसमे बतलाया है कि किस प्रकार कालकाचार्य ने अपनी भगिनी सरस्वती के अपहारक गर्दभिल्ल को शको द्वारा राज्य-च्युत किया और फिर कुछ काल पीछे विक्रमादित्य ने शका को परास्त करके उज्जयिनी का राज्य पुन प्राप्त किया। इस कथानक की अनेक रचनाए मिलती हैं, जिनम से कुछ को प्रो० नार्मन ब्राउन ने 'स्टोरी ऑफ कालक' नामक अपने ग्रन्थ मे सपादित किया है।

29 स्थविरावली, पट्टावली, गुर्वावली सज्ञक कृतियो मे थोडा-बहुत विक्रमादित्य सम्बन्धी विषय मिलता है। इनमे से हिमवत् स्थविरावली अति महत्त्वशाली है। इसका गुजराती अनुवाद हीरालाल हसराज ने प्रकाशित किया है।

जैन साहित्य म विक्रम सम्बन्धी सामग्री की सूची देने के बाद इस सामग्री का जो अश मुझे प्राप्त हो सका और उसम से जो वृत्तान्त मैं सकलित कर सका हू, उसका सार नीचे दिया जाता है।[1]—

विक्रमादित्य का मौर्यवशी होना—अशोक ने अपने पुत्र कुणाल को युवराज की पदवी देकर उसे उज्जयिनी का शासक बना दिया। वहा रहते हुए कुणाल अन्धा हो गया। उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम था सप्रति। अशोक की मृत्यु के पश्चात पाटलिपुत्र के सिंहासन पर सप्रति बैठा, लेकिन अशोक के दूसरे पुत्र ने सप्रति का विरोध किया। इसलिए दो बरस पीछे सप्रति पाटलिपुत्र

---

1 अहमदाबाद से जैन-सत्य प्रकाश का विक्रम-विशेषाक निकला है। उसके विविध लेखो मे विक्रम सम्बन्धी जैन साहित्य और परम्परा का विस्तृत विवेचन किया गया है।

छोडकर अपने पिता की जागीर उज्जयिनी आ गया। यहा उसने शेष आयु शांति-पूर्वक व्यतीत की। अब पाटलिपुत्र का राज्य पुण्यरथ (या दशरथ) ने संभाल लिया। इस प्रकार मौर्य राज्य के दो हिस्से हो गये। सप्रति के कोई पुत्र नही था। उसके मरने पर उज्जयिनी का राज्य अशोक के पौत्रो, तिष्यगुप्त के पुत्रो बलमित्र और भानुमित्र नामक राजकुमारो ने हस्तगत कर लिया। ये दोनो भाई जैन धर्म के उपासक थे। ये वीर-निर्वाण से 294 वर्ष बाद उज्जयिनी के सिंहासन पर बैठे और 60 वर्ष तक राज्य करते रहे।

इनके पश्चात् बलमित्र का पुत्र नभोवाहन उज्जयिनी का राजा बना। यह भी जैनधर्मी था। इसकी मृत्यु वीर-निर्वाण से 394 बरस बाद हुई।

नभोवाहन के पश्चात् उसका पुत्र गर्दभिल्ल उज्जयिनी के राज्य सिंहासन पर बैठा। विक्रमादित्य इसी गर्दभिल्ल का पुत्र था।

मौर्य-राज्य का दो शाखाओ मे विभक्त हो जाना तो कई विद्वानो ने माना है, परन्तु गर्दभिल्ल का मौर्यान्वयी होना केवल हिमवत् स्थविरावली मे मिलता है, जिसका उल्लेख मुनि कल्याण विजय ने 'वीर-निर्वाण-सवत् और जैन काल-गणना' नामक अपने निबन्ध मे किया है।

विक्रमादित्य की राज्य-प्राप्ति—विक्रमादित्य को उज्जयिनी का राज्य बपौती रूप से घर बैठे बिठाये नही मिला। उसने यह राज्य प्रबल शत्रुओ को जीतकर प्राप्त किया, क्योंकि गर्दभिल्ल ने एक ऐसी दुष्ट चेष्टा की थी जिसके कारण उज्जयिनी का राज्य उसके हाथो से निकलकर शको के हाथ म चला गया था। यह घटना इस प्रकार हुई—

'कालकाचार्य नामी एक बडे प्रभावशाली जैन साधु थे। उनकी बहिन सरस्वती भी साध्वी बन गई थी। वह बहुत रूपवती थी। एक बार गर्दभिल्ल ने उसे देखा और वह उस पर आसक्त हो गया। उसे उठाकर उसने बलात्कार अपने अन्त पुर मे डाल दिया। इस पर कालकाचार्य ने गर्दभिल्ल को बहुत समझाया कि आप उसे छोड दें, इसका सतीत्व नष्ट न करें, आप सरीखे न्यायी राजा को ऐसा करना उचित नही, राजा तो प्रजा का रक्षक होता है, न कि भक्षक। गर्दभिल्ल ने कालकाचार्य की बात नही मानी। फिर उसके मत्रियो ने प्रार्थना की कि आप साधु-साध्वी का शाप न लें, लेकिन राजा ने उनकी प्रार्थना भी नही सुनी।

तब कालकाचार्य उज्जयिनी मे उन्मत्त पुरुष की भांति फिरने लगे। अन्त मे वे सुराष्ट्र (सोरठ) देश को चले गए और वहा के शासक शक सामन्तो को, जो 'शाहि' कहलाते थे, अपने बुद्धिबल से प्रसन्न किया। एक बार अवसर पाकर उन सबको इकट्ठा होकर उज्जयिनी पर धावा करने की सलाह दी। उन्होने मिलकर गर्दभिल्ल से उज्जयिनी का राज्य छीन लिया। स्वाभाविक बात है कि

विदेशी शासको के हाथ से उज्जयिनी की प्रजा तग आ गई होगी। उसकी दीन दशा देखकर विक्रमादित्य से न रहा गया। उसने अपने बुद्धिबल और पराक्रम से शको को परास्त किया और वह स्वय उज्जयिनी के सिहासन पर बैठ गया।'[1]

विक्रमादित्य का जैन धर्म को अगीकार करना—जैन न्याय को क्रमबद्ध करके इसे शास्त्र का रूप देने वाले, सस्कृत के अद्वितीय पण्डित, श्री सिद्धसेन दिवाकर विक्रमादित्य के समकालीन माने जाते है। इन्ही सिद्धसेन के उपदेश से प्रभावित होकर विक्रमादित्य ने जैन धर्म को अगीकार किया।[2] यह प्रसग ऐसे बना।

जैनो के आगम ग्रन्थ अर्धमागधी प्राकृत मे रचे हुए है। पण्डित मण्डली मे इस भाषा का सस्कृत जैसा आदर नही था। सिद्धसेन ने सोचा कि यदि जैन आगमो का सस्कृत म अनुवाद हो जाय, तो जिनवाणी की बडी प्रभावना होगी।

---

1 विक्रमादित्य की राज्यप्राप्ति के सम्बन्ध मे कई और कथाए भी है। जैसे—

(क) विक्रमादित्य भर्तृहरि का भाई था और उसके पश्चात् उज्जयिनी के सिहासन पर बैठा। (इजर्टन, उक्त पुस्तक, पृ० 247)।

(ख) विक्रम नामक एक राजपूत था जो जन्म से दरिद्र, पर बुद्धिमान था। एक बार घूमता फिरता वह अवन्ती नगरी के पास आया। वहा का राजा मर चुका था। जो नया राजा बनता, उसे पहली ही रात मे अग्नि-वेताल मार डालता। अब मत्री लोग विवश थे। ज्योही विक्रम ने नगर म प्रवेश किया, लोगो ने उसे राजा बना दिया। जब विक्रम को राक्षस का हाल मालूम हुआ तो उसने पलग के समीप मिठाई का ढेर लगवा दिया। अब यथापूर्व राक्षस आया और विक्रम को खाने लगा। विक्रम ने कहा—'पहले आप मिठाई खा लीजिए।' मिठाई खाकर राक्षस प्रसन्न हो गया, और विक्रम को जीवित छोड दिया। विक्रम प्रतिदिन मिठाई का ढेर लगवा रखता। एक रात विक्रम ने राक्षस से पूछा कि मेरी कुल आयु कितनी होगी। उसने उत्तर दिया, 'पूरे एक सौ बरस, न एक दिन कम और न एक दिन अधिक।' अब अगले दिन विक्रम ने मिठाई का ढेर नही लगवाया। यह देख राक्षस बहुत क्रुद्ध हुआ, और विक्रम के साथ युद्ध करने लगा। विक्रम ऐसी शूरता से लडा कि राक्षस प्रसन्न हो गया। अब उसने उज्जयिनी मे आना छोड दिया और वहा विक्रम आनन्दपूर्वक राज करने लगा। (देखिए प्रबन्ध-चिन्तामणि, विक्रमार्क-प्रबन्ध 1, 2, इजर्टन, उक्त पुस्तक, पृ० 250-51)।

2 प्रभावकचरित (विजयसिहसूरिचरित) श्लोक 77, (वृद्धवादिचरित) श्लोक 61-65। प्रबन्ध-चितामणि (विक्रम-प्रबन्ध) 7-8।

यह सोचकर सिद्धसेन ने आगमों का संस्कृत में अनुवाद करने की अपने गुरु से आज्ञा मांगी। गुरु ने कहा कि तेरे इस संकल्प मात्र से जिनवाणी की आशातना (निरादर) हुई है। अनुवाद कर लेने पर तो महापाप लगेगा। इस खोटे संकल्प के लिए तुझे पारांचित प्रायश्चित करना चाहिए, जिसके अनुसार बारह बरस तक अवधूत वेश में रहकर तुझे जैन धर्म का पालन करना होगा। इस अवस्था में सिद्धसेन एक बार उज्जयिनी में आये। वहां महाकाल के मन्दिर में जाकर भी उन्होंने शिवलिंग को प्रणाम नहीं किया। लोगों ने इस बात की सूचना राजा विक्रमादित्य को दी। राजा ने सिद्धसेन को बुलाकर पूछा कि आपने शिवलिंग को प्रणाम क्यों नहीं किया? सिद्धसेन ने उत्तर दिया कि यदि मैं शिवलिंग को प्रणाम करूंगा तो वह फट जाएगा और आप अप्रसन्न हो जाएंगे। यह सुनकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने सिद्धसेन के वचन की परीक्षा करने के उद्देश्य से उनसे कहा कि मेरे सामने शिवलिंग को प्रणाम कीजिए। इस पर सिद्धसेन ने पार्श्वनाथ भगवान की स्तुति आरम्भ कर दी। पहला ही श्लोक पढ़ा था कि शिवलिंग से धूम की रेखा निकलने लगी। लोग समझे कि अब शंकर महादेव के नेत्र से आग निकलेगी और इस भिक्षु को भस्म कर देगी। लेकिन थोड़ी ही देर में शिवलिंग फट गया और उसमें से पार्श्वनाथ की दिव्य मूर्ति निकल पड़ी। इस कौतुक को देखकर विक्रमादित्य को जैन धर्म में दृढ़ आस्था हो गई और उसने श्रावक के बारह व्रत धारण किये।[1]

विक्रमादित्य और कालिदास—विक्रमादित्य विद्या का प्रेमी था और विद्वानों का बड़ा आदर-सम्मान करता था। ज्योतिर्विदाभरण में लिखा है कि उसकी सभा में नौ पण्डितरत्न थे, जिनके नाम ये हैं—1 धन्वन्तरि, 2. क्षपणक, 3 अमरसिंह, 4 शंकु, 5 वेतालभट्ट, 6 घटखर्पर, 7 कालिदास, 8 वराहमिहिर और 9 वररुचि।

इनमें से क्षपणक से तात्पर्य सिद्धसेन दिवाकर का है। कालिदास विक्रमादित्य का जामाता था, क्योंकि उसका विवाह विक्रमादित्य की पुत्री प्रियंगुमंजरी से हुआ था। कालिदास एक पशुपालक का पुत्र था और कुछ पढ़ा-लिखा न था। प्रियंगुमंजरी की अवज्ञा से उसने काली की उपासना की और उससे आशुकवित्व का वर प्राप्त किया। तब उसने कुमारसंभव आदि तीन महाकाव्य और छह प्रबन्ध बनाये।[2]

---

1 प्रभावकचरित (वृद्धवादिसूरिचरित) श्लोक 121-50। इजर्टन, हार्वर्ड ओरियन्टल सीरीज, पुस्तक 26, पृ० 251।

2. प्रबन्ध-चिन्तामणि (विक्रमार्क-प्रबन्ध) 2।

विक्रम का बल पराक्रम—जैसाकि विक्रमादित्य के नाम से प्रकट है, वह विक्रम और साहस का पुतला था। निर्बलो की रक्षा और दीन-अनाथो के दुख दूर करना उसके जीवन का मुख्य ध्येय था। कैसा ही साहस का काम क्यो न हो, वह उसे करने से नही घबराता था। उसकी शूरवीरता की अनेक कथाए विशेषकर सिहासनद्वात्रिंशिका मे मिलती हैं। इनका निर्देश यहा नही किया जा सकता। ऐसा करने से लेख का कलेवर बहुत बढ जायगा।

विक्रम की दानशीलता—विक्रमादित्य इतना दानशील था कि उसने समस्त पृथ्वी को ऋणमुक्त कर दिया था। यह बात आज तक प्रसिद्ध है।

विक्रम का नया सवत् चलाना—विक्रमादित्य के नया सवत् चलाने के कई उल्लेख मिलते हैं। प्रबन्ध-चिन्तामणि मे विक्रमार्क-प्रबन्ध के अन्त मे लिखा है, 'अन्त समय मे नवनिधियो ने विक्रमादित्य को दर्शन देकर कहा कि कलियुग मे तो आप ही एकमात्र उदार हैं। और वह परलोक को प्राप्त हुआ। उसी दिन से विक्रमादित्य का सवत्सर प्रवृत्त हुआ, जो आज भी जगत् मे वर्तमान है।'

विक्रम और सातवाहन—एक बार विक्रम की सभा मे किसी नैमित्तिक ने कहा कि प्रतिष्ठानपुर म सातवाहन राजा बनेगा।

सातवाहन की उत्पत्ति—महाराष्ट्र देश मे प्रतिष्ठानपत्तन बडा प्रसिद्ध नगर था। एकदा उसमे अपनी विधवा भगिनी समेत दो पथिक आकर एक कुम्हार के घर ठहरे। दैवयोग से उनकी बहिन को गर्भ हो गया। इस पर वे उसे अकेला छोडकर वहा से चल दिए। दिन पूरे हो जाने पर उसके बालक उत्पन्न हुआ, जो बडा होकर कुम्हार के लडको से खेला करता था। उनसे मिट्टी के हाथी, घोडे, रथ आदि वाहन बनाना सीख लिये। इसीसे उसका नाम सातवाहन पड गया।

उधर उज्जयिनी मे एक बूढा आदमी मरा। मरते समय उसने अपने चारो पुत्रो से कहा कि मेरी चारपाई के पायो के नीचे चार घडे दबे हैं। तुम उनको निकालकर एक-एक बाट लेना। जब धरती खोदी गई तो एक घडे मे सोना, दूसरे म काली मिट्टी, तीसरे मे भूसा और चौथे मे हड्डिया मिली। इस पर चारो मे झगडा हुआ कि कौन किस घडे को लेवे। वे झगडते हुए न्याय कराने के लिए विक्रमादित्य के पास आए। वह उनका न्याय न कर सका। फिर वे प्रतिष्ठानपुर पहुचे। वहा उनको उदास देखकर सातवाहन ने पूछा कि क्या बात है? उदासी का क्या कारण है? झगडा बतलाये जाने पर उसने कहा कि जो सोने वाला घडा ले उसको और कुछ न मिले। जो मिट्टी वाला घडा ले, वह सब भूमि, खेत-क्यारिया आदि का स्वामी समझा जाय, भूसे वाले को खत्ते कोठो मे भरा अनाज मिल जाए। हड्डियो वाला गौ, भैंस आदि पशुओ को ले ले। ऐसा करके हिसाब लगाने पर सबके हिस्से मे बराबर-बराबर सम्पत्ति आई और

वे सब प्रसन्न हो गए।

जब वे उज्जयिनी मे आये और विक्रम को सूचना मिली कि उनका न्याय हो गया, तो उसने उन्हें बुलाकर पूछा, 'तुम्हारा न्याय किसने किया?' उन्होंने उत्तर दिया सातवाहन ने। अब विक्रमादित्य को नैमित्तिक के वचन याद आये कि प्रतिष्ठानपुर मे सातवाहन राजा होगा। यह सोचकर कि राजा बनकर सातवाहन मेरा विरोध करेगा, विक्रम ने प्रतिष्ठानपुर का घेरा डालकर दूत द्वारा उसे कहला भेजा कि मैं कल तुम्हे मार डालूगा। यह सुन सातवाहन लडाई के लिए तैयार हो गया। उसने रातोरात मिट्टी की बहुत-सी सेना बना डाली। फिर एक देवता की उपासना करके उसमे प्राणो का सचार करा दिया। इस सेना द्वारा सातवाहन ने विक्रम को भगा दिया।[1]

विक्रम के पुत्र—विक्रमादित्य के पुत्र विक्रमसेन को पुरोहित ने आशीर्वाद दिया कि आप अपने पिता विक्रमादित्य से भी अधिक प्रतापी हो। इस पर सिंहासन की पुत्तलियो ने हसकर कहा कि विक्रमसेन की विक्रमादित्य से समता भी नही हो सकती, अधिकता तो दूर रही। कारण पूछने पर पुत्तलियो ने विक्रमादित्य के पराक्रम आदि लोकोत्तर गुणो का बखान किया और पूछा कि क्या विक्रमसेन ऐसा कर सकता है? इस प्रकार पुत्तलियो ने विक्रमसेन के गर्व का निराकरण किया।[2]

उपर्युक्त वृत्तान्त जैन साहित्य मे पाये जाने वाले विक्रम सम्बन्धी उल्लेखो का एक नमूना है। खोज करने से यह काफी विस्तृत हो सकता है। इसका ऐतिहासिक महत्त्व कुछ हो या न हो पर यह कथा-साहित्य की दृष्टि से बडी सरस और उपयोगी है।

1 विविध-तीर्थकल्प (प्रतिष्ठानपुरकल्प), पृ० 59-60। प्रबन्धकोष (सातवाहन-प्रबन्ध), 82-86।

2 प्रबन्धकोष (विक्रम-प्रबन्ध), 98।

अरबी-फारसी में विक्रम

□ श्री महेश प्रसाद 'मौलवी'

भारतीय इतिहास मे अपने गुणो तथा कार्यों के कारण महाराज विक्रमादित्य ने जो अक्षय कीर्ति प्राप्त की है, उससे अनेक भाषाओ मे उनका नाम किसी-न किसी रूप मे अवश्य पाया जाता है। अरबी मे 'किताबुलहिन्द' नाम का एक महान् ग्रन्थ है। उसकी रचना सन् 1030 ई० अथवा इस सन् के कुछ ही काल बाद हुई है। लेखक एक मुसलमान है जो प्राय अलबेरूनी के नाम से विख्यात है। इस जगत् विख्यात लेखक के उक्त ग्रन्थ मे सबसे पहले महाराज विक्रमादित्यजी का नाम उनके काल के एक रासायनिक (वैज्ञानिक) के सम्बन्ध मे इस प्रकार पाया जाता है —

'राजा विक्रमादित्य, जिसके सवत् के विषय मे हम आगे उल्लेख करेंगे, क समय मे उज्जैन नगर में व्याडि नामक एक व्यक्ति था, जिसने अपना सम्पूर्ण ध्यान इस (रसायन) विज्ञान की ओर दिया था और अपना जीवन व धन दोनो को इसके निमित्त नष्ट कर दिया, किन्तु उसके उत्साह के कारण उसको इतना भी लाभ न हुआ था कि साधारण स्थितियो मे भी उसे सुगमता के साथ सहायता होती। वह बहुत दुखी हो गया था, इस कारण उसे अपने उस उद्यम से बहुत घृणा हो गई जिसके निमित्त उसने कठिन परिश्रम किया था। निदान शोकातुर व निराश होकर वह एक नदी के तट पर बैठ गया। अपने हाथ मे अपने उस रसायन-ग्रन्थ को लिया जिसम से वह औषधियो के लिए योग तैयार किया करता था और उस ग्रन्थ मे से एक-एक पन्ने को निकाल जल मे प्रवाह करना आरम्भ किया। दैवयोग से उसी नदी के तट पर बहाव की ओर कुछ दूरी पर एक वेश्या बैठी थी। उसने बहते हुए पन्नो को एकत्र किया और रसायन-विषयक कुछ पन्नो को एक साथ कर दिया।

व्याडि जब समस्त पुस्तक को फेंक चुका, उसके पश्चात् व्याडि की दृष्टि उस वेश्या पर पडी। इसके परचात् वह वेश्या व्याडि के समीप आई और पूछा कि आपने अपनी पुस्तक के साथ क्यो ऐसा व्यवहार किया ? व्याडि ने उत्तर दिया कि पुस्तक से कुछ लाभ नही हुआ, इस कारण मैंने ऐसा किया। मुझे जो

कुछ लाभ इससे होना चाहिए वह नही हुआ और इसी के निमित्त मैं धनहीन हो गया। मेरे पास बहुत सम्पत्ति थी किन्तु अब मैं बहुत दुखी अवस्था मे हू और मैं बहुत काल तक आशा लगाये हुए था कि इसके कारण मैं सुखी हूगा। वेश्या बोली—'जिस कार्य के निमित्त आपने अपना जीवन लगाया है, जिस बात को ऋषियो ने सच्चा करके दिखलाया है उसके होने की सम्भावना स निराश न बनें। आपकी इष्टसिद्धि म जो रुकावट है वह सम्भवत केवल किसी प्राकृतिक घटना के कारण है, वह सम्भवत किसी घटना स दूर हो जाएगी। मरे पास बहुत-सा ठोस धन है। वह सब धन आपका है। सम्भवत उस धन से आप अपने मनोरथ की सिद्धि म सफलीभूत होगे। ऐसा होने पर व्याडि ने अपना कार्य फिर आरम्भ किया।

रसायन विषयक ग्रन्थ पहेलिया के ढग पर रचे गये है। इस कारण व्याडि को एक शब्द समझने म धोखा हुआ था। ओषधि के योग म जो शब्द था उसका अर्थ है 'तल और 'मनुष्य का रक्त और दोनो की आवश्यकता ओषधि मे थी। वास्तव मे 'रक्तामल' लिखा हुआ था और उसका अर्थ लाल आमलक लिया गया था। जब वह ओषधि को प्रयोग म लाता था तो किसी दशा मे भी उमस लाभ न होता था। एक बार उसने विविध ओषधियो को आग पर ठीक करना आरम्भ किया और आग की लपट उसके सिर को छू गई। उसका भेजा सूख गया। उसने सर पर बहुत-सा तल लगाया व डाला। वह भट्ठी पर से कही जान के लिए उठा। जहा भट्ठी थी, उसकी छत मे लोहे का एक कीला निकला हुआ था। वह उसके सिर म लगा और रक्त बहने लगा। उसको दर्द हुआ तो वह नीचे की ओर देखने लगा। ऐसी दशा म उसकी खोपडी के ऊपर से तेल मिले हुए रक्त की कुछ बूदें ओषधि म पड गईं और उसको कुछ पता न लगा। तत्पश्चात् जब ओषधि की तैयारी का कार्य समाप्त हो गया, तो उसने और उसकी स्त्री ने ओषधि को परखने के लिए अपने शरीर पर मला तो दोनो हवा मे उडे।

इस बात को जानकर विक्रमादित्य अपने राज भवन से निकले और उनको अपनी आखो स देखने के निमित्त बाहर आये। इस पर उस पुरुष ने चिल्लाकर कहा—'अपना मुह मेरे थूक के लिए खोलिए'। किन्तु एक घृणित बात होने के कारण राजा ने ऐसा नही किया और थूक कपाट के पास गिरा, डेवढी तुरन्त सोने की हो गई।

व्याडि और उसकी स्त्री जहा चाहते थे, उडकर चले जाते थे। उसने इस विज्ञान के विषय मे सुप्रसिद्ध पुस्तकें लिखी है। जनता का ख्याल है कि स्त्री-पुरुष दोनो जीवित है।

महाराज विक्रमादित्य से सम्बन्ध रखने वाली बात कही और अकित है या नही—मैं इस विषय मे कुछ नही कह सकता। हा, अब यह अवश्य कह देना

चाहता हूँ कि उक्त बात के सिवा अलबेरूनी ने अपने अमूल्य ग्रन्थ मे विक्रमीय सवत् पर भी आगे चलकर प्रकाश डाला है जैसा कि पिछली पक्तियो मे उल्लेख हो चुका है।

फारसी के तो अनेक ग्रन्थो मे महाराज विक्रमादित्य की चर्चा है। अकबरी हाल विषयक ग्रन्थो—'आईने अकबरी' व 'मुन्तखबुत्तवारीख' मे विशेषकर विक्रमीय सवत् सम्बन्धी बातें हैं, किन्तु अकबरी-काल के थोडे ही काल बाद सन् 1606 या 1607 ई० की रचना 'तारीख फरिश्त' नामी ग्रन्थ है उसमे जो कुछ मिलता है उसका सार आगे दिया जा रहा है।

'विक्रमाजीत जाति का पवार था, उसका स्वभाव बहुत अच्छा था। इसके विषय में जो कहानिया हिन्दुओ मे प्रचलित हैं, उनसे स्पष्ट होता है कि उसका वास्तविक स्वरूप क्या था। युवा अवस्था मे यह राजा बहुत समय तक साधुओ के भेष मे घूमता रहा और उसने बडा तपस्वी जीवन व्यतीत किया। पचास वर्षों की वय हुई तो ईश्वरीय महिमा स उसने सैनिक-जीवन की ओर ध्यान दिया। ईश्वर की ओर से यह बात निश्चित थी कि यह साधु एक महाप्रतापी राजा हो और मनुष्यो को अत्याचारियो के पजे से छुडाये, इस कारण दिन-प्रतिदिन उनके कार्य मे उन्नति ही होती गई। थोडे ही काल मे नहरवाला और मालवा दोनो देश उसके अधिकार मे आ गए। राज-कार्य को हाथ में लेते ही उसने न्याय को ससार मे ऐसा फैलाया कि अन्याय का चिह्न बाकी न रहा और साथ-ही-साथ उदारता भी अनेक कार्यों मे दिखलाई।'

हिन्दुओ का विश्वास है कि उस राजा का पद साधारण सासारिक मनुष्यो से कही उच्च था। जो बात उसके हृदय मे उत्पन्न होती थी, वह साफ-साफ प्रकट हो जाती थी। रात्रि मे जो घटनाए उसके राज्य मे होती थी वह प्रात काल उसको स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाती थी।

यद्यपि वह राजा था तथापि समस्त मनुष्यो के साथ प्रेम का व्यवहार करता था। उसके निवास-स्थान मे मिट्टी के एक प्याल और बोरियो (चटाई) के सिवा और कुछ न था। उसने अपने काल मे उज्जैन बसाया और धार मे दुर्ग बनाकर उसको अपना निवास स्थान बनाया। उज्जैन मे महाकाल नामक देवालय उसी ने बनवाया और ब्राह्मणो व साधुओ के निमित्त वृत्तिया नियुक्त की ताकि वह लोग पूजा पाठ करते रहें।

वह अपने समय का अधिक भाग लोगो का हाल जानने और ईश्वर की उपासना मे व्यतीत करता था। इसके निमित्त भारतवासियो के हृदयो मे बडा स्थान है और इसके सम्बन्ध मे नाना प्रकार की कथाएं बतलाते हैं। वर्ष और महीनो की तारीख का श्रीगणेश इसी राजा के मृत्यु-दिन और महीने से होता है और इस पुस्तक के रचनाकाल तक हिजरी सन् का एक हजार पन्द्रहवा वर्ष है,

विक्रमीय सवत् के आरम्भ को एक हजार छ सौ त्रेसठ वर्ष बीत चुके है।

ईरान का राजा उर्दशीर इसका समकालीन था। कुछ लोगो का मत है कि इसका और ईरान के राजा शापूर का काल एक ही था। इस राजा के अन्तिम दिनो में शालिवाहन नाम के एक जमीदार ने इस पर आक्रमण किया। नर्मदा के तट पर दोनो ओर की सेनाओ का घोर युद्ध हुआ। अन्त मे शालिवाहन विजयी हुआ और विक्रमादित्य मारा गया। इस राजा (विक्रमादित्य) के समय से सम्बन्ध रखने वाली बहुत-सी दन्त-कथाए ऐसी है जो मानने योग्य नही। इस कारण उनको नही लिखा जा रहा है।

विक्रमादित्य के पश्चात् बहुत समय तक मालवा की दशा अति शोचनीय रही। कोई उदार और न्यायी राजा न हुआ। किन्तु जब राजा भोज के हाथ मे यहा का राज्य आया तो यहा की दशा सुधरी।

अन्त मे मैं यह लिख देना चाहता हू कि मैंने जो कुछ लिखा है, केवल विषय की सूची मात्र है। मेरा विश्वास है कि यदि विशेष उद्योग किया जाय तो इस प्रतापी राजा के विषय मे कुछ अन्य ग्रन्थो मे भी कुछ और बातें अवश्य मिलेगी।

सन् 1742 ई० का काव्य संग्रह[1]

इस्तम्बोल के प्रसिद्ध राजकीय पुस्तकालय 'मकतब-ए-सुलतानिया' जिसे वर्तमान मे 'मकतब-ए-जमहूरिया' कहते हैं, वह तुर्की ही नही, पूर्वीय-समस्त देशों मे सबसे बडा और विशाल है। पुस्तकालय के अरबी विभाग मे 1742 ई० का लिखा हुआ काव्यसग्रह देखने को मिला, तुर्की के प्रसिद्ध राजा सुलतान सलीम ने अत्यन्त यत्नपूर्वक किसी प्राचीन प्रति के आधार पर लिखवाया था। यह हरीर (एक प्रकार का रेशमी कपडा जो ऐसे कामो के लिए ही बनाया जाता था) पर लिखा है, और अत्यन्त सुन्दर बेल-बूटेदार काम से सजा हुआ है। यह सग्रह तीन भागो मे है। प्रथम भाग मे अरब के आदि कवियो का—अर्थात् इस्लाम से पहिले के कवियो का जीवन, और उनके काव्यो का सक्षिप्त परिचय दिया गया है। दूसरे भाग मे मुहम्मद साहब के प्रारम्भिक-काल से लेकर बनी-उम्मय्या-कुल के अन्त तक के कवियो का वर्णन है। और तीसरे भाग मे बनी अब्बास कुल के आरम्भ से प्रसिद्ध राजा खलीफा हारू-रसीद के दरबारी कवियो अर्थात् लेखक ने अपने समय तक के कवियो का वर्णन कर दिया है। पुस्तक का नाम 'सेअरुल ओकूल' है। इसका सग्रहकर्ता अरबी-काव्य का कालिदास अबू-आमिर अब्दुल-

1 देखिए 'विक्रम' के 'दीपोत्सवी अक' सवत् 2001 मे श्री ईशदत्त शास्त्री का लेख।—स०।

असमई है, जो इस्लाम के प्रसिद्ध राजा खलीफा हारूरशीद का दरबारी कवि था। इस सग्रह-पुस्तक का प्रथम सस्करण सन् 1864 ई० मे बर्लिन स प्रकाशित हुआ था, और दूसरा सन् 1932 ई० मे बेरुत (फिलिस्तीन) से प्रकाशित हुआ है। इसे अरबी काव्य का बहुत प्रामाणिक और पुरातन सग्रह माना जाता है।

इस पुस्तक की भूमिका मे प्राचीन-अरब की सामाजिक अवस्था, मेल-जोल, खेल-तमाशो के सम्बन्ध मे भी काफी प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त मुख्य रूप से प्राचीन-कालीन अरबो के प्रधान तीर्थ मक्का का भी सुन्दर वर्णन किया है। यहा लगने वाले वार्षिक मेले, जिसको 'ओकोज' कहा जाता था, जिसमे कि अरबो के धार्मिक, राजनीतिक, साहित्यिक, सामाजिक आदि हर विषयो पर विवाद किया जाता था और उसके प्रदत्त निर्णय को समस्त अरब शिरसा-वन्द्य मानत थे, उसका वर्णन भी विस्तृतरूपेण किया गया है। इस मेले मे विशाल कवि-सम्मेलन हुआ करता था, जिसमे अरब के प्रमुख सभी कवि भाग लेते थे। ये कविताए पुरस्कृत होती थी। सर्व प्रथम कवि की कविता को सोने के पतरे पर अकित कर मक्का के प्रसिद्ध मदिर के अन्दर लटकवा दिया जाता था। और अन्य श्रेणी की कविताए ऊट की झिल्ली या भेड-बकरी के चमडे पर लिख-कर मदिर के बाह्य-भाग मे टगवा दी जाती थी। इस प्रकार अरबी-साहित्य का अमूल्य साहित्य-धन हजारो वर्षों से मदिर मे एकत्रित होता चला आता था। पता नही यह प्रथा कब स प्रारम्भ हुई थी, परन्तु हजरत मुहम्मद साहब के जन्म से 23-24 सौ वर्ष पुरानी कविताए उक्त मदिर मे प्रस्तुत थी। किन्तु मक्का पर इस्लामी सेना के अधिकारावसर पर ये सब नष्ट-भ्रष्ट कर दी गई थी। परन्तु जिस समय यह सैन्य मक्का पर आक्रमण कर रही थी—उसके साथ हजरत मुहम्मद के दरबार का कवि-हस्सान बिनसाबिक भी था, जिसने कुछ रचनाए अपने पास उस समय सुरक्षित कर ली थी। इसकी तीसरी पीढी के समय हारूरशीद जैसे साहित्यिक खलीफा का काल था। लाभ की आशा स यह पतरे लेकर वह कवि-वशज मदीने से बगदाद जाकर लेखक—अबू-आमिर अब्दुल असमई से मिला। उसे प्रयत्नस्वरूप हजारो पाउण्ड इसका पारितोषिक दिया गया। इनमे पाच मोन के पत्र थे, और 16 चमडे के। इन पाच पत्रो पर दो अरब के आदि कवि लबी बने और अखतब बिनतुर्फा के काव्य अकित थे।

इन पत्रो से प्रेरित होकर खलीफा ने लेखक अबू आमिर को एक ऐसा ग्रन्थ लिखने की आज्ञा दी, जिसमे अरब के तमाम कवियो के जीवन, और काव्य-काल का वर्णन हो। इस प्रकार जो सग्रह प्रस्तुत किया गया था, उससे एक कविता पाठको की जानकारी के लिए यहा हम उद्धृत करते हैं।

हजरत मुहम्मद से एक सौ पैसठ वर्ष पूर्व जहँम बिनतोई नामक एक कवि हो गया है। जो निरन्तर 'ओकाज' के कवि-सम्मेलन मे तीन वर्ष तक सर्वप्रथम

आता रहा है। इसकी तीनों उक्त कविताएं सोने के पत्रों पर अंकित होकर मन्दिर में लटकाई गई थीं। इससे यह स्पष्ट है कि वह बहुत प्रतिभा-सम्पन्न था। उसकी कविता का उदाहरण यह है —

इत्रश्शफाई सनतुल बिकरमतुन, फहलमिन
करीमुन यर्तफीहा यखोवस्सरू।
बिहिल्लाहाय्यमसीमिन एला मोतकब्बेनरन,
बिहिल्लाहा यूही कैद मिन होवा यफखरू।
फज्जल-आसारि नहनो ओसारिम बेजेहलीन,
युरीदुन बिआबिन कजन बिनयख्तरू।
यह सबदुन्या कनातेफ नातै फी बिजेहलीन,
अतदरी बिलला मसीरतुन फकेफ तसबहू।
कऊन्नी एजा माज्करलहदा वलहदा,
अशमीमान, बुरुकन कद तोलुहो वतस्तरू।
बिहिल्लाहा यकीजो बैनना वले कुल्ले अमरेना,
फहेया जाऊना बिल अमरे बिकरमतुन॥
(सेअरुल—ओकूल, पृष्ठ 315)

अर्थात्—वे लोग धन्य हैं जो राजा विक्रम के राज्य काल में उत्पन्न हुए, जो बड़ा दानी, धर्मात्मा और प्रजापालक था। परन्तु ऐसे समय हमारा अरब ईश्वर को भूलकर भोग विलास में लिप्त था। छल-कपट को ही लोगों ने सबसे बड़ा गुण मान रखा था। हमारे तमाम देश (अरब) में अविद्या ने अन्धकार फैला रखा था। जैसे बकरी का बच्चा भेड़िये के पंजे में फंसकर छटपटाता है छूट नहीं सकता, ऐसे ही हमारी जाति मूर्खता के पंजे में फंसी हुई थी। संसार के व्यवहार को अविद्या के कारण हम भूल चुके थे सारे देश में अमावस्या की रात्रि की तरह अन्धकार फैला हुआ था, परन्तु अब जो विद्या का प्रातः कालीन सुखदाई प्रकाश दिखाई देता है, वह कैसे हुआ, यह उसी धर्मात्मा राजा विक्रम की कृपा है। जिसने हम विदेशियों को भी अपनी दयादृष्टि से वंचित नहीं किया, और पवित्र धर्म का सन्देश देकर अपनी जाति के विद्वानों को यहां भेजा, जो हमारे देश में सूर्य की तरह चमकते थे। जिन महापुरुषों की कृपा से हमने भुलाए हुए ईश्वर और उसके पवित्र ज्ञान को जाना और सत्पथ गामी हुए वे लोग राजा विक्रम की आज्ञा से हमारे देश में विद्या और धर्म के प्रचार के लिए आए थे।

इतिहास-अनुश्रुति मे विक्रम

□ डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार

शिलालेख एव मुद्रा सम्बन्धी साक्ष्य से ईसा की चतुर्थ शताब्दी से पूर्व विक्रमादित्य नाम के किसी भारतीय सम्राट का अस्तित्व प्रमाणित नही होता। वास्तव मे उस शताब्दी स पूर्व 'आदित्य शब्दान्त उपाधियो के प्रचलित होने का कोई प्रमाण प्राप्त नही है। पुराणो के भविष्यानुकीर्तन खण्ड मे ऐतिहासिक वर्णन को चतुर्थ शताब्दी के प्रारम्भ तक ले आते है, उनमे विक्रमादित्य का उल्लेख प्राप्त न होना, इस सम्बन्ध म अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि वह महान सम्राट् वास्तव मे उनके समय स पूर्व हुआ होता तो अपेक्षाकृत अपरकालीन पुराणकर्ता विक्रमादित्य जैसे देदीप्यमान व्यक्तित्व की अवगणना सरलता से न कर सकते। जो हो, 58 ई० पू० से प्रारम्भ होने वाला एक सवत् अवश्य है, जो विक्रम-सवत् कहलाता है और पीछे की अनुश्रुति उस उज्जयिनी सम्राट् विक्रमादित्य द्वारा प्रवर्तित मानती है। परन्तु ईसवी सवत् की प्रारभिक शताब्दियो मे विक्रम सवत् के वर्ष 'कृत कहलाते थे और कुछ काल पश्चात् मालवगणतन्त्र से उनका निकट सम्बन्ध होने का उल्लेख है। आठवी तथा नवी शताब्दियो मे ही इस सवत् का सम्बन्ध विक्रमादित्य के नाम के साथ स्थापित किया गया। एक सम्भावना यह भी है कि यह सवत् प्राचीन सियोपार्थियन काल गणना हो, जिसे राजपूताना और मालवा मे मालव जाति अपने जन्म-स्थान पजाब के झग जिले के आसपास से ले गई हो। विक्रम सवत् के प्रवर्तक विक्रमादित्य नामक सम्राट तथा सातवाहन वश के गौतमीपुत्र शातकर्णि को एक मानने का सिद्धान्त हास्यास्पद है, क्योकि यह गौतमीपुत्र ईसवी दूसरी शताब्दी के पूर्वार्ध म राज्य करता था और किसी भी साधन से उसे ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी म नही रखा जा सकता। अनुश्रुति से यह सकेत मिलता है कि गोदावरी-तट पर स्थित प्रतिष्ठानपुर इस राजा की राजधानी थी, जिसके सम्बन्ध मे यह बात ध्यान देने योग्य है कि इसके राजा विक्रमादित्य की स्वीकृत राजधानी उज्जयिनी तथा पाटलिपुत्र से सम्बद्ध होने की सूचना कही प्राप्त नही होती। गौतमीपुत्र ने कभी किसी सवत् का प्रवर्तन नहीं किया, अर्थात् उसके उत्तराधिकारियो द्वारा उसके राज्य-वर्षों की ——

विस्तार नही किया गया । इसके अतिरिक्त कही भी उसे विक्रमादित्य अभिहित नही किया गया और उसका विशेषण 'वरवारण विक्रम-चारु-विक्रम' उपर्युक्त उपाधि से नितान्त असम्बद्ध है । 'हाल की सतसई मे हुए विक्रमादित्य के उल्लेख से कुछ भी सिद्ध नही होता, कारण कि इसकी सम्पूर्ण गाथाओ का रचनाकाल ईसवी सन् की पाचवी शताब्दी से पूर्व स्वीकार नही किया जा सकता ।

प्राचीनतम ऐतिहासिक विक्रमादित्य, मगध का चक्रवर्ती, गुप्त राजवश मे उत्पन्न, चन्द्रगुप्त द्वितीय (376-414 ई०) था । उनके पिता दिग्विजयी सम्राट् समुद्रगुप्त भी पराक्रमाक और 'श्री विक्रम विरुद मे विश्रुत थे । पूर्व मे बगाल से पश्चिम मे काठियावाड तक विस्तृत उत्तरी भारत की समस्त भूमि पर चन्द्रगुप्त द्वितीय शासन करता था । इसी ने पश्चिमी भारत के शक राजाओ का उन्मूलन किया और इसी सम्राट् का उल्लेख उज्जयिनी पुरवराधीश्वर तथा पाटलिपुरवराधीश्वर इन दोनो रूपो मे धारवाड जिले मे गुत्तल के गुत्तओ (गुप्तो) के शिला लेखों पर अकित अनुश्रुतियो मे है । मालवा, काठियावाड तथा राजपूताना से शको का उच्छेदन हो चुकने पर उज्जयिनी प्रत्यक्षत गुप्तवश के सम्राटो की अप्रधान राजधानी-सी हो गई । चन्द्रगुप्त द्वितीय विदेशियो का मूलोच्छेदक एव आर्यावर्त के विस्तीर्ण साम्राज्य का शासक ही नही था, वरन् उसके सम्बन्ध मे *यह भी विश्रुत है कि उसने नागो के शक्तिशाली राजवश के साथ तथा* बरावर के वाकाटको के साथ और सभवत कन्नड के कदम्बो के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित करके दक्षिण के पर्याप्त भाग पर अपने राजनीतिक प्रभाव का विस्तार किया था । वैष्णव धर्म के 'भागवतस्वरूप की एव परमभागवत उपाधि की, जिसका प्रयुक्त होना ईसवी पाचवी शताब्दी से प्रारम्भ हुआ, लोकप्रियता का मूल निस्सन्देह वही था । वह विद्या का महान् सरक्षक भी था । यह प्रसिद्ध है कि पाटलिपुत्र के शाबवीरसेन जैसे प्रतिभा-सम्पन्न कवि पश्चिम भारत की विजय-यात्राओ मे उसके साथ गये थे ।

भारतवर्ष के अत्यन्त विस्तीर्ण भूभाग पर आधिपत्य, विदेशियो का उन्मूलन, साहित्य का सरक्षण तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय के अन्य अनेक सम्भाव्य उत्कृष्ट गुणो ने लोक की कल्पना पर अधिकार किया और उसके नाम को इस छोर से उस छोर तक सम्पूर्ण भारतवर्ष मे लोकप्रिय बना दिया । उसके नाम तथा कार्यों को केन्द्र बनाकर प्रत्यक्षत उसके जीवनकाल मे ही आख्यायिकाओ का प्रादुर्भाव होने लगा एव उसकी मृत्यु के पश्चात् भी अधिक काल तक उनमे असदिग्ध रूप से वृद्धि ही होती रही । इस प्रकार सम्भव तथा असम्भव कथाए प्रचुर सख्या मे उसके जीवन से सम्बद्ध कर दी गईं । ससार के सभी भागो म बहुधा ऐतिहासिक व्यक्तियो के प्रिय नामों से सम्बद्ध आख्यायिकाओ का प्रादुर्भाव हुआ है और भारतवर्ष का सम्राट् विक्रमादित्य भी भारतवासियो द्वारा प्रधानत उसकी प्रिय

स्मृति के प्रति सदैव अनुभव किए गए हार्दिक सम्मान से उत्पन्न विस्तृत आख्यायिकाओ के प्रभा-मडल से आलोकित है। साधारण लोकमत प्राचीन काल के सम्राट् विक्रमादित्य को सभी शासकोचित गुणो से युक्त मानता है और उसके चरित्र मे वह किसी भी सुन्दर, महान् एव उदार तत्त्व की स्थिति को स्वीकृत करता है। एक लोकप्रिय कपोलकल्पना द्वारा उसका नाम कृत अथवा मालवगण-सवत् नाम से विश्रुत प्राचीन सिथोपार्थियन गणना के साथ सम्बद्ध कर दिया जाने के परिमाणस्वरूप उसकी स्थिति ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी मे कही जाती है। वह समस्त भारतवर्ष पर शासन करने वाले सम्राट् के रूप मे माना गया है। कहा जाता है कि नवरत्न अथवा तत्कालीन भारतीय कला, साहित्य एव विज्ञान के प्रतिनिधि नौ महान् साहित्यिक व्यक्तियो को सम्राट् विक्रमादित्य का सरक्षण प्राप्त था। यह भी विश्वास किया जाता है कि महाराज विक्रमादित्य दुष्टो को दण्ड देने तथा गुणीजनो को पुरस्कृत करने मे कभी न चूकते थे। असदिग्ध रूप से कुछ आख्यायिकाओ का आधार, भले ही वह आशिक हो, ऐतिहासिक तथ्यो पर है, किन्तु यह भी निश्चित है कि उनमे से अनेक काल्पनिक तथा अनैतिहासिक हैं। अशोकावदान मे लिपिबद्ध प्रचलित अनुश्रुतिया मौर्यवशी अशोक के जीवन के सम्बन्ध मे सदा प्रामाणिक नही मानी जाती। गाहडवाल जयचन्द्र तथा चन्देल परमार्दिदेव के साथ देहली, अजमेर तथा साभर के राजा पृथ्वीराज तृतीय के सम्बन्धो के विषय मे पृथ्वीराज राइसा तथा आल्हाखण्ड मे उपन्यस्त प्रचलित अनुश्रुतियो मे अधिकाश चौहान, गाहडवाल तथा चन्देल राजवशो के समकालीन अधिक विश्वस्त लेखो के प्रमाणो से असमर्थित होने के साथ-साथ निश्चित रूप से उनके प्रतिकूल भी हैं। अत भारतीय आख्यायिकाओ के विक्रमादित्य से सम्बद्ध सभी अनुश्रुतियो पर, विशेषत यह देखते हुए कि उनमे से कुछ की पुष्टि विश्वसनीय प्रमाणो से नही होती तथा शेष सर्वविदित ऐतिहासिक सत्यो के स्पष्टत विरुद्ध हैं, असदिग्ध रूप से विश्वास करना अनुचित है। उदाहरणार्थ, वराहमिहिर विक्रमादित्य की राजसभा के नवरत्नो मे से एक उज्ज्वल रत्न था, ज्योतिर्विदाभरण की यह अनुश्रुति निस्सन्देह अवास्तविक है, क्योंकि इसी सुविश्रुत ज्योतिर्विद् के स्वय के लेखो और उसकी टीका से इसकी मृत्यु 587 ई० मे होना, 476 ई० मे जन्म और आर्यभट्ट का इसका पूर्ववर्ती होना असदिग्ध रूप से प्रमाणित है। अत न तो वह विक्रमादित्य के अनुश्रुति सिद्ध काल ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में हुआ और न प्रथम ऐतिहासिक विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल ईसवी चतुर्थ-पचम शताब्दी मे हुआ।

इतिहास का निर्णय कुछ भी क्यो न हो, अनुश्रुति के विक्रमादित्य—जिसकी स्मृति मे हम आज उत्सव मना रहे हैं—किसी प्रकार भी अस्तित्वहीन व्यक्ति-विषयक निरर्थक कल्पना नही हो सकती। वह भारतीय राजत्व का आदर्श है

तथा हिन्दू-इतिहास के स्वर्ण-युग का महान् प्रतिनिधि है। वह भारतीय देशभक्तो के कल्पना-जगत् मे आज भी यश शरीर से सर्वोपरि वर्तमान है। उसकी उपाधि अथवा भूमिका ग्रहण करने वाले उसके पश्चात्वर्ती राजाओ तथा साम्राज्य सस्थापको द्वारा एव विभिन्न युगो मे उसका उल्लेख करने वाले अनेक लेखको द्वारा भी उसकी स्मृति को अमरत्व प्रदान कर दिया गया है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के उत्तराधिकारी गुप्त विक्रमादित्यो, वादामी और कल्याणी के चालुक्यवशी विक्रमादित्यो, वाण राज-परिवार के विक्रमादित्यो, कलचुरि-वश का गागेयदेव विक्रमादित्य तथा गुहिलोत विक्रमाजीत (विक्रमादित्य) इस यश शालिनी उपाधि को धारण करने वाले भारतीय राजाओ मे से कुछ हैं। राष्ट्रकूट गोविन्द चतुर्थ आदि कुछ मध्यकालीन राजा शौर्य अथवा अन्य राजोचित गुणो मे विक्रम से उच्चतर होने की घोषणा करते थे, तथा परमार सिन्धुराज प्रभृति अन्य राजा स्वय को नवसाहसाक (नवीन-विक्रमादित्य) कहते थे। सिन्धुराज के पुत्र सरस्वती के आलम्ब भोज और विक्रमादित्य को एक मानने वाली अनुश्रुति भी निरर्थक नही है। मध्यकाल के पिछले भाग मे दिल्ली के राजसिंहासन पर आधिपत्य जमाने वाले हेमू जैसे व्यक्ति द्वारा एव बगाल के अन्तर्गत जैसोर के प्रतापादित्य के पिता द्वारा विक्रमादित्य उपाधि धारण किया जाना सुविश्रुत है। मुगल सम्राट् अकबर का नौरतनो (नवरत्नो) को सरक्षण देकर प्राचीन भारत के सम्राट् विक्रमादित्य से प्रतिस्पर्धा करना भी प्रसिद्ध है। विक्रमादित्य का उल्लेख करने वाले बहुसख्यक लेखको मे से परमार्थ, सुवन्धु, ह्वेनत्सग, कथा-सरित्सागर तथा द्वात्रिंशत् पुत्तलिका के रचयिता, अलबेरूनी, वामन एव राजशेखर आदि अलकार-शास्त्र के आचार्य तथा काव्यशास्त्रकार, मेरुतुग आदि अनेक जैन ग्रथकार, अमोघवर्ष के सजनदान पत्र तथा गोविन्द चतुर्थ के कैम्बे एव सागलीदान पत्र सदृश लेखो के लेखको आदि के नामो का हम उल्लेख कर सकते हैं। इस प्रकार इस महान् सम्राट् की स्मृति क्रमानुगत उत्तरकालो मे भारत के समस्त सत्पुत्रो के कृतज्ञतापूर्ण अनुस्मरण से सर्वधित होती रही।

विक्रमादित्य के प्रति प्रेम और आदर उन सयोजक तत्त्वो मे से हैं जो सामाजिक, धार्मिक तथा सास्कृतिक विभिन्नताओ के कारण दुर्भाग्यवश विभाजित हुए भारतवर्ष के विभिन्न भाषाभाषी दलो को एक सूत्र मे आवद्ध करेंगे। अब विशेषत वर्तमान लौह-युग के असख्य उत्पीडनो मे उत्पन्न हमारी वेदना मे अपने पुण्य नाम द्वारा शान्ति प्रदान करनेवाले महान् विक्रम की स्वर्ण-पताका के नीचे पारस्परिक सहयोग की भावना के साथ हमे आ जाना चाहिए।

अन्त मे हम हृदय से वासवदत्ता के रचयिता सुवन्ध की शोकवाणी को अनुनादित करते हैं—

सा रसवत्ता विहता नवका विलसति चरित नो कंक ।
सरसीव कीर्तिशेष गतवति भुवि विक्रमादित्ये ।।

दीन दुखियो के सुहृद् भारतीय सस्कृति एव धर्म के सरक्षक, विद्या के अवलम्ब, विदेशियो के उन्मूलक, महान् विक्रमादित्य के लिए आज पुन हमारा सामूहिक नन्दन स्फुटित होता है—

'विक्रम ! भारत तेरे बिना दैन्य का अनुभव करता है, कही तू आज हमारे बीच होता !'

अनुश्रुतियों में विक्रम

□ श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

भारतीय कल्पना को अत्यधिक स्पर्श करने का सौभाग्य जितना विक्रमादित्य को प्राप्त है, उतना केवल कतिपय महापुरुषो को ही प्राप्त हो सका है। सुभाषितो मे, धार्मिक ग्रन्थो मे, कथा-साहित्य मे एव लोक-कथाओ मे विक्रम-चरित्र ओतप्रोत है। भावुक एव वीरपूजक भारतीय हृदयो मे शको के अत्याचार एव अनाचार से त्राण दिलानेवाले इस महान् वीर की मूर्ति सदा के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रूप से स्थापित हो गई। यही कारण है कि विक्रमीय प्रथम शती से लेकर आज तक विक्रमादित्य विषयक साहित्य की वृद्धि ही होती गई है। सस्कृत से लेकर प्राकृत, अपभ्रंश और वर्तमान प्रान्तीय भाषाओ मे विक्रम चरित्र सम्बन्धी सैकडो ही ग्रन्थ भरे पडे हैं।

इस लेख मे हम अत्यन्त सक्षेप मे विक्रमीय साहित्य की विशाल राशि मे मे केवल कुछ को ही प्रस्तुत करना चाहते है। इनके देखने से यह तो ज्ञात होगा ही कि बहुत प्राचीन समय से ही लोक-मस्तिष्क मे विक्रमादित्य की क्या भावना रही है, ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस साहित्य का मूल्य बहुत अधिक है। इनका प्रत्येक विवरण भले ही इतिहास की कसौटी पर खरा न उतरे परन्तु इनका समन्वित रूप, साहित्य की विशिष्ट वर्णन-शैली को हटाकर ऐतिहासिक अन्वेषक के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। उसके द्वारा ज्ञात ऐतिहासिक सामग्री के ढाचे मे रूप-रग भरा जा सकता है। अत आगे क्रमश एक-एक विक्रम विषयक ग्रन्थ का ऐतिहासिक मूल्याकन कर उसमे निहित विक्रम विषयक उल्लेख देने का प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार तुलना एव परख से विक्रमादित्य की अनुश्रुति-सम्मत मूर्ति की धुधली रूप-रेखा प्रस्तुत हो सकेगी। इस आशय के लिए यहा केवल गाथासप्तशती, कालकाचार्य-कथा, कथासरित्सागर, वेतालपच्चीसी, सिंहासन-बत्तीसी, राजतरगिणी, प्रवन्ध चिन्तामणि, ज्योतिर्विदाभरण तथा भविष्य-पुराण को ही लिया गया है, क्योकि विक्रम-विषयक सम्पूर्ण साहित्य का इस प्रकार विवेचन करना तो एक महान् ग्रथ का विषय है तथा बहुत ही कष्ट-साध्य कार्य है—यद्यपि वह किए जाने

योग्य अवश्य है। वैसे तो इन ग्रन्थो के विषय मे कालक्रम के अनुसार लिखना उचित होगा परन्तु उससे हमारे कथा-प्रवाह मे भग होगा। अत आगे हम उनको उसी क्रम से लेंगे, जिससे कथा-प्रवाह बना रहे।

कालकाचार्य-कथा—कालकाचार्य नामक चार जैनाचार्य हो गए हैं। पहले श्यामार्य नामक कालकाचार्य, जिनका समय वीर-निर्वाण-सवत् 335 के लगभग है, दूसरे गर्दभिल्ल राजा से साध्वी सरस्वती को छुडाने वाले, जिनका अस्तित्वकाल वीर निर्वाण-सवत् 453 के आसपास है तथा चौथे कालक का समय वीर-सवत् 113 है।[1] इनमे से दूसरे आचार्य कालक का सम्बन्ध विक्रमी-घटना से है।

कालकाचार्य-कथा जो आज प्राप्त होती है उसमे इन चारो की कथाए सम्मिलित कर दी गई है, इनमे से हमारे लिए तो गर्दभिल्ल के राज्य का उन्मूलन करनेवाले कालकाचार्य की कथा ही उपयोगी है। इस कथा मे गर्दभिल्ल की शको द्वारा पराजय एव गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य द्वारा शको की पराजय का उल्लेख है। मेरुतुगाचार्य रचित पट्टावली मे पिछली घटना का समय वीर-निर्वाण-सवत् 470 (अर्थात् 50 ई० पू० अर्थात् विक्रम-सवत् की प्रारम्भ तिथि के 7 वर्ष पूर्व) बतलाया है। प्रबन्ध-कोश मे भी सवत् प्रवर्त्तन की यही तिथि बतलाई है। धनेश्वर सूरि रचित शत्रुजय माहात्म्य म विक्रमादित्य के प्रादुर्भाव का समय वीर-सवत् 466 बतलाया है। इस प्रकार सम्पूर्ण जैन अनुश्रुति इस तिथि तथा घटना का समर्थन करती है। इधर पुराणो मे भी गर्दभिन् वश का राज्य-काल यही ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी बतलाया गया है।

सप्तगर्दभिला भूमौ भोक्ष्यन्तीमा वसुन्धराम्।[2]
शतानि त्रीण अशीतिञ्च शका ह्यष्टा दशैव तु॥—(मत्स्यपुराण)

इस कथा मे प्रधान घटना शको के मालव आक्रमण की है। प्रश्न यह है कि क्या कोई शक-आक्रमण प्रथम शती ईसवी मे मालव पर हुआ था ? इसका उत्तर 'खरोष्ट्री इन्सक्रिपशन्स' की भूमिका मे स्तीन कोनो ने दिया है। इसमे इस विद्वान ने भारतवर्ष के बाहर तथा भारत मे प्राप्त सामग्री के आधार पर शको का इतिहास प्रस्तुत किया है। वह लिखता है, 'भारतवर्ष के प्रथम शक-साम्राज्य के इतिहास का पुनर्निर्माण इस प्रकार किया जा सकता है ई० पू० 88 मे मिथ्रा-डेटस द्वितीय की मृत्यु के थोडे समय पश्चात् ही शीस्तान के शको ने अपने आपको पर्थिया से स्वतत्र कर लिया और उस विजययात्रा का प्रारम्भ कर दिया, जिसने उन्हे सिन्धु-नद के देश तक पहुचा दिया।·· बाद को ई० पू० 60 के

1 द्विवेदी अभिनन्दन-ग्रथ, पृ० 94-96।

2 Pagiter, The Purana Text of the Dynasties of the Kali Age, pp 45, 46, 72

लगभग शको ने अपना साम्राज्य उस प्रदेश तक बढा लिया था जिसे कालकाचार्य-कथानक मे हिन्दुक देश कहा गया है। (सिन्धु-नद का निचला प्रदेश) और उसके पश्चात् वे काठियावाड और मालवे की ओर बढ़े, जहा उन्होने सम्भवत अपना राष्ट्रीय सवत्सर चलाया। यहा सन् 57-56 ई० पू० मे विक्रमादित्य ने उनका उन्मूलन किया और अपनी इस विजय के उपलक्ष मे अपने सवत्सर का प्रवर्तन किया, जो हमे उसके प्राय 70 वर्ष पश्चात् मथुरा मे प्रयुक्त मिलता है।[1]

कालकाचार्य-कथा की ऐतिहासिकता का यह विद्वान् बडे उत्साह एव दृढता के साथ समर्थन करता है। वह लिखता है—'मुझे तो इसका थोडा-सा भी कारण नही दिखता कि अन्य लोगो के समान मैं इस कथा को असत्य मान लू।[2]' स्तीन कोनो ही नही रेप्सन के कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया भाग 1, पृष्ठ 532 पर इस कथा की घटनाओ के विश्वसनीय होने के विषय मे लिखा है। श्री नारमन ब्राउन भी अपने कालकाचार्य-कथानक की भूमिका मे इसकी घटनाओ की ऐतिहासिकता को स्वीकार करते हैं।

कालकाचार्य कथा के वर्तमान पाठो के विषय मे श्री नारमन ब्राउन ने लिखा है कि सभी ज्ञात पाठो को एक ही मूल स्रोत से प्रवाहित मान लेना असम्भव है। यह स्रोत न तो इन पाठो मे से कोई एक है और न कोई अप्राप्त पाठ। सम्भव है कि कालक नाम के साथ बहुत समय तक बहुत-सी जनश्रुतियां सम्बद्ध रही हो जो श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे प्रचलित थी। यह जब मौखिक रूप मे थी, तब जैन साधु इसे विस्तृत अथवा सक्षिप्त रूप मे अपने शब्दो मे सुनते रहे। और जब यह कथा लिपिबद्ध की गई तो वह इसी मौखिक स्रोत से लिखी गई।[3] आगे इस कालक-कथा के केवल सम्बद्ध भाग का सक्षिप्त रूप दिया जाता है।

इस ससार के जम्बू द्वीप के भारत देश मे धारावास नामक एक नगर था। उसमे वज्रसिह नामक प्रतापी राजा रहता था। सुरसुन्दरी नामक उसकी रानी थी। इस रानी से कालक नामक उसके एक पुत्र हुआ। इस कालक की एक बार गुणाकर नामक (जैन) आचार्य से भेंट हुई। उनके उपदेश से यह बहुत अधिक प्रभावित हुआ और उनका शि[illegible] । कालक को विद्वान् एव साधना मे सम्पन्न देख गुणाकर ने उसे

[illegible] अपने शिष्यो सहित [illegible] आए और वहा
लगे [illegible] म गर्दभिल्ल नामक [illegible] था।

[illegible] स, पृ० 36।

दिन अत्यन्त रूपवती कालक की छोटी बहिन साध्वी सरस्वती को देखा और उसके रूप पर मुग्ध होकर उसे अवरुद्ध करके अपने अन्त पुर मे डाल दिया। कालक सूरि ने राजा को बहुत समझाया परन्तु कामान्ध राजा ने एक न मानी। सूरि ने जैन सघ द्वारा भी राजा को समझवाया परन्तु राजा ने जैन सघ की बात भी न मानी। क्रुद्ध होकर कालक ने प्रतिज्ञा की कि यदि गर्दभिल्ल का उन्मूलन न करू तो प्रवचक, सयमोपघातक और उनके उपेक्षको की गति को प्राप्त होऊ।

सूरि ने विचार किया कि गर्दभिल्ल का बल उसकी 'गर्दभी' विद्या है। अत उसका उन्मूलन युक्ति से ही करना होगा। उन्होने उन्मत्त का वेश बना लिया और प्रलाप करने लगे—'यदि गर्दभिल्ल राजा है तो क्या ? यह अन्त पुर रम्य है तो क्या ? यदि देश मनोहर है तो क्या ? यदि लोग अच्छे वस्त्र पहने हैं तो क्या ? यदि मैं भिक्षा मागता हू तो क्या ? यदि मैं शून्य देवल मे सोता हू तो क्या ?' इस प्रकार इनका हाल देखकर पुर के लोग कहने लगे 'हाय, राजा ने अच्छा नही किया।' राजा की यह निन्दा सुनकर मत्रियो ने भी उसे साध्वी को छोड देने की सलाह दी, परन्तु राजा ने एक न मानी।

सूरि ने वह नगर छोड दिया और वह चलते-चलते शककुल नामक (सिन्धुनद के) कूल पर पहुचे। वहा क सामन्त साहि कहलाते थे और उनका नरेन्द्र 'साहानुसाहि' कहलाता था। वहा एक 'साहि' के समीप सूरि रहने लगे, जिसे उन्होंने अपने मत्र तत्र से प्रसन्न कर लिया था।

जब सूरि साहि के साथ आनन्द स रह रहे थे, उसी समय एक दूत आया जिसने साहि को साहानुसाहि की भेजी हुई एक कटारी दी और उसको यह सन्देश दिया कि उससे साहि अपना गला काट ले। साहि को भयभीत देखकर कालक ने पूछा कि साहानुसाहि केवल उसी से अप्रसन्न है अथवा और किसी से भी। ज्ञात यह हुआ कि इसी प्रकार 95 अन्य साहियो को आदेश दिया गया है। कालक की सलाह से यह 96 साहि इकट्ठे हुए और उन्होने 'हिन्दुक देश' को प्रयाण किया।

वे समुद्र मार्ग से सुराष्ट्र (सूरत या सौराष्ट्र) आए। उस देश को 96 भागो में बाटकर वे सब वहा राज्य करने लगे।

वर्षाऋतु बीतने पर कालकसूरि ने गर्दभिल्ल से बदला लेने के विचार से साहियो को उत्तेजित किया और कहा कि इस प्रकार निरुद्यम क्यो बैठे हो, उज्जयिनी नगरी को हस्तगत करो क्योकि वह 'वैभवशालिनी मालव भूमि की कुञ्जी है।'

उन्होने कहा कि हम ऐसा करने को तैयार हैं परन्तु हमारे पास धन नही है। कालक सूरि ने ईंटो के एक भट्ठे को सोने का बना दिया। उसे लेकर

साहियो ने उज्जयिनी पर आक्रमण किया। लाट देश के राजा ने भी उनका साथ दिया। दोनो ओर की सेनाओ म भयकर युद्ध हुआ। गर्दभिल्ल की सेना के पैर उखड गए। गर्दभिल्ल ने नगर के भीतर शरण ली। नगर घेर लिया गया।

गर्दभिल्ल ने गर्दभी विद्या सिद्ध की। गर्दभिल्ल उसे प्रत्यक्ष करने लगा। प्रत्यक्ष होने पर वह बडा भयकर शब्द करती जिसे सुनकर शत्रु-सेना का कोई भी मनुष्य अथवा पशु भय-विह्वल होकर रुधिर वमन करता हुआ अचेत पृथ्वी पर गिर पडता। कालक सूरि यह रहस्य जानते थे। उन्होंने सब सेना को पीछे हटा दिया और अपने साथ केवल 108 तीरन्दाज रख लिये। उन्ह सूरि ने समझा दिया कि जैसे ही गर्दभी शब्द करने को मुह खोले, वे तीर चलाकर उसका मुह भर दें। इस प्रकार गर्दभी विद्या निष्फल हुई। गर्दभिल्ल हारकर पकडा गया और सूरि के सामने लाया गया। अपमानित गर्दभिल्ल निर्वासित कर दिया गया।[1]

जिस साहि के साथ कालक सूरि रहे थे, वह सब साहियो का मुखिया बना और वे उज्जयिनी मे रहने लगे। वे शककुल से आए थे, अत शक कहलाते थे

1 अभी अनेक विद्वानो ने एक नवीन चर्चा प्रारम्भ की है। मालवे मे सोनकच्छ के पास गन्धावल नामक स्थान है। वहा एक गन्धर्वसेन का मन्दिर खोज निकाला गया है। गन्धावल के विषय म यह भी लिखा है कि वहा जैनमतावलम्बियो का प्रभुत्व है। ऐसे स्थान पर जैन धर्म विरोधी गर्दभिल्ल का मन्दिर क्योकर हो सकता है, यह सोचने की बात है। इसके विषय मे एक विद्वान् ने यह अनुमान किया है कि गर्दभिल्ल का अपमान करने के लिए ही उसकी यह गर्दभमुखी प्रतिमा बनाई गई है। परन्तु अपमान करने के लिए मन्दिर बनाने की अभिनव कल्पना मे हम सहमत नही हो सकत। फिर यह प्रतिमा अत्यन्त अर्वाचीन भी है। इसके लिए उक्त विद्वान् (श्री कवचाले) ने यह लिखा है कि यह किसी प्राचीन प्रतिमा की प्रतिकृति है। बात यह ज्ञात होती है कि यह वराह प्रतिमा है। मध्यकाल की वराहावतार की मूर्तिया अनेक ग्रामो मे पायी जाती हैं। वराह पूजन की प्रथा कम होने पर वराह मूर्तियो के नाम भी विभिन्न हो गए। एक ग्राम म हमने लोगो को उसे दाने की मूर्ति भी कहते सुना। ज्ञात यह होता है कि गन्धावल के जैनी उस वैष्णव सम्प्रदाय के मन्दिर को गन्धवसेन का मन्दिर कह उठे और वराह के मुख को गर्दभ के मुख की कल्पना कर उठे। यह भी कोई आश्चर्य नही कि यह फूहड रीति से गढी हुई मूर्ति वराह की शास्त्रोक्त मूर्तियो से भिन्न हो।

और इस प्रकार 'शक-वंश' चला।

कुछ समय बाद विक्रमादित्य हुआ, जिसने शक-वंश का नाश किया और मालवे का राजा बना। वह पृथ्वी पर एक ही वीर था, जिसने अपने विक्रम से अनेक नरेन्द्रों को दबाया और अपने कार्यों से सुन्दर कीर्ति का संचय किया, जिसने अपने साहस से कुबेर की आराधना की और उनसे वरदान प्राप्त कर शत्रु तथा मित्र सभी को अगणित दान दिए, जिसने अपार धनराशि देकर सबको ऋण-मुक्त करके अपने संवत्सर का प्रवर्तन किया।[1]

कुछ समय पश्चात् एक शक राजा हुआ, जिसने विक्रमादित्य के वंशजों का भी उन्मूलन किया और विक्रम-संवत् के 135 वर्ष पश्चात् उसने अपना शक-संवत् चलाया।

इस कथा के पढ़ने पर तथा ज्ञात ऐतिहासिक तथ्यों से इसे मिलाने पर यह स्पष्ट होता है कि इसमें बहुत कुछ उस समय का इतिहास सच्चे रूप में ही सन्निहित है। यह जैन सम्प्रदाय की धार्मिक कथा है, अतः कालकाचार्य के व्यक्तित्व में अलौकिकता का जुड़ जाना तो सम्भव है परन्तु उसमें इतिहास की घटनाओं को बिगाड़कर लिखने की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। दूसरे, जैन सम्प्रदाय में धार्मिक साहित्य को अपरिवर्तित रूप में सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति बहुत अधिक है। अतः भले ही यह कथा प्रारम्भ में मौखिक रूप में प्रचलित थी, फिर भी उसमें अधिक परिवर्तन की प्रवृत्ति न रही होगी। यद्यपि स्मृति-दोष तथा संक्षेप एवं विस्तार की इच्छा ने अच्छा प्रभाव नहीं डाला होगा।

कथासरित्सागर—सोमदेवभट्ट-कृत कथासरित्सागर यद्यपि विक्रमी बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में लिखी गई है, परन्तु अनेक कारणों से उसका ऐतिहासिक महत्व बहुत अधिक है। यह कथा गुणाढ्य-रचित पैशाची प्राकृत में लिखी गई बृहत्कथा को आधार मानकर रची गई है। स्वयं सोमदेव ने लिखा है 'बृहत्कथायाः सारस्य संग्रहं रचयाम्यहम्।'

बृहत्कथा का लेखक गुणाढ्य सातवाहन हाल का समकालीन था। अतः कथासरित्सागर विक्रमादित्य के प्रायः एक शताब्दी पश्चात् ही लिखे गए ग्रन्थ के आधार पर होने के कारण उसका (विक्रमादित्य का) उल्लेख महत्वपूर्ण है।

कथासरित्सागर में विक्रमादित्य का नाम चार स्थान पर आया है।

पहले तो छठे लम्बक की प्रथम तरंग में उज्जैन के राजा विक्रमसिंह का

---

1. डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने कालक-कथा के विक्रमादित्य सम्बन्धी श्लोकों को प्रक्षिप्त अनुमानित किया है। परन्तु इस अनुश्रुति का प्रतिपादन अन्य सभी जैन ग्रन्थों द्वारा होता है, अतः उसे अकारण ही प्रक्षिप्त मानना उचित नहीं है।

साहियो ने उज्जयिनी पर आक्रमण किया। लाट देश के राजा ने भी उनका साथ दिया। दोनो ओर की सेनाओ म भयकर युद्ध हुआ। गर्दभिल्ल की सेना के पैर उखड गए। गर्दभिल्ल ने नगर के भीतर शरण ली। नगर घेर लिया गया।

गर्दभिल्ल ने गर्दभी विद्या सिद्ध की। गर्दभिल्ल उसे प्रत्यक्ष करने लगा। प्रत्यक्ष होने पर वह बडा भयकर शब्द करती जिसे सुनकर शत्रु-सेना का कोई भी मनुष्य अथवा पशु भय विह्वल होकर रुधिर वमन करता हुआ अचेत पृथ्वी पर गिर पडता। कालक सूरि यह रहस्य जानते थे। उन्होने सब सेना को पीछे हटा दिया और अपने साथ केवल 108 तीरन्दाज रख लिये। उन्ह सूरि ने समझा दिया कि जैसे ही गर्दभी शब्द करने को मुह खोले, वे तीर चलाकर उसका मुह भर दें। इस प्रकार गर्दभी विद्या निष्फल हुई। गर्दभिल्ल हारकर पकडा गया और सूरि के सामने लाया गया। अपमानित गर्दभिल्ल निर्वासित कर दिया गया।[1]

जिस साहि के साथ कालक सूरि रहे थे, वह सब साहियो का मुखिया बना और वे उज्जयिनी मे रहने लगे। वे शककुल से आए थे, अत शक कहलाते थे

---

1 अभी अनेक विद्वानो ने एक नवीन चर्चा प्रारम्भ की है। मालवे मे सोनकच्छ के पास गन्धावल नामक स्थान है। वहा एक गन्धर्वसन का मन्दिर खोज निकाला गया है। गन्धावल के विषय म यह भी लिखा है कि वहा जैनमतावलम्बियो का प्रभुत्व है। ऐसे स्थान पर जैन-धम विरोधी गर्दभिल्ल का मन्दिर क्योकर हो सकता है, यह सोचने की बात है। इसके विषय मे एक विद्वान् ने यह अनुमान किया है कि गर्दभिल्ल का अपमान करने के लिए ही उसकी यह गर्दभमुखी प्रतिमा बनाई गई है। परन्तु अपमान करने के लिए मन्दिर बनाने की अभिनव कल्पना मे हम सहमत नही हो सकते। फिर यह प्रतिमा अत्यन्त अर्वाचीन भी है। इसके लिए उक्त विद्वान् (श्री ककवाले) ने यह लिखा है कि यह किसी प्राचीन प्रतिमा की प्रतिकृति है। बात यह ज्ञात होती है कि यह वराह प्रतिमा है। मध्यकाल की वराहावतार की मूर्तिया अनेक ग्रामो मे पायी जाती हैं। वराह-पूजन की प्रथा कम होने पर वराह मूर्तियो के नाम भी विभिन्न हो गए। एक ग्राम म हमने लोगो को उसे दाने की मूर्ति भी कहते सुना। ज्ञात यह होता है कि गन्धावल के जैनी उस वैष्णव सम्प्रदाय के मन्दिर को गन्धर्वसन का मन्दिर कह उठे और वराह के मुख को गर्दभ के मुख की कल्पना कर उठे। यह भी कोई आश्चर्य नही कि यह फूहड रीति से गढी हुई मूर्ति वराह की शास्त्रोक्त मूर्तियो से भिन्न हो।

और इस प्रकार 'शक-वंश' चला।

कुछ समय बाद विक्रमादित्य हुआ, जिसने शक-वंश का नाश किया और मालवे का राजा बना। वह पृथ्वी पर एक ही वीर था, जिसने अपने विक्रम मे अनेक नरेन्द्रो को दबाया और अपने कार्यों से सुन्दर कीर्ति का सचय किया, जिसने अपने साहस से कुबेर की आराधना की और उनसे वरदान प्राप्त कर शत्रु तथा मित्र सभी को अगणित दान दिए, जिसने अपार धनराशि देकर सबको ऋण-मुक्त करके अपने संवत्सर का प्रवर्तन किया।[1]

कुछ समय पश्चात् एक शक राजा हुआ, जिसने विक्रमादित्य के वशजो का भी उन्मूलन किया और विक्रम-सवत् के 135 वर्ष पश्चात् उसने अपना शक-सवत् चलाया।

इस कथा के पढ़ने पर तथा ज्ञात ऐतिहासिक तथ्यो से इसे मिलाने पर यह स्पष्ट होता है कि इसमे बहुत कुछ उस समय का इतिहास सच्चे रूप मे ही सन्निहित है। यह जैन सम्प्रदाय की धार्मिक कथा है, अतः कालकाचार्य के व्यक्तित्व मे अलौकिकता का जुड जाना तो सम्भव है परन्तु उसमे इतिहास की घटनाओ को बिगाडकर लिखने की प्रवृत्ति नही हो सकती। दूसरे, जैन सम्प्रदाय मे धार्मिक साहित्य को अपरिवर्तित रूप म सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति बहुत अधिक है। अत भले ही यह कथा प्रारम्भ मे मौखिक रूप मे प्रचलित थी, फिर भी उसमे अधिक परिवर्तन की प्रवृत्ति न रही होगी। यद्यपि स्मृति दोष तथा सक्षेप एव विस्तार की इच्छा ने अच्छा प्रभाव नही डाला होगा।

कथासरित्सागर—सोमदेवभट्ट-कृत कथासरित्सागर यद्यपि विक्रमी बारहवी शताब्दी के प्रारम्भिक भाग मे लिखी गई है, परन्तु अनेक कारणो से उसका ऐतिहासिक महत्त्व बहुत अधिक है। यह कथा गुणाढ्य-रचित पैशाची प्राकृत मे लिखी गई बृहत्कथा को आधार मानकर रची गई है। स्वय सोमदेव ने लिखा है 'बृहत्कथाया सारस्य सग्रह रचयाम्यहम्।'

बृहत्कथा का लेखक गुणाढ्य सातवाहन हाल का समकालीन था। अत कथासरित्सागर विक्रमादित्य के प्राय एक शताब्दी पश्चात् ही लिखे गए ग्रन्थ के आधार पर होने के कारण उसका (विक्रमादित्य का) उल्लेख महत्त्वपूर्ण है।

कथासरित्सागर मे विक्रमादित्य का नाम चार स्थान पर आया है।

पहले तो छठे लम्बक की प्रथम तरग मे उज्जैन के राजा विक्रमसिंह का

---

1 डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने कालक-कथा के विक्रमादित्य सम्बन्धी श्लोको को प्रक्षिप्त अनुमानित किया है। परन्तु इस अनुश्रुति का प्रतिपादन अन्य सभी जैन ग्रन्थो द्वारा होता है, अत उसे अकारण ही प्रक्षिप्त मानना उचित नही है।

उल्लेख है। इसमे केवल विक्रमसिंह की बुद्धि एव उदारता सम्बन्धी कथा है। राजा शिकार खेलने निकलता है। उसने मार्ग के एक मन्दिर मे दो आदमियो को बात करते पाया। लौटने पर फिर वे वही मिले। उसे सन्देह हुआ। बुलाकर उसने उनका हाल पूछा। उनके सत्य कहने पर उसने उन्हे आश्रय दिया।

उसके पश्चात् लम्बक 7 की तरग 4 म पाटलिपुत्र के विक्रमादित्य का उल्लेख है। विक्रमादित्य इत्यासीद्राजा पाटलिपुत्रके।' यह कथा भी उज्जयिनी-पति विक्रमादित्य से सम्बन्धित न होकर पाटलिपुत्र-पुरवराधीश से सम्बन्धित है। यह विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, क्योकि इससे ज्ञात होता है कि सोमदेव के सामने उज्जयिनीनाथ विक्रमादित्य के अतिरिक्त भी एक विक्रमादित्य थे। यह पाटलिपुत्र के राजा विक्रमादित्य निश्चय ही 57 ई० पू० के सवत्-प्रवर्त्तक विक्रमादित्य से भिन्न थे।

आगे बारहवें लम्बक म उज्जैन के विक्रम-केशरी का उल्लेख है। उसमे प्रतिष्ठान देश के राजा विक्रमसेन के पुत्र त्रिविक्रम के साथ विक्रम कथा म प्रसिद्ध वाचाल वेताल तथा उनके 'अपराजिता' नामक खड्ग को सम्बद्ध कर दिया है। इस बारहवें लम्बक मे प्रख्यात 'वेताल पचविंशतिका' सम्मिलित है। यह स्वतत्र ग्रन्थ के रूप म एव विभिन्न पाठो मे मिली है। उसका वर्णन आगे किया गया है।

वास्तव म जिसे विक्रमादित्य का विस्तृत उल्लेख कहा जा सकता है वह तो अठारहवें लम्बक म है। (यही कथा क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथा मजरी के दसवें लम्बक म है) इस लम्बक म पाच तरग हैं। इनम प्रधान पहली तरग है, जिसमे विक्रमादित्य का जन्म, गुण, शील आदि का वर्णन किया गया है। उसका सक्षिप्त रूप नीचे दिया जाता है —

अवन्ति देश मे विश्वकर्मा द्वारा बनाई हुई अत्यन्त प्राचीन नगरी उज्जयिनी है जो पुरारि शकर का निवास-स्थान है।

वहा पर महेन्द्रादित्य[1] नामक राजा राज्य करता था जो अत्यन्त बली, शूर तथा सुन्दर था। उसकी सौम्यदर्शना नामक अत्यन्त रूपवती रानी थी और

1 यदि यह 'महेन्द्रादित्य' गुप्तवशीय कुमारगुप्त को मानें तो यह कथा 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' से सम्बन्धित मानी जायगी। कुमारगुप्त के सिक्को पर 'परम भागवत महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य' लिखा मिलता है। अत स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के पिता का विरुद 'महेन्द्रादित्य' था, यह माना जा सकता है। परन्तु इस कथा का विक्रमादित्य पाटलिपुरवराधीश से भिन्न है, अत यह नाम-साम्य केवल आकस्मिक ज्ञात होता है।

सुमति नामक मत्री था। उसके प्रतीहार का नाम वज्रायुध था। परन्तु उसके कोई सन्तान नही थी। पुत्र-प्राप्ति के लिए राजा अनेक व्रत, तप आदि कर रहा था।

उसी समय एक दिन जब शिवजी कैलाशपर्वत पर पार्वती सहित विश्राम कर रहे थे, उनके पास इन्द्र पहुचे और निवेदन किया कि महीतल पर असुर म्लेच्छो के रूप मे अवतरित हो गए है। वे यज्ञादि क्रियाओ मे विघ्न डाल रहे है, मुनि-कन्याओ का अपहरण कर लेते हैं और अनेक पापाचार करते हैं। वषट्कार आदि त्रिया न होने से देवो को हवि प्राप्त नही होता। इनके नाश का कोई उपाय बतलाइए।[1] भगवान् शकर ने कहा कि आप अपने स्थान को जाय, मैं इसका उपाय कर दूगा। उनके चले जाने पर भगवान् शकर ने माल्यवान् गण को बुलाकर कहा कि उज्जयिनी महानगरी के राजा महेन्द्रादित्य के घर मे तुम जन्म लो और देवताओ का कार्य करो। वहा यक्ष-राक्षस वेताल को अपने वश मे करके म्लेच्छो का उन्मूलन करो और मानवो के भोग भोगकर पुन लौट आओ। माल्यवान[2] ने उज्जयिनी मे महेन्द्रादित्य की रानी के गर्भ मे प्रवेश किया।

भगवान् शकर ने महेन्द्रादित्य को स्वप्न में दर्शन देकर कहा कि 'मैं तुम पर प्रसन्न हू, तुम्हारे ऐसा पुत्र होगा जो द्वीपो सहित इस पृथ्वी पर विक्रमण करेगा, यक्ष-राक्षस-पिशाचादि को वश मे करेगा और म्लेच्छ सघ को विनष्ट करेगा। इस कारण उसका नाम 'विक्रमादित्य' होगा और रिपुओ से वैर रखने के कारण वह 'विषमशील' भी कहलाएगा। प्रात काल जब राजा मत्रियो को यह स्वप्न सुना रहे थे, उसी समय अन्त पुर की एक चेटी ने एक फल लाकर दिया और कहा कि रानी को स्वप्न मे यह फल मिला है। राजा को विश्वास हुआ कि उसे पुत्र प्राप्त होगा।

रानी का गर्भ अत्यन्त तेजस्वी था और समय पाकर महेन्द्रादित्य के बालार्क के समान पुत्र उत्पन्न हुआ और उसका नाम विक्रमादित्य तथा विषमशील रखा गया। इसके साथ ही मत्री सुमति और वज्रायुध के घर पुत्र उत्पन्न हुए और उनके नाम क्रमश महामति तथा भद्रायुध रखे गए। बाल विक्रमादित्य इनके साथ क्रीडा करने लगे और उनका तेज, बल और वीर्य दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा। समय पर उनका यज्ञोपवीत एव विवाह हुआ। अपने पुत्र को युवा एव प्राज्य-विक्रम जानकर राजा ने उसका विधिवत् अभिषेक किया और स्वय काशी मे रहकर शिव की आराधना करने चला गया।

---

1. म्लेच्छो के इस अत्याचार के वर्णन की तुलना शको के उस अत्याचार के वर्णन से की जा सकती है जो गर्ग-सहिता के एक अध्याय 'युग-पुराण' मे दिया गया है।
2. यहां व्यजना से मालवजाति और गणतत्र का अर्थ लिया जा सकता है।

फिर अत्यन्त प्रभावशाली शब्दों में सोमदेव ने विक्रमादित्य के शौर्य, पराक्रम व प्रजापरायणता का वर्णन किया है—

> सोऽपि तद्विक्रमादित्यो राज्यमासाद्य पैतृकम्।
> नमो भास्वानिवारेभे राजा प्रतपितुं क्रमात् ॥61॥
> दृष्ट्वैव तेन कोदण्डे नमत्यारोपितं गुणम्।
> तच्छिक्षयेवोच्छिरसोऽप्यानमत् सर्वतो नृपाः ॥62॥
> दिव्यानुभावो वेतालराक्षसप्रभृतीनपि।
> साधयित्वानुशास्ति स्म सम्यगुन्मार्गवर्तिनः ॥63॥
> प्रसाद्यन्त्यः ककुभ सेनास्तस्य महीतले।
> विक्रमादित्यादित्यस्येव रश्मय ॥64॥
> महावीरोप्यऽभूद्राजा स भीरुः परलोकत।
> शूरोऽपि चाचण्डकरः कुभर्ताप्यंगनाप्रियः ॥65॥
> स पिता पितृहीनानामबन्धूना स बान्धव।
> अनाथानां च नाथः सः प्रजानां कः स नाभवत् ॥66॥

(वह विक्रमादित्य भी पैतृक राज्य को पाकर पृथ्वी पर अपने प्रताप को स प्रकार फैलाने लगा जैसे आकाश में सूर्य अपने प्रताप को फैलाता है। धनुष र प्रत्यचा चढ़ाते हुए उस राजा को देखकर बड़े-बड़े अभिमानी राजा नतमस्तक ो जाते थे। दिव्यानुभाववाला वह राजा उन्मार्गवर्ती वेताल राक्षस आदि की ाधना करके उन पर शासन करता था। पृथ्वी पर विक्रमादित्य की सेना म्पूर्ण दिशाओं में इस प्रकार व्याप्त हो गई थी जैसे सूर्य की किरणें। अत्यन्त ीर्यवान् होते हुए भी वह राजा परलोक से डरनेवाला था—शूरवीर होते हुए ी वह अचण्डकर था और कुभर्ता (पृथ्वीपति) होते हुए भी स्त्री-प्रिय था। वह पितृहीनों का पिता था, बन्धुहीनों का बन्धु था, अनाथों का नाथ था एवं प्रजा-जनों का सर्वस्व था।)

एक बार जब विक्रमादित्य अपनी सभा में बैठे थे तो दिग्विजय को निकले हुए उनके सेनापति 'विक्रमशक्ति' का दूत उन्हें मिला। उसने कहा—

> 'सापरान्तश्च देवेन निर्जितो दक्षिणापथः।
> मध्यदेशः ससौराष्ट्रः सवंगागा च पूर्वदिक् ॥76॥
> सकश्मीरा च कौबेरी काष्ठा च करदीकृता।
> तानि तान्यपि दुर्गाणि द्वीपानि विजितानि च ॥77॥
> म्लेच्छसंघाश्च निहताः शेषाश्च स्थापिता वशे।
> ते ते विक्रमशक्तेश्च प्रविष्टाः कटके नृपाः ॥78॥
> स च विक्रमशक्तिस्तैः राजभिः सममागतः।
> इतः प्रयाणकेष्वास्ते द्वित्रेष्वेव खलु प्रभो ॥79॥

(आपके द्वारा अन्य देशो सहित दक्षिणापथ, सौराष्ट्र सहित मध्यदेश और वग एव अग सहित पूर्व दिशा जीत ली गई है। कश्मीर सहित कौबेरी काष्ठा को करद बना लिया गया है, अन्य दुर्ग और द्वीप भी जीत लिये गए हैं। म्लेच्छ सघो को नष्ट कर दिया है, और शेष को वशवर्ती कर लिया है और वे सब राजा विक्रमशक्ति की सेना मे भरती हो गए हैं। वह विक्रम शक्ति उन राजाओ के साथ आ रहे हैं।)

इस प्रकार सोमदेव ने विक्रमादित्य के राज्य विस्तार का भी वर्णन कर दिया है। इस समाचार को सुन विक्रमादित्य बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कहा कि यात्रा मे जो-जो घटनाए हुई हो, वह सुनाओ।

इस प्रकार विक्रमादित्य सम्बन्धी अनेक कथाए दी गई हैं। उनका ऐतिहासिक महत्त्व अधिक नही है। जनश्रुति म प्रसिद्ध अग्निवेताल इनमें भी आया है। समुद्रपार मलयद्वीप की राजकुमारी से विवाह का उल्लेख बृहत्तर भारत का चिह्न है। लोक-कथाओ के राजा सिंहल की पद्मिनियो से सदा विवाह करते रहे हैं। अन्य स्त्रियो के अतिरिक्त सिंहल की राजकुमारी मदनलेखा से भी विक्रम का विवाह होना लिखा है। परन्तु क्या वर्तमान सीलोन यह सिंहल हो सकता है ? वहा की वर्त्तमान 'पद्मिनियो' (?) को देखते हुए तो इसमें सन्देह है।

अन्त में सोमदेव ने लिखा है कि इस प्रकार आश्चर्यों को सुनता हुआ, देखता हुआ और करता हुआ वह भूपति विक्रमादित्य द्वीपो सहित पृथ्वी को जीतकर राज्य करने लगा।

इत्याश्चर्याणि शृण्वन्स पश्यन्कुर्वश्च भूपति ।
विजित्य विक्रमादित्य सद्वीपां बुभुजे महीम् ॥

जैन अनुश्रुति का गर्दभिल्ल इस कथा मे नही है। उसके स्थान पर विक्रम के माता पिता, भाई-बन्धु आदि के नाम भी विभिन्न हैं। परन्तु भविष्यपुराण, वेतालपचविंशतिका एव कथासरित्सागर के नाम प्राय मिलते हैं। इनमें तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियो की ओर भी सकेत है। मालवगण, शको का अत्याचार आदि के सकेत बिखरे हुए मिलने हैं, भले ही शिवजी के गण माल्यवान को मालवगण मानने में एव म्लेच्छो को 'शक' मानने म अनुमान एव कल्पना का सहारा अधिक लेना पडे।

वेतालपचविंशतिका—पीछे कथासरित्सागर के प्रसग म लिखा है कि 'वेतालपचविंशतिका' मूल म क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामजरी' तथा सोमदेव के 'कथासरित्सागर' का अश है। यह अपनी मूल पुस्तक स पृथक् होकर कब, कैसे और किनके द्वारा स्वतन्त्र कथा के रूप म जनमनरजन करने लगी है, यह ज्ञात नहीं है। परन्तु इस मनोरजक ग्रन्थ के विविध पाठो की तुलना करने से एक बात

अवश्य ज्ञात होती है कि क्रमश लोककल्पना ने इसके त्रिविक्रम राजा को विक्रमादित्य मे परिवर्तित कर दिया और विक्रम-परिवार का विवरण भी कथा मे जोड दिया। इस ग्रन्थ के अनेक पाठो मे कथासरित्सागर और सिंहासनद्वात्रिंशिका की कथाए मिश्रित पायी जाती हैं।

जम्भलदत्त विरचित वेतालपचविंशतिका का प्रारम्भ 'विक्रम केशरी' नाम से किया गया है—

'इह हि महिमण्डले नरपतितिलको नाम विविधमणिकुण्डलमण्डितगण्डस्थलो नानालकार विभूषितसर्व शरीरो पुरन्दर इव सर्वांगसुन्दरो राजचक्रवर्त्ती श्रीमान् विक्रमकेशरी बभूव ॥'[1]

परन्तु आगे जम्भलदत्त ने 'विक्रमादित्य' सज्ञा का उल्लेख किया है—

'विक्रमादित्योऽपि भ्रमति एक शाखायाम् धृतवान।'

'त्वम् इतो महासत्त्वमहाराजश्रीविक्रमादित्यस्य राजधानीम् गत्वा ॥'[2]

परन्तु सूरतकवि ने जयपुराधीश सवाई महाराज जयसिंह के आदेश पर जिस सस्कृत पाठ का हिन्दी भाषान्तर किया है, उसमे तो पुराण, सिंहासन-द्वात्रिंशिका तथा अन्य प्रचलित कथाओ का सम्मिश्रण है। उसके प्रारम्भिक भाग मे विक्रमादित्य के माता, पिता, परिवार आदि का विस्तृत उल्लेख है।

उसके अनुसार गन्धर्वसेन धारा नगर का राजा था। उसके चार रानिया थी। उनसे छह बेटे थे। गन्धर्वसेन की मृत्यु के पश्चात् बडा राजकुमार 'शख' गद्दी पर बैठा। शख को मारकर उसका छोटा भाई विक्रम गद्दी पर बैठा। विक्रम बहुत प्रतापी था। वह धीरे-धीरे सम्पूर्ण जम्बू द्वीप का राजा बन गया और उसने अपना सवत् चलाया। देशाटन के लिए उत्सुक होने के कारण उसने अपना राजपाट अपने छोटे भाई भर्तृहरि को सौंप दिया और स्वय यात्रा को चला गया।

इसके पश्चात भर्तृहरि और उसकी रानी की प्रसिद्ध अमृत फल की कथा दी हुई है। (यह कथा सिंहासन द्वात्रिंशिका मे भी है और आगे उक्त प्रकरण मे दी गई है।) भर्तृहरि के वैराग्य के कारण सिंहासन रिक्त हो गया। यह सुन विक्रम अपने देश को लौटा और यहा उसकी उस योगी से भेंट हुई, जिसने उसे वेताल के पास भेजा। इस प्रारम्भिक कथा के पश्चात् वेताल की कहानिया प्रारम्भ होती हैं।

जम्भलदत्त की वेतालपचविंशतिका की मूलकथा यह है कि विक्रमादित्य के

---

1 वेताल पचविंशति—M B Cineneau द्वारा सम्पादित, पृ० 12।
2. वही, पृ० 150।

पास एक योगी आया और उसने राजा को प्रसन्न कर उससे यह याचना की कि वह उसे एक अनुष्ठान मे सहायता करे। वास्तव मे यह योगी राजा विक्रम से द्वेष रखता था तथा उसकी बलि देना चाहता था। उदारता एव सरलतावश राजा ने यह स्वीकार कर लिया। योगी ने रात को राजा को श्मशान मे बुलाया और दूर वृक्ष के नीचे लटकते हुए शव को लाने को कहा। अत्यन्त भयकर वातावरण मे लटकते हुए शव को राजा उठाने लगा तो वह शव उचककर उस वृक्ष की ऊपर की डाल से लटक गया। राजा ने बडी कठिनाई से उसे पकड लिया और उसे लाद ले चला। उस शव मे एक वेताल घुस गया था। वह राजा के साहस से प्रसन्न था। उसने एक एककर राजा को पच्चीस कथाए सुनाई। अन्त मे इस वेताल की सहायता से राजा ने उस योगी को ही मार डाला।

यह कथा सिंहासनद्वात्रिंशिका मे भी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कथासरित्सागर के विक्रम केशरी और वेताल की कथा क्रमश विक्रमोन्मुखी होती गई। और इससे यह भी ज्ञात होता है कि विक्रम-कथा ने लोक-मस्तिष्क पर तथा कथा-साहित्य पर अपना प्रभाव पूर्णत स्थापित कर लिया था।

विक्रम और वेताल की जोडी लोक-कथा एव अनुश्रुति मे दृढ करने मे वेतालपचविंशतिका ने अधिक सहायता की है। विक्रम के नवरत्नो के वेतालभट्ट और अनेक कथाओ के अग्निवेताल तथा इस वाचाल वेताल मे क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न का समाधान कर सकना हमारे लिए सम्भव नही है।

सिंहासन-द्वात्रिंशिका—विक्रम-साहित्य मे विक्रम-चरित् या सिंहासन-द्वात्रिंशिका का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह सम्पूर्ण भारतवर्ष मे प्रचलित रही है। इसकी कथाए भारत के सभी प्रान्तो मे एव सभी भाषाओ मे प्रचलित है। यह ग्रन्थ वास्तव मे विक्रमादित्य के प्राय एक सहस्र वर्ष पश्चात् राजा भोज के विक्रमत्व का प्रतिपादन करने के लिए लिखा गया है और उससे यह प्रकट होता है कि विक्रमादित्य के आविर्भाव के लगभग एक सहस्र वर्ष बाद जनता के विक्रमादित्य का क्या रूप था।

कथा-साहित्य जहा जनमत का अत्यन्त सुन्दर दर्पण है, वहा इतिहास के लिए उसका उपयोग अत्यन्त सावधानी से करने की आवश्यकता है। जो बात अनेक मुखो से कही जाय अथवा अनेक लेखनियो से लिखी जाय और सिंहासन-द्वात्रिंशिका के ही एक पाठ के अनुसार जिसका उद्देश्य 'सकललोकचित्तचमत्कारिणीकथा' कहना मात्र हो, तब उसमे कल्पना-प्रसूत तथ्यो के सम्मिश्रण की बहुत सभावना है। इस ग्रन्थ के सस्कृत भाषा मे ही (इजर्टन विक्रमचरित की भूमिका, पृष्ठ 29) पाच विभिन्न पाठ मिले हैं। इन पाचो मे पर्याप्त अन्तर है। इनके अतिरिक्त फिर मराठी, गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाओ मे अनेक लेखको ने इसे अपनी रचनाओ का आधार बनाया है। इस कथा के साथ एक बात और

विशेष हुई । इसे जैन साधुओ ने पूर्ण रूप से अपना लिया और विक्रमादित्य की मूर्ति जैन सम्प्रदाय के साचे मे ढालने का प्रयत्न किया । सिंहासन-द्वात्रिंशिका के जैन पाठ मे बहुत-सी ऐसी कथाए भी जुडी हुई हैं जो जैन सम्प्रदाय की अन्य पुस्तको मे पायी जाती हैं । चौदहवी शताब्दी मे विरचित मेरुतुगाचार्य के प्रबन्ध-चिन्तामणि की अनेक कथाएं इस ग्रन्थ से मिलती-जुलती है । मेरुतुगाचार्य ने इस चिन्तामणि मे जैन सम्प्रदाय मे प्रचलित निबन्धो का सग्रह मात्र किया है । अत प्रबन्ध चिन्तामणि एव सिंहासन-द्वात्रिंशिका की कथाओ मे समानता एक ही मूल स्रोत-जैन अनुश्रुति को आधार बनाने के कारण ज्ञात होती है ।

यह ग्रन्थ अनेक नामो से प्रचलित है । विभिन्न पाठो मे इसके यह नाम प्राप्त हुए हैं—विक्रम-चरित्र, विक्रमार्कचरित, विक्रमादित्यचरित्र, सिंहासन द्वात्रिंशिका, सिंहासनद्वात्रिंशत्कथा तथा सिंहासनकथा । यह छह नाम तो ऊपर उल्लेख किए गए सस्कृत के पाच पाठो की विभिन्न प्रतियो मे ही मिलते हैं । वर्तमान प्रान्तीय भाषाओ मे प्रयोग किए गए नाम इनसे पृथक् हैं ।

सबसे कठिन बात इस पुस्तक के लेखक के नाम का पता लगाना तथा इसके रचनाकाल का निर्णय करना है ।

कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि यह कथा धारा नरेश परमार भोजदेव के समय मे लिखी गई, और इसका कारण यह बतलाते है कि इसमें भोज के महत्त्व स्थापन को लक्ष्य बनाया गया है । परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य अटकल भी लगाए हैं । इस पुस्तक के कुछ पाठो मे हेमाद्रि विरचित चतुर्वर्गचिन्तामणि के दानखण्ड का उल्लेख है, जिससे यह अनुमान किया गया कि यह हेमेन्द्र के समय (13वी शताब्दी ई०) के पश्चात् लिखी गई । एक पाठ मे तो हेमाद्रि को उसका रचयिता भी बतलाया है । ऐसी दशा में यह काल उक्त पाठो का ही माना जा सकता है, न कि मूल पुस्तक का । इसके रचना-काल के विषय मे किसी निष्कर्ष पर पहुच सकना यद्यपि सम्भव नही परन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह तेरहवी शताब्दी (ईसवी) के पूर्व की रचना है और भोज देव के समय म या उनके पश्चात लिखी गई है ।

इस कथा के रचयिता की खोज भी हमे किसी निश्चित परिणाम पर नही पहुचाती । विभिन्न पाठो म रचयिताओ के नाम नन्दीश्वर, कालिदास, वररुचि, सिद्धसेन दिवाकर एव रामचन्द्र लिखे हैं ।

इनमे से कालिदास, वररुचि एव सिद्धसेन दिवाकर इनके रचयिता नही हो सकते । किसी ने स्वय लिखकर यह बड़े-बड़े नाम जोड दिये है । इन पाठो मे जैन-पाठ के रचयिता का नाम कुछ निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है । जैन पाठो की अनेक प्रतियो मे यह ज्ञात होता है कि मूल महाराष्ट्र मे इसे क्षेमकर मुनि ने सस्कृत मे लिखा है —

श्रीविक्रमादित्यनरेश्वरस्य चरित्रमेतत् कविभिर्निरूपितम्।
पुरामहाराष्ट्रवरिष्ठभाषामय महाश्चर्यंकरं नराणाम्॥
क्षेमंकरेण मुनिना वरगद्यपद्यबन्धेन युक्तकृतसस्कृतबन्धुरेण।
विश्वोपकारविलसद्गुणकीर्तनाय चक्रेऽचिरादमरपण्डितहर्षहेतुः॥

परन्तु मूल विक्रमादित्य चरित का रचयिता कौन था यह ज्ञात नही है। सस्कृत-साहित्य के निर्माता व्यक्तिगत यश तथा कीर्ति से अपने आपको दूर ही रखते रहे। ग्रन्थ को रचना कर वे उसमे अपने अस्तित्व को निमज्जित कर देते थे।

अब आगे यह देखना है कि इस विक्रम-चरित मे विक्रमादित्य के चरित्र को कैसे और किस रूप मे चित्रित किया है।

उज्जैन नगर के राजा भर्तृहरि थे। अनगसेना नाम की उनकी अत्यन्त सुन्दरी पत्नी थी तथा उनके भाई का नाम था विक्रमादित्य। एक निर्धन ब्राह्मण ने तपस्या करके पार्वतीजी को प्रसन्न कर लिया और उनसे अमरता का वरदान मांगा। पार्वतीजी ने उसे एक फल दिया, जिसके खाने से वह अजर-अमर हो सके। उसे खाने के पूर्व उसने विचार किया कि यदि वह उस फल को खा लेगा तो निर्धनता के कारण दुखी ही रहेगा। अत उसने वह राजाभर्तृहरि को दिया। राजा अनगसेना को अत्यधिक प्रेम करता था। उसने उसके सौन्दर्य को स्थिर एव अमर करने के विचार से वह फल अनगसेना को दे दिया। अनगसेना ने वह फल अपने प्रेमी सारथी को दिया। सारथी ने उसे अपनी प्रेमिका एक दासी को दिया, दासी ने एक ग्वाले को और ग्वाले ने अपनी प्रेमिका एक गोबर उठाने वाली लडकी को दे दिया। वह लडकी उस फल को अपनी गोबर की डलिया के ऊपर रखकर ले जा रही थी कि राजा की दृष्टि उस पर पडी। राजा उस फल को पहचान गया। निश्चय करने के लिए उसने उस निर्धन ब्राह्मण को बुलाया। ब्राह्मण ने वह फल पहचान लिया। राजा ने जब रानी से पूछताछ की तो उसे सारा रहस्य ज्ञात हुआ। उसे अत्यधिक ग्लानि हुई। उसने वह फल स्वय खा लिया और राजपाट अपने भाई विक्रमादित्य को देकर वैरागी हो गया।

विक्रमादित्य ने प्रजा का रजन करते हुए नीतिपूर्वक राज्य करना प्रारम्भ किया। एक बार एक कपटी साधु राजा के पास आया और एक अनुष्ठान मे सहायता देने की याचना की। राजा ने उसे स्वीकार किया। अनुष्ठान मे उस साधु ने राजा की बलि देनी चाही, परन्तु राजा ने उसकी ही बलि दे दी। इसी प्रसग मे एक वेताल राजा पर प्रसन्न हो गया। उसने वचन दिया कि जब राजा उसे बुलाएगा, वह उपस्थित होगा। उसने राजा को अष्टसिद्धि प्रदान की। (यह कथा वेतालपच्चीसी के प्रसग मे विस्तार से दी गई है।)

इसी समय विश्वामित्र की तपस्या से इन्द्र को बहुत भय हुआ। उसने निश्चय किया कि रंभा या उर्वशी मे से एक अप्सरा को विश्वामित्र की तपस्या भग करने

के लिए भेजा जाय। उसने देव सभा मे उनके नृत्यकौशल का प्रदर्शन कराया और दोनो मे जिसका प्रदर्शन अधिक उत्तम हो उसको ही विश्वामित्र के पास भेजने का विचार किया। परन्तु देवसभा यह निर्णय ही न कर सकी कि किसका नृत्य अधिक श्रेष्ठ है। नारदजी की सलाह से इन्द्र ने अपने सारथि मातलि को भेजकर विक्रमादित्य को बुलाया। विक्रमादित्य ने नृत्य को देखकर उर्वशी को दोनो मे श्रेष्ठ ठहराया। कारण पूछने पर उसने नृत्य की अत्यन्त सुन्दर शास्त्रीय व्याख्या की और अपने निर्णय के औचित्य को सिद्ध कर दिया। प्रसन्न होकर देवराज ने उसे अपना सिहासन भेंट मे दिया। इस सिहासन को राजा अपनी राजधानी म ले आए और उपयुक्त समय मे उस पर आरूढ हुए।

कुछ समय पश्चात् प्रतिष्ठान नगर मे एक छोटी-सी लडकी के शेषनाग शालिवाहन नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उस समय उज्जैन मे अशुभ चिह्न दिखाई देने लगे। ज्योतिषियो ने राजा के विनाश की भविष्यवाणी की। राजा को शकर द्वारा यह वरदान प्राप्त हो चुका था कि उसे केवल वही व्यक्ति मार सकेगा जो ढाई वर्ष की लडकी से उत्पन्न हुआ हो। राजा ने अपने मित्र वेताल को बाहर भेजा कि वह इस बात की खोज करे कि कही ऐसा बालक उत्पन्न तो नही हो गया है। प्रतिष्ठान मे वेताल ने शालिवाहन को देखा और उसके जन्म का हाल जाना। उसने राजा को वह हाल सुना दिया। राजा ने प्रतिष्ठान पर आक्रमण कर दिया, परन्तु शालिवाहन ने उसे आहत कर दिया। उस घाव से राजा उज्जैन आकर मर गया।

राजा के मरने पर उसकी रानी ने अपने सात मास के गर्भ से राजकुमार को निकाला। मत्रियो की देखरेख मे राज्य चलने लगा। परन्तु इन्द्र के सिंहासन पर बैठने योग्य कोई व्यक्ति शेष न था, अत उसको एक पवित्र खेत मे गाड दिया गया।

बहुत समय पश्चात् यह सिहासन धार के राजा भोज को प्राप्त हुआ। जब वह इस पर बैठने की तैयारी करने लगा। तो इसमे लगी हुई बत्तीस पुत्तलियो मे से एक मानवी भाषा मे बोल उठी—'हे राजन् ! यदि तुझमे विक्रमादित्य जैसा शौर्य, औदार्य, साहस तथा सत्यवादिता हो तभी तू इस सिहासन पर बैठने का प्रयत्न करना !' राजा भोज ने उस पुत्तलिका से विक्रमादित्य की उदारतादि का वर्णन करने को कहा।

इस प्रकार उस सिहासन की बत्तीसो पुतलियो द्वारा एक-एक करके विक्रम के गुणो का अतिरजित वर्णन कराया गया है।

पहली पुतली ने विक्रम के दान का वर्णन इस प्रकार किया है—

> 'निरीक्षिते सहस्रतु नियुत तु प्रजल्पिते।
> हसने लक्षमाप्नोति सतुष्टः कारिदो नृपः॥'

दूसरी पुत्तली ने विक्रमादित्य की परोपकारिता की कहानी कही है। राजा एक ब्राह्मण के ऊपर देवी को प्रसन्न करने के लिए अपने सिर को बलि देने को तैयार हो गया। राजा की उदारता की नीचे लिखे शब्दो म प्रशसा करते हुए देवी ने ब्राह्मण का अभीष्ट सिद्ध किया—

> छायामन्यस्य कुर्वन्ति स्वय तिष्ठति चातपे।
> फलन्ति परार्थेषु नाऽत्महेतुर्महाद्रुमा ॥
> परोपकाराय वहन्ति निम्नगा।
> परोपकाराय दुहन्ति धेनव ॥
> परोपकाराय फलन्ति वृक्षा।
> परोपकाराय सता विभूतय ॥

तीसरी पुत्तलिका ने विक्रमादित्य की उदारता की कहानी कही है। किस प्रकार विक्रम ने समुद्र द्वारा प्रदत्त चारो रत्न ब्राह्मण को उदारतापूर्वक दे दिए थे, इसका वर्णन इसम है। अन्त म इस पुत्तलिका ने कहा है—'ओ राजन्! औदार्य तो सहज उत्पन्न गुण होता है। वह औपाधिक नही है क्योकि—

> चम्पकेषु यथा गन्ध कान्तिर्मुक्ताफलेषु च।
> यथेऽक्षुदण्डे माधुर्यम औदार्य सहज तथा ॥

यदि तुममे ऐसा औदार्य हो तो इस सिहासन पर आरूढ हो।'

चतुर्थ पुत्तलिका द्वारा राजा के उपकार मानने के स्वभाव का वर्णन कराया गया है। देवदत्त नामक ब्राह्मण ने राजा का उपकार किया। उसके बदले मे राजा ने उसे अपने पुत्र का हत्यारा समझकर भी उस एक उपकार के बदले म क्षमा कर दिया, क्योकि वह समझता था य कृतमुपकार विस्मरति स पुरुषाधम इव।'

पाचवी पुत्तलिका ने विक्रमादित्य की उदारता की कहानी कही है जिसम राजा द्वारा अमूल्य रत्नो को दान म देना बतलाया है।

छठी पुतली ने भी विक्रम के औदार्य का ही वर्णन किया है, जिसम विक्रम ने असत्यवादी किन्तु आर्त ब्राह्मण की मनोवाछा पूरी की है क्योकि—

> 'दत्त्वार्तस्य नृपो दान शून्यलिङ्ग प्रपूज्य च।
> परिपाल्याऽश्रितान्नित्यम् अश्वमेधफल लभेत ॥'

सातवी पुत्तलिका राजा के पराक्रम की गाथा कहती है। इस कथा म विक्रमादित्य के उस पराक्रम का वर्णन है जिसके कारण वह छिन्न मस्तक स्त्री-पुरुषो के युग्म को जीवित करने के लिए स्वय अपने मस्तक की बलि देने को तत्पर हो गया था। जब भुवनेश्वरी उस पर प्रसन्न हुई तब राजा ने उस युग्म के लिए ही राज्य की याचना की, अपने लिए कुछ न मागा। इस कथा म प्रसगवश

के लिए भेजा जाय। उसने देव सभा मे उनके नृत्यकौशल का प्रदर्शन कराया और दोनो मे जिसका प्रदर्शन अधिक उत्तम हो उसको ही विश्वामित्र के पास भेजने का विचार किया। परन्तु देवसभा यह निर्णय ही न कर सकी कि किसका नृत्य अधिक श्रेष्ठ है। नारदजी की सलाह से इन्द्र ने अपने सारथि मातलि को भेजकर विक्रमादित्य को बुलाया। विक्रमादित्य ने नृत्य को देखकर उर्वशी को दोनो मे श्रेष्ठ ठहराया। कारण पूछने पर उसने नृत्य की अत्यन्त सुन्दर शास्त्रीय व्याख्या की और अपने निर्णय के औचित्य को सिद्ध कर दिया। प्रसन्न होकर देवराज ने उसे अपना सिंहासन भेंट मे दिया। इस सिंहासन को राजा अपनी राजधानी मे ले आए और उपयुक्त समय मे उस पर आरूढ हुए।

कुछ समय पश्चात् प्रतिष्ठान नगर मे एक छोटी-सी लडकी के शेपनाग शालिवाहन नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उस समय उज्जैन मे अशुभ चिह्न दिखाई देने लगे। ज्योतिषियो ने राजा के विनाश की भविष्यवाणी की। राजा को शकर द्वारा यह वरदान प्राप्त हो चुका था कि उसे केवल वही व्यक्ति मार सकेगा जो ढाई वर्ष की लडकी से उत्पन्न हुआ हो। राजा ने अपने मित्र वेताल को बाहर भेजा कि वह इस बात की खोज करे कि कही ऐसा बालक उत्पन्न तो नही हो गया है। प्रतिष्ठान मे वेताल ने शालिवाहन को देखा और उसके जन्म का हाल जाना। उसने राजा को वह हाल सुना दिया। राजा ने प्रतिष्ठान पर आक्रमण कर दिया, परन्तु शालिवाहन ने उसे आहत कर दिया। उस घाव से राजा उज्जैन आकर मर गया।

राजा के मरने पर उसकी रानी ने अपने सात मास के गर्भ से राजकुमार को निकाला। मत्रियो की देखरेख मे राज्य चलने लगा। परन्तु इन्द्र के सिंहासन पर बैठने योग्य कोई व्यक्ति शेप न था, अत उसको एक पवित्र खेत मे गाड दिया गया।

बहुत समय पश्चात् यह सिंहासन धार के राजा भोज को प्राप्त हुआ। जब वह इस पर बैठने की तैयारी करने लगा। तो इसमे लगी हुई बत्तीस पुत्तलियो मे से एक मानवी भाषा मे बोल उठी—'हे राजन्! यदि तुझम विक्रमादित्य जैसा शौर्य, औदार्य, साहस तथा सत्यवादिता हो तभी तू इस सिंहासन पर बैठने का प्रयत्न करना!' राजा भोज ने उस पुत्तलिका से विक्रमादित्य की उदारतादि का वर्णन करने को कहा।

इस प्रकार उस सिंहासन की बत्तीसो पुतलियो द्वारा एक-एक करके विक्रम के गुणो का अतिरजित वर्णन कराया गया है।

पहली पुतली ने विक्रम के दान का वर्णन इस प्रकार किया है—

'निरीक्षिते सहस्रतु नियुत तु प्रजल्पिते।
हसने लक्षमाप्नोति सतुष्टः कारिदो नृप ॥'

दूसरी पुत्तली ने विक्रमादित्य की परोपकारिता की कहानी कही है। राजा एक ब्राह्मण के ऊपर देवी को प्रसन्न करने के लिए अपने सिर को वलि देने को तैयार हो गया। राजा की उदारता की नीचे लिखे शब्दो मे प्रशसा करते हुए देवी ने ब्राह्मण का अभीष्ट सिद्ध किया—

छायामन्यस्य कुर्वन्ति स्वयं तिष्ठंति चाऽतपे।
फलन्ति परार्थेषु नाऽत्महेतुर्महाद्रुमाः॥
परोपकाराय वहन्ति निम्नगाः।
परोपकाराय दुहन्ति धेनवः॥
परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः।
परोपकाराय सता विभूतयः॥

तीसरी पुत्तलिका ने विक्रमादित्य की उदारता की कहानी कही है। किस प्रकार विक्रम ने समुद्र द्वारा प्रदत्त चारो रत्न ब्राह्मण को उदारतापूर्वक दे दिए थे, इसका वर्णन इसमे है। अन्त मे इस पुत्तलिका ने कहा है—'ओ राजन्! औदार्य तो सहज उत्पन्न गुण होता है। वह औपाधिक नही है क्योकि—

चम्पकेषु यथा गन्धः कान्तिर्मुक्ताफलेषु च।
यथेऽक्षुवण्डे माधुर्यम् औदार्य सहजं तथा॥

यदि तुममे ऐसा औदार्य हो, तो इस सिंहासन पर आरूढ हो।'

चतुर्थ पुत्तलिका द्वारा राजा के उपकार मानने के स्वभाव का वर्णन कराया गया है। देवदत्त नामक ब्राह्मण ने राजा का उपकार किया। उसके बदले मे राजा ने उसे अपने पुत्र का हत्यारा समझकर भी उस एक उपकार के बदले में क्षमा कर दिया, क्योकि वह समझता था 'य कृतमुपकार विस्मरति स पुरुषाधम इव।'

पाचवी पुत्तलिका ने विक्रमादित्य की उदारता की कहानी कही है, जिसमे राजा द्वारा अमूल्य रत्नो को दान मे देना बतलाया है।

छठी पुतली ने भी विक्रम के औदार्य का ही वर्णन किया है, जिसमे विक्रम ने असत्यवादी किन्तु आर्त ब्राह्मण की मनोवाछा पूरी की है क्योकि—

'दत्वाऽर्तस्य नृपो दान शून्यलिंग प्रपूज्य च।
परिपाल्याऽश्रितान्नित्यम् अश्वमेधफलं लभेत॥'

सातवी पुत्तलिका राजा के पराक्रम की गाथा कहती है। इस कथा मे विक्रमादित्य के उस पराक्रम का वर्णन है, जिसके कारण वह छिन्न मस्तक स्त्री-पुरुषो के युग्म को जीवित करने के लिए स्वय अपने मस्तक की बलि देने को तत्पर हो गया था। जब भुवनेश्वरी उस पर प्रसन्न हुई तब राजा ने उस युग्म के लिए ही राज्य की याचना की, अपने लिए कुछ न मागा। इस कथा मे प्रसगवश

राजा विक्रमादित्य के राज्य की दशा का भी वर्णन आ गया है। 'विक्रमादित्य के राज्य मे सर्वजन सुखी थे, लोक मे दुर्जनरूपी कटक नही थे। सर्वजन सदाचारी थे। ब्राह्मण वेद शास्त्र के अभ्यास मे लग्न तथा स्वधर्मचर्या-पर एव षट्कर्म मे निरत थे। सब वर्ण के लोगो मे पाप का भय था, यश की इच्छा थी, परोपकार की वासना थी, सत्य से प्रेम था, लोभ से द्वेष था, परोपकार का आदर था, जीवदया का आग्रह था, परमेश्वर मे भक्ति थी, शरीर की स्वच्छता थी, नित्यानित्य वस्तु का विचार था, वाणी मे सत्य था, बात के पालन मे दृढता थी और हृदय मे औदार्य गुण था। इस प्रकार सब लोग सद्वासनायुक्त पवित्र अन्त-करण होकर राजा के प्रसाद से सुखी रहते थे।'

आठवी पुत्तलिका की कथा के अनुसार राजा विक्रमादित्य ने प्राणो की बाजी लगाकर एक जलहीन तालाब को पानी स भर दिया। उस तालाब मे पानी नही ठहरता था। आकाशवाणी द्वारा यह ज्ञात हुआ कि जब तक बत्तीस लक्षणो से युक्त पुरुष अपने रक्त को अर्पित नही करेगा, उस तालाब मे पानी नहीं ठहरेगा। राजा इसके लिए तैयार हो गया।

नवमी पुत्तलिका की कथा इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि इसमे विक्रमादित्य से सम्बन्धित अन्य नाम आए हैं। यह भी राजा के औदार्य और धैर्य की कहानी है। विक्रमादित्य का भट्टि नाम का मत्री था, गोविन्द नामक उपमत्री था, चन्द्र नामक सेनापति था तथा त्रिविक्रम नामक पुरोहित था। इस त्रिविक्रम के कमलाकर नामक पुत्र था। इसी कमलाकर के लिए राजा ने काची नगर की एक वेश्या नरमोहिनी को राक्षस के पास से मुक्त किया था।

दसवी पुत्तली ने राजा विक्रम की उस उदारता का वर्णन किया जिसके द्वारा उसने कठोर तपस्या द्वारा प्राप्त किया हुआ अजर-अमरता प्रदान करने वाला फल भी एक रुग्ण ब्राह्मण को दान कर दिया था।

ग्यारहवीं पुत्तलिका द्वारा वर्णित कहानी मे एक विशेपता है। वह महाभारत की एक कथा से बिलकुल मिलती जुलती है। महाभारत मे एक कथा है कि वनवास के समय कुन्ती सहित पाण्डव एक ऐसे नगर मे पहुचे जहा प्रत्येक परिवार मे से क्रमश एक व्यक्ति एक राक्षस को खाने के लिए भेंट किया जाता था। पाण्डवो को आश्रय देने वाले ब्राह्मण के घर यह क्रम आने पर उसके बदले भीम गये और उन्होने उस राक्षस को ही मार डाला। सिंहासनबत्तीसी की कथा मे राजा विक्रम इस प्रकार के नगर का हाल पथियो से सुनते हैं और उनके द्वारा ने आपको राक्षस को अर्पित करने पर वह उसकी उदारता पर मुग्ध होकर ई नही खाता है।

ो कथा मे विक्रमादित्य द्वारा एक राक्षस को मारकर । का उद्धार करना तथा एक ब्राह्मण-पुत्र को धन दान

देने की कथा है।

तेरहवी पुतली विक्रमादित्य द्वारा डूबते हुए ब्राह्मण युग्म को बचाकर वरदान पाने की कथा कहती है। इस वरदान के फल को भी राजा ने एक ब्रह्म-राक्षस को दान कर उसे स्वर्ग दिलाया।

चौदहवी कथा मे राजधर्म की व्याख्या है और विक्रम द्वारा प्राप्त चिन्तामणि के समान मनवांछित फल देने वाले 'काश्मीरलिंग' के दान का उल्लेख है।

पन्द्रहवी कथा मे राजा विक्रमादित्य के पुरोहित का नाम वसुमित्र बतलाया गया है। यह भी राजा के परोपकार की कथा है।

सोलहवी पुतली द्वारा कही गई कथा मे विक्रमादित्य के दिग्विजय का उल्लेख है। उसने उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम मे परिभ्रमण करके वहा के नृपतियों को अपने वश मे किया और उनके द्वारा अर्पित किए हुए हाथी, घोडे तथा धन आदि लेकर उन्हें उनके राज्यो मे पुन प्रतिष्ठित कर वापस लौटा। यहा आकर उसने एक ब्राह्मण को कन्यादान के लिए बहुत-सा स्वर्ण दिया।

सत्रहवी पुत्तलिका ने राजा के त्याग और उदारता की कथा कही है। राजा ने अपने प्रतियोगी को कष्ट से बचाने के लिए अपने शरीर का ही दान देना स्वीकार किया।

अठारहवी कथा राजा के अपूर्व दान की कहानी है। राजा ने सूर्य द्वारा प्राप्त प्रतिदिन स्वर्णभार देने वाली अगूठियो को एक निर्धन ब्राह्मण को दान मे दे डाला।

उन्नीसवी पुत्तलिका द्वारा कहलाई गई कथा मे पुन विक्रम के राज्य का वर्णन है। जब विक्रम पृथ्वी पर शासन कर रहा था, सर्वलोक आनन्द-परिपूर्ण-हृदय थे, ब्राह्मण श्रौतकर्म मे निरत थे, स्त्रिया पतिव्रता थी, पुरुष शतायु थे, वृक्ष फलयुक्त थे, इच्छानुसार जल की वर्षा होती थी, मही सदा सम्पूर्ण शस्यमती थी, लोक मे पाप का भय था, अतिथि की पूजा होती थी, जीवो पर कृपा होती थी, गुरुजनो की सेवा होती थी और सत्पात्र को दान मिलता था, ऐसी प्रजा की प्रवृत्ति थी। आगे इस कथा मे विक्रम द्वारा उस रस और रसायन के दान का वर्णन है जो उसे बलि से प्राप्त थे। इसी प्रकार के दान का वर्णन बीसवी कहानी म है।

इक्कीसवी पुत्तलिका की कथा म विक्रमादित्य के एक और मत्री का नाम आया है। उसका नाम बुद्धिसिन्धु था। इसके पुत्र अनर्गल के बतलाने पर राजा को अष्टसिद्धियो से जो वरदान प्राप्त हुए उनके दान का वर्णन है। बाईसवी कथा भी विक्रम द्वारा एक ब्राह्मण के हेतु जीवन-दान देने के लिए तत्पर होने की है। तेईसवी कथा मे दु स्वप्न के फल निवारणार्थ विक्रम द्वारा किए गए दान की कथा है।

चौबीसवी पुतली द्वारा बतलाई गई कहानी महत्त्वपूर्ण है। इसमें विक्रम को मारने वाले शालिवाहन एव उसके नगर प्रतिष्ठान का उल्लेख है। एक सेठ ने मरते समय अपने धन का बटवारा अपने चारो बेटो के बीच करने के लिए चार घड़े रख दिए। उसके मरने पर उनमे क्रमश मिट्टी, घास, कोयला तथा हड्डिया भरी हुई थी। इसका अर्थ न समझकर वे विक्रम के पास गए। परन्तु वहा भी कोई इस बात का अर्थ न बता सका। जब वे प्रतिष्ठानपुर निवासी शालिवाहन के पास गए तो उसने बतलाया कि मिट्टी, घास, कोयला एव हड्डियो का अर्थ क्रमश भूमि, अन्न, स्वर्ण तथा पशुधन है। यह समाचार सुन विक्रम ने शालिवाहन को बुलाया। परन्तु शालिवाहन ने आने से मना कर दिया और बडा अपमानजनक उत्तर दिया। राजा विक्रम ने प्रतिष्ठान पर चढाई कर दी। शालिवाहन कुम्हार के यहा रहता था। उसने मिट्टी की सेना बनाई। उसके पिता शेष ने उस सेना को जीवित कर दिया। परन्तु विक्रम की फौज को यह सेना हरा न सकी। तब शेष ने सर्पों को भेजा। विक्रम ने वासुकी को प्रसन्न कर अमृत-घट प्राप्त कर लिया। शालिवाहन द्वारा भेजे गये ब्राह्मणो ने जब राजा को वचनबद्ध करके वह अमृत घट मागा तो केवल अपने वचन-पालन के लिए विक्रमादित्य ने वह अमृत-घट जान-बूझकर शालिवाहन के आदमियो को दान दे दिया।

पच्चीसवीं कहानी मे देश का अन्नदुर्भिक्ष मिटाने के लिए विक्रम द्वारा आत्म-बलि देने का निश्चय करने की कथा है। छब्बीसवी कथा रघुवश म वर्णित नन्दिनी और दिलीप की कथा का स्मरण दिलाती है। गाय की रक्षा के लिए राजा सारी रात वृष्टि म सिहो के मुकाबले म खडा रहा। सत्ताईसवी कथा मे वर्णन है कि राजा विक्रम ने अष्टभैरवो को अपने रक्त की बलि देकर सिद्धि प्राप्त कर उसे एक जुआरी को इसलिए दे दी कि वह उससे धन प्राप्त करे और जुआ खेलना छोड दे। अट्ठाईसवी कहानी मे राजा एक देवी से इस बात का वरदान मांगता है कि वह मानव-बलि लेना बन्द कर दे। उन्तीसवी कथा मे विक्रम द्वारा 50 करोड दान देने का उल्लेख है। तीसवी कहानी विशेष रूप मे इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इसम राजा विक्रम द्वारा पाड्य देश के राजा द्वारा भेजे हुए कर के धन को एक इन्द्रजालिक को दे दिया। अत पाड्य देश के राजा का विक्रम का करद होना प्रकट होता है

इकतीसवी पुत्तलिका द्वारा वेतालपचविंशतिका की कथा कहलाई गई है। राजा से एक योगी अनुष्ठान मे सहायता करने का वचन लेता है। उसे श्मशान से शव लाने को कहता है। वहा उसे शव पर वाचाल वेताल मिलता है। परन्तु इस ग्रन्थ मे पच्चीस कथाए नही दी गई हैं, केवल एक दी गई है।

बत्तीसवी अन्तिम पुतली राजा विक्रम का यशोगान करती है। वह कहती

कि विक्रम जैसा राजा भूमण्डल पर नही है। उसने काष्ठमय खड्ग से सारे ससार को जीत लिया था और पृथ्वी पर एकछत्र राज्य स्थापित किया था। उसने शको को पराभूत कर अपना सवत् चलाया। उसने दुष्टो का नाश किया, निर्धनो की निर्धनता मिटा दी। दुर्भिक्ष मिटा दिए।

बत्तीसो पुत्तलिकाए इस प्रकार कथा सुनाकर फिर यह कहती है कि वे शापग्रस्त देवागनाए थी जो पार्वती के शाप से पुत्तलिकाए बनकर इस सिंहासन से लग गई थी। भोजराज को यह विक्रम की कथा सुनाने से वह शाप मुक्त हुई हैं।

विक्रम चरित की इस कथा के जैन पाठ मे अन्य पाठो से बहुत भेद है। इसमे प्राय छह कथाए नयी जोडी गई हैं। पहली कथा अग्निवेताल और विक्रम की है। अग्निवेताल का स्थान अभी भी उज्जैन मे है। इसमे यह कथा विशेष महत्त्वपूर्ण है। एक कथा मे सिद्धसेन दिवाकर का विक्रम का गुरु होना बतलाया है। यह कथाएं प्रबन्ध चिन्तामणि मे भी हैं। अत उसी प्रसग मे इन पर प्रकाश डालेंगे।

जैन पाठकारो ने विक्रमादित्य के जन्म की एक कहानी भी जोड दी है। इसके अनुसार विक्रम की उत्पत्ति दैवी एव अलौकिक बतलाई है। प्रेमसेन राजा के मदनरेखा नामक अत्यन्त रूपवती कन्या थी। इस राजा के नगर मे गन्धर्वसेन नामक एक शापग्रस्त यक्ष गर्दभ के रूप मे रहता था। उसने राजा से कहा कि यदि वह कन्या मदनरेखा का विवाह उसके साथ न करेगा तो उसके नगर का क्षेम नही। यक्ष की अलौकिक शक्ति का परिचय पाकर राजा ने अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया। नगर की रक्षा का विचार कर तथा विधि के विधान को समझकर कन्या ने उस गर्दभ से विवाह कर लिया। यक्ष सुन्दर रूप धारण कर रात्रि के समय राज्यकन्या के साथ विहार करता था। एक दिन मदनरेखा की माता उससे मिलने आई। उसने देखा कि गन्धर्वसेन ने गर्दभ की खाल एक ओर फेंक दी है और अत्यन्त सुन्दर रूप धारण किए बैठा है। माता ने गर्दभ की खाल को जला दिया। गन्धर्वसेन ने कहा कि अब वह शापमुक्त हो गया है। और स्वर्ग जाएगा। उसने कहा कि जो बालक तुम्हारे हो उसका नाम विक्रमादित्य रखना। तुम्हारी दासी के जो गर्भ है उसका नाम भर्तृहरि रखना। समय पाकर दोनो पुत्र उत्पन्न हुए।

यह गन्धर्वसेन गर्दभिल्ल से प्राय मिलता-जुलता है।

प्रबन्ध चिन्तामणि—मेरुतुगाचार्य कृत प्रबन्ध चिन्तामणि जैन ऐतिहासिक ग्रथो मे प्रधान है। इसकी रचना सवत 1361 वि० मे की गई थी। इस ग्रथ को लिखने मे मेरुतुग का उद्देश्य विशुद्ध ऐतिहासिक था। उन्होंने स्वय इस ग्रन्थ के प्रारम्भ मे लिखा है—'यद्यपि विद्वानो द्वारा बुद्धि (सकलन) से कहे

गये प्रवन्ध (कुछ कुछ) भिन्न-भिन्न भावो वाले अवश्य होने हैं, तथापि इस ग्रन्थ की रचना सुसम्प्रदाय (योग्य परम्परा) के आधार पर की गई है इसलिए (इसके विषय मे) चतुरजनो को वैसी चर्चा न करनी चाहिए।' इस पर टिप्पणी करते हुए प्रसिद्ध विद्वान् श्री जिनविजयजी लिखते है—'मेरुतुग सूरि ने इस ग्रन्थ को सकलन करने मे कुछ तो पुराने प्रवन्ध ग्रन्थो की सहायता ली और कुछ परम्परा से चली आती हुई मौखिक वातो का आधार लिया।···प्रवन्ध चिन्तामणि की कुछ बातें ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा भ्रान्त भी मालूम होती हैं। लेकिन मेरुतुगाचार्य उनके लिए निष्पक्ष और निराग्रह है—यह बात इस श्लोक के गत कथन से सूचित होती है।' तात्पर्य यह कि प्रवन्ध-चिन्तामणि मे उस समय प्रचलित अनुश्रुतियो को बिना किसी फेरबदल के लिपिबद्ध किया गया है।

इस ग्रथ का प्रथम प्रवन्ध ही विक्रमार्क (विक्रमादित्य) के विषय मे है। मेरुतुग की ऐतिहासिक प्रणाली से इतना तो निश्चित है कि उन्होने अपनी ओर से कुछ मिलाया न होगा, अत प्रवन्ध-चिन्तामणि का विक्रमार्क-चरित्र विक्रमीय चौदहवी शताब्दी मे जैन सम्प्रदाय मे प्रचलित रूप माना जा सकता है।

विक्रमादित्य के राजा होने के पूर्व के जीवन के विषय मे इस ग्रन्थ के दा स्थलो पर उल्लेख है। प्रकीर्णक प्रवन्ध मे भर्तृहरि की उत्पत्ति की कथा म लिखा है कि अवन्तिपुरी म एक व्याकरण का विद्वान् पण्डित रहता था। उसके चार वर्णो की चार स्त्रिया थी। क्षत्राणी से विक्रमादित्य उत्पन्न हुए और शूद्रा से भर्तृहरि का जन्म हुआ। यह भर्तृहरि *वैराग्यशतक आदि के कर्ता थ।*

विक्रमार्क राजा के प्रबन्ध मे लिखा है—'अवन्ति देश के सुप्रतिष्ठान[1] नामक नगर मे असम साहस का एकमात्र निधि, दिव्य लक्षणो से लक्षित, सत्कर्म, पराक्रम इत्यादि गुणो से भरपूर राजपुत्र था। यह राजपुत्र बहुत निर्धन था। धन पाने हेतु वह अपने मित्र भट्टमात्र के साथ रोहण पर्वत को गया। रोहण पर्वत की यह विशेषता थी कि ललाट को हथेली स 'हा दैव' कहकर चोट मारने से, अभाग्यवान् मनुष्य को भी रत्न मिलते थे। परन्तु विक्रम यह करने को तैयार न था। भट्टमात्र विक्रम को लेकर उस पहाड के पास पहुचा और जब विक्रम कुदाल से उस पर्वत म प्रहार कर रहा था, तो उसे अपनी माता की मृत्यु का दुखद समाचार मिला। विक्रम ने कुदाल फेंक दिया और 'हा दैव' कहकर माथा ठोका। तुरन्त ही एक सवा लाख का हीरा निकल आया। जब विक्रम को यह ज्ञात हुआ तो उसने वह रत्न उस पर्वत पर यह कहकर फेंक दिया कि इस

---

1 अवन्ति देश मे सुप्रतिष्ठान नामक नगर का कही उल्लेख नही मिलता। सम्भवत यह उज्जयिनी के लिए ही लिखा गया है।

रोहणगिरि को धिक्कार है जो 'हा दैव' ही कहलाकर दरिद्रो का निर्धनतारूपी घाव भरता है।

इसके पश्चात विक्रमादित्य के राज्य-प्राप्ति की कथा है। इसी प्रकार की कथा सिंहासन-बत्तीसी के जैनपाठ मे भी मिलती है। उसने अवन्ति देश में एक राक्षस को सन्तुष्ट किया। वह उसी प्रकार प्रतिदिन भक्ष्य-भोज्य पाकर सतुष्ट रहने लगा। एक दिन विक्रम राजा ने उससे अपनी आयु पूछी। अग्निवेताल ने कहा कि विक्रम की आयु 100 वर्ष है और किसी भी प्रकार कम या अधिक नही हो सकती। अगले दिन राजा ने उसे कुछ खाने को न दिया और लडने को तैयार हो गया। युद्ध में जब राक्षस हार गया तो वह बोला, 'मैं तुम्हारे अद्भुत साहस से प्रसन्न हू। तुम जो कहो उस आदेश का पालन करनेवाला मैं अग्निवेताल तुम्हें सिद्ध हुआ।'

इसके पश्चात् मेरुतुग ने लिखा है, 'इस प्रकार अपने पराक्रम से दिग्मण्डल को आक्रान्त करने वाले उस राजा ने छियानवे प्रतिद्वन्द्वी राजाओ के राज्य को अपने अधिकार मे किया और कालिदासादि महाकवियो द्वारा की हुई स्तुति से अलकृत होकर उसने चिरकाल तक विशाल साम्राज्य का उपभोग किया।'

इसके पश्चात् विक्रमादित्य विषयक 11 कथाए और दी गई हैं। एक कथा मे विक्रमादित्य की लडकी का नाम प्रियगुमजरी बतलाया है। वररुचि उसका उपाध्याय है। प्रियगुमजरी की अशिष्टता से अप्रसन्न होकर वररुचि ने उसे शाप दिया कि उसका पति 'पशुपाल' होगा। कन्या ने प्रण किया कि वह ऐसे व्यक्ति से विवाह करेगी जो वररुचि का गुरु हो। जब वररुचि इस कन्या के लिए वर खोज रहे थे तो जगल मे भैंस चराते हुए कालिदास मिले। उन्होने उन्हे 'करचडी' शब्द का अर्थ बतलाया, अत गुरु बने। कालिदास का विवाह प्रियगुमजरी के साथ हुआ। जब इनकी मूर्खता प्रकट हुई तो प्रियगुमजरी ने उनका अपमान किया। दुखी होकर विद्वत्ता प्राप्त करने के लिए कालिदास के काली की आराधना की। देवी प्रसन्न हुई और कालिदास ने कुमारसम्भव प्रभृति तीन काव्य तथा छह प्रबन्ध बनाए।

अगली कथा 'सुवर्ण पुरुष की सिद्धि' के प्रबन्ध मे विक्रम की उदारता और धैर्य का वर्णन है। यह कथा सिंहासन बत्तीसी के जैन पाठ मे इक्तीसवी पुत्तलिका द्वारा कहलाई गई है। इसमे दाता नामक सेठ के धवलगृह (महल) की कथा है। सेठ ने जो नवीन धवलगृह बनवाया था, उसमे उसे 'गिरता हू' शब्द सुनाई दिया और 'मत गिरो' यह कहकर वह भागकर राजा के पास आया। राजा ने वह धवलगृह (महल) स्वय खरीद लिया। रात को जब वही 'गिरता हू' शब्द हुआ तो राजा ने कहा 'शीघ्र गिरो'। उसके ऐसा कहते ही सुवर्ण-पुरुष वहा गिरा और राजा को उसकी प्राप्ति हुई।

अगला विक्रमादित्य के सत्व का प्रबन्ध है। यह कथा भी सिंहासन बत्तीसी के जैनपाठ मे सम्मिलित है और बत्तीसवीं पुतली द्वारा कहलाई गई है। इसमे राजा के सत्त्व (साहस) के प्रेम का सकेत है। अवन्तिकापुरी मे बिकने आई हुई कोई वस्तु बिना बिके नही लौटती थी। एक व्यक्ति 'दारिद्र्य' की मूर्ति बनाकर लाया। किसी के न खरीदने पर स्वय राजा ने उसे क्रय कर लिया। दारिद्र्य के आने पर लक्ष्मी आदि राजा को छोड गईं। परन्तु जब सत्त्व (साहस) छोड-कर जाने लगा तो राजा आत्महत्या को तैयार हो गया। सत्त्व प्रसन्न हुआ और रह गया। परिणाम यह हुआ कि लक्ष्मी आदि फिर लौट आए।

अगला 'सत्त्व परीक्षा' नामक निबन्ध भी इसी प्रकार राजा के साहस का वर्णन करता है। इसमें विक्रम के साहस को देखकर उसके पास आए हुए ज्योतिषी ने कहा है 'तुम्हारा यह सत्त्व (साहस) रूपी लक्षण बत्तीस लक्षणो से भी बढकर है।' यह कथा सिंहासन बत्तीसी के जैन पाठ मे उन्तीसवी पुतली द्वारा कहलाई गई है।

विद्यासिद्धि के प्रबन्ध मे विक्रमादित्य की उदारता का वर्णन है। जब वह 'परकाया प्रवेश' की विद्या सीखने श्रीपर्वत पर भैरवानन्द योगी के पास जाने लगा तो एक ब्राह्मण उसके साथ हो लिया और उसने विक्रम मे यह वचन ले लिया कि पहले यह विद्या मुझे सिखाना फिर तुम सीखना। राजा ने दुख उठाकर भी यह वचन पाला।

अगले प्रबन्ध मे विक्रमादित्य के जैन साधु सिद्धसेन दिवाकर से प्रभावित होने की कथा है। यह कथा सिंहासन बत्तीसी के जैन पाठ मे विस्तार से मिलती है।

विक्रमादित्य सिद्धसेन दिवाकर के 'सर्वज्ञ पुत्र' विरुद को सुनकर उनकी परीक्षा लेते हैं। वे मन-ही-मन उन्हे प्रणाम करते है। अपने श्रुतज्ञान से राजा का मनोगत भाव जान सिद्धसेन ने उन्हे दाहिना हाथ उठाकर धर्म लाभ का आशीर्वाद दिया। यह देखकर राजा बहुत चमत्कृत हुआ। इम प्रबन्ध मे राजा द्वारा पृथ्वी को अनृण करने का भी उल्लेख है।

अगले प्रबन्ध में विक्रमादित्य की मृत्यु स विक्रम सवत् प्रवर्तन होना कहा गया है। आगे प्रकीर्णक प्रबन्ध में 'विक्रमादित्य की पात्र परीक्षा' नामक कथा और है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रबन्ध चिन्तामणि तथा सिंहासन बत्तीसी के जैन पाठ मे जैन सम्प्रदाय मे प्रचलित विक्रमादित्य की कथाओ का सग्रह किया गया है। *हम इस प्रकरण का अन्त मेरुतुग द्वारा की गई विक्रमादित्य की प्रशसा से करेंगे।*

अन्त्योऽप्याद्यः समजनि गुणैरेक एवावनीशः।
शौर्योदार्यप्रभृतिभिरभारतोर्वीतले विक्रमार्कः ॥
श्रोतु श्रोतामृतसमनवतस्य राज्ञः प्रबन्ध।
सक्षिप्योच्चैर्विपुलमपित वच्मि किंचित्तदादौ ॥

पुराण—अर्थशास्त्रकार ने इतिहास की परिभाषा मे छह बातें सम्मिलित बतलाई हैं। 1 पुराण, 2 इतिवृत, 3 आख्यायिका, 4 उदाहरण, 5 धर्मशास्त्र और 6 अर्थशास्त्र। अतएव पुराण भी इतिहास के एक अग माने गए हैं। यद्यपि पाश्चात्य विद्वानो ने पुराणो के प्रति बहुत अश्रद्धा प्रकट की है, यहा तक कि किसी समय विलसन आदि योरोपियन विद्वान् इनका रचनाकाल ईसवी ग्यारहवी शताब्दी के पश्चात् तक बतलाते थे। परन्तु अब पुराणो का ऐतिहासिक मूल्य विद्वानो द्वारा माना जा चुका है। उनके आधार पर प्राचीन भारतीय इतिहास का पुनर्निर्माण किया गया है। अत यह देखना उचित होगा कि विक्रमादित्य का वर्णन पुराणो मे क्या दिया हुआ है।

कालकाचार्य कथानक मे गर्दभिल्ल से मिलते हुए एक गर्दभिन् वश का उल्लेख है, जिसने 72 वर्ष राज्य किया (पार्जीटर, पुराण-पाठ, पृष्ठ 45-46)। इसके अतिरिक्त पुराणो मे विक्रमादित्य का उल्लेख कम ही मिलता है। केवल भविष्य पुराण के प्रतिसर्ग पर्व मे विक्रमादित्य का विशद् वर्णन दिया है। भविष्य पुराण को पार्जीटर आध्र राजा यज्ञश्री के समय मे ईसवी दूसरी शताब्दी के अन्त मे लिखा हुआ बतलाते है। अत वह बहुत बहुमूल्य उल्लेख है। परन्तु स्मिथ का मत है कि भविष्य पुराण का वर्तमान रूप बहुत कुछ प्रक्षिप्त एव घटा-बढा है, अत इतिहास की दृष्टि से बेकार है। जो हो, विक्रमादित्य का पुराण-वर्णित रूप यहा दिया जाता है।

भविष्य पुराण मे विक्रमादित्य का उल्लेख दो स्थल पर आया है। द्वितीय खण्ड के अध्याय 23 मे लिखा है—

तस्मिन्काले द्विजः कश्चिज्जयतो नाम विश्रुतः ॥
तत्फल तपसा प्राप्तः शक्रतः स्वगृह ययौ।
जयतो भर्तृहरये लक्षस्वर्णेन वर्णयन् ॥
भुक्त्वा भर्तृहरिस्तत्र योगारूढो वन गतः।
विक्रमादित्य एवास्य भुक्त्वा राज्यमकटकम् ॥

इसमे जयन्त नामक ब्राह्मण के तपोबल से इन्द्र से अमृत फल लाने का उल्लेख है। इस ब्राह्मण ने इसे भर्तृहरि को बेच दिया। भर्तृहरि योगारूढ होकर

न को चले गए, तब] विक्रमादित्य उनके स्थान पर राजा हुआ। यही कहानी सिंहासन बत्तीसी आदि अन्य पुस्तकों में जिस रूप में प्राप्त है, अन्यत्र दिया गया है।

भविष्य पुराण के अनुसार कलियुग के 3710 वर्ष पश्चात् (सप्तत्रिंशशते वर्षे दशाब्दे चाधिके कलौ) अवन्ति में प्रमर नामक राजा हुआ। उसके पश्चात् उसके वंश में पश्चात् क्रमश महामद, देवापि, देवदूत और गन्धर्वसेन हुए। गन्धर्वसेन अपना राज्य अपने पुत्र शंख को देकर वन को चले गए। वहा वन में इन्द्र द्वारा भेजी हुई वीरमती नामक देवागना से गन्धर्वसेन के विक्रमादित्य उत्पन्न हुए। विक्रमादित्य का जन्म शकों का विनाश करने के लिए, आर्य धर्म की स्थापना करने के लिए हुआ था। स्वयं शकर का गण 'शिव दृष्टि' विक्रम रूप में अवतरित हुआ था। इस विक्रमादित्य को शिवजी ने बत्तीस पुत्तलियो युक्त सिंहासन भी दिया। माता पार्वती ने सिंहासन के साथ वैताल नामक गण भी विक्रमादित्य की रक्षा के लिए भेजा। विक्रमादित्य ने बहुत समय तक राज्य किया। उसने दिग्विजय तथा अश्वमेध यज्ञ किए।

इस पर भविष्य पुराण का यह अंश विक्रम सम्बन्धी सभी कथाओं को एक नवीन रूप में प्रस्तुत करता है। यह कथा मूल भविष्य पुराण में होगी, यह शकास्पद है, क्योंकि यह तो प्रमर, चाहमान आदि राजपुत्रों की दैवी उत्पत्ति बतलाने के लिए गढ़ी गई ज्ञात होती है।

स्कन्द पुराण में भी विक्रमादित्य का उल्लेख है। कुमारिका खण्ड में लिखा है कि कलियुग के 3000 वर्ष बीत जाने पर अर्थात् लगभग 100 ई० पू० विक्रमादित्य का जन्म हुआ था।

अन्य स्फुट ग्रन्थ—इस प्रसग में हम गाथा सप्तशती, ज्योतिर्विदाभरण तथा राजतरंगिणी का उल्लेख करेंगे। इन पुस्तकों में विक्रमादित्य का उल्लेख आया है।

इन तीनों में गाथासप्तशती बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह कुन्तल देश के राजा, प्रतिष्ठान (पैठण) नगर के अधीश, शतकर्ण (शातकर्णि) उपनामवाले द्वीपिकर्ण के पुत्र, मलयवती के पति और हालादि उपनाम वाले आध्रभृत्य सातवाहन के लिए अथवा उसके द्वारा लिखी गई है। इस सातवाहन वंश का ईसवी सन् 225 के आसपास अन्त हो गया था।[1] ऐसी दशा में यह ग्रन्थ उक्त समय के पूर्व ही लिखा

1. स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 232।

माना जाएगा। इसके रचनाकाल के विषय मे बहुत विवाद चलाया गया है। डॉ० देवदत्त भाण्डारकर इसका रचनाकाल ईसा की छठी शताब्दी बतलाते हैं।[1] यह सब खीचतान इस कारण से की गई थी कि डॉ० रामकृष्ण भाण्डारकर का यह मत पुष्टि पा सके कि गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय ही प्रथम एव शकारि सवत प्रवर्तक विक्रमादित्य था। यदि गाथासप्तशती का रचनाकाल दूसरी शताब्दी विक्रमी मान लिया जाय तो सर भाण्डारकर की यह कल्पना असत्य सिद्ध होती है। परन्तु अब तो इस कल्पना को असत्य सिद्ध करने के एकाधिक आधार ज्ञात हो गए हैं।

डॉ० देवदत्त भाण्डारकर के मत के खण्डन मे महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशकर हीराचन्द ओझाजी द्वारा दिए गए तर्क हम यहा उद्धृत करते हैं—

'देवदत्त रामकृष्ण भाण्डारकर ने विक्रम-सवत् सम्बन्धी अपने लेख में 'गाथासप्तशती के राजा विक्रम के विषय मे लिखते हुए उक्त पुस्तक के रचनाकाल के सम्बन्ध मे लिखा है कि 'क्या गाथासप्तशती वास्तव मे उतना पुराना ग्रथ है जितना कि माना जाता है ? बाण के हर्षचरित के प्रारम्भ के 13वें श्लोक मे सातवाहन के द्वारा गीतो के 'कोश' के बनाए जाने का उल्लेख अवश्य है परन्तु इस 'कोश' को हाल की सप्तशती मानने के लिए कोई कारण नही है जैसा कि प्रो० वेबर ने अच्छी तरह बतलाया है। उसी पुस्तक मे मिलने वाले प्रमाण उसकी रचना का समय बहुत पीछे का होना बतलाते हैं। यहा पर केवल दो बातो का विचार किया जाता है। एक तो उस (पुस्तक) मे कृष्ण और राधिका का (1।89) और दूसरा मगलवार (3।61) का उल्लेख है। राधिका का सबसे पुराना उल्लेख जो मुझे मिल सका, वह पचतन्त्र मे है, जो ई० सन् की पाचवी शताब्दी का बना हुआ है। ऐसे ही तिथियो के साथ या सामान्य व्यवहार म वार लिखने की रीति 9वी शताब्दी से प्रचलित हुई, यद्यपि उसका सबसे पुराना उदाहरण बुधगुप्त के ई० सन् 484 के एरण के लेख मे मिलता है। यदि हम गाथा सप्तशती के हाल का समय छठी शताब्दी का प्रारम्भ मानें तो अधिक अनुचित न होगा' (आर० जी० भाडारकर कोम्मेमॉरेशन वॉल्यूम, पृ० 188-89)। हम उक्त विद्वान् के इस कथन से सर्वथा सहमत नही हो सकते क्योकि बाणभट्ट सातवाहन के जिस सुभाषित रूपी उज्ज्वल रत्नो के कोश (सग्रह, खजाने) की प्रशसा करता है (अविनाशिनमग्राम्यमकरोत्सातवाहन । विशुद्धजातिभि कोश रत्नैरिव सुभाषितैं ॥ 13) वह 'गाथासप्तशती' ही है, जिसमे सुभाषित रूपी रत्नो का ही सग्रह है। यह कोई प्रमाण नहीं कि प्रो० वेबर ने उसे

1 भाण्डारकर स्मृति-ग्रन्थ, पृ० 188-89।

गाथासप्तशती नही माना इसलिए वह उससे भिन्न पुस्तक होना चाहिए। वेबर ने ऐसी-ऐसी कई प्रमाणशून्य कल्पनाए की हैं जो अब मानी नहीं जाती। प्रसिद्ध विद्वान डॉ० सर रामकृष्ण गोपाल भाडारकर ने भी वेबर के उक्त कथन के विरुद्ध बाणभट्ट के उपर्युक्त श्लोक का सम्बन्ध हाल की सप्तशती से होना माना है (बम्बई ग्र० जि० 1, भा० 2, पृ० 171 तें), ऐसा ही डॉक्टर फ्लीट ने (ज० रॉ० ए० सो०, ई० स० 1916, पृ० 820) और 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' के कर्ता मेरुतुग ने माना है (प्रबन्ध-चिन्तामणि, पृ० 26)। पाचवी शताब्दी के बने हुए पचतत्र मे कृष्ण और राधिका का उल्लेख होना तो उलटा यह सिद्ध करता है कि उस समय कृष्ण और राधिका की कथा लोगो मे भलीभाति प्रसिद्ध थी, अर्थात् उक्त समय के पहले से चली आती थी। यदि ऐसा न होता तो 'पचतत्र' का कर्ता उसका उल्लेख ही कैसे करता? ऐसे ही तिथियो के साथ या सामान्य व्यवहार मे वार लिखने की रीति का 9वी शताब्दी मे प्रचलित होना बतलाना भी ठीक नही हो सकता, क्योकि कच्छ राज्य मे अधे गाव से मिले हुए क्षत्रप रुद्रदामन् के समय के (शक) सवत् 52 (ई० सन् 130) के 4 लेखो मे से एक लेख मे 'गुरुवार लिखा है। (वर्षे द्विपचाशे 52-2 फाल्गुण बहुलस द्वितीया वी 2 गुरुवास (रे) सिहलपुत्रस ओपशतस गोत्रस० स्वर्गीय आचार्य वल्लभजी हरिदत्त की तय्यार की हुई उक्त लेख की छाप से) जिससे सिद्ध है कि ई० सन् की दूसरी शताब्दी मे वार लिखने की रीति परम्परागत प्रचलित थी। राधिका और बुधवार के उल्लेख से ही 'गाथासप्तशती' का छठी शताब्दी मे बनना किसी प्रकार सिद्ध नही हो सकता है। डॉ० रामकृष्ण गोपाल भाडारकर ने भी गाथासप्तशती के कर्ता हाल को आध्रभृत्य वश के राजाओ मे से एक माना है (बम्बई ग्र० जिल्द 1, भाग 2, पृ० 171) जिससे भी उसका आध्रभृत्य (सातवाहन) वशियो के राजत्वकाल मे अर्थात् ई० सन् की पहली या दूसरी शताब्दी मे बनना मानना पडता है।'[1]

'गाथासप्तशती' मे विक्रमादित्य के उल्लेख से जहा उसकी ऐतिहासिकता पर प्रभाव पडता है, वहा उसके गुणो पर भी प्रकाश पडता है। विक्रमादित्य अपार दानी था, यह लोक कल्पना पिछले विक्रमादित्य विरुदधारियो के कारण ही अस्तित्व मे नहीं आई है, वह मूल विक्रमादित्य के विषय मे भी थी, यह बात सप्तशती की विक्रम विषयक गाथा से स्पष्टतया प्रकट होती है। वह गाथा इस प्रकार है—

1 प्राचीन लिपिमाला, पृ० 168-69।

'सवाहण सुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्ख ।
चलणेण विक्कमाइच्च चरिअमणुसिक्खअतिस्सा ॥ 464 ॥

इस गाथा मे चरणो के सवाहन के सुखरस से तुष्ट हुई नायिका द्वारा विक्रमादित्य के चरित्र का अनुकरण करके 'लक्ख (लाल रग की लाख या लक्ष मुद्रा) नायक के कर मे दिए जाने का भाव प्रकट किया गया है। इसके शृगार पर के भाव के अनूठेपन से हम कोई सम्बन्ध नही है, न हमे कवि के उपमेय से सम्बन्ध है, हम तो इस गाथा के उपमान 'विक्रमादित्य' पर ही विचार करेंगे। वह विक्रमादित्य ऐसा था जो केवल चरण-स्पर्श से प्रसन्न होकर लाखो मुद्राए दान दे देता था।

इस गाथा से विक्रमादित्य के दान का पता तो चलता ही है, परन्तु आज के वातावरण मे—जबकि विक्रमादित्य के अस्तित्व पर ही शका की जा रही है अधिक महत्त्व की सूचना तो यह है कि विक्रमीय द्वितीय शताब्दी के पूर्व एक विक्रमादित्य था। इस प्रकार विक्रमीय सवत्सर के प्रवर्तन का सेहरा चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा अन्य तथाकथित सवत् प्रवर्त्तको के सिर नही बाधा जा सकता।

विक्रमीय सवत् की तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे (सवत् 1205 वि० के लगभग) लिखी गई कल्हण की प्रख्यात राजतरगिणी मे भी शकारि विक्रमादित्य का उल्लेख मिलता है। परन्तु इसके द्वारा विक्रम-समस्या मे गडबडी ही फैली है।

सबसे पहले विक्रमादित्य का उल्लेख कल्हण ने राजतरगिणी की दूसरी तरग के पाचवें तथा छठे श्लोक मे किया है—

'अथ प्रतापादित्याख्यास्तैरानीय दिगन्तरात् ।
विक्रमादित्य भूभर्तुर्ज्ञातिराभिषिच्यत ॥ 5 ॥
शकारि विक्रमादित्य इति सभ्रममाश्रितैः ।
अन्यैरत्रान्यथालेखि विसवादिकदर्थितम् ॥ 6 ॥

प्रतापादित्य विक्रमादित्य का रिश्तेदार था, यह लिखकर कल्हण ने यह टिप्पणी की है कि यह वह विक्रमादित्य नही जो शकारि था, जैसा कि कुछ लोग भ्रमवश मानते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि राजतरगिणीकार के समय मे यह विवाद था कि प्रतापादित्य का बान्धव विक्रमादित्य शकारि था या नही। कल्हण ने अपना यह मत स्थिर किया है कि इस प्रतापादित्य का बान्धव विक्रमादित्य शकारि नही था। कल्हण के मस्तिष्क मे केवल एक ही 'शकारि' की भावना थी।

इस प्रतापादित्य का समय राजतरगिणी की गणना से लगभग 169 ई० पू० होता है। अत यह उल्लेख मूल विक्रमादित्य का ही हो सकता है और एक सौ बारह वर्ष का अन्तर कालगणना की भूल के कारण हो सकता है। इस काल की कल्हण की गणना ठीक मानी भी नहीं जा सकती।

कल्हण ने जिस विक्रमादित्य को शकारि माना है, वह मातृगुप्त का आश्रय-दाता विक्रमादित्य है। वह लिखता है—

तत्रानेहस्युज्जयिन्यां श्रीमान् हर्षापराभिध ।
एकच्छत्रश्चक्रवर्ती विक्रमादित्य इत्यभूत ॥ 125 ॥

काश्मीर मे मातृगुप्त के राज्य के समय मे उज्जयिनी मे किसी हर्ष विक्रमादित्य का राज्य नही था। दसवी शताब्दी मे मालवे मे एक हर्षदेव परमार अवश्य हुए हैं। फिर यह कल्हण के 'शकारि' हर्ष विक्रमादित्य कौन हो सकते हैं। मातृगुप्त के समय मे मालवे पर स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य का शासन था। अत अनुमान यह किया जाता है कि उक्त श्लोक का मूल पाठ 'श्रीमान् हर्ष पराभिध' के स्थान पर 'श्री स्कन्द पराभिध' होगा। और स्कन्दगुप्त के लिए ही कल्हण ने आगे लिखा है—

म्लेच्छोच्छेदाय वसुधां हरेरवतरिष्यत ।
शकान्विनाश्य येनादौ कार्यभारो लघूकृत ॥

परन्तु चूकि कल्हण इस एक विक्रम विरुदधारी को शकारि समझता था इसलिए उसने प्रतापादित्य के समकालीन विक्रमादित्य के शकारित्व पर अविश्वास किया। काश्मीर के इतिहास को केन्द्रबिन्दु बनाने वाले इतिहासकार कल्हण ने 57 ई० पू० के मालव विक्रमादित्य के अस्तित्व पर यदि नही, तो कम से कम उनके शकारित्व पर शका का सूत्रपात किया था। परन्तु हमे तो उनसे केवल एक बात लेनी है, वह यह कि ई० पू० मे एक विक्रमादित्य था। उस समय उज्जैन से उसने शको को खदेड भगाया था, यह बात हम दूसरी अनुश्रुतियो से पूर्णत पुष्ट कर सक हैं।

ज्योतिर्विदाभरण कालिदास नामक ज्योतिषी ने लिखा है। यह कालिदास अपने आपको विक्रमकालीन महाकवि कालिदास मनवाने पर तुला हुआ है। वह अपने आपको उज्जयिनी पति विक्रम का मित्र बतलाता है, रघुवश आदि तीनो काव्यो का कर्ता कहता है। वह पुस्तक का रचनाकाल भी सवत् 24 वि० लिखता है। परन्तु इस पुस्तक की घटिया रचनाशैली कहती है कि यह ग्रन्थ रघुवश के रचयिता का नहीं हो सकता। दूसरे सवत् 24 विक्रमीय मे की गई

इस रचना मे वि० स० 135 मे प्रारम्भ होने वाले शक-सवत् का भी उल्लेख है, जिससे उक्त ग्रन्थ की भ्रामक तिथि भी प्रकट होती है। परन्तु इस ग्रन्थ को अप्रामाणिक मानने मे हमारे अनेक मित्रो का जी दुखता है। इस विवाद मे पडना यहा अभीष्ट भी नहीं है, अतः हम यहा तो केवल इतना ही कह देना चाहते हैं कि 'भारतीय ज्योति शास्त्र' मे श्री शकर बालकृष्ण दीक्षित इस ग्रथ का रचनाकाल विक्रमीय तेरहवी शताब्दी के अन्त मे मानते है।

इस ग्रन्थ मे विक्रम की सभा के जो नवरत्न गिनाए गए हैं उनका उल्लेख हो चुका है। उनके अतिरिक्त मणि, अशु, जिष्णु, त्रिलोचन, हरि कवि तथा सत्य श्रुतसेन, बादरायण, मणित्थ और कुमारसिंह ज्योतिषी और गिनाए हैं। उसकी सेना भी बहुत विशाल बताई गई है। तीन करोड पैदल सिपाही, दस करोड अश्वारोही, चौबीस हजार हाथी के अतिरिक्त उसके पास चार लाख नावें भी बतलाई हैं। उन्होंने 95 शक राजाओ को हराकर अपना संवत् चलाया। (कालकाचार्य कथानक के 96 साहियो से यह सख्या मिलती है) इस ग्रन्थ मे यह भी लिखा है कि विक्रमादित्य रूम देश के 'शक' राजा को जीतकर उज्जैन लाया, परन्तु फिर उसे छोड दिया। (रोम सम्राट् को विक्रमादित्य हराकर उज्जैन लाए या नही, इस विषय मे तो हम मौन रहना ही श्रेयस्कर समझते हैं, यहा हम केवल इतना लिखना उचित समझते हैं कि उस समय, अर्थात् 57 ई० पू० के आसपास, रोम मे परम प्रतापी जूलियस सीजर प्रभावशाली था और 45 ई० पूर्व मे रोम की सीनेट ने उसे आजीवन डिक्टेटर बना दिया था।)

समन्वय—विक्रमादित्य सम्बन्धी अनुश्रुतियो का दिग्दर्शन हम कर चुके हैं। अब इन सब विभिन्न कथाओ का समन्वय कर हम विक्रमादित्य का अनुश्रुति-सम्मत रूप प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

सबसे प्रथम तो विक्रमादित्य के माता-पिता, भाई, बान्धव मत्री आदि के नामो को ही लेते हैं। यह सब एक स्थल पर नीचे की सारिणी से एक दृष्टि में ज्ञात होंगे—

	कालक-कथा	कथासरित्सागर	वेतालपच्चीसी	भविष्य पुराण	सिंहासनबत्तीसी	प्रबन्ध चिन्तामणि
	1	2	3	4	5	6
पिता ...	गर्दभिल्ल ...	महेन्द्रादित्य ...	गन्धर्वसेन	गन्धर्वसेन	गर्दभ वेशधारी गधर्व, (केवल जैन पाठ मे)	...
माता ...	...	सौम्यदर्शना ...	...	वीरमती	मदनरेखा (केवल जैन पाठ मे)	...
भाई ...	...	...	1. शंख ... 2. भर्तृहरि	1. शख ... 2. भर्तृहरि	भर्तृहरि (जैन पाठ मे)	भर्तृहरि
पुत्री ...	...	...	...	...	...	प्रियगुमंजरी
विवाह ...	...	सात पत्निया ... मलयावती, मदनलेखा आदि	...	...	...	...
पुरोहित ...	...	...	...	...	1. त्रिविक्रम 2. वसुमित्र	...
मंत्री ...	...	...	...	...	भट्टि, बहिसिन्धु	...
सेनापति ...	...	विक्रमशक्ति ...	...	...	चन्द्र	...

साथ ही इन सब कथाओ को एक मे मिलाकर जो विक्रम चरित्र बनता है उसे अत्यन्त सक्षेप मे नीचे दिया जाता है —

1. जन्म, माता-पिता और भाई—विक्रमादित्य के जन्म के सम्बन्ध मे अनेक असाधारण एव अलौकिक बातें सम्मिलित हो गई हैं। विक्रमादित्य भारतीय अनुश्रुति मे अत्यन्त महान् व्यक्ति माने गए हैं। ऐसे व्यक्ति का जन्म किसी विशेष उद्देश्य से होता है। राम और कृष्ण के जन्म का हेतु धर्म की स्थापना, दुष्टो का दलन एव सन्तो की रक्षा था। उसी प्रकार विक्रम का जन्म भी भविष्य पुराण के अनुसार 'शकानाश्च विनाशार्थं एव 'आर्य धर्म विवृद्धये' हुआ था। कथा-सरित्सागर के अनुसार भी उसका अवतरण म्लेच्छो से आक्रात पृथ्वी के उद्धार के लिए हुआ था। इन दोनो कथाओ मे शिवजी के गण 'माल्यवान्' ने विक्रमादित्य के रूप मे अवतार लिया था।

प्रबन्ध चितामणि मे विक्रम के पिता का नाम नही दिया और न उसके जन्म मे कोई अलौकिकता बतलाई गई है। सिंहासनबत्तीसी के जैन पाठ मे गर्दभरूप-धारी गन्धर्व है, कालकाचार्य कथा मे गर्दभिल्ल तथा वैतालपच्चीसी और भविष्य पुराण मे गन्धर्वसेन है। इन सब नामो मे बहुत अधिक ध्वनिसाम्य है। कथा-सरित्सागर का 'महेन्द्रादित्य' नाम अवश्य भिन्न है। माता के नाम मे तो साम्य बिलकुल नही है।

2 राज्य प्राप्ति—प्रबन्ध चिन्तामणि ने विक्रम को गरीब तथापि स्वाभिमानी राजपुत्र बतलाया है। उसने अग्निवेताल से लडकर अवन्ति का राज्य प्राप्त किया। कथासरित्सागर, भविष्य-पुराण, कालक-कथा, सिंहासनबत्तीसी एव वेतालपच्चीसी सभी उस राजा का बेटा बतलाते हैं, इनमे से कुछ मे वह भाई शक से राज्य लेता है, कुछ म भर्तृहरि से तथा कुछ मे सीधा अपने पिता से।

3 राज्य विस्तार—विक्रमादित्य का राज्य विस्तार भी अत्यधिक बतलाया गया है। कथासरित्सागर मे उन देशो की गणना कराई गई है (पीछे देखिए)। कथासरित्सागर का विक्रमादित्य सिंहल, मलयद्वीप आदि के राजाओ का मित्र था। सिंहासनबत्तीसी के अनुसार पाण्ड्यदेश से इसे कर मिलता था। वास्तव मे अनुश्रुति का विक्रम समस्त ससार का एकछत्र सार्वभौम सम्राट् था, रूम और चीन तक तो वह विजय करने जाया करता था और फारस के राजा को उसका सेनापति ही बाध लाता था।

4 शौर्य, दान और परोपकार—राजा विक्रमादित्य की युद्ध-वीरता की कथा वर्णन करने मे अनुश्रुति ने अधिक समय नही लगाया। परन्तु दूसरे की थोडी-सी भलाई के लिए वह अपने प्राण देने को भी नही चूकता था। करोडो की सख्या मे वह दान देता था। ससार को ऋण-ग्रस्त देख वह सबको ऋणहीन

करने पर कटिबद्ध हो जाता था। अपने प्राणो की बाजी लगाकर प्राप्त हुई सिद्धियो को वह बिना सोचे-समझे दे डालता था। यहाँ तक कि अपने विरुद्ध युद्ध करते हुए शालिवाहन के आदमी को वह अमृत दे देता है।

5 विक्रम राज—तुलसीदास ने रामराज्य मे सभी सुखो की कल्पना की है। हमे भी सिंहासनबत्तीसी मे विक्रमराज की बडी विशद् एव सुन्दर कल्पना मिली है। उन उद्धरणो को पूरा-पूरा हम पीछे दे चुके हैं। दिन-रात प्रजा-पालन मे तत्पर, परदुखपरायण विक्रम की प्रजा सुखी हो, यह स्वाभाविक ही है।

6 'सवत्-प्रवर्त्तन—विक्रमादित्य ने सवत्-प्रवर्त्तन कब और कैसे किया, इसके विषय मे अनुश्रुति मे बहुत स्पष्ट उल्लेख नही है। प्रबन्ध चिन्तामणि मे विक्रम की मृत्यु से सवत् का प्रारम्भ माना है। सिंहासनबत्तीसी मे पृथ्वी को ऋणहीन करके सवत् प्रवर्त्तन किया है। कालक-कथा के अनुसार शको को हराकर विक्रम ने सवत् प्रवर्त्तन किया।

7 शालिवाहन और विक्रम की मृत्यु—जन्म के समान ही विक्रमार्क का अवसान भी लोककथा अत्यन्त रहस्यपूर्ण बतलाती है। विक्रम का प्रतिष्ठान के शालिवाहन से वैर भी लोक प्रसिद्ध हो गया है। कुछ ग्रन्थो मे शालिवाहन प्रतिष्ठान का राजा है, कुछ मे ढाई वर्ष की बालिका से उत्पन्न शेषनाग का पुत्र। परम पराक्रमी विक्रम को मारने वाला शालिवाहन भी अलौकिक बन गया।

8 सिंहासन आदि—विक्रम का सिंहासन और उसके मित्र वेताल के साथ-साथ वररुचि, कालिदास आदि भी इन कथाओ मे कही-नहीं दिखाई देते हैं। विक्रम का सिंहासन तो भारतीय कथा साहित्य की अत्यन्त आकर्षक वस्तु बन गई है। विक्रम के अतिरिक्त उस पर कोई दूसरा बैठ नही सकता। उस पर बैठ कर न्याय बुद्धि एव शासन-क्षमता, उदारता आदि का अपने आप उदय होता है।

उपसहार—वैक्रम-अनुश्रुति के महासागर मे मे यह कुछ रत्न परखकर उनकी लोकरजनकारी द्युति का विवेचन यहा किया है। विशुद्ध ऐतिहासिक सामग्री यदि अस्थियो का पजर है तो लोककथा उसके ऊपर चढ़ा हुआ मास एव चर्म है। यह एक-दूसरे के पूरक हैं। इससे यह स्पष्ट है कि लोक-मस्तिष्क मे इतना गहरा प्रविष्ट होने वाला परदुखभजन, जन-मन-रजन, दानी, सवत् प्रवर्त्तक वीर विक्रमादित्य केवल कल्पनामात्र नही हो सकता। इतना अवश्य है कि पिछले विक्रमादित्य उपाधिधारी सम्राटो की छाया ने मालवगण-नायक मूल विक्रम की तसवीर को लोक-मस्तिष्क रूपी पट पर अत्यन्त गहरे रगो से रग दिया है। गुप्तवशीय सम्राटो के विक्रमादित्य विरुद के कारण यह गण-नायक सम्राट बना, उनकी दिग्विजयो को देखकर उस स्वातन्त्र्य प्रेमी जाति के नेता को

रोम, फारस, मलय, लका आदि का विजेता बनना पडा। यह सब कुछ होते हुए भी लोक कल्पना का विक्रमादित्य अपने आप मे पूर्ण है, इसे इतिहासज्ञो के निर्णय की चिंता नहीं, उसकी मूर्ति भारतीय सस्कृति की प्रतीक बन गई है, उसका सवत् भारत का राष्ट्रीय एव धार्मिक सवत्सर हो गया है। भारतीय सस्कृति की अजस्र धारा के साथ एव विक्रम-सवत् की अनन्त यात्रा के साथ वीर विक्रमादित्य का नाम भी अमर रहेगा।

त्रिविक्रम

□ श्री कृष्णाचार्य

विक्रमादित्य उपाधि या नाम से अनेक सम्राट् भारत में हो गए हैं। जनसाधारण की धारणा है कि इस नाम का परम पराक्रमी सम्राट् उज्जैन में हो गया है। प्राचीन इतिहास में अभी तक यह निश्चय नहीं हो पाया है कि उज्जयिनी में कोई विक्रमादित्य हुआ। एक इतिहासकार किसी को संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य बतलाता है तो दूसरा उसके विरुद्ध प्रमाण देता है। जनश्रुति यह है कि विक्रम इसी नगरी का राजा था, उसी ने नवीन संवत् चलाया (ठीक दो हजार वर्ष पहले), शकों को हराया, प्रजा में शान्ति स्थापित की। उसकी बुद्धि, न्याय और दान की अनेक कहानियां प्रचलित हैं।

आज हम पाटलिपुत्र, कल्याण और तंजौर (तंजुवुर) के विक्रमादित्यों की चर्चा करेंगे। प्राचीन भारत के साहित्य के गम्भीर अनुशीलन से पचीसों विक्रमादित्यों को प्रकाश में लाया जा सकता है। विक्रमदेव[1], विक्रमसेन[2], विक्रमराज[3] और विक्रमार्क[4] जैसे कुछ अल्प नामान्तरों पर ध्यान न दिया जाय तो ज्ञात होगा कि भारत-भूमि ने अनेक यशस्वी राजाओं को जन्म दिया। दक्षिणापथ के शासकों ने भी अपने नाम को विक्रम चोल और विक्रम पाड्य जैसे विरुदों से धन्य किया।

चालुक्य वंश के छह सम्राटों ने इस उपाधि को धारण किया। किन्तु सर्वप्रथम गुप्त सम्राटों ने ही विक्रम शब्द का मान किया, भारत के अन्य सम्राट् इसको गुप्तों जैसी प्रतिष्ठा न दे सके। राजपूत काल में गांगेयदेव भी कलचुरिवंश का ख्यातिलब्ध शासक हो गया है, इसके दानपत्रों में भी विक्रमा-

---

1 डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया, पृ० 1041।
2 नेपाल वंशावली।
3 वही।
4. चापवंशीय राजा।

दित्य' उपाधि का उल्लेख पाया जाता है।[1] अपने स्वामी को लगभग बीस युद्धो मे शत्रु को हराने का यश दिलानेवाले हेमू[2] ने भी 'वक्रम' विरुद को अपनाया।

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य

स्कन्दगुप्त द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पौत्र थे। अपने राज्यकाल के प्रारम्भ मे स्कन्द ने प्रजा को आन्तरिक षड्यत्रो तथा बाह्य आक्रमणो से त्रस्त पाया। कुछ विद्वानो का अनुमान है कि स्कन्दगुप्त अपने सौतेले भाई पुरगुप्त से सिंहासन के लिए लडे, किन्तु इस घटना का कोई प्रमाण नही।

जिस समय स्कन्दगुप्त के पिता महाराजाधिराज कुमारगुप्त राज्य करते थे, उसी समय विदेशी बर्बर हूणो ने सीमा-प्रान्त पीडित कर रखा था। अपनी विलासी प्रवृत्ति के कारण कुमारगुप्त ने इन हलचलो की ओर उचित ध्यान न दिया। वह चाहते तो हूणो पर विजय प्राप्त कर प्रजा को अभय दान देते। हूणो ने गाधार, उद्यान और उरश मे अपना आतक फैला रखा था। भारत के उत्तरी द्वार की अवहेलना का परिणाम यह हुआ कि 'पाचवी शताब्दी के अन्त मे कपिशा, गाधार और नगरहार के समृद्ध नगर (गुप्त साम्राज्य के प्रान्त) भारत के मानचित्र से सदैव के लिए मिट गए। इस आक्रमण ने उत्तरी भारत मे अन्तिम यूनानियो के बचे-खुचे सस्मरण खो दिए। हूणो के आने के बाद भारत से उस सभ्यता का लोप हो गया जिसने शक, कुषाण तथा अन्य जातियो को पचा लिया था। उनके पादाक्रान्त ने महान् कुषाण सम्राटो द्वारा निर्मित मन्दिर, विहार तथा अन्य वैभव-प्रतीक धूलधूसरित कर दिए। उसी समय तक्षशिला का विश्व-विद्यालय भूगर्भ मे विलीन कर दिया गया।'[3] इन हूणो से स्कन्दगुप्त अपने पिता के राज्यकाल मे ही लडने चला। भितरी के स्तम्भ-लेख से प्रमाणित है कि उसने हूणो की बढती बाढ को एक बार फिर रोका—'हूर्णर्यस्य समागतस्य समरेदोर्म्या धरा कपिता।'

किन्तु अपने वीर पुत्र की इस महान् विजय का जयनाद महाराजाधिराज कुमारगुप्त न सुन सके। 'पिता की मृत्यु के उपरान्त विप्लुत होती हुई वशलक्ष्मी को (स्कन्दगुप्त ने) अपने भुजबल से अरि को जीतकर भूमि पर पुन स्थापित किया, और जलभरे नेत्रोवाली अपनी मा से मिलकर उसे परितोष दिया—ठीक

---

1 खैरह और जबलपुर के दानपत्र।

2. मुसलमान इतिहासकारो ने इसे विक्रमादित्य लिखा है। उनके मत से वह हिन्दू राज्य स्थापित करना चाहता था।

3. इम्पीरियल गुप्ताज, आर० डी० बनर्जी।

उसी प्रकार जिस तरह कृष्ण ने अपने रिपु (कस) को मारकर देवकी को छुडाकर दिया था।'[1] इन काव्यात्मक ऐतिहासिक उद्गारो ने स्कन्द के शौर्य को अमर कर दिया है। मा के नेत्रो मे वैधव्य और विजयोल्लास एक साथ व्यक्त हो रहे हैं। देवकी और कृष्ण की उपमा से उस सकटावस्था का स्पष्ट आभास मिलता है, 'विचलित कुल-लक्ष्मी को फिर से अचल करने के लिए त्रियाम क्षितितल पर ही (स्कन्दगुप्त ने) शयन किया।'[2] समरभूमि मे कहा थे, पर्यंक तथा अन्य विलास-वैभव। शत्रु से घोर सग्राम करने के बाद प्रजावत्सल सम्राट् को अवश्य ही उस माता की गोद मे मीठी निद्रा आई होगी, जिसने उस सम्राट् को जन्म दिया और जो मृत्यु के उपरान्त भी अपने अक मे 'लक्ष्मी द्वारा वरण किए हुए'[3] सम्राट् को समेट लेगी।

सुदर्शन झील—स्कदगुप्त पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए प्रदेशो की स्वय, कैसे देखभाल कर सकता था। अत दूरस्थ प्रान्तो मे योग्य प्रति निधि नियुक्त किए। गिरनार स्थान से प्राप्त शिलालेख मे एक ऐसे ही योग्य, पर्णदत्त नाम के प्रान्तपाल का उल्लेख हुआ है। यह लेख अत्यन्त पुराना है। सैकडो वर्ष के अन्तर से उत्पन्न होनेवाले कई सम्राटो के शिल्पियो की लेखनी का सौभाग्य प्राप्त करने के कारण महत्त्वपूर्ण माना जाता है। महाराज अशोक के पिता चन्द्रगुप्त मौर्य के मत्री पुष्यगुप्त ने सौराष्ट्र म प्रजा के हित के लिए एक झील का निर्माण कराया था। अशोक के समय सौराष्ट्र मडलाधीश यवन तुपास्फ था। तुपास्फ ने भी जनता-जनार्दन की सेवा के लिए उस जलाशय मे से नहरें निकलवाई थी। विक्रम सवत् 207 मे सुराष्ट्र और मालवा का राजा रुद्रदामन् था। इस शक सम्राट् ने भी उसी शिला पर अपनी यशोगाथा खुदवाई। रुद्रदामन् की इस प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उसने अपनी निजी सम्पत्ति द्वारा इस कासार का जीर्णोद्धार कराया। उसने इस झील का विस्तार तिगुना कराकर 'सर्व तटो' पर सेतु (बाध) निर्मित कराए।[4]

---

1. पितरिदिवमुपेते विप्लुता वशलक्ष्मी भुजवलविजितारिर्य प्रतिष्ठाप्य भूय.। जितमिव परितोषान् मातर साश्रुनेत्रा हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेत ॥
2. विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा। समुदितबलकोशान् पुष्यमित्राश्च जित्वा क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपाद। (भितरी से)
3. स्वमात् कोशान् महता धनौघेनातिमहता च कालेन त्रिगुणदृढतरविस्तारायाम सेतु विधाय सर्वतटे। (महाक्षत्रप रुद्रदामन् की गिरनार प्रशस्ति।)
4. जयीहलोके सकल सुदर्शन पुत्रान् हि दुर्दर्शनता गत क्षणात्। (स्कन्दगुप्त का लेख।)

स्कन्दगुप्त के समय यह प्रसिद्ध ऐतिहासिक झील फिर जीर्ण हो गई थी, जल सूख गया। वास्तव मे सुदर्शन के स्थान पर वह अब दुर्दर्शन नाम सार्थक कर रही थी।[1] प्रजा को विशेषकर गर्मी के दिनो मे कष्ट होने लगा, अत प्रभूत धनराशि लगाकर उसके उद्धार मे फिर हाथ लगाया गया। सुदर्शन-उद्धार के साथ-साथ वहा के स्थानीय शासक चक्रपालित ने विष्णु मन्दिर की स्थापना भी कराई।

इसी प्रकार न जाने कितने लोक-सग्रहात्मक कार्यों मे परमभागवत स्कन्दगुप्त ने हाथ लगाया होगा। कहा जाता है कि हूणो से तृतीय बार युद्ध करते-करते इस विक्रमादित्य ने प्राणो की आहुति दी। गुप्तवश मे स्कन्द अन्तिम प्रतिभासपन्न और प्रभावशाली नृप हुआ। इस सम्राट् के उपरान्त गुप्तो का सूर्य सदैव के लिए लुप्त हो गया।

विक्रमादित्य षष्ठ : कल्याण चालुक्य

चालुक्य वश मे छह विक्रमादित्य हो गए हैं, किन्तु इनमे सर्वश्रेष्ठ सम्राट् षष्ठ विक्रमादित्य हुए। इनके पिता सोमेश्वर के तीन पुत्र थे—सोमेश्वर द्वितीय, विक्रमादित्य और जयसिंह।

मझले भाई विक्रमादित्य ने युवराजकाल मे ही आसपास के शक्तिशाली शासको से लोहा लिया। सर्वप्रथम केरल के सम्राट को नतमस्तक किया। विक्रमादित्य को अपनी ओर प्रयाण करते सुनकर सिंहल के राजा ने पराजय स्वीकार कर ली। अब पल्लवो को परास्त करने का सकल्प किया। पल्लव-वंश के राजाओ से विक्रमादित्य के पूर्वज लड चुके थे और पल्लवों का दमन भी किया जा चुका था। पल्लवों की शक्ति क्षीण नही हो पाती थी, कुछ ही समय मे युद्ध के लिए फिर प्रस्तुत हो जाते थे। विक्रमादित्य[2] के राजकवि बिल्हण ने अपनी प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुस्तक 'विक्रमाकदेवचरित' मे लिखा है कि चोलपति 'भागकर कन्दराओ मे छिप गए।' विक्रम ने काची मे प्रवेश कर अपार धन प्राप्त किया। इसी प्रकार वेंगी और चक्रकोट में अपनी साख स्थापित की।

---

1 व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्रपुत्रान् लक्ष्मी स्वय य वरयाञ्चकार।

2. विक्रमादित्य के पिता सोमेश्वर प्रथम भी ख्यातिलब्ध शासक थे, इन्होंने भी चोल 'राजाधिराज' को हराया। वे कृष्णा नदी के किनारे युद्ध म वीरगति को प्राप्त हुए। इसी प्रकार मालवा और काची तक अपना प्रभुत्व फैलाया। उत्तर म (बुन्देलखण्ड) कर्ण को हराया। सोमेश्वर शैव थे, भयानक ज्वर और शरीर से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने तुगभद्रा नदी में प्रवेश कर प्राण विसर्जित किए।

विक्रमादित्य षष्ठ अनेक देशो को जीतने मे लगे ही हुए थे कि अचानक ही पिता के तुगभद्रा मे प्रवेश कर शरीर छोडने का समाचार मिला। विक्रम कल्याण मे लौट आए और नवीन सम्राट् (अपने ज्येष्ठ भाई सोमेश्वर द्वितीय) को युद्ध मे प्राप्त समस्त धन भेंट किया। 'विक्रमाङ्कदेवचरित' पढने से विदित होता है कि सोमेश्वर का व्यवहार विक्रमादित्य के प्रति प्रशसनीय रहा, किन्तु वह प्रेम स्थाई न रह सका। कल्हण के शब्दो मे वह 'प्रजाउत्पीडक' शासक था। दिन पर दिन स्थिति बदलती गई। अन्त मे विक्रमादित्य ने अपने छोटे भाई जयसिंह को साथ लेकर राजनगरी त्याग दी। सम्राट् सोमेश्वर ने (सम्भवत) विक्रमादित्य के पराक्रम से भयभीत होकर पीछे से सेना भेजी, किन्तु उस सेना को अनुभवी विक्रमादित्य से परास्त होकर दुर्दशाग्रस्त अवस्था मे लौटना पडा।

विक्रमादित्य ने युवराजकाल मे जीते हुए प्रदेशो मे सेना लेकर आपत्तिकाल मे काम आनेवाले मित्रो की परीक्षा करने की इच्छा की। तुगभद्रा नदी के तट पर सेना का सगठन किया गया। बनवासी के राजा ने विक्रमादित्य के साथ सहानुभूति का व्यवहार किया और यहा कुछ दिन तक उसे ठहरना पडा। आगे बढने पर विक्रम का सत्कार मलय, कोकण और अलूप के शासको ने भी किया। केरल सम्राट (मालाबार) ने युद्ध करना ही निश्चित किया, किन्तु विक्रमादित्य को कुछ भी कठिनाई न हुई, उसके विक्रम ने शीघ्र ही उसे झुका दिया। अब काची मे द्रविडो से मुठभेड होने की प्रारम्भिक अवस्था मे ही काचिराज झुक गए, यहा तक कि अपनी कन्या देकर विक्रम को अपना जामातृ बनाया। विक्रमादित्य तुगभद्रा लौट आए। किन्तु उसी समय वैंगी के राजा ने काची को हस्तगत कर लिया। चालुक्यो के आक्रमणो से काची के पल्लव शासक निर्बल हो गए थे, जो चाहता वही घुस पडता। दूसरे काची के सम्राट् वृद्ध थे। इस सफलता से उत्साहित हो वैंगीपति ने विक्रमादित्य के भाई सम्राट् सोमेश्वर को भी भडकाया। वैंगी और चालुक्य सम्राटो ने एक साथ तुगभद्रा पर आक्रमण करके विक्रम की शक्ति को नष्ट करना चाहा। विक्रमादित्य विचलित नही हुए। अपने शौर्य और बुद्धि-वैभव से आगे और पीछे दोनो सेनाओ को एक साथ हराया। सर्वप्रथम श्वसुर का उद्धार किया, उसके उपरान्त कल्याण म प्रवेश किया। कुछ 'सकोच' के साथ भाई को सिंहासनच्युत कर वन्दी बनाया।

विक्रम-सवत् 1075 मे विक्रमादित्य का अभिषेक हुआ। विक्रमादित्य ने पचास वर्ष तक राज्य कर प्रजा मे शान्ति स्थापित की। सम्राट् होने के उपरान्त भी यत्र-तत्र युद्ध चलते रहे, किन्तु कुलपरम्परा के अनुसार अब युद्धो का भार उसके ज्येष्ठ पुत्र 'राजाधिराज' पर आ गया।

विक्रमादित्य ने अभिषेक के दिन से नवीन सवत् भी प्रचलित किया, किन्तु वह शीघ्र लुप्त हो गया। विक्रमादित्य के जीवन का अधिकाश भाग युद्ध मे

व्यतीत हुआ। अपने भाई को सिंहासन-च्युत करने वाली घटना सिद्ध करती है कि राजदण्ड शक्तिशाली हाथों मे ही रह सकता है।

अन्य विक्रमादित्यो की भांति चालुक्य-वंश का यह सम्राट् भी विद्याप्रेमी था। याज्ञवल्क्यस्मृति पर टीका करने वाले दो प्रसिद्ध विद्वान हुए। प्रथम बंगाल के जीमूतवाहन और द्वितीय विज्ञानेश्वर। विज्ञानेश्वर की टीका मिताक्षरा जीमूत-वाहन से भी अधिक प्रामाणिक समझी जाती है, क्योंकि सारे भारत मे, बंगदेश को छोड़कर, विज्ञानेश्वर का मत प्रचलित है। यह विज्ञानेश्वर, मिताक्षरा के लेखक, विक्रमादित्य की सभा के ही रत्न थे। दूसरे प्रसिद्ध विद्वान् काश्मीरी पंडित बिल्हण थे। ऊपर बतलाया जा चुका है कि आपने 'विक्रमांकदेवचरित' नामक प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुस्तक की रचना की है। संस्कृत-साहित्य में बाण के 'हर्षचरित' के अतिरिक्त दूसरा ऐतिहासिक ग्रन्थ यही है।

विक्रमादित्य त्रिभुवनमल्ल, कलिविक्रम और परमाडिराय नामो से भी प्रसिद्ध थे। वास्तविक नाम इन्ही मे से कोई रहा होगा, किन्तु रणक्षेत्रो में अनेक विजयो को अर्जित करने के कारण विक्रमादित्य नाम स प्रसिद्ध हो गए। बिल्हण लिखता है कि विक्रमादित्य की रानी (महिषी महादेवी) चन्द्रलेखा अनुपम सुंदरी थी। विक्रम को उसने एक स्वयंवर मे वरण किया। महाशय भांडारकर स्वयंवर-वाली घटना पर सन्देह करते है, किन्तु जब तक इसके विपक्ष मे कोई प्रमाण नही मिलता तब तक इस घटना को सत्य ही मानना उचित है। विक्रमादित्य ने विष्णु के एक मन्दिर की स्थापना कराई और उस मन्दिर के सम्मुख सुन्दर तडाग निर्मित हुआ। उसने विक्रमपुर नगर भी बसाया। बिल्हण लिखता है कि पुरवासी उसके शासनकाल में 'रात म भी ताले नही लगाते थे, चोरो के स्थान पर सूर्य रश्मियां ही दूसरो के घरो मे चुपके से प्रवेश करती थी।'

विक्रम चोल

नवीं शताब्दी मे तंजौर को केन्द्र मानकर चोल राज्य साम्राज्य के रूप मे विकसित हुआ। इस राजवंश मे प्रथम प्रतापी राजा राजराज चोल हुए। अपने 28 वर्ष के शासनकाल मे (विक्रम संवत् 1042 से 1069 तक) आसपास के सम्राटों जैसे चेर, वेंगी के चालुक्य, मालाबार तट पर कोल्लम, कलिंग के उत्तरी खण्ड, कुर्ग और पाड्यों को हराया और इनमे से अधिकांश को अपनी छत्रछाया म कर लिया। किन्तु राजराजदेव के अद्भुत पराक्रम का आभास तब हुआ जब-कि उसने भारत के बाहर भी अपना समुद्री बेड़ा दृढ करके लंका पर आक्रमण किया। अपने राज्यकाल के बीसवें वर्ष मे लंका को भी साम्राज्य मे सम्मिलित कर लिया, समुद्री सेना के बल पर अन्य कई द्वीपो से भी धन एकत्रित किया

[लक्दीव (?) और मालदीव (?)]। उस समय ब्रह्मा तक चोल राज्य के नाविक आया-जाया करते थे।

राजराज से भी अधिक ऐश्वर्यवान् सम्राट् राजेन्द्र चोल, जिसको विक्रम चोल भी कहा गया है, हुआ। लका विजय के उपरान्त राजराज ने स्वय युद्धो मे भाग लेना कम कर दिया और विक्रम चोल को अपने वश-परम्परा के अनुसार युद्ध कार्यक्रम का भार विक्रम-सवत् 1068 मे दे दिया।

राजेन्द्र या विक्रम चोल आज इस ससार मे नही है किंतु वह अपने पीछे सैंकडो लेख साक्षी स्वरूप छोड गया है। इन लेखो मे उसकी वीरता के मनोरजक वर्णन आज भी एक हजार वर्ष पहले के इतिहास की कहानी कहने को प्रस्तुत हैं।

तिरु मन्नि वलर लेख से ज्ञात हुआ है कि अपने राज्यकाल के तीसरे वर्ष (राज्यकाल विक्रम-सवत् 1069) मे वीर राजेन्द्र ने इड्डुतुरईनाडू, बनवासी, कोल्लीपीप्पाक्कई और मण्डैक कडम्क्म् को जीत लिया।

दूसरा पग चालुक्यो के विरुद्ध उठाया गया।[1] सत्याश्रय उस समय चालुक्यो के सम्राट् थे। विक्रम ने श्रुतिमान नक्कन चन्द्रन को शत्रु के हाथी पर आक्रमण करने की आज्ञा दी। चन्द्रन युद्ध म वीरगति को प्राप्त हुए। यह युद्ध अन्त मे स्वय विक्रम को लडना पडा। तुगभद्रा पार जा शत्रु के हृदयदेश मे युद्ध करके राजधानी तक अपने रथो के चक्रों को प्रवर्तित किया। इस प्रकार पल्लवो के स्थान पर चोलो से चालुक्यो का शत्रुभाव का विनिमय हुआ। सारे दक्षिण मे पल्लवो के उपरान्त अब चोल सर्वोपरि शासक हो गए। युद्ध का अन्त चार वर्षों मे हुआ।

लका-विजय—सिहासनस्थ होने के पाचवें वर्ष धुर दक्षिण की ओर विजय-वाहिनी चली। लका मे उस समय महिन्द पचम राज्य करते थे।[2] राजेन्द्र के पास समुद्री युद्ध मे कुशल योद्धाओ और पोतो का अभाव न था। पिता द्वारा आयोजित की हुई सेना को और अच्छी तरह से दृढ करके विक्रम चोल ने भी लका पर द्वितीय चोल-आक्रमण किया। राजधानी मे प्रवेश करके बहुमूल्य राज-मुकुट हरण किया। इन्द्र के मुकुट और हार भी, जो पूर्व समय मे पाड्यो के पास थे, हस्तगत किए। लका चोल साम्राज्य के अन्तर्गत मिला लिया गया।

केरलों से युद्ध—केरल विजय का ठीक-ठीक स्वरूप बतलाना कठिन है। इतना निश्चित है कि केरल और पाड्य को जीतकर राजेन्द्र ने अपने साम्राज्य

1. होट्टूर लेख।
2. महावश।

मे सम्मिलित कर लिया । इन भागो पर अपने पुत्र 'जयवर्मन् सुन्दर चोलपाड्य' को शासक नियुक्त कर दिया । तुगभद्रा से लेकर लका तक के प्रदेशो पर चोल राज्य की ध्वजा फहराने लगी ।

विक्रम-सवत् 1078 मे पश्चिमी चालुक्यो से फिर युद्ध हुआ । 'तामिल-प्रशस्ति' के अनुसार 'साढे सात लाख दृढ स्वभाव वाले रट्टपाडि (निवासी), विपुल धनराशि तथा जयसिंह की ख्याति को हर लिया। मुशगी के रणक्षेत्र से पलायन कर चालुक्यो का राजा कही जा छिपा।' श्री नीलकण्ठ शास्त्री के मत से विक्रम को धन तो मिला किन्तु जनपद सम्बन्धी लाभ नही हुआ, उनकी धारणा है कि तमिल प्रशस्ति की साढे सात लाख रट्टपाडियो के आत्मसमर्पण की बात अत्युक्तिपूर्ण है ।

दिग्विजय यात्रा—साम्राज्यवादी नीति को छोड धर्मशास्त्रो मे वर्णित दिग्विजय की भावना से प्रेरित हो विक्रम चोल ने गगा के मैदानो की ओर अपने कुशल सेनापति दण्डनाथ को भेजा । इस यात्रा का मूल अभिप्राय गगा का पवित्र जल लाकर चोल राज्य को पवित्र करना था । तिरुवालगाडु[1] के अभिलेख मे इस यात्रा का विस्तृत वर्णन दिया है—'स्वर्ग से गगा लानेवाले सूर्यवश-अवतस राजा भगीरथ की तपस्या का उपहास करता सा' वह गगाजल के लिए उत्सुक हुआ । चोल सेना ने हाथियों के सेतु के सहारे कई नदिया पार की । सर्वप्रथम चन्द्रवश-तिलक इन्द्ररथ पर चढाई की गई, फिर रणसूर का राजकोष हस्तगत किया। वगदेश के राजा महीपाल को भी झुक जाना पडा । लेखो मे जल लाने के भाव को निश्चित रूप से अत्युक्तिपूर्ण ढग से लिखा है, (दण्डनाथ ने) 'राजाओ को अपने हाथो मे गंगाजल विक्रम चोल के सम्मुख ले जाने के लिए विवश किया।' वास्तविकता इतनी ही है कि जिन राजाओं ने रास्ते मे कुछ कठिनाई उपस्थित की उन्हें दण्डनाथ ने हराया । सवत् 1080 मे पवित्र जल लाने के लिए प्रारम्भ की हुई यात्रा सफलतापूर्वक समाप्त हुई । इस घटना से प्रसन्न हो सम्राट् ने 'गगैकोड' उपाधि धारण की, एक नगर 'गगैकोडचोलपुरम्' नाम से स्थापित किया, उसी नगरी के पास एक बृहत्काय कृत्रिम जलाशय बनवाया, इसमे 16 मील लम्बे सेतु (बाध) लगवाए, स्थान-स्थान से सिचाई के लिए छोटी-छोटी नहरें भी निकलवाई । जलमय जय-स्तभ बनवाया । नगर को एक विशाल राज-भवन और गगनचुम्बी मन्दिर से सुशोभित कराया । मन्दिर शिल्पकला के अद्वितीय उदाहरण हैं ।[2] इस उत्साहपूर्ण योजना से अनुमान किया जा सकता है कि उत्तरापथ की इस यात्रा को उस समय कितना महत्त्वपूर्ण समझा गया ।

1 इसी लेख में 'विक्रम चोल' उपाधि का प्रयोग हुआ है ।

2 हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट्स इन इण्डिया एण्ड सीलोन ।

हजारो मील की दूरी, सैकड़ो छोटे-बड़े सामन्त और राजो मे युद्ध, तब कही जल प्राप्त हो सका।

समुद्र पार—विक्रम चोल की विजय-चमू को इतने से ही सतोष नही हुआ। सम्राट, राजराज की जलसेना का भी पूरा-पूरा उपयोग करने की योजना बनी। अपने राज्यकाल के चौदहवें वर्ष मे बगाल सागर को पार कर राजेन्द्र की सेना 'कडारम्' पहुची। अभी तक कडारम् शब्द से बडी उलझन पड़ी हुई थी, किंतु विक्रम-सवत् 1975 म महाशय कोएड्स (Coedes) को वर्मा म (पेगू) सिक्ता-प्रस्तर के बने हुए दो अष्टकोणीय विजयस्तम्भ मिले। उस ऐतिहासिक खोज ने सिद्ध कर दिया है कि विक्रम चोल यहा तक आया। तमिल प्रशस्ति इस युद्ध का वर्णन इन शब्दो मे करती है —

(उसने) 'उत्ताल तरगायमान समुद्र मे कई जलयानो को भेजकर कडारम् के राजा सग्राम विजयोतुग वर्मन् को बदी बना लिया, उसके महान् हाथियो को घेरा, राजा के धर्मपूर्वक एकत्रित राजकोष को हस्तगत किया। देश का युद्धद्वार 'विद्याधर तोरण' चोल सेना ने ग्रम लिया।' विक्रम-सवत् 1082 से 1084 मे पेगू को जीतने के उपरान्त नीकोबार (नक्कवारम्) और अण्डमन द्वीपो पर भी विजयपताका फहराई गई।

चीन से लेकर पूर्वीय द्वीपो मे व्यापारिक सुविधा प्राप्त करने के लिए ही इन युद्धो की आवश्यकता हुई। विक्रम-सवत् 1145 के सुमात्रा म प्राप्त तमिल लेखो से तमिल सौदागरों का होना उक्त उद्देश्य की पुष्टि के लिए यथेष्ट है।

चोलवश मे विक्रम चोल (वीर राजेन्द्र) से महान् दूसरा सम्राट् न हुआ। उसकी इन विजयो के अतिरिक्त विभिन्न लेखो मे प्रयुक्त उपाधियो से भी उसकी महानता का अनुमान किया जा सकता है —1 मुडिगोण्ड चोल, 2 पण्डित चोल, 3 वीर राजन्द्र, 4 गगैकोण्डचोल, 5 राजकेशरीवर्मन् वीर राजेन्द्र देव, 6 विक्रम चोल।

उपसहार—इन उपाधियो से स्पष्ट है कि विक्रम चोल वीर, पण्डित तथा धार्मिक सम्राट था। इन तीनो गुणो के अभाव म 'चक्रमत्व' की स्थापना नही हो सकती। चोलवशीय इतिहास के पृष्ठो को उलटकर देखने से ज्ञात हो जाता है कि प्रशस्तिकारो ने साम्राज्यवादी नीति के फलस्वरूप नये राज्यो को चोल साम्राज्य म मिलाए जाने पर उत्साह प्रदर्शित न कर गगा के जल को प्राप्त करने मे ही उत्साह दिखलाया है। गगा का जल धार्मिक भावना को तो जाग्रत करता *ही है, साथ मे दिग्विजय का उच्च आदर्श भी उपस्थित हो जाता है। अपने विक्रम* से अन्यान्य देशो मे युद्ध रथ के चक्र का सफलतापूर्वक प्रवर्तन करना तथा उन सम्राटो को अभय का वचन देना ही वास्तविक दिग्विजय है। मनु (भारत का प्रथम समाज तथा राजनीतिशास्त्री) और कौटिल्य ने भी राजा के कर्त्तव्यो मे यह

बतलाया है कि अन्य राज्यो को जीतकर वही के राजा को पुन उस क्षेत्र का अधिकारी बना देना चाहिए। कारण यह है कि स्थानीय शासक ही अपनी प्रजा के धर्म तथा परम्परागत कार्य पद्धति से परिचित रहता है, अत वही अपनी प्रजा की समुचित सेवा कर सकता है। पौरुष प्रदर्शन का नाम ही दिग्विजय है, सकुचित भावनावश साम्राज्यवृद्धि की उसमे गध भी नही।

सक्षेप मे 'विक्रम' शब्द की महिमा पर वाक्य लिख लेखनी को विराम दिया जायगा।

विक्रम शब्द का इतिहास भी कम मनोरजक नही है। आर्यों के प्राचीन एव प्रियतम धर्म और गाथा ग्रन्थ ऋग्वेद मे इस शब्द को सर्वप्रथम प्रतिष्ठा मिली। उस समय विष्णु सूर्य का पर्य्याय था। विष्णु की प्रशसा मे ऋषियो ने अनेक मत्रो की सृष्टि की है। अधिक प्रसिद्ध मत्र यह है—'इद विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा विदने पदम्।'

विष्णु का ऐश्वर्य समस्त विश्व मे रम गया, क्योकि उसका विक्रम (बल) इतना पुष्ट था कि तीन पगो मे ही सब कुछ नाप डाला। भारत म युग युगान्तरो के राजा दिग्विजयो द्वारा उसी विक्रम की स्थापना करते आए हैं। युद्धरथ के चक्र-प्रवर्तन द्वारा वह मानो अपना विक्रम नापना चाहते हैं। सूर्य-रश्मिया कहा नही जाती ? इसी प्रकार वह सोचते हैं कि उनका रथचक्र (पहिया) कहा नही जा सकता ?

विक्रम शब्द मे सभी प्रकार की शक्तियो का समावेश हो गया है, उसकी आत्मा मे भारतीय आर्यों ने युग-युग की साधना के फलस्वरूप लोक सग्रहात्मक समस्त उपकरणो की भावना उडेल दी है। पालवशीय सम्राट् धर्मपाल ने विहार प्रात मे एक विश्व विद्यालय की स्थापना कराई, उसका नाम था 'विक्रम शिला'। चालुक्यवशीय षष्ठ विक्रमादित्य ने जिस नयी नगरी का निर्माण कराया उसका नाम भी 'विक्रमपुर' हुआ। राजाओ के अतिरिक्त मत्रियो के नाम भी 'विक्रम हुआ करते थे।[1] न जाने कितने रूपो म विद्या-प्रकाशन, बुद्धि प्रदर्शन, धन प्रभुत्व तथा ऐश्वर्य प्राप्ति आदि अनेक सास्कृतिक चेतनाओ को व्यक्त करने के लिए इस शब्द की उपासना की गई है।

---

1 डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया, पृ० 1041।

यौधेयगण और विक्रम

□ श्री राहुल सांकृत्यायन त्रिपटकाचार्य

श्रीगुप्त मगध के कोई साधारण से सामन्त थे जो 320 ई० से पहले मौजूद थे। यह एक साधारण-सा सामन्तवश गुप्तो जैसे एक असाधारण राजवश को जन्म देगा, उस समय इसकी कौन कल्पना कर सकता था ? लेकिन उनके पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम को लिच्छिवि कन्या कुमारदेवी से ब्याह करने का मौका मिला और इस वश का भाग्य पलट गया। लिच्छिवि बुद्धकाल मे एक प्रबल प्रजातत्री (गणतत्री) जाति थी। उसके सामने मगध और कोशल के प्रतापी राजा भी नही ठहर सकते थे, उनकी स्वतत्रप्रियता इतिहास-प्रसिद्ध है। कौन जानता थ। कि ऐसे स्वतत्रप्रिय श्रेष्ठ कुल मे गणतत्र व्यवस्था का विनाशक जन्म लेगा। कुमार देवी ने दिग्विजय सम्राट् समुद्रगुप्त (335-380) को पैदा किया। उस समय पूर्वी भारत मे गण समाप्त हो चुके थे, लेकिन पश्चिमी भारत—विशेषत सतलज और यमुना तथा हिमालय और आधुनिक ग्वालियर के बीच में बडे शक्तिशाली गणो का शासन था। ऐतिहासिको मे किसी ने पद्मावती (पवाया, ग्वालियर-राज्य) के भारशिवो को पाच शताब्दियो से चले आते यवन और शक राजाओ का उच्छेत्ता कहा, किसी ने गुप्तवश को इसका सारा श्रेय दिया, लेकिन डॉ० अल्तेकर का नया अनुसधान इस विषय मे सबसे अधिक प्रामाणिक है। और दरअसल विदेशी शासन का उच्छेद उत्तरी भारत के किसी प्रतापी राजा ने नही किया, उच्छेद किया भरतपुर से उत्तर यमुना सतलज और हिमालय के बीच के प्रतापी यौधेयगण ने। यौधेयगण ने यह सिद्ध करके दिखला दिया कि गणशक्ति-जनशक्ति राजशक्ति से कही अधिक प्रभुताशाली होती है। उस समय कम से कम आसपास के प्रदेशो मे इस प्रतापीगण की कीर्ति खूब फैली होगी। लेकिन समय आया कि उस विजयिनी जाति का नाम भी शेष नही रह गया और उनके अस्तित्व के बारे मे ? यदि उनके सिक्के जहा-तहा बिखरे न मिले होते तो शायद इलाहाबाद वाले अशोक स्तम्भ पर उत्कीर्ण समुद्रगुप्त के शिलालेख से भी उनका ज्यादा पता न लगता। यौधेयो के वीर सेनापति भी रहे होंगे, उनकी गणसस्था के सभापति भी रहे होंगे, मगर उन्होने अपने सिक्को पर लिखा—'यौधेयगणस्य

जय¹ (यौधेयगण की जय)। पीछे का इतिहास भी बतलाता है कि विदेशियो को भारत पर प्रभुता प्राप्त करने के लिए यमुना और सतलज के बीच ही के किसी स्थान पर अपनी अंतिम निर्णायक लडाई लडनी पडी होगी। और यह प्रदेश था यौधेयो के हाथ मे। यही अपनी भूमि पर किसी जगह यौधेय वीरो ने ईसा की तीसरी सदी मे शक-शासन का सर्वनाश किया और फिर डॉ० अल्तेकर के अनुसार 'यौधेयानां जयमत्रधारिणाम्' जयमन जानने वाले यौधेयो पर गुजरात के प्रतापी शक-शासक रुद्रदामा ने 145 ई० मे प्रहार किया था। सम्भव है उस समय उनकी कुछ क्षति हुई हो, रुद्रदामा के लेख से ऐसा ही पता लगता है—लेकिन वे नष्ट नही हो पाए। चौथी शताब्दी के मध्य मे विजयी समुद्रगुप्त भी यौधेयो का उच्छेद नही कर पाया। हा, उसने यौधेयो और उनके दक्षिणी पडोसी आर्जुनायनो को करदान के लिए विवश अवश्य किया। अभी भी गुप्तवश के सर्वश्रेष्ठ वीर मे यह सामर्थ्य नही थी कि वह यौधेयो को नामशेष करता।

समुद्रगुप्त को चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य 380-413) जैसा यशस्वी पुत्र प्राप्त हुआ। इसमे शक नही उसके शासनकाल मे भारतीय काव्य-सरस्वती ने कालिदास जैसा अमर कलाकार प्राप्त किया। मूर्तिकला एव चित्रकला भी उन्नति के उच्च शिखर तक पहुची, लेकिन जब हम स्वतत्रता-प्रेमी यौधेयो के अस्तित्व के बारे मे अधिक पूछताछ करते हैं तो वहा हमे चन्द्रगुप्त का ही रक्तरंजित हाथ दिखलाई पडता है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की कृतियो को यौधेयो की तरह भुलाया नही जा सका, इससे यही पता लगता है कि शायद उसका प्रयत्न अधिक सामयिक था। मगर यौधेयो के साथ भारतीय जनता के मस्तिष्क से इस विक्रमादित्य ने यह ख्याल भी हटा दिया कि राजा या सामन्त के बिना ही जनता स्वय अपना शासन, शान्ति और युद्ध हर समय मे अच्छी तरह कर सकती है।

यौधेयो का इतिहास भारतीय इतिहास का कम गौरवपूर्ण अध्याय नही है, बल्कि आज की जन-जागृति के समय के लिए तो वह और भी अभिमान और पथ-प्रदर्शन की वस्तु है। लेकिन यौधेयो के गौरव गणतत्र के नाम तक को मिटा डालने की, जान पडता है हर पीढी के सामन्तो और उनके पुरोहितो ने शपथ ले ली थी। कातिल ने बहुत सावधानी से अपने काम को किया था, लेकिन-खून सर पर चढकर बोलने के लिए तैयार हो रहा है। तभी तो यह विस्मृत वीर जाति अपने बिखरे हुए सिक्को और अपने विरोधियो के शब्द-सकेतो से पुन सजीव हो हमारे सामने आ उपस्थित हो रही है।

उसके इतिहास को पुराणो मे स्थान नही मिला, उसकी कीर्तिगाथा को वन्दीजनो ने नही गाया, मगर उसके सिक्के एव 'यौधेयाना जयमंत्रधारिणाम्' जैसे छोटे छोटे वाक्यो से उसकी विशाल वीरता की यशोदुन्दुभी फिर एक बार

भारत मे बज कर ही रही। जिस तरह हमारे पुराने कथाकारो ने यौधेयो, उनके अन्तर्वर्ती आग्नेयो के साथ उपेक्षा का बर्त्ताव किया, आजकल राष्ट्रीयता के नाम पर लिखे जाने वाले इतिहासो मे भी उनके साथ बेहतर बर्त्ताव की उम्मीद नही की जा सकती। मगर समय पलट चुका है। बुद्ध के समकालीन लिच्छवियो, सिकन्दर के समकालीन क्षुद्रक, मालव आदि गणतत्रो और सदा के लिए बुझने मे पहले यौधेयो ने पराक्रम दिखलाकर जिस तरह जनशक्ति को जयमाला पहनाई, उसे अब भुलाया नही जा सकता।

यौधेयो के बारे मे प्राप्त सिक्के, अभिलेख तथा उनकी बिखरी हुई सन्तानो की दन्तकथाओ और वशपरम्पराओ के ढाचे पर ऐतिहासिक कल्पना के सहारे एक साकार समाज, साकार मूर्ति का चित्रण किया जा सकता है, मगर वह तो किसी आगे के लेखक का काम है। हा, यह सवाल हो सकता है कि यौधेयो के खून का अपराध चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सिर क्यो मढा जाय? इसीलिए कि विक्रमादित्य के पिता ने यौधेयो के उच्छेद की नही, केवल कर लेने भर की बात कही और चन्द्रगुप्त के बाद यौधेयगण का कही नामोनिशान नही मिलता। आखिर उस उच्छेद को आत्महत्या के मत्थे नही मढा जा सकता, जो एक सामन्तशाही शासक राजा के लिए सम्भव होते हुए भी सारे गण (जन) के लिए सम्भव नही। यौधेयो का उच्छेत्ता इतिहास मे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से अलग कोई नही प्राप्त होता। इस विक्रमादित्य को शकारि की उपाधि से बढकर गणारि की उपाधि दी जा सकती है। आज विक्रम[1] का जयस्तम्भ स्थापित करते समय सिक्के के इस दूसरे पहलू को भी ध्यान म रखना होगा। आखिर आज के प्रभुताशाली वर्ग भविष्य के स्वामी नहीं हैं। जो भविष्य के कर्णधार होगे उनकी श्रद्धा और सम्मान का भाजन विक्रम से अधिक यौधेयगण होगा। एवमस्तु, हम भी पुराने सिक्को के अक्षरो को सजीव करते हुए बोलें, 'यौधेयगणस्य जय।'

---

1 स्पष्टत यह विक्रमादित्य ई० पू० 57 सत के सवत् प्रवर्त्तक विक्रमादित्य नही हैं, वे तो 'गणारि' न होकर 'गणाध्यक्ष' ही हो सकते हैं। विद्वान् लेखक ने सिक्के के इस पहलू पर विचार नही किया।—स०

कृत संवत्

☐ डॉ॰ सूर्य नारायण व्यास

'कृत' सवत् इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या है। इसको लेकर इतिहास के मनीषियो म दीर्घकाल से एक विवाद चला आता है। मालवा मे और दूसरे भागो मे जो कुछ शिलालेख मिले है उनमे 'कृत सम्वत्' का उल्लेख है। अवश्य ही उन उल्लेखो के 'कृत' शब्द के साथ 'मालव' शब्द भी जुडा हुआ है। जैसे 'श्री मालव गणाम्नाते प्रशस्ते कृत सज्ञिते।' और 'कृतेपु चतुर्पु वर्प शतेपु एकाशीत्युतरेपु अस्या मालवपूर्वाया' इस प्रकार वि॰ स॰ 481, 480, 461, और 248 के लेखो मे 'कृत' शब्द का व्यवहार किया गया है, इसी प्रकार बर्नाला—(जयपुर-राज्य) के वि॰ सवत् 335, और 284 के यूप-लेखो म भी 'कृतेहि' बडौदा (कोटा) के वि॰ स॰ 295 एव नदसा (उदयपुर) के 282 स॰ के लेखो मे 'कृतयो शब्द का सवत् के साथ उल्लेख हुआ है। जयपुर, उदयपुर और कोटा के 'कृत' उल्लेखो को छोडकर अन्य शिलालेखो के कृत के साथ मालव शब्द जुडा हुआ है। इससे यह तो स्पष्ट है कि—कृत सवत् मालव सवत् अभिन्न है। मालव सम्वत् को ही 'कृत'-काल गणना कहा गया। यही आगे चलकर विक्रम सवत् से सबधित हो गया है। श्री अल्तेकरजी ने बतलाया है कि—विक्रम सवत् की 10वी शताब्दी के प्राप्त 34 शिलालेखो मे से 32 मे केवल 'सवत्' शब्द ही अशो के साथ मिलता है। सिर्फ दो लेखो (973 और 936) म ही विक्रम शब्द का उल्लख है। इसी प्रकार नवी शती के 10 लेखो म से भी सवत् 898 के एक लेख मे विक्रम का (वसुनव-अष्टो वर्षा गतस्य कालस्य विक्रमाख्स्य) उल्लेख मिलता है। आठवी शती के साथ लेखो म से भी एक ही मे विक्रम का उल्लेख है। किन्तु 7वी शती के और उससे पुराने लेखो म इस ही 'मालव' कहा गया है। वहा 'विक्रम' का सकेत नही मिलता। *वस्तुत यह विस्मय की बात है। मानना होगा कि जब प्रथम और* द्वितीय विक्रम जगत् म आ चुके थे, तब भी उनके नाम से सवत् प्रचार व्यापक रूप से नही हो सका था। यदि द्वितीय विक्रम ने पाचवी शती से अपने सवत् को विक्रम शब्द से ज्ञापित एव प्रचारित किया तो क्या कारण है कि 10वी शती

तक के प्राप्त अधिकाश शिलालेखो मे 'विक्रम' शब्द व्यवहृत नही हुआ दिखाई देता ? और 5वी शती के विक्रम ने यह प्रचारित किया है तो 10वी शती तक के ग्यारसपुर '(मालवे के) लेख मे 'मालव कालाच्छरदा पट् त्रिशतसयुतेप्वतीतेपु' मे मालव शब्द ही व्यवहृत होता चला आता है। जैसा कि स० 493 मे मदसौर शिलालेख मे भी—'मालवाना गणस्थित्या याने शत चतुष्टये त्रिनवत्यधिके-ऽब्दाना' मे भी स्पष्ट मिलता है, इससे यही समर्थित होता है कि प्रथम और द्वितीय विक्रम-काल मे भी बहुत समय बाद तक सवत् का नाम मालव ही रहा है। विक्रम भी मालव ही होना चाहिए, मालव शब्द के साथ अनेक बार 'मालवगण स्थितिवशात्' या—'मालवाना गणस्थित्या' प्रयोग हुआ है, ये स्पष्ट बतलाते हैं कि 'विक्रम' मालव-सवत् मालव गणो का ही रहा है। और मालव गणो के नाम से ही प्रचलित हुआ है। द्वितीय-चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के बाद ठेठ 10वी शतीपर्यन्त अधिकतर 'मालव' शब्द प्रयुक्त होता रहा, वहां तक इस भाग मे मालव-प्रभाव बना रहा है। और 7वी शती से पहल इसी मालव शब्द के साथ 'कृत' शब्द जुडा हुआ मिलता है। अर्थात् 'कृत' गणना भी मालव गणों से सबधित ही है। कही केवल 'कृत' शब्द है और कही कृत के साथ मे 'मालव' भी सयुक्त है। यह क्रम - 7वीं - शताब्दीपर्यंन्त सरलता से मिलता है। कोई आश्चर्य नही कि ये कृत-मालव शब्द विक्रम के ही पर्यायवाची रहे हो। श्री अल्तेकरजी का तो यही मत है कि—अन्य असदिग्ध प्रमाणो से यह बात स्पष्ट प्रमाणित हो जाती है कि ये नाम ईसा के पूर्व 57 वर्ष पहले आरम्भ किये गए सवत् को ही दिए गये थे। बीच के किसी विक्रम से इसका सबध नही आता है। और यह भी शिलालेखो से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि जिन मालवो या कृत ने सवत् प्रचलित किया, वे गणतात्रिक ही थे। 'गणस्थित्या' आदि शब्द 'गणस्थिति' के ही प्रमाण हैं। शिलालेखो से भी ज्ञात होता है कि जिस गणतत्र की स्थापना को लगभग 500 वर्ष व्यतीत हो गए थे, उसी का यह (मालव-अथवा कृत) कृत सवत् है। (मालवाना गणस्थित्या याते शत चतुष्टये त्रिनवत्यधिके) अर्थात् मालवगण स्थिति से 493 वर्ष बीत चुके है। इस बात की प्रामाणिकता से कोई भी विद्वान् इकार नही कर सकता कि मालव-गण-तत्र-अत्यन्त पुराना रहा है। महाभारत मे अनेक स्थलो पर उनके शौर्य का वर्णन आया है। सिकन्दर से सग्राम कर उसे भी परास्त करने का श्रेय इन मालवो को मिल चुका है। पाणिनि ने इन्ही को लेकर गणतत्र की व्याख्या की है। और स्वय एक शिलालेख भी यह पुष्टि करता है कि जो मालवगण नाम से 'आम्नात' यानी 'रूढ' रहा है वही 'कृत' कहा गया है। नि सदेह यह भारत का पुरातनतम सवत् है। आगे के उल्लेखो से कृतो और मालवो की अभिन्नता प्रतिपादित हुई है। और पाचवी शती मे यही केवल 'मालव' रह गया था,

नवी शती मे इसी का स्थान-विक्रम ने ग्रहण कर लिया था। इस बात से यह प्रमाणित हो जाता है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त के बहुत काल के बाद तक यह मालव बना रहा और फिर विक्रमांकित हुआ है। यह स्पष्ट है कि द्वितीय चन्द्रगुप्त द्वारा प्रचारित सवत् नही है। उसके काल मे भी 'मालव' का महत्त्व विद्यमान था। द्वितीय चन्द्रगुप्त सवत्-प्रवर्तक नही हो सकता। उसके समय (पाचवी शती) मे या ठेठ नवी शती तक विक्रम का नामोल्लेख तक नही मिलता है। फलत जो 'कृत' नाम से शापित हुआ 'मालव' से महत्त्व प्राप्त कर चुका था—वही विक्रम-सवत् बनकर अद्यावधि प्रचलित है। तब यह प्रश्न रह जाता है कि 'कृत' वस्तु क्या है? कृत से सत्य युग का सीधा कोई सम्बन्ध नही है। जिस शती मे इसके उल्लेख के साथ शिलालेख मिलते हैं उस काल को पुराण से लेकर अन्य ग्रथ भी 'कलियुग' ही घोपित करते हैं। तब यह पुरातन-सतयुग 8वी या नवी शती तक नही हो सकता। 'कृत' से कृत्तिकादि-विक्रमवर्षारम्भगणना का सम्बन्ध जोडा जा सकता है। उसी समय समर-यात्रा आरम्भ कर पराक्रम करने की सूचनाए हैं। जिनको लेकर कार्तिक मे दीपावली और विजयोत्सव परम्परा आज तक प्रचलित है। यह कार्तिक चूकि-कृत्तिका से आरम्भ होता है, इस कारण 'कृत' सकेत हो सकता है। इसी प्रकार श्री अल्तेकर जी ने और धारणाए भी रखी हैं—उनका यह विचार है 'कृत नामक किसी राजा अथवा अधिनेता ने इसकी नीव डाली और उसी के कारण इसे 'कृत' सवत् कहा जाने लगा'?[1](नाग० प्र० प० वर्ष 48 अ० 1-4) परन्तु यह 'कृत' कौन राजा या अधिनेता हो सकता है, इस पर वे कोई स्पष्ट मत नही बना सके हैं। उनका कहना है कि गत 1000 या 1500 वर्षों मे कृत नाम का कोई अधिपति नही हुआ है। जब स्वय अल्तेकर जी शिलालेखो के आधार पर इसी शती मे से 'कृत' के उल्लेख स्पष्ट देखते हैं तो 1500 वर्षों मे 'कृत' नामक किसी नेता के होने का कोई अर्थ नही होता। कृत अवश्य ही इससे बहुत पूर्ववर्ती विशिष्ट व्यक्ति होना चाहिए, उन्होने पुराणो मे अनक 'कृत' व्यक्ति का 'बोलबाला' भी देखा है। विश्वेदेवो मे उन्होने 'कृत' का, वासुदेव-रोहिणी के एक पुत्र कृत का, हिरण्य नाम के शिष्य 'कृत' का उपरिचर के पिता 'कृत' का भी विचार किया है। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि प्राचीन काल मे यह नाम अच्छी तरह प्रचलित भी था तथापि वे इस 'कृत-सवत्' से उचित सगति नही लगा सके हैं। उचित भी है, क्योकि उनके सूचित किसी 'कृत' को मालवो के साथ जुडाना आवश्यक होगा और समय के साथ भी सुसगत बनाना होगा किन्तु उपर्युक्त एक भी 'कृत' इस मालव-कृत-काल गणना से कभी नही जोडा जा सकता। उसे न शासक या गणतान्त्रिक कहा जा सकता है। वे यह ऐतिहासिक तथ्य स्वीकार करते है कि—ईसा पूर्व 60 के लगभग शको ने उज्जयिनी को हस्तगत किया था। और कुछ ही दिनो मे उन्हे उस नगरी का परित्याग करना पडा, प्राचीन

परम्परा के अनुसार शकों के पराभव के सस्मरणार्थ ईसा से 57 वर्ष पूर्व मे एक नये सवत्सर की स्थापना हुई। इस प्रकार गणना का प्रारम्भ प्रथमतया मालव देश में ही हुआ। और उसे मालव निवासियो द्वारा स्वीकृत-काल गणना (श्री मालव गणाम्नात) ही कहा जाता था। श्री अल्तेकरजी का यह अभिप्राय है कि ई० पूर्व प्रथम एव द्वितीय शतियो मे मालव जाति राजपूताना और मालवा प्रान्त मे बसी थी, अतएव यह भी स्पष्ट है कि ई० पू० 57 मे शक-पराजय मालव के राष्ट्रपति ने ही की होगी। और राष्ट्रपति का नाम 'कृत' होगा। कुछ विद्वान इस ओर मालवो का प्रवेश गुप्तकाल के पश्चात् मानते हैं, जबकि श्री अल्तेकरजी ई० सन् के पूर्व प्रथम-द्वितीय शती मे मालव और राजस्थान मे इनका प्रभाव स्थापन होना स्वीकार करते हैं और उसी के राष्ट्रपति द्वारा शकपराभव और मालव एव कृत सवत् का प्रचार मानते है। ज्योतिष के प्रसिद्ध प्रामाणिक-ग्रथ सूर्य सिद्धात की रचना इसी प्रदेश मे हुई है। ग्रथारम्भ के प्रथम श्लोक में कहा गया है।

'अल्पावशिष्टेतु कृते' अर्थात् कृत-काल अल्प शेष रहा था, तब इस ग्रथ की रचना की है। इसका यही मतलब हो सकता है कि कृत वर्ष का अन्त थोडे समय बाद ही होने को था, किन्तु दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि कृत सवत् समाप्त होने मे कुछ समय शेष रहा था, उसके बाद मालव या विक्रम किसी सवत् का आरम्भ होने को था। सूर्य सिद्धात के निर्माण के विषय मे यह मत मान्यता लिये हुए है कि विक्रम ने पिछली प्रचलित युगादिमान वाली काल गणना परम्परा की नवीन 60 सवत्सर की गणना मे परिवर्तित कर देने और सुसगत बना देने के लिए ही इस ग्रथ की रचना करवाई थी।

'युगाना परिवर्तन काल भेदोऽत्र केवलम्' इस सूर्य सिद्धात के वाक्य मे युग-गणना के परिवर्तन का ही सकेत है। गणित की प्राचीन पद्धति 'युग' को लेकर ही रही है। अरब मे भी यह प्रथा थी, मुहम्मद इब्न इसराक अबुवल वफा-अलबेरुनी, अलहजी आदि ने ग्रथो मे युग पर चर्चा की है, परन्तु अरब और भारतीयो ने इस गणना क्रम को मिलकर पलटा है। वह नवीन काल ही 'कृत' मालव या विक्रम हुआ है, सी० बी० वैद्य इस घटना को उज्जैन मे होना ही बतलाते हैं, सूर्य सिद्धात उसी का निर्णायक ग्रन्थ बना था। इस मान्यता को अल्पावशिष्टेतु 'कृते' के उल्लेख से पुष्टि मिलती है। और उसका काल ई० सन् पूर्व 57 वर्ष ही है। सभवत वही तक 'कृत' काल गणना प्रचलित रही होगी और बाद मे मालव या विक्रम शब्द सवत से बना होगा। सूर्य सिद्धात का प्रथम श्लोकार्ध भी अवश्य विचारणीय और महत्त्वपूर्ण सकेत करने वाला है। यो वैदिक काल से लेकर वर्षारम्भ की परम्परा स्पष्ट है, मालव, गुजरात में वह आज भी विक्रम-वर्षारम्भ के रूप में स्वीकृत होने के कारण कार्त्तिकादि, कृत्तिकादि बनी

हुई है। उसके अनुसार 'कृत' शब्द सुसगत भी हो सकता है। 'कृत' शब्द कार्तिक-वाची है और हमारे यहा कालगणना के मूल मे उसकी सामाजिक उपयोगिता भी रही है। नक्षत्र-मान का महत्त्व आज भी उसी क्रम के अनुसार प्रत्येक मास से जुडा आया है। जैसे चित्रा से चैत्र, विशाखा से वैशाख, ज्येष्ठा से ज्येष्ठ आदि बना है, उसी तरह कृत्तिका से कार्तिक रहा है। और आरम्भ से कृतिका गणना का माध्यम होने के कारण 'कृत' शब्द का वर्षारम्भ मे महत्त्व मान्य हुआ हो तो आश्चर्य का कारण भी नही है। इसके सिवा उज्जैन की स्थिति खस्वस्तिक-प्राचीन बिन्दु कृत्तिका पर होने के कारण उसका महत्त्व कृतिका 'कृत' से होना स्वाभाविक है। इसलिए यह सदेह होना असगत भी नही कि गणना-क्रम के महत्त्व को मान्य कर यह नवीन काल गणना 'कृत' शब्द से सयुक्त कर दी गई हो। काल गणना मे ऋतुओ का महत्त्व होता ही है। पर कुछ विद्वानो की यह धारणा कि ऋतुओ का सवत् के साथ नाम नही जुडाया गया है। लेकिन यह ठीक नही है। मन्दसौर के एक लेख म स्पष्ट ही, 'विस्थापिते मालव वश कीर्ते शरद्-गणे पचशते व्यतीते' मे शरदगण पाच सौ मालव-वश कीर्ति के बीत जाने का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार 'शतेषु शतेषु शरदा यातेष्वेकान्नवति सहितपु मालव गण स्थिति वशात्' मे भी 'शेतुप शरदा' लिखा गया है। और कृतिकादि-कालगणना का भी बेटली आदि विद्वानो ने ई० सन् पूव 15वें शतक से प्रचलित माना है। चीनी-अरबी लोग भी कृत्तिका को महत्त्व दते रहे हैं, इस कारण 'कृत' शब्द में कृतिका और कार्तिक का समावेश हो तो साधारण रूप से असगति का सदेह नही होना चाहिए। दूसरा सदेह 'कृत-युग' (सत्ययुग) के विषय में भी प्रचलित है। इस पर भी प्रसग-वश यहा विचार करना अनुचित न होगा। प्राय युगो क विषय मे हजारो वर्षों वाली धारणा हमारे मन मे सदेह बनाए बैठी है। कृत-अर्थात् सत्ययुग का समय हजारो वर्षों का रहा है। परन्तु यह व्यवहार-दृष्टि से सुसगत नही है। 'मानव-युग' ऋग्वेद के (1-10-4) के अनुसार—

'तद्चुषे मानुषे मा युगानि,

और

विश्वे ये मानुषा युगा याति (5-52-4)

स्पष्ट बतलाया है, और उसकी आयु 'जीवेम शरद शतात्' कही है। यदि यह मानव युग हजारो वर्ष का रहा होता तो 'शरद शतात्' की सौ वर्ष जीने की बात कैसे सुसम्बद्ध रह सकती थी? इसी प्रकार मामता का पुत्र दीर्घतमा दसवें युग मे कैसे वृद्ध हो जाता? दसवा युग तो प्रत्यक युग को 10 वर्ष का मानें तभी 100 वर्ष का पूर्ण हो सकता है। यह दीर्घतमा भी वैदिक ही हैं।

दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान्, दशमे युगे
—(ऋ० 1-158-6) और

'देवेभ्यस्त्रियुग पुरा' मे सायण के मतानुसार-वसत-वर्षा-शरद, इन तीनो ऋतुओ तक ही परिमित रहा जाता है, अवश्य ही तैत्तिरीय ब्राह्मण (1-4-10) तथा (3-11-4) सवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर, इदवत्सर, इस प्रकार 5 वर्ष की ही माना है। इसलिए इन वार्षिक-सवत् परिवर्तन-क्रम को स्वीकार करने के पूर्व इस देश मे युग पद्धति का ही प्रचार रहा है। और वह अल्प 5 या 10 वर्ष का रहा होगा तथा सूर्य सिद्धातकार ने नवीन पद्धति प्रचारित करने के पूर्व सभवत उसी कृत (युग) के अल्पावशिष्ट रहने का स्पष्ट सकेत किया हो, यह सभव है। यह स्वाभाविक ही ई० सन् पूर्व 57 वर्ष के आसपास की घटना होनी चाहिए, जब मालव-कृत या विक्रम गणना का प्रारम्भ किया गया होगा। यह तो स्पष्ट है कि शुगो का कोई सवत् स्वतत्र नही मिलता है, दिग्विजय के बाद भी ऐसा कोई उल्लेख नही मिलता, अवश्य ही उसने गण शत परिवृत्ते के अनुसार एक सौ गणो को दिग्विजय के लिए जुडा था। उसी मे मालव प्रभाव परिणत हुआ हो और आगे चलकर मालव सवत् आरम्भ करने का कारण बना हो, अल्तेकरजी के मतानुसार तो ई० सन् की प्रथम-द्वितीय शती इस क्षेत्र मे मालवो का प्रभाव होना मान्य रहता है। पर जो लोग मालवो का उनके बहुत बाद इस भाग मे आगमन मानते हैं, उन्हे यह सोचना आवश्यक हो जाएगा कि शुग-अग्नि-मित्र के निकट विदिशा मे यह 'मालविका' ई० सन् पूर्व प्रथम शती मे अपने नाम के साथ 'मालव' शब्द किस प्रकार जुडा लेती है। विदर्भ राजकुमारी होते हुए भी उसका विदिशा मे 'मालविका' नाम रखना अवश्य सदेह एव विचारणीय बन जाता है। उधर 'कृत' शब्द के लिए व्यक्ति की खोज मे श्री अल्तेकरजी ने पुराणो से कई नाम ढूढे है परन्तु उनका ध्यान शायद एक प्रसिद्ध पौराणिक-प्रभावशाली-मालव कार्तवीर्य और कृतवीर्य की ओर नही गया है, यह प्रतापशाली नेता भी देश मे राज्य विस्तार मे लगा हुआ था, यह नर्मदा तटवर्ती माहिष्मती निकाय (19-36) जैसे पाली ग्रन्थो मे जिसका उल्लेख माहिष्मती की राजधानी कहकर किया गया है। इसके बाद ही शुगो की सत्ता विदिशा मे स्थापित हुई थी, और उनको पूर्वमालव माना गया था, कालिदास ने अपने मेघदूत मे विदिशा को प्रख्यात राजधानी (शुगकालीन) कहा है —जैसे

'तेषान्दिक्षु प्रथितविदिशा लक्षणां राजधानीम्'

कालिदास ने अवन्ती को 'श्री विशाला विशालाम्' ही कहा है। 'राजधानी' कही नही कहा है, यद्यपि कालिदास बौद्धकालीन प्रद्योत को अवन्ती के नरेश के

रूप मे जानता है—'प्रद्योतस्य प्रिय दुहितर वत्स राजोत्र जहे हेम ताल द्रुम वनमभूदत्र तस्यैव राज' तथापि राजधानी के रूप मे उसके बाद की विदिशा को ही बतलाया है। और शुगो ने कही स्वत् नही चलाया है। क्योकि उसके अन्तिम विलासी नरेश (देवभूति) के समय थोडे ही समय मे शुग सत्ता समाप्त हो गई थी, इससे यह प्रभाणित होता है कि माहिष्मती के शासन का प्रभाव बौद्धो के युग मे भी विद्यमान था, माहिष्मती के कार्तवीर्य और कृतवीर्य हैं। इसने उत्तर भारत के विशाल भू-भाग पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया था, उसका ज्ञान निकट की घटना होने के कारण महाकवि कालिदास को भी रहा है। उसने रघुवश मे इन्दुमति के स्वयवर के समय माहिष्मती नरेश का बहुत ही प्रभावशाली शब्दो मे वर्णन किया है। उसने बतलाया है कि अठारह द्वीपो पर कार्तिकीय के विजय-स्तूप (विजयस्तम्भ) लग चुके थे, और उसके साथ जो 'राज' शब्द जुडा था, वह अनन्य साधारण था।

सग्राम निर्विष्ट सहस्र बाहु-
रष्टादश द्वीपनिखात यूपः
अनन्य साधारण राज शब्दो
बभूव योगी किल कार्तवीर्य। (रघु० 6-3)

इसको वह रेवा (नर्मदा) तटवर्ती सहस्रबाहु का वशज एव माहिष्मती का शासक ही मानता है। कालिदास को शुगो के इस पूर्ववर्ती माहिष्मती-पति का पता पर्याप्त था, माहिष्मती के बसाने वाले माहिष्मतु राजा इसी का पूर्ववर्तीवशावतस था। कृतवीर्य का पुत्र ही कार्तवीर्यार्जुन था। इसी ने शौर्य के साथ पृथ्वी पर विजय प्राप्त की थी, अनेक यज्ञ भी किये थे। इसी ने नागवश को लाकर माहिष्मती मे बसाया था। महाभारत मे यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि राजस्थान के कर्कोट नगर के स्थापक कर्कोट-नाग को यह माहिष्मती ले आया था, मत्स्य और विष्णु तथा ब्रह्माण्ड पुराण मे भी इसकी सगति मिलती है। तथा—

एपनाग' मनुष्येपु महिष्मत्या महाद्युतिः
कर्कोटक सुतजित्वा पुर्यांतत्र न्यवेशयत्।
और (मत्स्य० 43 अ०)
सहि नाग' सहस्रेषु माहिष्मत्या नराधिपः
कर्कोटक सभाजित्वा पुरींतत्र न्यवेशयत्।
(ब्रह्मा० पा० 3 अ० 69)

इनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि माहिष्मती के मालवो का ही राजस्थान के

कर्कोटक नगर पर प्रभुत्व था। इस कारण यहा कोटा या उदयपुर मे जो शिला-खड 'कृत' शब्द स अकित मिलते हैं, वे इसी कृत वीर्य के होने चाहिए और इन्हे ही कृत मालव से अभिन्न सूचित किया गया है। कर्कोटक नगर के मालव कोई बाहरी नही—यही माहिष्मती के रहे हैं। महाभारत के वनपव (अ० 116) मे इसी कार्तवीर्य को अनूप का नरेश माना है, यह अनूप-देश वर्तमान नीमाड प्रदेश मालवे का माहिष्मती वाला ही है।

अयानूपपनिर्वोर॰ कार्तवीर्योम्यवर्तत

अग्नि पुराण (अ० 276) म यदुवश के वर्णन म कृतवीर्य-कार्तवीर्य को नृप एव शासक, शौर्यशाली, दिग्विजयी सूचित किया है। यदु के पाच पुत्र थे उनम ज्येष्ठ सहस्रजित् था उसी के परिवार म शतजित का पुत्र 'हैहय था, जिसके नाम पर यह हैहय-वश चला था, उसी मे—

'कृतकात्कृतवीर्यस्तु कृताग्नि करवीरक। कृतौजाश्चचतुर्थोभूत कृतवीर्यातु-सोऽर्जुन। दत्तोकृतोर्जुनीय तपने सप्तद्वीप महीशता, ददौ बाहु सहस्रच ह्राजेत्व रणे तथा। दश यज्ञ सहस्राणि सोऽर्जुन कृतवान् नृप अनष्ट द्रव्यता राष्ट्रे तस्य सस्मरणादभ्रत्। नूनन कातीवीर्यस्य गति यास्यन्ति वै नृपा। यज्ञैदानिस्तपोभि-श्चविक्रमेण श्रुतनच। कार्तवीर्यस्य चशत पुत्राणा पच वै परम।

इसी कार्तवीर्य के सतान म जयध्वज हुआ था जो आगे चलकर अवन्ती का शासक बना था—

'जय ध्वजश्चनामासीदावन्त्यो नृपतिर्महान्।'

इसी वश मे जयध्वज से तालजघ और उमसे हैहयो के पाच कुल चले थे।

'जय ध्वजात्तालजघस्तालजघात्तत सुता
हैहयाना कुला पच भोजाश्चावन्तयस्तथा'

भगवद्गीता मे जिन वीतहोत्र (वीतिहोत्रो धनजय) के धनजय और पुरुजित्कुरु भोजश्च (गीता) का उल्लेख हुआ है—ये अवन्ती के ही थे। वीतहोत्रा ह्यवतय अवन्ती भोजश्च आदि। इनसे इस वश की परम्परा माहिष्मती एव अवन्ती म ही सबधित चली आती है। इसी हैहय वश के सहस्रार्जुन के साथ भाग व जामदग्न्य-परशुराम का सघर्ष हुआ है। यह बात ऊपर सिद्ध हो गई है कि हैहयो का वश माहिष्मती स आरम्भ होता है। और जामदग्न्य परशुराम के सघर्ष का कारण भी एक बीस बाणो म बीध दने क कारण यही मालव भूमि-जामदग्न्य पर्वत (जनापा-पर्वत-आधुनिक नाम इन्दौर-महू) के निकट पर यह घटना हुई है। इस कारण यह स्वीकार करना होगा कि महाभारत मे जिन हैहयो का जामदग्न्य-परशुराम के सघर्ष का वर्णन मिलता है, वह हैहय-माहिष्मती के

रहे हैं, और उनको ही महाभारत मे 'माल' एव 'गण' कहकर सबोधित किया है, फलत वे इसी प्रदेश (माहिष्मती) के ही मालव हैं अन्य नही ।

महाभारत के द्रोण पर्व मे (अध्याय 70) भार्गव-राम की दिग्विजय का वर्णन करते हुए कहा गया है कि राम ने दोनो क्षत्रिय-गणो (शुद्रक मालव) को साथ साथ हराया था, क्योंकि मालव भूमि मे ही जमदग्नि-वध के कारण जिन मालवो के विरुद्ध परशुराम ने सग्राम घोषित किया था, वे ही मालव थे। अत महाभारत म जहा मालवो का उल्लेख मिलता है, वह कोई अन्य मालवो का नही है । स्पष्ट ही परशुराम के विरुद्ध यह सगठित सघर्ष था । इस कारण इन्ही मालवो ने व्यापक सगठन बनाकर परशुराम से मोर्चा लिया था। वे सग्राम के सिलसिले में ही अनेक गणो शक्ति-समूहो से निकट सबधित हो गए थे । और क्षुद्रक-मालवो का सहयोग भी उसी सिलसिले मे हुआ था । जामदग्न्य के सघर्ष का स्पष्ट उल्लेख महाभारत मे है ।

'तत काश्मीर दरदान कुन्ति शक्र मालवान्, अगबग कलिगाश्च विदेहास्ताम्रलिप्तकान् । निजधान शतैर्बाणैर्जामदग्न्य प्रतापवान् ।'

इस राजक्रान्ति के कारण मालव गण जहा कही फैल गए थे, वही रुकने को विवश बन गए होंगे, किन्तु वे थे इसी मालव भाग के ।

इन सभी मालवो को महाभारत मे गण ही माना, जैसे—

शिविस्त्रिगर्तानम्बष्टान्मालवान् पच कर्पटान् । गणानुत्सव सकेतान् ।

(वनपर्व अ० 32)

और

आग्नेयान्मालवानपि गणान्सर्वान्विनिर्जित्य । 20 (अ० 254)

प्राश्च सौवीर गणाश्चसर्वे, निपातिता शुद्रक मालवाश्च (अ० 159)

इन पर से स्पष्ट होता है कि ये मालव सभी 'गण' ही थे। और हैहयो के इस समूह ने व्यापक रूप ग्रहण कर लिया था । धीरे-धीरे अनेक गणो से इनका सबध स्थापित हो गया था । इसलिए देश के विभिन्न भागो पर इनका होना सिद्ध होता है । केवल पजाब मे ही नही । थोडी और गहराई से इस पर विचार किया जाना उचित प्रतीत होता है। अथर्ववेद के पचम सूक्त के 16-17-29वें मत्रो मे भार्गवो के सघर्ष का वर्णन आया है। उन्हे वैतहव्यो से लडना पडा है। ये वैतहव्य नही थे । जिनके वशज हैहय-तालजध आदि थे । महाभारत के अनुशासन पर्व अ० 30 मे इनका वर्णन है—

'शृणु राजन् यथा राजा वीतहव्यो महायश ''बभूव पुत्रो धर्मात्मा शर्यातिरिति विश्रुत.'

तस्यान्वये द्वौ राजानौ हे राजन्! संवभ्रवतुः (हैहयस्ताल जंघश्चवत्स्य जयतांवरः।

इससे यह वैतहव्य ही हैहय का होना सिद्ध होता है। इनका सघर्ष ही भार्गव परशुराम से होना अथर्ववेद की (4 सूक्त की) 19वी ऋचा से भी समर्थित होता है—

'अतिमात्रवर्धन्त नो दिवमस्पृशन्,
भृगु हिंसित्वा सृञ्जपा वैतहव्या परभगन्' (1)

अर्थात्—शत्रुओ पर विजय पाये हुए वीतहव्यो ने बहुत उन्नति करके आकाश को सिर पर उठा लिया था, वे भृगु को मारकर नष्ट हो गए।

यह प्रसिद्ध महाभारत की घटना का समर्थन है—जो भृगु की 'गौ' (पृथ्वी) को लेकर सहस्रार्जुन—हैहय के सघर्ष का विषय बनकर महाभारत, रामायण और पुराणो मे भी विस्तार से वर्णित हुई है। ब्रह्माण्ड पुराण मे तो यही वर्णन 30 अध्यायो मे बहुत ही विस्तारपूर्वक मिलता है। अथर्ववेद और महाभारत के इन वीतहव्यो को सर्वत्र हैहय स्वीकार किया गया है। किन्तु एक बात जो बहुत महत्त्व की है, वह यह है कि अथर्ववेद मे जिनको वीतहव्य के नाम से ज्ञापित किया गया है। उनको वीतहव्य-वशीय स्वीकार करके भी उनके नेता या नरेश को स्पष्ट रूप स 'मल्व' बतलाया गया है।'

'अन्नयो बह्माणां मल्वः'

(सूत्र 5, मं० 7)

काण्ड 4 के सूत्र के अन्तिम मत्र मे भी यही 'मल्व' शब्द व्यवहार हुआ है। वह शत्रुवाची ही है। और जिन वीतहव्य-हैहयो को लेकर प्रयुक्त किया गया है, वे माहिष्मती मालव के हैहय ही थे। इससे सदेह का कारण नही रहता कि हैहयो के 'गणो' को ही उनके नेता को मल्व कहे जाने के कारण मालव-गण कहकर महाभारत मे इस भार्गव-सघर्ष या अन्य स्थल पर मालव माना है। मालव से ही माल-मालव होता गया है। मालशब्द की व्याख्या भी कोपकारो ने—

माल मालव देशेच वसते भूमिरूर्ध्वका, अथवा 'क्षेत्रमारूह्य माल' मे कालिदास ने भी 'माल—उन्नत भूतल' माना है। वेद का 'मल्व' यही है। यूनानियो ने इन्हे ही 'मल्लोई' शब्द मे ज्ञापित किया है। फलत. शर्याति के वश मे जो वीतहव्य राजा था, उसके पुत्र वत्स को वैतहव्य कहा गया, हैहय इसी वैतहव्य की सतान है। वैतहव्यो का सारा कुल आगे हैहय के प्रताप, शौर्य के कारण हैहय-वश के रूप मे प्रसिद्ध हो गया। और इन्ही हैहयो मे कृतवीर्य और

कार्तवीर्य की सर्वाधिक ख्याति रही है। ये सारे देश मे प्रसिद्ध और विस्तृत हो गये थे। परशुराम भार्गव-सघर्ष के कारण इनकी ख्याति अति व्यापक हो गई थी, इसलिए कृतवीर्य-हैहय के प्रचण्ड-प्रताप और विजय परपरा के कारण 'कृत'—सवत् की नीव पडी है। और चूंकि वह कृतवीर्य मालवगण नायक रहा है, इसलिए कृत—और मालव शब्द अभिन्नता के साथ जुडे हुए मिलते हैं। यह 'कृत' इस व्यक्ति-विशेष का सूचक-सवत है। इन्हें ही मल्व या मालव कहा जाने के कारण, 'कृत-मालव-सवत', की सगति भी उचित है। कुछ लोग प्राय कार्तवीर्य से शकरसुत कार्तिकेय की शका जुडा लेते हैं। यह उचित नही है। शकरसुत आजन्म कुमार है। यद्यपि वह स्वर्ग पर विजय करने वाला सेनानी है। तथापि हैहय-कृतवीर्य-कार्तवीर्य की शिवभक्ति वश पर नाम चाहे प्राप्त हो गया हो। किन्तु यह सहस्रार्जुन माहिष्मती के प्रभावशाली गणाधिप अथवा नृप के वशज हैं। महाभारत रामायण एव पुराणों ने ही नही वेद मे भी वैतहव्य हैहय कहकर ही परशुराम से सघर्षरत सूचित किया है। इससे भ्राति की आवश्यकता नही है। रेवा (नर्मदा) तटीय माहिष्मती से ही उनके कुल की परपरा को सर्वत्र स्वीकार किया गया है। ऐसी स्थिति मे 'कृत' सवत के प्रवर्तक के रूप में कृतवीर्य-हैहय-मल्व को भुलाकर 'कृत' काल 'गणना मे व्यर्थ हमे सम्भ्रमित होने की आवश्यकता नही है।

स्व० श्री जायसवालजी ने अपने 'अंधकारयुगीन' भारत मे एक बात महत्त्व की बतलाई है। 'जान पडता है कि मालव प्रजातन्त्रों की स्थापना ऐसे लोगों ने, या वर्गों ने की थी जो नागों के सगे-सबधी हो' यह ठीक है, हम पहले ही सूचित कर चुके हैं कि महाभारत एव अन्य पौराणिक सकेतानुरूप स्पष्ट माहिष्मती के हैहयो ने कर्कोटक नाम (नगरी जयपुर) को माहिष्मती रख लिया था। कर्कोटक सुत जित्वा माहिष्मत्यां न्यवेशयत्। इसके अतिरिक्त पद्मावती विदिशा ये तो नाग प्रभावित स्थान एव शासन रहे ही हैं। स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि नाग और मालवो की एक प्रकार की सभ्यता रही होगी। हैहयो मे उनका जुडना पर्याप्त पुरातन घटना है। उसमे भी हैहयों के 'मालव गण' होने का समर्थन ही होना है। किन्तु जायसवालजी ने हैहय परपरा को सावधानी से देखे-परखे बिना मालव-गणो के विषय मे अपने को भ्रमित बनाए रखा है।

नन्दसा के 'यूप' पर जो लेख अकित है उसमे स्पष्ट ही इक्ष्वाकु प्रथित राजर्षिवश मालव-वशे लिखा मिलता है। यह 'इक्ष्वाकु'—वश ही हैहयो के पूर्वजो का है। यथा 'इक्ष्वाकु नृग शर्यातिदिष्टधृष्ट करुषकान्' (स्कन्ध 9, अ० 1)

इसी इक्ष्वाकु शर्याति की सतान हैहय-वीतिहोत्र है। इसलिए यह 'यूपोल्लिखित मालवेन्द्र' उसी वश-परपरा का व्यक्ति है। इसी प्रकार महाभारत

समय मे जिस अश्वत्थामा गज का वध हुआ, वह मालवेन्द्र का ही हाथी था (पर प्रमथन घोर मालवेन्द्रस्य वर्मण महाभारत) यह प्रख्यात है कि विन्द और अनुविंद महाभारत काल मे अवन्ती मे द्वैराज्य पद्धति के अनुसार शासक थे, और ये समर मे कौरवो की ओर से सग्राम मे पहुचे थे। अस्तु।

जिस कृतवीर्य-कार्त्तवीर्य के शौर्य के कारण इस देश मे राजक्रान्ति घटना घटी है, उसके प्रबल प्रतापी होने के कारण उसे सहस्रबाहु, सहस्रार्जुन भी कहा है। जमदग्नि का वध इसी कृतवीर्य ने किया था, और इसी कारण परशुराम ने 21 वार नि क्षत्र पृथ्वी करने का प्रण किया था। कृतवीर्य की अपार शक्ति का वर्णन मिलता है। परन्तु राजा और सम्राट की सज्ञा से ज्ञापित होने पर भी मार्कण्डेय पुराण (अ० 16) के अनुसार इसके अमात्यो ने राज्याभिषेक का आग्रह किया तो प्रजा के 'कर' ग्रहण को नापसन्द कर इसने स्वीकृति नही दी थी। कार्त्तवीर्य ने भी स्वतन्त्र शक्ति बढाई थी, इसके राज्याभिषेक वर्णन अवश्य ही दत्तात्रेय, और नारायण नामक व्यक्ति द्वारा सम्पन्न होने की सूचना (मार्कण्डेय अ० 17) मिलती है। इसने भी थोडे समय मे पृथ्वी पर प्रचण्ड सत्ता प्राप्त करा ली थी। (नारद पुराण 1-76) रावण विन्ध्य की ओर से नर्मदा गया तब सहस्रार्जुन ने बन्दी बना लिया था, पर आगे चलकर अग्नि की साक्षी लेकर परस्पर पीडन के विरुद्ध सधि कर ली थी। (वा० रा० उत्तर० 31-33) इसी प्रकार हैहय-नरेश के अत्यन्त प्रमत्त हो पृथ्वी प्रकपित करने का भय हो गया था। तब कार्त्तवीर्य ने नाश के लिए परशुराम को बल प्रदान किया था। (महाभारत) वन 115, विष्णुधर्मोत्तर 2-23, मार्कण्डेय 16 निरतर सघर्ष के बाद परशुराम द्वारा कार्त्तवीर्य के वध का उल्लेख मिलता है। महाभारत (द्रोण पर्व 70) के अनुसार यह वध गुणावनि के उत्तर 'खण्ड वारण्य' के दक्षिण की टेकरी पर हुआ था। प्रतीत होता है यह खण्डवारण्य वर्तमान खण्डवा ही होना चाहिए। इसकी दक्षिणी भागस्थ टेकरी सभवत प्रसिद्ध जनापाव पर्वत। (जामदग्न्य पर्वत) ही रहा होगा जो महू के निकट मालवे मे है। यद्यपि कार्त्तवीर्य को सहस्रबाहु कहा गया है। यह रूपक मात्र है। वस्तुत उसे दो हाथ ही थे (हरिवश 1-33, ब्रह्मा 13) 'सहस्रबाहु' उसके सामर्थ्य का सूचक नाम रहा है। कार्त्तवीर्य के सभी पुत्रो के पास स्वतत्र प्रदेश होना पाया जाता है (ब्रह्माण्ड-3-49, कुछ जगह 'कार्तवीर्य' का सम्राट चक्रवर्ती हैहय आदि नामो से सबोधित किया गया है। (वायु 2 32 हरिवश, 1-33 पद्म पु० 12, ब्रह्म 13, विष्णुधर्म-1-23, नारद 1-76, रामायण आदि,) आज भी माहिष्मती (महेश्वर मालव) म कार्त्तवीर्य का स्वतत्र मदिर बना हुआ है, अन्यत्र कही नही है। अनेक कथा-गाथाओ मे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह महासेनानी अप्रतिम बलशाली भारत के बहुत बडे भाग पर प्रभाव रखने वाला, हैहय वश

का प्रचण्ड शासक माहिष्मती का निवासी, और भार्गव-परशुराम विरोधी था। इसी प्रकार नर्मदा के दक्षिण भाग पर भार्गवो का वर्चस्व था। परशुराम की माता रेणुका को वैदर्भी कहा गया है। वह जहा से जल लाती थी, वहा सूर्य की पडोसी हैहयो के अधिकार हस्तक्षेप से ही इनमे परस्पर संघर्ष की नीव पडी होगी। और रावण भी दक्षिण का ही था, इसी कारण सहस्रार्जुनन ने उसे अपने यहां बन्दी बना लिया और परस्पर अनाक्रमण संधि कर ली होगी। पुराण, महाभारत आदि के अनुसार जमदग्नि परशुराम, विश्वामित्र आदि का एक गुट रहा है। और वसिष्ठ, वैतहव्य-हैहय आदि का दूसरा विरोधी गुट रहा होगा। यह नर्मदा तट का भूभाग वैदिक-काल से लेकर पुराण-काल पर्यन्त प्रसिद्ध-परिचित रहा है। और उसका प्रधान कारण हैहय-कृतवीर्य, परशुराम ही रहे हैं। इसी संघर्ष ने सार्वदेशिक रूप लेकर अनेक संगठनो मे व्यापक विस्तार किया है। इसी अप्रतिम शौर्यशाली व्यक्ति के कारण कृत-संवत् का प्रचलन होना सर्वथा स्वाभाविक, और सुसंगत प्रतीत होता है। और तभी कृति-संवत के साथ मालव शब्द की संगति भी सार्थक हो जाती है। 'इस समय जिस काल गणना को मान्यता मिली है, वही कृतकाल से ज्ञापित है। यह गणना कृत-युग माध्यम से नही है। स्पष्ट ही मालव गण से संबंधित है। इस कारण वह कृत-वीर्य से ही उचित हो सकती है। उसी गण परंपरा को पुनरुज्जीवित कर विक्रम-प्रभाव मे विक्रम शब्द से जुडाया गया है।

जिन मल्व-माल्व और मालवगणो की परंपरा इस भू-भाग के वीतिहव्य हैहय से प्रादुर्भूत हुई, अथर्ववेद, महाभारत, रामायण और अन्य अनेक पुराण समर्थन करते आ रहे हैं, 'कृत' उसी की कडी जुडाने वाली कालगणना है। यदि इतिहास हैहय वंश के कृतवीर्य, कार्तवीर्य की मल्व मालव गण परंपरा से कृत संवत् संगति का अनुशीलन करे तो संदेह का अवसर नही रह सकता। वैदिक साहित्य के साथ-पुराण महाभारत रामायण का अध्ययन करना आवश्यक है, जहा इतिहास के सूत्र यथाक्रम ग्रथित मिलने आते हैं। वीतिहव्यो, तालजघो को महाभारत मे अनेक स्थलो पर 'गणो' के रूप मे स्पष्ट सूचित किया है। और मल्व-माल्व कहकर भी ज्ञापित किया गया है। इस कारण कृतसम्वत् की संगति और सार्थकता को समझने मे सुविधा हो जाती है। मालव गणो का संगठन अत्यन्त पुराना है। कीचक और मत्स्यपाल की माता को मालवी कहा है। नकुल की दिग्विजय का वर्णन प्राप्त होता है। महाभारत से पूर्व भी ये संगठित सशक्त, रहे हैं, पाणिनि ने भी मालव गणो के नियमो को ही (445 से 456) बतलाया है। क्षत्रिय मालव सभी जातियो के सम्मिलित रूप जाति को 'मालवा' कहा जाना सूचित किया है। जिस समय सिकंदर ने भार्गव-गण

सागरपथ से आकर सह्याद्रि की उपत्यका मे बस गए थे, परशुराम ने इनके नवीन 14 कुल स्थापित कर ब्राह्मण बना डाला था, इन्ही लोगो ने कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय-शाखा, और शाकल (शाकल-द्वीप) शाखा को माना था। इसी बात को लेकर महिष्मती के हैहयो मे तनाव बढता रहा, और वह सघर्ष मे पलट गया तथा सैनिक सगटन के रूप मे बल पकडता गया, इसीलिए इस सगठन को किसी जाति-विशेष का (न च मालव-क्षुद्रक शब्दो गोत्रम्) के अनुसार नही माना गया। स्पष्ट ही कात्यायन ने महाभाष्य मे इसे 'सेनाया नियमार्थं वा नियमार्थोमारम्म् क्षुद्रक मालव शब्दात् सेनाग्रामेव क्वाभाभूत क्षौद्रक-मालवमन्यत्, सैनिक सगठन ही था, इससे यही प्रमाणित होता है कि मालव-लोग देश के विभिन्न भागो मे फैल गए थे, उत्तर-पूर्व पश्चिम मे इनका प्रभाव उसी समय बढ गया था। वही सावित्री की माता मालवी-राजकुमारी थी। जिसका महाभारत मे 'पुत्रस्तस्य कुरुश्रेष्ठमालव्या जज्ञिरे तदा' इसमे तथा राजपुत्र्यास्तुगर्भे समालव्या भरतर्षभ। मालव्या मालवा नाम शाश्वता पुत्र पौत्रिण 'मालव्य' शब्द से पाणिनि के अनुसार वर्णन किया है। केवल पजाव मे ही नही 'प्राच्या प्रतीच्यो-दीच्य मालवा (वन, अ० 106) इस प्रकार विभिन्न भागो मे सैनिकगण सगठन के रूप मे व्यापक मिलते हैं, इनको हैहयो की टोली के ही 'मालवगण' स्वीकार करने को वाध्य होना पडेगा। जो कृतवीर्य की परम्परा से प्रेरित होने के कारण, माहिष्मती अर्थात् इसी मालव भू भाग के हैं। अपना वर्चस्व पुन स्थापित कर लेने के कारण कृत मालव-सवत से इन्ही का बोध होना चाहिए। इतिहास की इस गुत्थी को सुलझाने का यही सुसगत और स्पष्ट उपाय है। 'मालवगणा-म्नात' शब्द मे उसी 'आम्नात' (परम्परा) का सकेत है, जिसे 'कृतवीर्य' ने आरम्भ किया था, माहिष्मती के मालवो द्वारा जिसकी नीव डाली गई थी। बौद्धो, शुगो के काल मे वह शिथिल होकर पुन इसी प्रदेश मे सशक्त बनकर अपने प्रभाव प्रतिष्ठित करने में समर्थ हुई है। कालिदास-दीर्घ निकाय, और गोविन्द सुत मे सकेत है। इस बीच माहिष्मती मे कोई शासन नही दिखाई देता, बाद मे विदिशा ही राजधानी होकर हमारे समक्ष आती है जो बुद्ध-अशोक के बाद ब्राह्मण-शुगो के प्रभाव की परिचायक है। इसका शुगो के साथ अत होते ही फिर वही मालव-गण प्रभाव स्थापित कर लेते है और जो शुगो के समय भी 'गण-शत' रूप मे दिखाई पडते हैं। नि सन्देह अपने विगत प्रभाव को पुन स्थापित कर इस महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना के कृत माल-सवत् को हम शिला-लेखो मे देख पाते हैं। दूसरी शती के केवल 'कृतेहि' सवत् को थोडे समय बाद ही 'कृत-मालव' शब्द के अभिन्न रूप म जुडा पाते हैं। जो हमारे सम्पूर्ण विवेचन को प्रमाणित कर देते हैं।

हेमचन्द्र विक्रमादित्य

☐ श्री चन्द्रबली पाण्डेय

हेमचन्द्र विक्रमादित्य को हम नही जानते और नही जानते हम हेमू बनिया को। हम जानते हैं बस उसी हेमू बक्काल को जो सन् 1556 ई० मे पानीपत के मैदान मे जा जमा था और जीतने को था कि कही से आख मे ऐसा तीर लगा कि बस वही हौदे मे ढेर हो रहा। उस समय कोई उसका साथी न हुआ। महावन भी मारा गया। भक्त हाथी उसे लेकर जगल की ओर भागा तो सही पर बीच ही मे वह भी पकडा गया। हेमू की आखें खुलीं तो वह बैरी के हाथ मे बन्दी था। उसकी प्रभुता स्वप्न थी। फिर क्या था, बैरी की बन आई और बात की बात मे सर कही और धड कही हो गया। सर सरकार की कृपा से काबुल पहुचा तो धड दिल्ली के द्वार पर लटका दिया गया। और इतने से सतोष न हुआ तो वृद्ध पिता का भी वध किया गया और देश मे मुगली छा गई। चारों ओर अकबर का आतक दौड गया और पलभर मे विक्रमादित्य का सूरज डूब गया। किसी ने हेमू का साथ न दिया। जिस देश ने 'कहा राजा भोज कहा गगा तेली' के गपोडे मे 'गगा तेली' को घर-घर फैला दिया उससे इस 'हेम' के लिए इतना भी न बना कि कही उसका नाम भी तो चलता। यदि इसके बैरी इतिहासकार इसके विषय मे इतना भी न लिखते और इस हेमचन्द्र विक्रमादित्य का हेमू बक्काल के रूप मे परिहास भी न करते तो हम आज किस हेमू का नाम लेते और किस हेमचन्द्र विक्रमादित्य की बर्षी मनाते? अरे, जिसे अपनी सुधि नही, उसकी सुधि भला कोई पराया क्यो ले और क्यो उसके पुराण को इतिहास का रूप दे? फिर भी हमारे देश के शम्मुलउलमा मौलाना मुहम्मदहुसैन 'आजाद' किस आजादी से लिख जाते हैं—

'चगताई मोवरिख बनिये की जात को गरीब समझकर जो चाहे सो कहें मगर इसके क्वाअद बन्दोबस्त दुरुस्त और अहकाम ऐसे चुस्त हो गए थे कि पतली दाल ने गोश्त को दबा लिया। अफगानो मे जो बाहम कशाकशी और बेइन्तजामी रही उसमे वह एक जंगी और बाइक्बाल राजा बन गया। अदली की तरफ से लस्कर जर्रार लिए फिरता था, कही धावा मारता था, कही मुहासिरा

करता था, और किला बन्द करके वही डेरे डाल देता था। अलबत्ता यह कवायत जरूर हुई कि बिगडे दिल अफगान उसके अहकाम से तग आकर न फक्त उससे बल्कि अदली स भी बेजार हो गए।' (दरबार अकबरी, पृ० 843।)

परन्तु अदली (सन् 1554 से 1556 ई० तक) भलीभाति जानता था कि हेमू के अतिरिक्त उसका कही कोई सहारा नही। उसने एक दिन मे उसे अपना सब कुछ नही बना दिया। उसके हाथ मे शासन-सूत्र आने के पहले ही गली-गली मे नून की फेरी करनेवाला बनिया सरकार म बहुत कुछ बन चुका था। वह सरकारी मोदी था, बाजार का चौधरी था, 'उर्दू' का कोतवाल था। जहा था, सफलता उसके साथ थी। और जब अदली का कोई कर्णधार न रहा तब वही बनिया आगे बढ़ा और उसके अनुमोदन से वह मैदान मारा कि अफगान देखते ही रह गये। एक दो नही कुल 22 मैदान मार चुका था और कही किसी से कभी पीछे नही हटा था। अफगान पहले तो उसे बक्काल कहकर तुच्छ समझते थे पर रणभूमि मे जब सामने आते थे, तब आटा-दाल का भाव मालूम होता था और प्रत्यक्ष देख लेते थे कि जीत इस बनिए के साथ चलती है। ताजखा कर्रानी से जब अदली का सामना हुआ और दोनो गगा के तट पर जाकर एक-दूसरे का मुह देखने लगे, तब साहसी हेमू ने ही गगा पार कर कर्रानी को खदेडा और उधर से पलटा तो इब्राहीम सूर के पैर भी कालपी म उखड गये और अन्त मे बयाना के किले म उसे घिरना ही पडा। हेमू उसको निर्मूल कर आगरा-दिल्ली को लेना ही चाहता था कि चुनार से अदली का फरमान पहुँचा। हेमू पूरब की ओर झपटा तो अदली भी भागता हुआ कालपी के पास उससे आ मिला। फिर तो हेमू ने मुहम्मदखा की सेना पर चरकता पर यमुना पार कर अचानक ऐसा धावा बोल दिया कि जो जहा था, तहा ही रह गया और विजयश्री हेमू के हाथ लगी। सब कुछ हुआ पर जब वह आगरा और दिल्ली को अधीन करता हुआ पानीपत के मैदान मे पहुचा तब विक्रमादित्य बन चुका था। यही उसके पराक्रम का अन्त हुआ। यही उसके विक्रम का आदित्य अस्त हुआ। और ऐसा अस्त हुआ फिर कही कहने को भी न उगा। निश्चय ही हेमू ही हमारा अन्तिम विक्रमादित्य है और अवश्य ही हिन्दू के हाथ से ही अकबर को मुगल साम्राज्य मिला, कुछ पठानो के हाथो से कदापि नही।

हा, भारत के इतिहास मे हेमू का व्यक्तित्व सबसे निराला है। महाराज पृथ्वीराज के हाथ से दिल्ली जो गई तो फिर किसी हिन्दू की न हुई, किसी हिन्दू के हाथ नही आई। चार दिन के लिए हिन्दू से बने मुसलमान मिया खुसरो भी नासिरुद्दीन के नाम से दिल्ली के सुलतान (सन् 1320 ई०) रहे पर अन्त मे तुगलक की तलवार से वह भी दूर हुए और दिल्ली बाहरी मुसलमानो की हो रही। पठान शेरखा सचेत हुआ तो उसने मुगलो से अफगानी राज्य छीन

लिया और बहुत कुछ हिन्दी राज्य करने लगा। उसके कुल की डूबती नैया का डाडा डाडी छोड़कर सभाला हेमू बक्काल ने और सोचा कि पठान उसके हो रहे। वह इन्ही अफगानों के सहारे जीतने चला विदेशी मुगलो को। वह जीत भी गया। परन्तु उसने भूल यह की कि इन अफगानो के मजहब को नही समझा और इन्ही के बल पर बनना चाहा 'शकारि' विक्रमादित्य। जो चाहा सो हो गया पर जो चाहता था सो न हो सका। कारण उसी 'आजाद' के मुह से सुनिए—

'इसे समझना चाहिए था कि मैं किस लश्कर और किन लश्करियो से काम ले रहा हू। यह न मेरे हमकौम हैं, न मेरे हमवतन हैं, न हममजहब हैं। जो कुछ करते हैं या करेंगे पेट की मजबूरी, या उम्मेद या इनाम या जान के आराम के लिए करते हैं। और मरी मीठी जबान, खुशखूई, दर्दख्वाही और मोहब्बतनुमाई इसका जुज आजम था—फिर भी यह सारी बातें आरजी है। यह कोई नही समझता कि इसकी फतह हमारी फ्तह है। और हम मर भी जायेंगे तो हमारी औलाद इस कामयाबी की कमाई खायेगी।' (वही, पृ० 848)

परिणाम जो होना था वही हुआ। अफगानी तोपखाना पहले ही मुगलो का हो गया। और जब जीतते-जीतते हेमू घायल हो आख की पीडा से अचेत हो गया तब उस नमक्हलाल हाथी के सिवा उसका कोई अपना न रह गया जो उसकी सुधि लेता अथवा उसके काम को पूरा करता। यदि वह राजपूत होता तो कुछ राजपूत तो उसके साथ मर मिटते? पर नहीं, जिसने इतने राजपूतों का मान-मर्दन कर बनिया होने हुए अपने को विक्रमादित्य घोषित कर दिया उसका साथ कौन देता! अस्तु, उसका अन्त हुआ और साथ ही उस विरुद का भी जो 'शकारि' का द्योतक और 'साका' का परिचायक है। हमारे लिए यह कोई आश्चर्य की बात नही कि हम आज न तो अपने प्रथम विक्रमादित्य को जानते हैं और न अन्तिम विक्रमादित्य को ही। परन्तु हमारे इस अन्तिम विक्रमादित्य को हमारा अक्बर खूब जानता था और इसी से तो उसकी हत्या पर उसके अगअग को चित्र मे अलग-अलग बना दिखाकर कहता था कि इस घमडी का काम तो पहले ही तमाम हो चुका था। मैंने इसे क्या मारा। सच है, अकबर ने हेमू को नही मारा, उसे तो देश के दुर्भाग्य अथवा दैव ने मारा। अहमद यादगार का कहना कितना सच है कि अक्बर के भाग्य का उदय था कि मृत्यु का तीर हेमू के भाल मे जा लगा—'चू सिताराय दौलत अक्बरशाही रूये दर तरक्की दाश्त नागाह तीर कजा बपेशानीये हेमू ख़ुर्द।' (तारीख-ए-शाही, बप्टिस्ट मिशन प्रेस, रो० ए० सु० आफ बगाल, 1939 ई०, पृ० 362)।

किन्तु भाग्य का प्रताप अथवा मुसलमानो का न्याय तो देखिए कि उनसे इतना भी न देखा गया और लोक मे यह प्रवाद (तारीख-ए-शाही, पृष्ठ 357)

फैला दिया गया कि हेमू ने तो मुगलों को जीतने के लिए हजरत कुतुबल हक के मजार पर आकर मिन्नत मान किया व ठान लिया था कि जीत के बाद मुसल-मान हो जाऊंगा और इस्लाम का प्रचार करूंगा। पर विजयी होने पर उसने किया एक भी नहीं। फलत उसे इसका फल भोगना और तलवार के घाट उतरना पड़ा। क्या खूब ? देखिए, हमारे इस विक्रमादित्य की हमारी आंखों के सामने कैसी गति होती है !

विक्रम के नवरत्न

□ श्री वृजकिशोर चतुर्वेदी

महाराज विक्रमादित्य के नवरत्नो की कथा बहुत प्राचीन है। परन्तु इसका प्रमाण केवल 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रन्थ के निम्नलिखित श्लोक मे ही पाया जाता है—

'धन्वन्तरिक्षपणकऽमरसिंहशकु वेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभाया, रत्नानि वै वररुचिर्नवविक्रमस्य ।'

इस श्लोक के आधार पर ही विक्रम के नवरत्न (1) धन्वन्तरि (2) क्षपणक, (3) अमरसिंह, (4) शकु, (5) वेतालभट्ट, (6) घटखर्पर, (7) कालिदास, (8) वराहमिहिर और (9) वररुचि—बताए जाते हैं। प्रोफेसर कर्न के साथ साथ कई प्रसिद्ध इतिहासकार एव पुरातत्त्व-वेत्ताओ ने इस श्लोक के साथ-साथ 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रन्थ को भी जाली बतलाने का प्रयत्न किया है। दूसरी ओर महामहोपाध्याय प० सुधाकर द्विवेदी ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रन्थ प्रसिद्ध कवि कालिदास का बनाया हुआ नही है परन्तु किसी अन्य गणक कालिदास ने 1164 शाके मे इसकी रचना की थी। इसलिए इसका प्रमाण कहा तक मान्य हो सकता है, इस विषय मे बहुत वाद-विवाद चल रहा है। विद्वानो का यह भी मत है कि ईसा के 57 वर्ष पूर्व कोई विक्रम नाम का राजा हुआ ही नही और इसलिए विक्रम-सवत को चलाने वाले नये-नये नाम खोजने का प्रयत्न अब जारी हुआ। यशोधर्मन्, हर्षवर्धन, चन्द्रगुप्त द्वितीय, अग्निमित्र और गौतमीपुत्र शातकर्णि इत्यादि को नाना प्रकार के प्रमाणो के आधार पर विक्रमादित्य बताने का प्रयत्न किया गया है। और पाश्चात्य एव पूर्वीय विद्वानों का अधिक मत चन्द्रगुप्त द्वितीय के पक्ष मे ही है। परन्तु यह कहना कठिन है कि जो प्रमाण इस मत के पक्ष मे बताए जाते हैं, वही अकाट्य और अन्तिम हैं।

हमारी राय मे भारत के प्राचीन इतिहास की सामग्री अब भी भूमि के नीचे दबी हुई पड़ी है और जब तक सिलसिलेवार प्रान्त-प्रान्त मे, उत्खनन नहीं होता,

तब तक प्राचीन इतिहास के विषय मे एक मत निश्चित कर लेना अत्यन्त कठिन है। मोहन-जो-दारो और हड़प्पा के उत्खनन के अनन्तर प्राचीन भारत के इतिहास के सम्बन्ध मे जिस शीघ्रता से दृष्टिकोण बदला है, वह किसी से छिपा नही है। सभव है उज्जयिनी मे उत्खनन होने के अनन्तर हमे वह सामग्री उपलब्ध हो सके जिससे विक्रमादित्य-काल के विषय मे वह सारे मत बदलने पड़ें जो आज प्रचलित किए जा रहे है। यह कहना कठिन है कि जितनी मुद्रा और जितने सिक्के उपलब्ध हो सकते थे, वे सब उपलब्ध हो चुके। यह कहना और भी कठिन है कि सारे ऐतिहासिक ताम्रपत्र, शिलालेख और हस्त-लिखित पुस्तकें, जो आवश्यक हैं, इतिहासकारो के सम्मुख आ चुकी हैं।

इन परिस्थितियो मे विक्रमादित्य और विक्रम सम्बन्धी काल के विषय मे पुरानी जनश्रुतियो को बिलकुल मिथ्या बतलाना समीचीन प्रतीत नही होता। इतिहासकार भले ही कहते रहे कि 'ज्योतिर्विदाभरण' मे बतलाए हुए नौ विद्वानो का एक काल म होना इतिहास से सिद्ध नही होता, परन्तु जब तक प्राचीन इतिहास की सारी सामग्री को ऊपर लाने का प्रयत्न नहीं होगा, तब तक अपर्याप्त सामग्री के आधार पर इतिहासकारो के कथन से लोकमत सन्तुष्ट नही हो सकता।

'ज्योतिर्विदाभरण पर भी कही-कही भ्रान्तिपूण आलोचनाए हुई है परन्तु उस पर एक स्वतत्र लेख लिखना ही उपयुक्त होगा। यहा इतना लिखना पर्याप्त है कि 'ज्योतिर्विदाभरण' कभी भी लिखा गया हो, उसके ग्रन्थकार को मिथ्या लिखने की आवश्यक्ता नही थी। कम से कम, इतना मानना उपयुक्त होगा कि जैसी जनश्रुति ग्रथकार के काल मे थी वैसी ही उसने लिख दी।

वराहमिहिर की बृहत् सहिता के अग्रेजी अनुवाद की भूमिका मे स्वयं प्रोफ़ेसर कर्न महोदय ने ही सवत् 1015 (948 ई०) के बुद्धगया मे प्राप्त उस शिलालेख का उल्लेख किया है, जिसम विक्रमादित्य के 'नवरत्नानि' मे से प्रसिद्ध पडित अमरदेव की प्रशसा की गई है। यह अमरदेव कोषकार अमरसिंह ही है, ऐसा विद्वानो का मत है। कम से कम इतना सत्य है कि आज से एक हजार वर्ष पूव विक्रम के नवरत्नो का अस्तित्व माना जाता था।

(1) कालिदास—नवरत्नो मे कालिदास की प्रसिद्धि बहुत हो चुकी है। उनके विषय मे कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी है। इस ग्रथ मे भी विद्वत्तापूर्ण कई स्वतत्र लेख छप रहे है। इसलिए उनके विषय म यहा कुछ लिखना अनावश्यक है। अन्य आठ रत्नो के विषय मे जो सामग्री मिली है, उसके सकलन का प्रयत्न आगे किया गया है। पाश्चात्य और पूर्वीय विद्वानो के विचार भी यथातथ बतलाए गए हैं।

(2) क्षपणक—'क्षपणक' प्राचीन काल मे जैन साधु को कहते थे। मुद्राराक्षस मे 'क्षपणक' के भेष मे जासूस का रहना बताया गया है। शकर दिग्विजय

मे उज्जयिनी मे शबर का शास्त्रार्थ किसी क्षपणक से होना लिखा है।

विक्रमादित्य के काल मे जैन पंडितो मे केवल श्रीसिद्धसेन दिवाकर का अस्तित्व माना जाता है। जैन ग्रंथो मे विक्रम के ऊपर उनका अत्यधिक प्रभाव भी बताया गया है। जैन आगम ग्रंथो का संस्कृत भाषा मे लिखने का प्रयत्न भी सिद्धसेन दिवाकर ने किया था, ऐसा भी प्रसिद्ध है। इन कारणों से श्रीसिद्धसेन दिवाकर को ही क्षपणक बताया जाता है।

'ज्योतिर्विदाभरण' के एक दूसरे श्लोक मे विक्रमकालीन वैज्ञानिको के नाम लिखे हैं, जिनमे वराहमिहिर, सत्यश्रुतसेन, बादरायण, मणित्थ और कुमारसिंह के नाम आते हैं। टीकाकारो ने सिद्धसेन दिवाकर का दूसरा नाम श्रुतसेन बतलाया है।

सिद्धसेन ज्योतिष मे और तंत्र मे भी पारंगत थे और सम्भव है, वे विक्रम के नवरत्नो मे रहे हो। परन्तु जो प्रमाण लिखे गए हैं वे अकाट्य नही हैं। जैन साधु का एक ही स्थान पर रहना अधिक उपयुक्त नही जचता। सम्भव है क्षपणक कोई अन्य नैय्यायिक हो।

(3-4) शकु और वेतालभट्ट—वास्तव मे क्षपणक, शकु और वेतालभट्ट के जीवन के सम्बन्ध मे अभी तक कोई प्रकाश नहीं पडा है। शकु का नाम 'ज्योतिर्विदाभरण' के 8वें श्लोक मे भी पाया जाता है, यथा—

'शंकुः सुवाग्वररुचिर्मणिरंशुदत्तो, जिष्णुस्त्रिलोचनहरोघटकर्पराख्यः।
अन्येऽपि सन्ति कवयोऽमरसिंहपूर्वा यस्यैव विक्रमनृपस्य सभासदोऽमी॥'

(अर्थात् विक्रम की सभा मे 9 सभासद थे—(1) शकु, (2) वररुचि, (3) मणि, (4) अंशुदत्त, (5) जिष्णु, (6), त्रिलोचन (7), हरि (8) घटखर्पर और (9) अमरसिंह।)

इससे शकु का एक प्रसिद्ध विद्वान् तो होना सिद्ध होता है।

एक प्राचीन श्लोक ऐसा भी बताया जाता है, जिसमे लिखा है कि शबर स्वामी ने 4 वर्णों मे स्त्रियो से विवाह किया था। ब्राह्मण स्त्री से वराहमिहिर ने जन्म लिया। क्षत्रिय स्त्री से भर्तृहरि और विक्रमादित्य ने जन्म लिया। वैश्य स्त्री से हरिश्चन्द्र और शकु ने जन्म लिया और शूद्र स्त्री से अमरसिंह ने जन्म लिया।

इस श्लोक का यह भी तात्पर्य हो सकता है कि 'शाबर भाष्य' के कर्ता श्री शबर स्वामी ने चार वर्णों के शिष्यो को विद्या प्रदान की थी। और शंकु एक वैश्य थे और विक्रम के गुरुभाई रहे होंगे। कोई-कोई इनको गणनादित्य और कोई-कोई इनको प्रसिद्ध रसाचार्य शकु बतलाने का प्रयत्न करते हैं

हैं। कई किवदन्तियो मे इनको स्त्री भी बतलाया है। कोई इनको ज्योतिषी भी बतलाते हैं।

शकु से भी कम परिचय वेतालभट्ट का मिलता है। प्राचीनकाल मे 'भट्ट' या 'भट्टारक' पडितो की भी एक बडी उपाधि हुआ करती थी। सम्भव है यह भी एक बडे पडित हो। और यह भी सम्भव है कि 'वेतालपचविंशतिका' सरीखे कथाओ के यह ही ग्रथकर्त्ता रहे हो। उज्जयिनी के महाकाल-श्मशान से इनका सम्बन्ध बताया जाता है। कथा यह है कि रोहणगिरि से विक्रम अग्निवेताल को जीतकर लाये थे और अग्निवेताल से उनको अद्‌भुत एवं अदृश्य सहायता मिलती रही। सम्भव है साहित्यिक होते हुए भी भूत, प्रेत, पिशाच साधना मे यह पारगत रहे हो। यह भी सभव है कि आग्नेय अस्त्र एव विद्युत शक्ति मे यह पारगत हो और विक्रमादित्य के राज्य मे कापालिक या तान्त्रिको के प्रतिनिधि रहे हो और इनकी साधना-शक्ति से राज्य को लाभ होता रहा हो।

(5) अमरसिंह—राजशेखर की काव्यमीमासा के अनुसार अमर ने उज्जयिनी (विशाला) मे शिक्षा प्राप्त करके काव्यकार की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। सबसे पहला सस्कृत कोष जो प्राप्त है अमरसिंह का 'नामलिंगानुशासन' है जो अमरकोश के नाम से प्रसिद्ध है। अमरकोश मे कालिदास का नाम आता है। मगलाचरण म बुद्धदेव की प्रार्थना है और कोष मे बौद्ध शब्द और विशेषकर महायान सम्प्रदाय के शब्द भी बहुत पाए जाते है, जिनसे बौद्धकाल और कालिदास के बाद मे अमरकोश का लिखा जाना प्रतीत होता है।

जिनेन्द्र बुद्धि ने सन् 700 ई० मे 'न्यास' लिखा है। अमरकोश उसके बहुत पहिले का होगा। क्योकि उसमे अमर का नाम श्रद्धा से लिया गया है। अमरकोश पर बहुत से आचार्यों ने टीका लिखी है। ग्यारहवी सदी मे क्षीरस्वामी की टीका बहुत ही प्रसिद्ध है। बद्यघाटीय सर्वानन्द ने 1159 मे और रायमुकुट ने 1431 ई० मे अमरकोश पर टीका लिखी है, जिनसे पता चलता है कि सन्त मेधावी 16 आचार्य इनके पहले टीका लिख चुके थे। सस्कृत कोश-ग्रन्थ मे इतनी टीकाए किसी पर भी नही लिखी गई हैं।

(6) घटखर्पर—शकु और घटकर्पर के नाम 'ज्योतिर्विदाभरण' मे दो बार आए हैं और घटकर्पर का भी विद्वान् पडित होना निश्चित ही है। इनके नाम 'घटकर्पर' और 'घटखर्पर' दोनो ही पाये जाते है।

सम्भव है इन्होने बहुत से ग्रथ लिखे हो परन्तु इस समय इनके नाम का एक ही काव्य बताया जाता है जो 22 श्लोको मे है। कालिदास के मेघदूत की तरह इसमे एक विरहणि नवयुवती अपने परदेशस्थ पति को मेघो द्वारा सम्वाद भेजती है। इस काव्य मे यमकालकार की भरमार है। कवि ने यहा तक कहा है कि अनुप्रास, यमक और शाब्दिक चमत्कार की प्रतियोगिता मे दूसरा कवि उसके

बराबर नही हो सकता। अगर कोई हो तो टूटे घडे मे पानी उसके यहा पहुचाने को तैयार हैं। 'तस्मै वहेयमुदक घट-कर्परेण'। काव्य साधारण श्रेणी का ही है परन्तु प्रतिभा अवश्य है।

बडे-बडे दिग्गज विद्वानो ने इस पर टीकाए लिखी है जिनमे अभिनवगुप्त, शातिसूरि, भरतमल्लिका, शकर, रामपतिमिश्र, गोविन्द, कुशलकवि, कमलाकर, ताराचन्द, और वैद्यनाथदेव की टीकाए प्रसिद्ध हैं। कई विद्वानो का मत है कि यह काव्य कालिदास का ही लिखा हुआ है और यह उनके प्रारभिक काल की रचना है। मेघो द्वारा प्रेमिका के दूरस्थ पति को सदेश भेजने का 22 श्लोको का यह दूत-काव्य उस महाकाव्य का प्रवर्त्तक है जो परिपक्वावस्था मे कालिदास ने मन्दाक्रान्ता छन्द और अत्यन्त कोमलकान्तपदावली मे 'मेघदूत' के नाम से लिखा था। अभिनवगुप्त ने टीका मे लिखा है 'अत्र कर्त्ता महाकविः कालिदास इत्यनुश्रुतमस्माभि'। कमलाकर और ताराचन्द्र और अन्य टीकाकारो ने भी इसी बात को सही माना है। परन्तु गोविन्द एव वैद्यनाथ देव घटखर्पर कवि को स्वतत्र मानते हैं।

दूसरा मत यही है कि 'घटखर्पर' काव्य से ही 'कालिदास' के 'मेघदूत' काव्य को प्रोत्साहन मिला है और 'घटखर्पर' स्वतत्र कवि था। रघुवश, कुमारसम्भव, मेघदूत और ऋतुसहार के श्लोको मे घटखर्पर के विचार साम्य दृष्टिगोचर होते हैं। 'घटखर्पर' का एक दूसरा छोटा काव्य 'नीतिसार' भी बताया जाता है।

'घटकर्पर' या 'घटखर्पर नाम अवश्य ही विचित्र प्रतीत होता है। घटकर्पर काव्य का अन्तिम श्लोक है —

'भवानुरक्तवनितासुरतैः शपेयमालम्ब्य चाम्बु तृषित करकोशपेयम्।
जीवेय येन कविना यमकैः परेण, तस्मै वहेयमुदक घटकर्परेण ॥'

काव्य के अन्तिम शब्द 'घटकर्परेण' से ही काव्य का नामकरण 'घटकर्पर' हुआ और फिर कवि का नाम भी 'घटकर्पर' होकर वह विक्रम के नव-रत्नो मे बताया गया, ऐसा कई विद्वानो का मत है। यह मत सही मान लेना उचित न होगा। यह सम्भव है कि इसी बहाने कवि ने अपना नाम काव्य के अन्त मे रखा हो।

जो कुछ भी हो 'घटखर्पर' नाम अत्यन्त विलक्षण है। सम्भव है कि इनका नाम कुछ और हो, परन्तु इसी नाम से सिद्धि पायी हो। सम्भव है यह नामकरण भी कुछ विशेष कारणवश किया गया हो।

विक्रम के इतने भारी साम्राज्य का शासन यह तो कोरे पडित और कवि ही किया करते थे, ऐसा सही नही हो सकता। वास्तव मे नवग्रहो के आधार पर

ही नवरत्नो की सृष्टि की गई होगी। विक्रम-आदित्य के साथ (नवग्रह की भाति) नवरत्न होना समीचीन है। एक-एक रत्न के पास एक-एक शासन विभाग होने की कल्पना अनुचित न होगी।

धन्वन्तरि के पास स्वास्थ्य विभाग, वररुचि के पास शिक्षा विभाग, कालिदास के पास सगीत, काव्य और कला विभाग, क्षपणक के पास न्याय, अग्निवेताल के पास सेना व तात्रिक कापालिक और विद्युत शक्ति विभाग होने की कल्पना की जा सकती है।

हमारा प्राचीन आदर्श महान् था। एक विषय मे पारगत होते हुए भी मन, वाणी और शरीर की शुद्धता के लिए अन्य विषयो पर भी वही विशेषज्ञ ग्रन्थ लिखा करते थे। जो महर्षि पतजलि को महाभाष्यकार ही समझते हैं, वह भूल करते हैं। उन्होने व्याकरण, योग और वैद्यक तीनो पर अलग-अलग प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे थे। राजा भोज की 'न्यायवार्तिका' मे पतजलि के प्रति श्रद्धाजलि का निम्नलिखित श्लोक हमारे प्राचीन भारत के आदर्शों का सूचक है—

> 'योगेन चित्तस्य, पदेन वाचा, मल शरीरस्य तु वैद्यकेन।
> योऽपाकरोत् त प्रवर मुनीना, पतजलि प्राजलिरानतोऽस्मि॥'

(मुनियो मे श्रेष्ठ उन पतजलि को वदना करता हू जिन्होने (1) महाभाष्य के द्वारा वाणी की अशुद्धता मिटाई, (2) योगसूत्र लिखकर चित्त की अशुद्धता मिटाई, और (3) वैद्यक ग्रन्थ लिखकर शरीर का मैल हटाया।)

सभव है शकु और घटखर्पर भी विद्वान् और कवि होते हुए भी किसी विषय मे विशेषज्ञ होगे और शासन का कोई विभाग इनके पास रहा होगा। विक्रमादित्य का काल महायान तत्र का काल था जिसने व्याडि और नागार्जुन सरीखे प्रसिद्ध वैज्ञानिको को जन्म दिया था। मध्य भारत और उज्जयिनी मे महायान तत्र का बहुत प्रचार रहा था, ऐसा कुब्जिका तत्र मे पाया जाता है। दरबार पुस्तकालय नपाल म जो पुस्तक सुरक्षित है वह प्रति छठी शताब्दी की है, उसमे यह श्लोक मिलता है :—

'दक्षिणे देवयानौ तु पितृयानस्तयोत्तरे। मध्यमे तु महायान शिवसंज्ञा प्रगीयते॥'

इस काल मे शैव और बौद्ध तत्रो का सम्मिलन हो रहा था और देश के लिए नवीन आविष्कार किए जा रहे थे। शिव को 'पारद' (पारा-*Mercury*) का जन्मदाता बताकर 'षड्गुण बल जारित' 'पारद से ताम्र का सुवर्ण बनाए' जाने की रीति निकाली गई थी। योगीश्वर शिव के नाम पर देश की आर्थिक अवस्था मे सुधार किया जा रहा था। 'पारद' के आधार पर वायुयान वायु मे उड़ने लगे थे, ताम्र का सोना बनने लगा था और भारत की साम्पत्तिक अवस्था

नवीन आविष्कारों के सहारे दिन-पर-दिन उन्नति करने लगी थी। और पारद एव जसद (zinc) का उन दिनो बोलबाला था। महाकालतत्र, कुब्जिकातत्र, रुद्रयामलतत्र व अन्य तात्रिक ग्रन्थो मे इन्ही दोनो की महिमा पायी जाती थी।

रुद्रयामल तंत्र मे धातुमजरी मे जसद के पर्यायवाची शब्द निम्नलिखित बताए गए हैं —

जासरव च जरातीतं राजतं यशदायकम्।
रुप्यभ्राता, वरीयश्च, त्रोटकं कोमलं लघुम् ॥
चर्मकं, खर्परं चैव, रसकं, रसवर्द्धकम्।
सदापथ्यं, बलोपेतं, पीतरागं सुभस्मकम् ॥

(यानी जस्ता के पर्याययाची शब्द जासरव, यशद, यशदायक, रुप्यभ्राता, चर्मक, खर्पर, और रसक थे।)

'जसद' यशदायक का अपभ्रंश है और 'यशदायक' (जसद) शब्द मे ही जसद की प्रशसा निहित है। उन दिनो यह नवीन आविष्कार देश की अमूल्य सम्पत्ति हो रहा था। इसी का पर्यायवाची शब्द 'खरपर' भी था।

उस समय के वैज्ञानिक आविष्कारो को देखकर, स्वतत्र साम्राज्य स्थापित करने वाले सम्राट् विक्रमादित्य ने आविष्कारो का विभाग अलग स्थापित करके एक विशेषज्ञ को सौंप दिया हो तो आश्चर्य की बात तो नही हो सकती और किसी कारणवश उस विशेषज्ञ का नाम ही 'घटखर्पर' पड गया हो तो भी आश्चर्य नही। घडे मे जसद रखने वाले को 'घटखरपर' कहते होगे, ऐसा हमारा मत है। इस विषय मे प्रमाण का अवश्य अभाव है।

वास्तव मे विक्रमकालीन भारतीय अवस्था का अधिक हाल तात्रिक ग्रन्थो मे मिल सकता है। उज्जयिनी और महाकाल का अधिक सम्बन्ध तात्रिको और कापालिको और तत्र-ग्रन्थो से रहा है और इसीलिए जब तक तत्र-ग्रन्थो के आधार पर अनुसधान न हो तब तक घटखर्पर, शकु और वेतालभट्ट सम्बन्धी पहेलिया आसानी से सुलझ नही सकती।

(7) वररुचि—राजशेखर ने लिखा है कि वररुचि शास्त्रकार की परीक्षा मे पाटलिपुत्र मे उत्तीर्ण हुए थे। कथासरित्सागर के अनुसार वररुचि का दूसरा नाम कात्यायन था। वह शिवजी के पुष्पदन्त नामक गण के अवतार थे। शिवजी के शाप से कौशाम्बी मे एक ब्राह्मण कुल मे जन्म लिया और पाच वर्ष की अवस्था मे ही पितृहीन हो गए थे। प्रारभ से ही श्रुतधर थे। एक वार अकस्मात् व्याडि और इन्द्रदत्त दो विद्वान् इनके घर आए और कौतुकवशात् व्याडि ने प्रातिशाख्य का पाठ किया जिसको वररुचि ने वैसा-का-वैसा ही दुहरा दिया। इस पर व्याडि और इन्द्रदत्त इनको पाटलिपुत्र ले गए। वहा वर्ष और उपवर्ष शिक्षा

प्राप्त की। वही पाणिनि पढ रहे थे जिनको पहिले शास्त्रार्थ मे परास्त किया। तदनन्तर स्वय परास्त हुए। उपकोशा से ब्याह होने पर महाराजा नन्द के मत्री हुए। महाराजा नन्द की मृत्यु के अनन्तर वन मे चले गए और काणभूति को कथा सुनाकर शाप से मुक्ति पायी। कुमारिलभट्ट के 'सूत्रालकार' से इनमे से कई बातो का समर्थन होता है।

जिनप्रभसूरि-विरचित 'विविधतीर्थकल्प' मे लिखा है कि सिद्धसेन दिवाकर की सम्मति से महाराज विक्रमादित्य की शासन-पट्टिका लिखी गई थी जिसको उज्जयिनी नगरी मे सवत् 1, चैत्र सुदी 2, गुरुवार को 'भाटदेशीय महाक्षपटलिक परमार्हत-श्वेताबरोपासक-ब्राह्मण गौतमसुत कात्यायन ने लिखा था।' जिनप्रभ-सूरि का सुल्तान मुहम्मद तुगलक के राज्य मे बडा मान था और कहा जाता है यह शासन-पट्टिका उन्होने स्वय देखी थी। यदि यही कात्यायन वररुचि भी कहलाते थे तो ज्योतिर्विदाभरण के इस लेख की पुष्टि होती है कि महाराज विक्रम के नवरत्नो मे वररुचि भी थे।

कात्यायन के कोशग्रन्थो मे 'नाममाला' का नाम लिया जाता है। पाणिनि के व्याकरण पर कात्यायन की वार्त्तिकाए अत्यन्त प्रसिद्ध है। पातजलि के महाभाष्य मे कात्यायन की वार्त्तिका के 1245 सूत्र सुरक्षित हैं और बहुत-सी कारिकाए भी मिलती हैं। पातजलि ने 'वररुचि काव्य' का भी अस्तित्व बतलाया है। कातन्त्र व्याकरण का चतुर्थ भाग, प्राकृत प्रकाश, लिगानुशासन, पुष्पसूत्र और वररुचि सग्रह भी कात्यायन के बताए जाते हैं। धर्मशास्त्र, श्रौतसूत्र, और यजुर्वेद प्रातिशाख्य भी कात्यायन के बताए जाते हैं। वेबर के अनुसार कात्यायन का समय 25 वर्ष ईसा पूर्व है। गोल्डस्टकर का द्वितीय शताब्दी के प्रथम भाग मे, और मैक्समूलर का चतुर्थ शताब्दी के द्वितीय भाग मे अनुमान है।

श्रीमेरुतुगगाचार्य कृत 'प्रवन्ध-चिन्तामणि' मे लिखा है कि वररुचि उज्जैन के राजा विक्रमादित्य की लडकी 'प्रियगुमजरी' को पढाते थे। एक बार कन्या ने गुरु के साथ हास्य किया। क्रोध मे आकर वररुचि ने शाप दिया कि 'तू गुरु का उपहास कर रही है तुझे पशुपाल पति मिले।' कन्या ने कहा कि जो आदमी आपका गुरु होगा उसी से ब्याह करूगी।

एक दिन वररुचि जगल मे घूमते-घूमते थक गए थे। पानी नही मिला। एक पशुपाल से पानी मागा। पानी नहीं था। उसने कहा—भैंस का दूध पी लो और भैंस के नीचे बैठकर 'करचण्डी' करने को कहा। वररुचि ने किसी भी कोष मे 'करचण्डी' शब्द नही पढा था। पूछने पर पशुपालक ने दोनो हथेलियो को जोडकर 'करचण्डी' नामक मुद्रा बताकर भैंस का दूध पिलाया। एक विशेष शब्द बताने के कारण वररुचि ने इस पशुपालक को अपना गुरु माना। राजप्रासाद मे फिर ले आकर राजकन्या का पाणिग्रहण कराया। वह पशुपालक कालिका जी की

आराधना करने लगा कालिका के प्रत्यक्ष दर्शन होने पर उसे विद्या प्राप्त हुई और उसका नाम कालिदास हुआ। उसने कुमारसमव प्रभृति ग्रन्थ लिखे। उक्त जैन ग्रन्थ के अनुसार विक्रम, वररुचि और कालिदास समकालीन थे।

प० भगवद्दत्तजी ने अपने 'भारत का इतिहास' मे आचार्य वररुचि को विक्रमादित्य का समकालीन होना सिद्ध किया है। उन्होने प्रमाण भी दिए हैं जिनमें मे कुछ यहा उद्धृत किए जाते हैं—

(1) वररुचि ने अपने आर्याछन्दोवद्ध एक ग्रन्थ के अन्त मे लिखा है—

'इतिश्रीमदखिलवाग्विलासमण्डितसरस्वती-कण्ठाभरण-अनेक विशरण श्रीनरपतिसेवितविक्रमादित्यकिरीटकोटि निघृष्ट-चरणारविन्द आचार्य-वररुचि विरचितो लिंग विशेष विधि: समाप्त: ॥'

अर्थात आचार्य वररुचि महाप्रतापी विक्रम का पुरोहित था।

(2) आचार्य वररुचि अमरसिंह के पूर्वज अथवा समकालीन थे। अमर लिखता है —

'समाहृत्यान्य तन्त्राणि, संक्षिप्तैः प्रति सस्कृतैः ॥'

इस पर टीका सर्वस्वकार लिखता है :—

व्याडि-वररुचि-प्रभृतीनां तन्त्राणि समाहृत्य ॥

(3) वररुचि के अनेक ग्रन्थ अब भी मिलते हैं। 'वाररुचनिरुक्त समुच्चय' ग्रन्थ स्कन्दस्वामी (सन् 630) से बहुत पहिले का है।

(4) धोयी अपरनाम श्रुतिधर जो राजा लक्ष्मणसेन का सभा पण्डित (वि० स० 1173) था, लिखता है—

ख्यातो यश्च श्रुतिधरतया विक्रमादित्य गोष्ठी—
विद्याभर्त्तुः खलु वररुचेराससाद प्रतिष्ठाम् ॥ (सदुक्तिकर्णामृत, पृष्ठ 297)

(श्रुतिधर ने लक्ष्मणसेन की सभा मे वही प्रतिष्ठा प्राप्त की, जोकि विक्रमादित्य की सभा मे वररुचि ने की थी।)

इन प्रमाणो से यह सिद्ध होता है कि महाप्रतापी विक्रमादित्य का वररुचि से अवश्य सम्बन्ध था।

(8) धन्वन्तरि—धन्वन्तरि काशी के राजा दिवोदास बताए जाते हैं। सभव है जब महाराजो पर विजय पाकर विक्रमादित्य सम्राट् हुए हो तब काशीराज उनकी राजधानी उज्जैन मे बुलाए जाकर सम्राट् की अन्तरग सभा के सदस्य हुए हो। यह भी सभव है कि आयुर्वेद के प्रचार करने हेतु राजपाट अपने पुत्र को देकर काशीराज दिवोदास वृद्धावस्था मे केवल वैद्यक शिक्षा प्रसार हेतु उज्जयिनी मे बस गए हो।

ज्योतिर्विदाभरण मे बताए गए नवरत्नो की कथा कपोल-कल्पना मात्र है, यह मान लेना ठीक नही है। यदि प्रसिद्ध विद्वानो के नामो को एकत्र करके नौ विद्वानो की सभा की कल्पना ही समीचीन थी तो ज्योतिर्विदाभरण का रचनाकार अन्य विद्वान्—पाणिनि, पतंजलि, भास और अश्वघोष का भी नाम ले सकते थे। परन्तु ये नाम न लेकर साधारण व्यक्ति घटखर्पर, शकु, क्षपणक, वेतालभट्ट के नाम नवरत्नो मे गिनाए गए हैं, जो अगर कल्पना ही है, तो अवश्य एक निम्न कल्पना का परिचय दिया है। वास्तव मे, प्रतीत यह होता है कि ग्रन्थकार ने कल्पना को काम मे न लेकर वस्तुस्थिति का सही वर्णन किया है।

सुश्रुत संहिता मे धन्वन्तरि, दिवोदास और काशीराज एक ही व्यक्ति के नाम हैं। परन्तु विष्णुपुराण के अनुसार पुरुरवा के वंश मे काशीराज के पोते धन्वन्तरि थे और धन्वन्तरि के पोते दिवोदास हुए थे। हरिवंश पुराण मे लिखा है कि 'काश्य' के पड़पोते धन्वन्तरि और धन्वन्तरि के पड़पोते दिवोदास थे। सम्भव है यह तीनो ही बड़े भारी वैद्य हुए हो और एक कोई विक्रमादित्य के समकालीन और नवरत्न रहे हो। स्कन्द, गरुड़ और मार्कण्डेय पुराणो म धन्वन्तरि को त्रेतायुग मे होना बताया है। धन्वन्तरि की माता का नाम वीरभद्रा था और वह जाति की वैश्य थी। गालव मुनि के प्रभाव से ऋषियो ने कुशो की एक मूर्ति बनाई और वीरभद्रा की गोदी मे फेंक दी और वैदिक मंत्रो के बल से उस मूर्ति म जीवन-संचार किया गया। इसलिए वह वैद्य कहलाए। विष्णुपुराण मे समुद्रमथन की कथा मे समुद्र से निकले रत्नो मे धन्वन्तरि का आना बताया गया है। इस तरह एक ही पुराण मे धन्वन्तरि के विषय म दो कथाए हैं।

धन्वन्तरि ने अश्विनीकुमार की तीन कन्याओ (1) सिद्ध विद्या, (2) साध्य विद्या और (3) कष्टसाध्य विद्या को ब्याह लिया। और उनके सेन, दास, गुप्त, दत्त इत्यादि 14 पुत्र हुए। सम्भव है यह कथा केवल विद्या प्राप्ति की कथा ही हो। सुश्रुत के अतिरिक्त उनके 100 शिष्य प्रसिद्ध हैं। 'भारतीय ओषधि के इतिहास' मे डॉक्टर गिरीन्द्रनाथ मुकर्जी ने धन्वन्तरि प्रणीत दस ग्रन्थ बताए हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार धन्वन्तरि ने चिकित्सा-तत्त्व-विज्ञान, दिवोदास ने चिकित्सादर्शन और काशीराज ने चिकित्सा कौमुदी निर्मित की। इसके अनन्तर धन्वन्तरि ने (1) अजीर्णामृतमंजरी, (2) रोग निदान, (3) वैद्य-चिन्तामणि, (4) विद्याप्रकाश चिकित्सा, (5) धन्वन्तरि निघंटु, (6) वैद्यक भास्करोदय, (7) चिकित्सा सारसंग्रह निर्मित किए। भारतीय आयुर्वेद पद्धति मे धन्वन्तरि आदि गुरु हैं।

(9) आचार्य वराहमिहिर—वराहमिहिर का काल 550 ई० बताया जाता है। उनकी मृत्यु ईसवी सन 587 मे बताई जाती है। वास्तव मे वराहमिहिर के वृहत् संहिता मे दिए गए शकाब्द के हिसाब से विद्वानो ने यह सिद्ध किया है

कि कालिदास और वराहमिहिर साथ नही हो सकते थे।

वराहमिहिर ने अपना जन्म सवत् कही नही लिखा। अपना जन्म-स्थान और वश-परिचय अवश्य दिया है। बृहज्जातक के उपसहार मे उन्होंने लिखा है कि अवन्ती के पास कपित्थ नाम के ग्राम मे आदित्यदास के घर मे उन्होने जन्म लिया। कपित्थ (वर्तमान कायथा) उज्जैन से 11-12 मील पर उज्जैन-मक्सी-रोड-पर है और रियासत इन्दौर के अन्तर्गत है। श्लोक यह है —

आदित्यदास तनयस्तवाप्त बोधः कापित्यके सवितुलब्धवर प्रसादः।
आवन्तिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग् होरा वराहमिहिरो रुचिरां चकार ॥

शकर बालकृष्ण दीक्षित के 'भारतीय ज्योतिष शास्त्राचा इतिहास' के अनुसार वराहमिहिर ने बृहत्-सहिता शक स० 427 मे लिखी है। श्री० एस० नारायण एय्यगर ने स्वर्गीय प्रोफेसर सूर्यनारायण राव के मत का खण्डन करते हुए लिखा था कि 427 शालिवाहन शक न होकर विक्रम सवत् है। एक के मत के अनुसार वराहमिहिर विक्रम सवत 427 मे व दूसरे के मत के अनुसार विक्रम-सवत् 562 मे हुए थे। हमारी राय मे यह भी सम्भव है कि जो वर्ष वराहमिहिर ने लिखे है वह विक्रम या शालिवाहन के न होकर कोई दूसरे ही सवत् के हो। इसलिए जब तक बृहत् सहिता'के रचनाकाल के विषय मे दूसरा प्रमाण न मिले, तब तक कोई निश्चित सम्मति प्रकट करना उचित नही होगा। यवनराज स्फुजिध्वज ने एक पुरातन शकाब्द का उल्लेख किया था।

'ज्योतिर्विदाभरण' को श्रीयुत् दीक्षितजी ने इसलिए जाली बताया है कि उसमे अयनाश निकालने की विधि दी गई है और वह भी वराहमिहिर के अनुसार। परन्तु क्या यह सम्भव नही है कि ग्रथ कालिदास ने ही लिखा हो परतु ग्रन्थ के आदि, मध्य और अन्त मे समय-समय पर क्षेपक बढते चले गए हो। जब तक 'ज्योतिर्विदाभरण' की मूल प्रति न मिले तब तक ग्रन्थ के विषय मे और उसके अनुसार 'विक्रम के नवरत्नो' के विषय मे यह कहना कठिन है कि यह कपोल कल्पना है।

वैज्ञानिको मे वराहमिहिर और आर्यभट्ट सरीखे प्रखर विद्वानो ने प्राचीन काल मे भारत के नाम को उज्ज्वल किया है। वराहमिहिर के पिता आदित्यदास भी बहुत बडे गणितज्ञ और ज्योतिषी थे और वराहमिहिर के पुत्र पृथुयशस भी विद्वान हुए है। पृथुयशस की 'षट्पचाशिका' की टीका भी वराहमिहिर के टीका-कार महोत्पल ही ने की है। वराहमिहिर की बृहत्-सहिता, समास-सहिता, बृहज्जातक, लघुजातक, पचसिद्धान्तिका, विवाहपटल, योगयात्रा, बृहत्यात्रा और लघुयात्रा प्रसिद्ध हैं।

पचसिद्धान्तिका के अतिरिक्त शेष ग्रथो की टीका दिग्गज विद्वान भट्टोत्पल

ने की है। पचसिद्धान्तिका मे वराहमिहिर ने लाटाचार्य, सिंहाचार्य, आर्यभट्ट, प्रद्युम्न और विजयनन्दी के मतो को उद्धृत किया है जो उनके पूर्ववर्ती विद्वान थे और जिनके नाम आज वराह के कारण ही सुरक्षित हैं। पैतामह, गार्ग, ब्रह्म, सूर्य और पौलिश सिद्धान्तो को भी वराहमिहिर ने ही सुरक्षित रखा है। वराहमिहिर की विद्या और उनका अगाध ज्ञान देखकर यह विचार होता है कि अवश्य ही उन्होने देश-पर्यटन के साथ विदेशगमन भी किया था। यूनानी ज्योतिषियों के प्रति वराहमिहिर के बडे सम्मान और आदर के भाव हैं, ऐसा बृहत् सहिता म इस श्लोक को वराहमिहिर के उद्धृत करने से पता चलता है—

म्लेच्छाहि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिद स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते कि पुनर्दैवविद्द्विज ॥

यवन (Ionians or Greeks) वास्तव मे म्लेच्छ हैं परन्तु शास्त्र मे पारगत होने से वे ऋषियो के समान पूजित हैं फिर शास्त्र पारगत द्विज तो देवता सरीखा पूजा का पात्र है।

डॉक्टर ए० बैरीडेल कीथ ने लिखा है कि वराहमिहिर कोरे गणितज्ञ, ज्योतिषी या वैज्ञानिक ही हो, यह बात नही है, उनकी भाषा इतनी प्राजल और कविता इतनी रसिकता और माधुर्य लिये हुए है कि बडे-बडे कवियो की उपस्थिति मे उनका स्थान बहुत ऊँचा रहेगा। पाठको के मनोरजनार्थ सप्तर्षियो की स्थिति पर वराहमिहिर की बृहत्-सहिता का निम्नाश हम यहा उद्धृत करते हैं, जिससे पता चलेगा कि साहित्य और विज्ञान का कितना सुन्दर सम्मिश्रण किया गया है। बृहत्-सहिता मे लिखा है—

'जिस प्रकार रूपवती रमणी गुथे हुए मोतियो की माला और सुन्दर रीति से पिरोए हुए श्वेत कमलो के हार से अलकृत होती है, उसी प्रकार उत्तर प्रदेश इन तारको से अलकृत है। इस प्रकार अलकृत, वे कुमारियो के सदृश है जो ध्रुव के पास उसी प्रकार नाचती और घूमती हैं जिस प्रकार ध्रुव उनको आज्ञा देता है। मैं प्राचीन और सनातन गर्ग के प्रमाण से कहता हू कि जब पृथ्वी पर युधिष्ठिर का राज्य था तो सप्तर्षि दसवें नक्षत्र मघा मे थे और शककाल इसके 25-26 वर्ष उपरान्त है। सप्तर्षि प्रत्येक नक्षत्र मे 600 वष रहते हैं और उत्तर पूर्व मे उदय होते हैं। सात ऋषियो म से जो उस समय पूर्व का शासन करता है वह मरीचि है। उसके पश्चिम म वसिष्ठ है। फिर अगिरस, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, ऋतु और वसिष्ठ के समीप सती अरुन्धती है।'

यह दिखलाने के लिए कि आर्य ज्योतिषी बहुत पहले से पृथ्वी की आकर्षण शक्ति (Law of Gravitation) मानते थे, अलबेरूनी ने 'बृहत्-सहिता' को उद्धृत किया है।

वराहमिहिर का भूगोल, खगोल, इन्द्रायुध, भूकम्प, उल्कापात, वायुधारण, दिग्दाह प्रवर्षण, रोहिणी योग, ऋतु-परिवर्तन, वर्ष में धान्य और धान्य के मूल्य मे घट-बढ़ी का ज्ञान अत्यन्त अगाध तो था ही और ज्योतिष गणित और फलित के वे पूर्ण पंडित भी थे। परन्तु अन्य विषयों का ज्ञान भी उनको बहुत था।

हीरा, पद्मराग, मोती और मरकत का बड़ा विशद् वर्णन उन्होंने अपने रत्न-परीक्षा नामक अध्याय मे किया है। हीरा के क्रय-विक्रय के नियम आजकल Indian or Tavermies Rule or Rule of Square के नाम से प्रसिद्ध है। शुक्र नीति मे बहुत पहिले लिखा गया था कि :—'यथा गुरुतरं वज्रं तन्मूल्यं रत्तिवर्गतः।' अर्थात् अगर एक वज्र (हीरा) वजन मे 1 रत्ती है और उसका मूल्य 'क' है तो 4 रत्ती वाले हीरा का मूल्य '2 क' होगा।

गणितज्ञ होने के कारण वराहमिहिर ने इसे बहुत अच्छी तरह समझाया है। उनके समय मे 8 सफेद तिल का 1 तन्दुल और ४ तन्दुल का 1 गुंजा माना जाता था। वे कहते हैं कि 'अगर 20 तन्दुल भारी हीरा का मूल्य 2 लाख रुपया होता है तो 5 तन्दुल वजनी हीरा 50,000 रुपये का नही हो सकता, क्योंकि यहा वर्ग-नियम लागू होगा और 5 तन्दुलवाले हीरा का मूल्य 2 लाख का (25×4) 100 वा हिस्सा=2000 रुपया ही होगा।'

इसी प्रकार मरकत, मोती और पद्मराग के मूल्य निर्धारित करने के नियम एवं उनके अच्छे चिह्न पहचानने के नियम दिए गए हैं। आजकल पीले हीरे भारत मे नही होते और दक्षिणी अफ्रीका से ही आते हैं, परन्तु वराहमिहिर के समय मे पीत हीरे भी यहीं पाए जाते थे। लाल, पीले, श्वेत और रंगहीन हीरों का वर्णन किया गया है :—'रक्तं, पीतं, सितं, शरीष।' इसके अनन्तर वृक्षायुर्वेद मे वृक्षों के रोगों और ओषधियों का वर्णन है। पशुओं में गौ, अश्व, हाथी, कुक्कुट, कूर्म, छाग इत्यादि के लक्षण बताए हैं। कामसूत्र का भी सूक्ष्म विवरण है। वास्तुविद्या, प्रासाद-लक्षण, प्रतिमा-लक्षण और प्रतिमा-प्रतिष्ठापन पर अलग क्रियात्मक परिच्छेद हैं।

कई दवाइयां वज्रलेप के लिए बताई हैं, जिसके लगाने से एक पत्थर दूसरे पत्थर से सहस्रों वर्षों को चिपक सकता है। इन लेपों का बौद्धकालीन मन्दिर और चैत्यो मे पर्याप्त उपयोग किया जाता था और इसलिए वे मन्दिर भलीभांति सुरक्षित हैं।

एक अध्याय शस्त्रपान पर है जिसमे यह बताया है, कि हथियारों की धार पर सान किस तरह रखनी चाहिए जिससे थोड़े प्रयत्न से धार अत्यन्त तेज हो सके। एक अन्य अध्याय 'शिलादारण' पर है। चट्टानों को तोड़ने के लिए आजकल बारूद की आवश्यकता होती है परंतु उस काल मे कई ओषधियों का क्वाथ बनाया जाता था जो कई चूर्णों के साथ चट्टानों पर छिड़का जाता था जिसके

कारण चट्टान इतना गलन लगता है कि वह काटे-जाने योग्य हो जाता है। बृहत्-सहिता का 76वा अध्याय गधी और अत्तारो के कार्य से सम्बन्धित है। बकुल, उत्पल, चम्पक, प्रतिमुक्तक के गन्ध किस प्रकार बनाने चाहिए और किस अनुपात से क्या-क्या वस्तु डालनी चाहिए, इसका विशद विवेचन है। लोष्ठक प्रस्तार (Mathematical calculus) मे सहस्रो प्रकार की सुगन्धिया बनाने की पूरी विधि लिखी गई है। यही कारण है कि उज्जयिनी की बनी सुगधित वस्तुए, गध, धूप एव अनुलेपन की सामग्रिया बरोच होकर अलेक्जेंड्रिया होती हुई उन दिनो ग्रीस और यूरोप पहुचकर अत्यन्त प्रसिद्धि पा रही थी। क्रियात्मक रसायन (Applied chemistry) और देश की व्यापारिक अवस्था को सुधारने की इच्छा से लिखे हुए इस अध्याय का प्राचीन भारत के इतिहास मे कम महत्त्व नही है।

प्रकाश के मूर्च्छन एव किरणविघटन (Reflection of light) का भी अच्छा विवरण बृहत-सहिता मे मिलता है। आजकल 'एटम' (atom) और एलक्ट्रन (electron) परमाणु देखने मे सबसे छोटी वस्तु (the minimum visible) मानी जाती है। वराहमिहिर के शिल्पशास्त्र मे परमाणु तिरछी सूर्यकिरण की मोटाई को बताया गया है। परमाणु का हिसाब वराहमिहिर ने इस प्रकार बतलाया है—

8 परमाणु = 1 रजस। 8 रजस = 1 बालाग्र (बाल)। 8 बालाग्र = 1 लिक्ष। 8 लिक्ष = 1 यूक। 8 यूक = 1 यव। 8 यव = 1 अगुली। 24 अगुली = 1 हस्त।

आचार्य सर ब्रजेन्द्रनाथ सील ने लिखा है कि इस तरह पाचवी शताब्दी मे ही—जब ग्रीक गणित और विज्ञान अति साधारण था—एक हिंदू वराहमिहिर ने एक तिरछी पतली सूर्यकिरण की मोटाई की कल्पना कर ली थी। वराहमिहिर का उन दिनो का एक परमाणु वर्तमान इच का साढे तीन लाखवा हिस्सा है। पाश्चात्य विज्ञान अभी तक इससे बहुत आगे नही जा सका।

वास्तव मे आचार्य वराहमिहिर विद्वान, साहित्यिक कवि, वैज्ञानिक, ज्योतिषी एव व्यापारिक रसायनज्ञ ही नही थे, वे उन महापुरुषो मे थे जिनका नाम प्राचीन-भारत के निर्माताओ मे सदा ही प्रमुख बना रहेगा। कोई भी सम्राट् उनको अपने नवरत्नो मे स्थान देकर साम्राज्य को गौरवान्वित करने का प्रयत्न करता।

धर्माध्यक्ष

□ श्री सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे

सवत्-प्रवर्तक सम्राट् विक्रमादित्य वस्तुत कौन व्यक्ति था, तथा किस समय विद्यमान था, इत्यादि समस्याओ पर आधुनिक विद्वान् सशोधक समय-समय पर अनेक मत प्रकट कर चुके है। ये सब मत अन्तत परस्पर-भिन्न परिणामो पर पहुचते हुए भी कुछ स्वल्प बातें मूलत मान्य कर लेने मे एकता रखते है, जैसे 'विक्रमादित्य' नाम का विरुद धारण करनेवाला एक प्राचीन भारतीय सम्राट् अत्यन्त प्रभावशाली था, उसका साम्राज्य अत्यन्त विस्तीर्ण था, उसकी (मुख्य, सामयिक या प्रादेशिक) राजधानी उज्जयिनी थी तथा उसकी ओर से कवियो एव अन्य विद्वानो को अतिसमृद्ध आश्रय एव पुरस्कार प्राप्त होता था, इत्यादि। विक्रमादित्य के शौर्य, पराक्रम, औदार्य, रसिकत्व आदि गुणो की असामान्यता का परिचय करने वाले अनेक उज्ज्वल सुभाषित प्राचीन साहित्य मे मिलते हैं, उदाहरणार्थ—

बाणपूर्वकालिक हालसगृहीत गाथासप्तशती, 5-64—

> सवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम् ।
> चलणेण विक्कमाइत्तचरियं अणुसिक्खियं तिस्सा ॥

बाणपूर्वकालिक सुबन्धुविरचित वासवदत्ता, प्रास्ताविक पद्य 10—

> सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कङ्कः ।
> सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये ॥

ई० सन् 1050 से पूर्व विरचित सोढलकी उदयसुन्दरीकथा, प्रास्ताविक पद्य 10—

> श्री विक्रमो नृपतिरत्र पतिः सभानामासीत्स कोऽप्यसदृशः कविमित्रनामा ।
> यो वार्यमात्रमुदितः कृतिना गृहेषु दत्वा चकार करटीन्द्रघटान्धकारम् ॥

ई० सन् 1363 मे सगृहीत शार्ङ्गधरपद्धति, पद्य 1249—

तत्कृत यन्न केनापि तद्दत्त यन्न केनचित् ।
तत्साधितमसाध्य यद्विक्रमार्केण भूभुजा ॥

स्वाभाविक ही उसके आश्रित विद्वानो का समूह अति विशाल था। भिन्न-भिन्न आख्याओ तथा किंवदन्तियो के वर्णनानुसार उस समुदाय मे समाविष्ट होनेवाले अनेक व्यक्तियो के नाम, जिनमे कालिदास, धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शकु, वेतालभट्ट, घटकर्पर, वराहमिहिर और वररुचि तथा-कथित नवरत्न तथा सुबन्धु, मातृगुप्त, सिद्धसेन-दिवाकर इत्यादि सम्मिलित है, आज भी सुप्रसिद्ध हैं। आधुनिक इतिहासज्ञो के कथनानुसार इनमे से कुछ ही व्यक्ति सवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्य के समकालीन होगे कुछ नाम मध्यकालिक लोगो के मनगढ़न्त हैं, तथा कई व्यक्ति स्वय ऐतिहासिक होते हुए भी विश्वसनीय प्रमाणानुसार विक्रमकालीन नही हैं।

इस लेख का उद्देश्य एक ऐसे प्राचीन ग्रन्थकार का परिचय कराना है जो स्वय सम्राट् विक्रमादित्य से अपना घनिष्ठ सम्बन्ध बताता है किन्तु जिसके विषय मे आख्याए एव इतिहास प्राय मौन हैं।

शुक्लयजुर्वेदान्तर्गत माध्यदिन शाखा के सुदीर्घ 'शतपथ' ब्राह्मण पर 'श्रुत्यर्थविवृत्ति'[1] नामक एक विस्तृत भाष्य है। यह भाष्य अत्यन्त गम्भीर, विद्वत्तापूर्ण एव प्राचीन होते हुए भी केवल स्वल्प अश मे ही और वह भी अत्यत अशुद्ध लिखी पोथियो के द्वारा, अब तक उपलब्ध हो सका है। इसके जो अश[2] अब तक प्राप्त हुए है, वे दो-तीन बार इसी ब्राह्मण के अन्य भाष्यों के साथ ही भारत तथा जर्मनी मे मुद्रित हो चुके हैं। कल्याण-बम्बई के लक्ष्मीवेंकटेश्वर मुद्रणालय से ई० सन् 1940 मे प्रकाशित किया हुआ सस्करण सबसे नया तथा चालू है और इसी का उपयोग इस लेख मे किया गया है। इस भाष्य का सायणाचार्य (ई० सन् 1353-1379) से प्राचीनतर होना प्राय निश्चित है। किन्तु महान् आश्चर्य इस बात का है कि शतपथब्राह्मण के जिन अशो पर यह भाष्य

---

1 अन्यत्र उद्धृत किये हुए श्लोक 3 के अन्तिम चरण मे भाष्यकार ने इस समस्त पद का प्रयोग किया है, जिसका सीधा अर्थ है 'वेद के अर्थ का विवरण।' यह विशेष-नाम होना भाष्यकार ने ध्वनित नही किया है किन्तु भाष्य के सस्कर्ताओ ने मान लिया है।

2 प्रथम काण्ड के सप्तम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण से काण्ड-समाप्ति तक, चतुर्थ काण्ड के अन्तिम तीन अध्याय (4, 5, 6), अष्टम काण्ड के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण से काण्ड-समाप्ति तक, द्वादश तथा त्रयोदश काण्ड के सब अध्याय।

प्राप्त हुआ है, ठीक उन्ही अशो का सायणभाष्य आज उपलब्ध नही है । सम्भव है कि 'श्रुत्यर्थविवृति' जिन अशो पर उपलब्ध है, उन पर अपना नया भाष्य लिखना सायणाचार्य ने अनावश्यक समझकर छोड दिया हो ।

'श्रुत्यर्थविवृति' भाष्य के रचयिता कोई हरिस्वामी नामक आचार्य हैं जैसाकि उपलब्ध अश के प्रत्येक काण्ड, अध्याय और ब्राह्मण के अन्त मे दी हुई निम्न-लिखित प्रशस्ति से स्पष्ट है—

'इति 'श्रीमदाचार्यहरिस्वामिनः कृतौ शतपथभाष्ये ''''''अध्यायः समाप्तः।' ''' ''अथवा 'शतपथभाष्ये '''''अध्याये''''''ब्राह्मणम् ।'

ये हरिस्वामी कई अध्यायो तथा कुछ ब्राह्मणो के अन्त मे प्रशस्ति के पूर्व कुछ श्लोको के द्वारा अपना अधिक परिचय देते हैं । इन श्लोको की सख्या प्राय तीन है तथा उनका पाठ साधारणत इस प्रकार है—

> नागस्वामिसुतोऽवन्त्या पाराशर्यो वसन् हरिः ।
> श्रुत्यर्थं दर्शयामास शक्तित. पौष्करीयक. ॥ 1 ॥
> श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य भूपते. ।
> धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यच्छातपथीं श्रुतिम् ॥ 2 ॥
> भूभर्त्रा विक्रमार्केण क्लृप्ता कनकवेदिकाम् ।
> दानायाध्यक्षः कृतवान् श्रुत्यर्थविवृति हरिः॥ 3 ॥

कुछ स्थानो पर द्वितीय श्लोक के द्वितीय चरण का पाठ ठीक उसी अर्थ का 'विक्रमार्कक्षितीशितु ' 'विक्रमार्कस्य शासितु ' अथवा 'विक्रमादित्यभूपते' ऐसा भी पाया जाता है । भाष्य के चतुर्थ काण्ड के अन्तिम छठे अध्याय के, द्वादश काण्ड के नवो तथा त्रयोदश काण्ड के आठो अध्यायो मे से प्रत्येक के अवसान मे ये तीनो श्लोक विद्यमान है । प्रथम काण्ड के सातवें, आठवें तथा नवम अध्याय के अवसान मे केवल पहिले दो श्लोक ही दिखते हैं । तथा प्रथम काण्ड के आठवें अध्याय के पहिले तथा दूसरे ब्राह्मण के एव इसी काण्ड के नवम अध्याय के भी पहिले तथा दूसरे ब्राह्मण के अवसान मे केवल द्वितीय श्लोक ही दिखता है । अन्य उपलब्ध अशो के अवसान मे केवल उद्धृत की हुई प्रशस्ति ही पायी जाती है ।

इन तीन श्लोको के अर्थ का समन्वित विचार करने पर नीचे लिखे महत्त्वपूर्ण इतिहास की जानकारी हमे प्राप्त होती है । भाष्यकार आचार्य हरिस्वामी जो पराशरगोत्री एव नागस्वामी के पुत्र थे, मूलत पुष्कर के निवासी थे किन्तु भाष्यरचना के समय उज्जयिनी मे आ बसे थे । वे उज्जयिनी के भूपति (=सम्राट ?) विक्रमादित्य के धर्माध्यक्ष थे । विक्रमादित्य राजा ने अपने दानव्यवसाय के लिए एक सुवर्णमय वेदिका (=उच्चासन) का निर्माण किया

था जिसके अधिष्ठाता भी ये हरिस्वामी ही थे। अर्थात् वे विक्रमादित्य के दानाध्यक्ष भी थे। विक्रमादित्य की राजसभा मे इन दो महत्त्वपूर्ण पदो को सुशोभित करने के समय ही हरिस्वामी ने अपनी प्रतिभा से, अथवा अपने सामर्थ्यानुसार, शतपथब्राह्मणरूपी वेद के अर्थ का विवरण किया अर्थात् प्रस्तुत भाष्य रचा।

इन तीन श्लोको का वर्णन यदि वास्तविक हो तो हमे इस प्रकार विक्रमादित्य की परमवैभवयुक्त शासनघटना मे धर्माध्यक्ष तथा दानाध्यक्ष इन गौरवपूर्ण पदो का भार ग्रहण करनेवाले व्यक्ति का अवश्य ही पता लग जाता है। यद्यपि 'विक्रमादित्य' उपपद धारण करनेवाले राजाओ की अनेकता अब सिद्ध हो चुकी है तो भी हरिस्वामी का रुख मुख्य अर्थात् सवत्-प्रवर्तक माने जानेवाले सम्राट् विक्रमादित्य की ओर होने की सम्भावना श्लोकान्तर्गत अन्य सन्दर्भों से सबसे अधिक है। अत्यन्त खेद का विषय है कि भाष्य के प्रारम्भिक तथा अन्तिम अश अब तक साधारणता से उपलब्ध नही हो सके है। जब वे अश असदिग्ध पाठो द्वारा प्राप्त हो तब सम्भवत उनके अन्तर्गत उपोद्घात तथा उपसहार के द्वारा भाष्यकार तथा उनके आश्रयदाता दोनो के सम्बन्ध मे कुछ अधिक बाते भी ज्ञात हो सकें। यदि भारतवर्ष मे स्थान-स्थान पर खोज की जाय तो हरिस्वामी का शतपथभाष्य सम्पूर्ण हस्तगत होने की सम्भावना आज भी पूर्ण है, क्योकि अन्वेषको के प्रयत्नो से प्राचीन साहित्य के अस्तगत तारको को पुन प्रकाश प्राप्त होने के कई उदाहरण नित्य दृग्गोचर हो रहे हैं।

ज्योतिर्विदाभरणकार भी अपना नाम 'कालिदास' देकर एव रघुवश इत्यादि काव्यो के रचयिता से अपना एक-व्यक्तित्व बतलाकर ठीक इसी प्रकार विक्रमादित्य की राजसभा मे अन्य कई व्यक्तियों के सहित अपना महत्त्वपूर्ण स्थान होने का विस्तृत निर्देश करता है, तथा अपना समय भी इस प्रकार लिखता है जो सवत्-प्रवर्तक सम्राट् के परम्परागत समय से पूर्णतया मिल जाता है। किन्तु उसके कथन मे अज्ञान वा अनवधानता के कारण कई प्रकार की विसगति, कृत्रिमता तथा अयथार्थता आ गयी है[1] जिससे प्राय वर्तमान इतिहासज्ञ उक्त

1 उदाहरणार्थ वराहमिहिर को जिसका समय स्वय उसीके ग्रन्थो मे मिलनेवाले तथा अन्य प्रमाणो मे भी ई० सन् 505 के आसपास है एव ई० सन् के चतुर्थ शताब्दी से पूर्व ही सुविख्यात दिखनेवाले कविकुलगुरु कालिदास से निश्चित ही अनन्तर का है, अपना समकालिक बताना, एक ज्योतिष घटना का, जो सुकुशल गणितज्ञो की गणनानुसार ई० सन् 1242 के आसपास होनी चाहिए, उल्लेख अपने ग्रन्थ मे करना, भोजराजा (ई० सन् 1050 के आसपास) की धारानगरी का निर्देश अपनी रचना (अध्याय 22

कथन को लोगों की दृष्टि में प्रक्षिप्त करने के हेतु से किए हुए अन्य तथा अगाध्य प्रलापों से अधिक महत्त्व आज नहीं दन। हरिस्वामी के उपर्युक्त कथन के वास्तविक होने या न होने का निर्णय करने का कोई स्वतन्त्र अन्य साधन आज हमारे पास नहीं है। इस साधन के अभाव में केवल विवेचक दृष्टि से ही देखा जाय तो हरिस्वामी ने ऐसी कोई बात इन तीन श्लोकों में नहीं कही है, जिससे ऐतिहासिक होने में सन्देह किया जाय। अजमेर निकटवर्ती पुष्करक्षेत्र में मूलतः रहनेवाले तथा शतपथब्राह्मण जैसे गहन श्रुतिभाग पर अत्यन्त गम्भीर भाष्य रचने की प्रतिभा रखनेवाले एक परम विद्वान् विप्र के उज्जयिनी में आकर सम्राट् विक्रमादित्य की शासनयंत्रणा में धर्माध्यक्ष तथा दानाध्यक्ष पदों पर स्थापित होने में अवास्तविकता कुछ भी प्रतीत नहीं होती। दानाध्यक्ष के वेतन

श्लोक 14) में रखना, इत्यादि। देखिये—शंकर बालकृष्ण दीक्षित—भारतीय ज्योतिषशास्त्राचा इतिहास (पूना 1931), पृष्ठ 212, 476, ए० बी० कीथ A History of Sanskrit Literature (आक्सफर्ड, 1928) पृष्ठ 534 (जहाँ इस ग्रन्थ को ई० सन के षोडश शताब्दी में सप्रमाण रखा गया है), इत्यादि। धार के कै० काशीनाथ कृष्ण लेले और कै० शिवराम काशीनाथ ओक दोनों ने मिलकर बम्बई के भूतपूर्व मराठी मासिक 'विविधज्ञानविस्तार' के ई० सन् 1922 के मार्च, अप्रैल तथा मई के तीन अंकों में 'कालिदास व विक्रमादित्य याच्या कालनिर्णयाची एक दिशा' शीर्षक विस्तृत लेख प्रकाशित कर ज्योतिर्विदाभरण के उक्त स्थलों की सप्रमाणता सिद्ध करने का प्रयत्न किया था, किन्तु उनके विवेचन को प्रायः तज्ज्ञ सशोधकों ने ग्राह्य नहीं माना। इधर ई० सन् 1940 में भी श्रीयुत सदानन्द काशीनाथ दीक्षित ने कलकत्ता के Indian Culture त्रैमासिक के छठे वर्ष के दो अंकों में Chandragupta II, Sahasanka alias Vikramaditya शीर्षक विस्तृत निबन्ध लिखकर वराहमिहिर के सम्बन्ध में मिलनेवाले तथा ज्योतिर्विदाभरण में दिये हुए समयनिर्देशों का समन्वय करने की एक नयी युक्ति सुझाई थी, जिसमें दोनों के समय ई० सन् 405 से 429 तक आ जाने की एवं ज्योतिर्विदाभरणकार के कथन की वास्तविकता सिद्ध होने की अपेक्षा वे करते थे। किन्तु उनकी नयी युक्ति की और उस पर आधारित विवेचन की निर्मूलता, असफलता तथा अग्राह्यता श्रीयुत के० माधवकृष्ण शर्मा ने पूना के Poona Orientalist त्रैमासिक के पाँचवें वर्ष के चौथे अंक में प्रकाशित 'The Jyotirvidabharana and Nine Jewels' शीर्षक अपने लेख में अनेक प्रमाणों से सिद्ध की है।

था जिसके अधिष्ठाता भी ये हरिस्वामी ही थे। अर्थात वे विक्रमादित्य के दानाध्यक्ष भी थे। विक्रमादित्य की राजसभा मे इन दो महत्त्वपूर्ण पदो को सुशोभित करने के समय ही हरिस्वामी ने अपनी प्रतिभा से, अथवा अपने सामर्थ्यानुसार, शतपथब्राह्मणरूपी वेद के अर्थ का विवरण किया अर्थात् प्रस्तुत भाष्य रचा।

इन तीन श्लोको का वर्णन यदि वास्तविक हो तो हमे इस प्रकार विक्रमादित्य की परमवैभवयुक्त शासनघटना मे धर्माध्यक्ष तथा दानाध्यक्ष इन गौरवपूर्ण पदो का भार ग्रहण करनेवाले व्यक्ति का अवश्य ही पता लग जाता है। यद्यपि 'विक्रमादित्य' उपपद धारण करनेवाले राजाओ की अनेकता अब सिद्ध हो चुकी है तो भी हरिस्वामी का रुख मुख्य अर्थात सवत्-प्रवर्तक माने जानेवाले सम्राट् विक्रमादित्य की ओर होने की सम्भावना श्लोकान्तर्गत अन्य सन्दर्भो से सबसे अधिक है। अत्यन्त खेद का विषय है कि भाष्य के प्रारम्भिक तथा अन्तिम अश अब तक साधारणता से उपलब्ध नही हो सके हैं। जब वे अश असदिग्ध पाठो द्वारा प्राप्त हो तब सम्भवत उनके अन्तर्गत उपोद्घात तथा उपसहार के द्वारा भाष्यकार तथा उनके आश्रयदाता दोनो के सम्बन्ध मे कुछ अधिक बाते भी ज्ञात हो सकें। यदि भारतवर्ष मे स्थान-स्थान पर खोज की जाय तो हरिस्वामी का शतपथभाष्य सम्पूर्ण हस्तगत होने की सम्भावना आज भी पूर्ण है, क्योकि अन्वेषको के प्रयत्नो से प्राचीन साहित्य के अस्तगत तारको को पुन प्रकाश प्राप्त होने के कई उदाहरण नित्य दृग्गोचर हो रहे हैं।

ज्योतिर्विदाभरणकार भी अपना नाम 'कालिदास' देकर एव रघुवश इत्यादि काव्यो के रचयिता से अपना एक व्यक्तित्व बतलाकार ठीक इसी प्रकार विक्रमादित्य की राजसभा मे अन्य कई व्यक्तियो के सहित अपना महत्त्वपूर्ण स्थान होने का विस्तृत निर्देश करता है, तथा अपना समय भी इस प्रकार लिखता है जो सवत्-प्रवर्तक सम्राट् के परम्परागत समय स पूणतया मिल जाता है। किन्तु उसके कथन मे अज्ञान वा अनवधानता क कारण कई प्रकार की विसगति, कृत्रिमता तथा अयथार्थता आ गयी है[1] जिससे प्राय वर्तमान इतिहासज्ञ उक्त

---

1 उदाहरणार्थ वराहमिहिर को जिसका समय स्वय उसीके ग्रन्थो मे मिलनेवाले तथा अन्य प्रमाणो से भी ई० सन् 505 के आसपास है एव ई० सन् के चतुर्थ शताब्दी से पूर्व ही सुविख्यात दिखनेवाले कविकुलगुरु कालिदास से निश्चित ही अनन्तर का है, अपना समकालिक बताना, एक ज्योतिष घटना का, जो सुकुशल गणितज्ञो की गणनानुसार ई० सन् 1242 के आसपास होनी चाहिए, उल्लेख अपने ग्रन्थ मे करना, भोजराजा (ई० सन् 1050 के आसपास) की धारानगरी का निर्देश अपनी रचना (अध्याय 22

कथन को लोगों की दृष्टि में प्रक्षिप्त करने के हेतु से किए हुए असत्य तथा असम्बद्ध प्रलापों ने अधिक महत्त्व आज नहीं दिया। हरिस्वामी के उपर्युक्त कथन के वास्तविक होने या न होने का निर्णय करने का कोई स्वतन्त्र अन्य साधन आज हमारे पास नहीं है। ऐसे साधन के अभाव में केवल विवेचक दृष्टि से ही देखा जाय तो हरिस्वामी ने ऐसी कोई बात इन तीन श्लोकों में नहीं कही है, जिससे ऐतिहासिक होने में सन्देह किया जाय। अजमेर निकटवर्ती पुष्करक्षेत्र में मूलतः रहनेवाले तथा शतपथब्राह्मण जैसे गहन श्रुतिभाग पर अत्यन्त गम्भीर भाष्य रचने की प्रतिभा रखनेवाले एवं परम विद्वान् विप्र के उज्जयिनी में आकर सम्राट् विक्रमादित्य की शासनघटना में धर्माध्यक्ष तथा दानाध्यक्ष पदों पर स्थापित होने में अवास्तविकता कुछ भी प्रतीत नहीं होती। दानाध्यक्ष के बैठने

श्लोक 14) में रखा, इत्यादि। देखिए—शंकर बालकृष्ण दीक्षित—भारतीय ज्योतिषशास्त्राचा इतिहास (पूना 1931), पृष्ठ 212, 476, ए० बी० कीथ A History of Sanskrit Literature (आक्सफर्ड, 1928) पृष्ठ 534 (जहाँ इस ग्रन्थ को ई० सन् के षोडश शताब्दी में सप्रमाण रखा गया है), इत्यादि। धार के पं० काशीनाथ कृष्ण लेले और पं० शिवराम काशीनाथ ओक दोनों ने मिलकर बम्बई के भूतपूर्व मराठी मासिक 'विविधज्ञानविस्तार' के ई० सन् 1922 के मार्च, अप्रैल तथा मई के तीन अंकों में 'कालिदास व विक्रमादित्य यांच्या कालनिर्णयाची एक दिशा' शीर्षक विस्तृत लेख प्रकाशित कर ज्योतिर्विदाभरण के उक्त स्थलों की सप्रमाणता सिद्ध करने का प्रयत्न किया था, किन्तु उनके विवेचन को प्रायः तज्ज्ञ संशोधकों ने ग्राह्य नहीं माना। इधर ई० सन् 1940 में भी श्रीयुत सदानन्द काशीनाथ दीक्षित ने कलकत्ता के Indian Culture त्रैमासिक के छठे वर्ष के दो अंकों में Chandragupta II, Sahasanka alias Vikramaditya शीर्षक विस्तृत निबन्ध लिखकर वराहमिहिर के सम्बन्ध में मिलनेवाले तथा ज्योतिर्विदाभरण में दिये हुए समयनिर्देशों का समन्वय करने की एक नयी युक्ति सुझाई थी, जिससे दोनों के समय ई० सन् 405 से 429 तक आ जाने की एवं ज्योतिर्विदाभरणकार के कथन की वास्तविकता सिद्ध होने की अपेक्षा वे करते थे। किन्तु उनकी नयी युक्ति की और उस पर आधारित विवेचन की निर्मूलता, असफलता तथा अग्राह्यता श्रीयुत के० माधवकृष्ण शर्मा ने पूना के Poona Orientalist त्रैमासिक के पाँचवें वर्ष के चौथे अंक में प्रकाशित The Jyotirvidabharana and Nine Jewels शीर्षक अपने लेख में अनेक प्रमाणों से सिद्ध की है।

लिए सुवर्णमय वेदिका का निर्माण किये जाने की बात भी सम्राट् विक्रमादित्य के परम्परागत परमोच्च वैभव के वर्णन से पूर्णतया मिलती-जुलती है। न तीन श्लोको मे हरिस्वामी ने न तो अपना समय निर्दिष्ट करने की ही चेष्टा की है न अपने पिता और आश्रयदाता के अतिरिक्त किसी अन्य समकालिक का उल्लेख ही किया है। भाष्य मे उन्होंने यत्र-तत्र वैदिक संहिताए तथा ब्राह्मण, निरुक्त, अष्टाध्यायी, कात्यायनश्रौतसूत्र, अनेक स्मृतिग्रन्थ, इत्यादि से उद्धरण दिये हैं। किन्तु प्रस्तुत लेखक को उनमे ऐसा एक भी स्थल अब तक नही मिला है जिसका मूल किसी अन्य ग्रन्थ मे होने के कारण हरिस्वामी के कथन का खण्डन किया जा सके।

कुछ मुद्रित संस्करणो मे इस भाष्य के कतिपय अध्यायों के अन्तिम प्रशस्ति का पाठ निम्नलिखित दिया गया है—

'इति श्रीसर्वविद्यानिधानकवीन्द्राचार्यसरस्वतीनां श्रीहरिस्वामिनां कृतौ माध्यदिनीयशतपथब्राह्मणभाष्ये···काण्डे···अध्याय समाप्तः।'

और इस पाठ पर से नये संस्करण के संशोधक महोदय की[1] ऐसी धारणा हुई दिखती है कि 'सर्वविद्यानिधानकवीन्द्राचार्यसरस्वती' यह हरिस्वामी की ही उपाधि है। जिन प्राचीन हस्तलिखित पोथियों के आधार पर प्रशस्ति का यह पाठ प्रथमत छपा था, वे आज हमारे सामने नहीं हैं, तो भी सम्भवत इस सम्बन्ध में मूल तथा नये संशोधकों का गहरा भ्रम हो जाने की कल्पना की जा सकती है। वस्तुत[2] कवीन्द्राचार्यसरस्वती नामक एक असामान्य प्रभावशाली विद्वान् सन्यासी मुगल सम्राट् शाहजहा (ई० सन् 1650 के आसपास) के समकालिक थे। वे मूलत गोदातीरनिवासी महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे किन्तु अनन्तर स्वय काशी मे आकर वहां के पण्डित-समाज के नेता बन गये थे। युवराज दारा शिकोह मे संस्कृतविषयक अनुराग इन्होंने उत्पन्न किया था। शहाजहान की राजसभा मे इनका असामान्य सम्मान था तथा उसी सम्राट् ने इनकी अप्रतिम विद्वत्ता से मुग्ध होकर इन्हे 'सर्वविद्यानिधान' उपाधि से गौरवित किया था। इन्ही के प्रभावपूर्ण वक्तव्य के कारण शहाजहान ने काशी तथा अन्य

---

1. श्रीयुत श्रीधर अण्णाशास्त्री वारे का लक्ष्मीवेंकटेश्वर मुद्रणालय के संस्करण मे जुड़ा हुआ संस्कृत उपोद्घात, पृ० 27।
2. 'कवीन्द्राचार्यसूचीपत्र' के साथ प्रकाशित कै० महामहोपाध्याय डॉ० सर गंगानाथ झा का प्राक्कथन तथा श्री आर० अनन्त कृष्ण शास्त्री का उपोद्घात, 'कवीन्द्रचन्द्रोदय' के संस्कर्ता कै० डॉ० हरदत्त शर्मा और श्री एम्० एम्० पाटकर इनका उपोद्घात, तथा अन्य विद्वानो के लेख देखिए।

तीर्थों की जनता को करभार से मुक्त कर दिया था। इस सस्मरणीय विक्रम के उपलक्ष्य म काशी के तत्कालिक सब प्रमुख पडितो ने मिलकर इनके गौरव पर छोटी-बडी कई प्रशस्तिया रचकर इन्हे समर्पण की थी जिनका सग्रह 'कवीन्द्रचन्द्रोदय नाम स विख्यात है तथा ई० सन 1939 मे पूना से प्रकाशित भी हो गया है।[1] इसी अवसर के स्मारकरूप हिन्दी पद्यमय प्रशस्तियो का भी 'कवीन्द्रचन्द्रिका' नामक ग्रन्थ बनकर काशी के तत्कालिक हिन्दी कवियो द्वारा इन्हे समर्पित हुआ था जिसकी एक प्रति बीकानेर की अनूप सस्कृत-लाइब्रेरी मे वर्तमान है।[2] कवीन्द्राचार्य ने कई सस्कृत तथा हिन्दी ग्रन्थों की रचना भी की थी। किन्तु विचाराधीन प्रश्न की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्व का विषय है उनका प्राचीन ग्रन्थो का विशाल सग्रह। उक्त सग्रह मे विविध विषयो के सहस्रो प्राचीन ग्रन्थ विद्यमान थे जिनके मुखपृष्ठ पर एक विशिष्ट हस्ताक्षर से लिखा हुआ—'श्रीसर्वविद्यानिधानकवीन्द्रा ार्यसरस्वतीना (= ग्रन्थ का नाम)। 'यह वाक्य मिलता है। यह वाक्य उन पोथियो पर कवीन्द्राचार्य का मूल स्वामित्व सूचित करता है, न कि उनके अन्तर्गत ग्रन्थो का कर्तृत्व जिसके सम्बन्ध मे प्रत्येक पोथी के अन्त म भिन्न प्रशस्ति रहती ही है। कवीन्द्राचार्य के ग्रन्थसग्रह की एक प्राचीन सूची बडौदा से कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित भी हुई है।[3] उस सग्रह के उपर्युक्त वाक्याकित कई ग्रन्थ अब गवर्नमेण्ट सस्कृत लाइब्रेरी (सरस्वतीभवन) बनारस, अनूप सस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर, गायकवाड ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट बडौदा, इत्यादि सस्थाओ म प्रविष्ट हो गये है तथा कुछ अब भी विभिन्न नगरो के प्राचीन विद्वत्कुलो के सग्रहो मे दृग्गोचर होते हैं।[4] हो सकता है कि उसी

1 पूना ओरिएण्टल सीरीज, न० 60।

2 प्रो० दशरथ शर्मा—शाहजहाकालीन कुछ काशीस्थ हिंदी कवि (नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष 47, अंक 3-4)।

3 गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज न० 17। किन्तु इसमे ई० सन् 1650 के अनन्तर के कुछ ग्रन्थकारो की रचनाए भी प्रविष्ट हुई दिखती हैं। अत इस सूचीपत्र का कवीन्द्राचार्य के पश्चात् कई वर्ष अनन्तर बना हुआ मानना ही उचित होगा।

4 प्रस्तुत लेखक को ई० सन् 1941 मे सागर (मध्यप्रान्त के) एक पण्डितकुल के सग्रह से ई० सन् 1557 मे हरिदास के बनाए हुए 'प्रस्तावरत्नाकर' ग्रन्थ की मूलत कवीन्द्राचार्य के स्वामित्व की एक पोथी प्राप्त हुई थी जो अब सिंधिया ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, उज्जयिनी, के हस्तलिखित सग्रह मे समाविष्ट कर ली गई है। इस पोथी के मुखपृष्ठ पर उसी परिचित हस्ताक्षर से लिखा हुआ '(श्रीसर्वविद्यानिधानकवीन्द्राचार्यसरस्वतीना प्रस्तावरत्नाकर.)'

संग्रह की हरिस्वामी के शतपथभाष्य के किसी अंश की एक पोथी उसके मूल मुद्रण के समय अथवा किसी प्रतिलिपि के बनने के समय काम में लायी गई हो तथा सम्बन्धित संशोधकों ने अथवा प्रतिलिपिकर्ता ने ऊपर दिये हुए कवीन्द्राचार्य के इतिहास से अनभिज्ञ होने के कारण पोथी के मुखपृष्ठ पर दिखनेवाले 'श्रीसर्वविद्यानिधानकवीन्द्राचार्यसरस्वतीनां शतपथभाष्यम् ॥' इस वाक्य का अन्त में दिखनेवाली 'इति श्रीमदाचार्यहरिस्वामिनः कृतौ माध्यंदिनीयशतपथब्राह्मण-भाष्ये ˙ काण्डे अध्यायः समाप्तः ॥' इस प्रशस्ति से समन्वय 'इति श्रीसर्वविद्यानिधानकवीन्द्राचार्यसरस्वतीनां श्रीहरिस्वामिनां कृतौ माध्यंदिनीय-शतपथब्राह्मणभाष्ये˙˙ काण्डे˙˙˙अध्यायः समाप्तः ॥' ऐसी नयी मिश्रित प्रशस्ति बनाकर कर डाला हो! 'सर्वविद्यानिधान' उपाधि से विभूषित किसी अन्य कवीन्द्राचार्य का अस्तित्व इतिहास को अथवा प्राचीन परम्परा को अब तक ज्ञात नहीं है। अतः मुद्रित संस्करणों में स्वल्प स्थानों पर ही दिखनेवाली इस प्रशस्ति की उपपत्ति इस प्रकार लगाना प्रायः अनुचित न होगा।

कथासरित्सागर के विषमशीललम्बक नामक अन्तिम भाग के पांच तरंगों में आई हुई विक्रमादित्यकथा में उस सम्राट् से सम्बन्धित 'चन्द्रस्वामी', 'यज्ञस्वामी', 'देवस्वामी', इत्यादि व्यक्तियों के नाम आये हैं किन्तु 'हरिस्वामी' यह नाम दृष्टिगोचर नहीं होता। उस ग्रन्थ के अन्य भागों में आई हुई कथाओं में 'हरिस्वामी' नाम का एक व्यक्ति मिलता है किन्तु उसका विक्रमादित्य से कोई सम्बन्ध नहीं है तथा उसका विद्वान् ग्रन्थकार होना भी सूचित नहीं किया गया है। अतः उसका अपने हरिस्वामी से कुछ सम्बन्ध नहीं दिखता।

ज्योतिर्विदाभरण में विक्रमादित्य के तथाकथित समकालिकों के निर्देश अध्याय 22 के निम्नोद्धृत तीन श्लोकों में किए हुए हैं—

'शङ्कुः सुवाग्वररुचिर्मणिरङ्गुदत्तो जिष्णुस्त्रिलोचनहरौ घटकर्पराख्यः ।
अन्येऽपि सन्ति कवयोऽमरसिंहपूर्वा यस्यैव विक्रमनृपस्य सभासदोऽमी ॥8॥

सत्यो वराहमिहिरः श्रुतसेननामा श्रीबादरायणमणित्थकुमारसिंहाः ।
श्रीविक्रमार्कनृपसंसदि सन्ति चैते श्रीकालतन्त्रकवयस्त्वपरे मदाद्याः ॥9॥

यह वाक्य है तथा अन्त में ग्रन्थकार की अन्तिम प्रशस्ति 'इति श्रीकरण-कुलालंकारपुरुषोत्तमसूनुहरिदासविरचिते प्रस्तावरत्नाकरे ज्योतिःशास्त्र समाप्तं ॥' एवं पोथी के लेखक की प्रशस्ति ॥ 'शुभमस्तु ॥ श्रीरस्तु ॥ संवत् 1713 (=ई० 1656) समये श्रावणशुक्लपंचम्यां लि० नन्दनमिश्रेण बल्लभकुलोद्भूतेन।' है।

धन्वन्तरि क्षपणकामरसिंहशकुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासा: ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥10॥

श्लोक 8 के द्वितीय चरण मे त्रिलोचनहरी' यह पद द्विवचनान्त होने से उसमे त्रिलोचन तथा हरि नाम के दो व्यक्तियो का निर्देश दिखता है। यदि ज्योतिर्विदाभरण प्राचीन कालिदास का ही कर्तृत्व का होता अथवा उसके ऐतिहासिक उल्लेख विविध विश्वसनीय प्रमाणो से बाधित न हुए होते, तो इस निर्देश के हरि से अपने हरिस्वामी का एक व्यक्तित्व मान लेने म कोई हानि नही थी। किन्तु, जैसा ऊपर सक्षेप मे निर्दिष्ट किया गया है, इस ग्रन्थ की अर्वाचीनता तथा उसके ऐतिहासिक अशो की अविश्वसनीयता अब कई विद्वानों ने सिद्ध कर दी है। अत उसके उपर्युक्त निर्देश का अपने विवेचन म कोई विशेष उपयोग नही है।

अन्य विश्वसनीय साधनो से शतपथभाष्यकार हरिस्वामी के विषय मे अधिक जानकारी प्राप्त करना एव उनके विक्रमादित्य के धर्माध्यक्ष होने के कथन की सत्यासत्यता का निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक है। आशा है कि विद्वान् सशोधक इस काम मे सक्षम होगे। यदि उक्त कथन की सत्यता निश्चित हुई तो अवश्य ही हरिस्वामी का विक्रमादित्य के धर्माध्यक्ष होना सिद्ध होगा। किन्तु आधुनिक इतिहासज्ञो की दृष्टि से सवत्सबन्धित विक्रमादित्य का विशिष्ट व्यक्तित्व तथा ई० सन पूर्व 58-57 के आस-पास होना अभी सिद्ध हुआ है एव हरिस्वामी ने भी अपना विशिष्ट समय इन तीन श्लोको म किसी गणना स निर्दिष्ट नही किया है। ऐसी अवस्था म, किसी वैभवशाली सम्राट् विक्रमादित्य का अस्तित्व ऐतिहासिक प्रमाणो से ई० सन् पूर्व 58-57 के आस-पास निश्चित होने तक, हरिस्वामी को, यदि उनका कथन सत्य हो तो, द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (ई० सन् 413 के पूर्व) के अथवा स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (ई० सन 455-480) के धर्माध्यक्ष मान लेने मे भी कोई हानि नही होगी। पराशर गोत्री, मूलत पुष्कर के रहने वाले तथा इस समय 'पुष्करना (पोखरना) परासरी' नाम से परिचित ब्राह्मणो के कुछ प्राचीन कुल आज भी उज्जयिनी मे विद्यमान है। बहुत सम्भव है कि अपने हरिस्वामी इन्ही के पूर्वजो मे से हैं। अत इन कुलो के वर्तमान पुरुष को चाहिए कि अपने घरो के प्राचीन विविध साहित्य को प्रकाश मे लाकर उसके द्वारा हरिस्वामी के कथन की सत्यता यथासम्भव सिद्ध करने म तथा उनके आश्रयदाता विक्रमादित्य का विशिष्ट व्यक्तित्व, समय, इत्यादि समस्याओ को सुलझाने म पूर्ण सहयोग दें।

अन्त मे इस विषय पर अन्य सशोधको के किए हुए अन्वेषणो तथा उन पर से प्राप्त निष्कर्षो की स्वल्प समीक्षा करना उचित होगा।

औफ्रेश्तने शतपथभाष्यकार हरिस्वामी तथा कात्यायनकृत श्राद्धसूत्र के

भाष्यकार हरिहर इन दोनों का एक व्यक्तित्व मान लिया है ।[1] किन्तु यह उनका भ्रम है। जैसा कि महामहोपाध्याय प्रो० पाडुरग वामन काणे ने सप्रमाण दिखलाया है[2], पारस्कर के गृह्यसूत्र पर भाष्य लिखने वाले हरिहर ने ही कात्यायन के स्नानविधिसूत्र पर भाष्य लिखा है तथा दोनो भाष्यो के अन्तर्गत तथा अन्य प्रमाणों से भी उसका समय ई० सन् के 1150 से 1250 तक होना चाहिए। इस हरिहर का अपने हरिस्वामी से एक व्यक्तित्व दिखाने वाला कोई भी प्रमाण प्राप्त नहीं हुआ है।

पजाव युनिवर्सिटी के प्राच्यविभाग के प्राध्यापक डॉ० लक्ष्मणसरूप ने प्रथम 1929 मे निरुक्त के अपने सस्करण के 'सूची और परिशिष्ट'[3] वाले भाग के उपोद्घात के अश मे तथा अन्यत्र 1957 मे 'झा-स्मारक ग्रन्थ' मे प्रकाशित 'स्कन्दस्वामी का समय' शीर्षक[4] अपने लेख मे इन हरिस्वामी के समय की चर्चा की है। उससे ज्ञात होता है कि बनारस की गवर्नमेण्ट सस्कृत लाइब्रेरी मे हरिस्वामी के शतपथ की संवत् 1849 मे लिखी (अर्थात् 152 वर्ष पुरानी) एक प्रति विद्यमान है, जिसमे भाष्यकार का समय एव उनके पितामह तथा गुरु के नामो का निर्देश करने वाले, किन्तु मुद्रित सस्करणो एवं उनके आधारभूत हस्तलिखित पोथियो मे दृष्टिगोचर न होने वाले, कुछ अतिरिक्त श्लोक मिलते हैं। उक्त प्रति डॉ० लक्ष्मणसरूप ने स्वय नही देखी है किन्तु उन्हे उसके[5] निम्न-

---

1 Catalogus Catalogorum भाग I, (लैप्जिग, 1891), पृष्ठ 762-63।

2 History of Dharmasashtra भाग 1, (पूना 1930), पृष्ठ 341-43।

3 Indices and Appendices to the Nirukta (लाहौर, 1929), पृष्ठ 29-30।

4 Date of Skandasvamin—The Commenoration Volume (पूना 1937), पृष्ठ 399 410।

5 उक्त पोथी का विस्तार कितने पत्रो का है, उसमे समग्र शतपथब्राह्मण का अथवा उसके कुछ अशो का ही भाष्य है, उद्धृत पाच श्लोक पोथी के किन पत्रो पर हैं, इत्यादि महत्त्व की बातो का स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। लेखनकाल सवत् 1849 देने वाली पोथी लिपिक की प्रशस्ति भी मूल शब्दो मे उद्धृत नही की गई है।

लिखित पाच महत्त्वपूर्ण श्लोक उक्त पुस्तकालय के अध्यक्ष की ओर से प्राप्त हुए हैं—

> नागस्वामी तत्र······ श्रीगुहस्वमिनन्दन ।
> तत्र याजी प्रमाणज्ञ आढ्यो लक्ष्म्या समेधित. ॥5॥
> तन्नन्दनो हरिस्वामी प्रस्फुरद्वेदवेदिमान् ।
> त्रयीव्याख्यानधौरेयोऽधीततन्त्रो गुरोर्मुखात् ॥6॥
> य सम्राट् कृतवान्सप्तसोमसस्यास्तथर्क्श्रुतिम् ।
> व्याख्यां कृत्वाध्यापयन्मां श्रीस्कन्दस्वाम्यस्ति मे गुरु ॥7॥
> श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमस्य क्षितीशितु ।
> धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यां कुर्वे यथामति ॥8॥
> यदादीनां (=यदाब्दानां) कलेर्जग्मु सप्तत्रिंशच्छतानि वै ।
> चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिद कृतम् ॥9॥

इन श्लोको के अनुसार हरिस्वामी के पितामह का (अर्थात् नागस्वामी के पिता का) नाम गुहस्वामी था तथा गुरु का नाम स्कन्दस्वामी था । स्कन्दस्वामी वेदो के प्रकाण्ड विद्वान् तथा वैदिक यज्ञकाण्ड के सभी विभागो मे अनुभव से निष्णात थे तथा उन्होंने ऋक्सहिता की व्याख्या भी रची थी।[1] पूर्वोक्त तीन श्लोको की तरह ये श्लोक भी हरिस्वामी के इस विशेष को विशिष्ट रूप से प्रस्तुत करते हैं कि सर्वत्र दिखने वाला लक्ष्मी और सरस्वती का सहज वैरभाव उनके उदाहरण मे अस्तित्व नही रखता था । धुरन्धर विद्वान् होते हुए वे समृद्ध सम्पत्तिशाली भी थे । अन्तिम श्लोक के सरल अर्थ के अनुसार हरिस्वामी ने शतपथभाष्य की रचना कलियुग के 3740 वर्ष समाप्त होने पर की ।

यदि इन पाच श्लोको मे विश्वसनीयता हो तो अवश्य ही हरिस्वामी के समय का निर्णय हो जाता है तथा अतिम श्लोक के सीधे अर्थ के अनुसार ईस्वी सन् के 53वें वर्ष मे उनके शतपथभाष्य का रचा जाना मान लेना पड़ता है, क्योकि कलि का प्रारम्भ खिस्तपूर्व 3102 के फरवरी के दिनाक 18 से माना जाता है। यह समय विक्रम-सवत् के प्रारम्भ से प्राय· 695 वर्ष अनन्तर का है तथा 'विक्रमादित्य' उपपदधारी गुप्तवशीय विख्यात सम्राटो से भी अनन्तर का है । अत समयनिर्देशक श्लोक के सीधे अर्थ के आधार पर हरिस्वामी का आश्रय-दाता किसी और विक्रमादित्य को ही मानना पड़ेगा । किन्तु इस समयनिर्देशक

---

1 ऋक्सहिता के प्रारम्भ के तीन अष्टकों का स्कन्दस्वामीकृत भाष्य त्रिवेन्द्रम् स कुछ वर्ष पूर्व उपलब्ध होकर अब मुद्रित भी हो गया है । सम्भवत इसी भाष्य के रचयिता स्कन्दस्वामी हरिस्वामी के गुरु थे ।

श्लोक के सरलार्थ की विश्वसनीयता तथा उस पर मे डॉ० लक्ष्मणसरूप ने निकाले हुए निष्कर्ष सब ऐतिहासिक प्रमाणो के विरुद्ध हैं जैसा कि नीचे दिखाया जायगा।

प्रथम लेख लिखने के समय तो डॉ० लक्ष्मणसरूप इस भ्रम म थे कि कलियुग का प्रारम्भ ई० सन् पूर्व 3202 से होता है। इस भ्रान्त कल्पना के आधार पर गणित करन पर उक्त श्लोक मे दिया हुआ समय ई० सन् का 538वा वर्ष निकला और डॉ० महोदय ने ई० सन् 528 के आस-पास हूणाधिपति मिहिरकुल को गहरा पराजय देने वाले मालवे के एक प्रबल राजा यशोधमन् स हरिस्वामी के विक्रमादित्य का एक-व्यक्तित्व मान लिया। किन्तु कुछ समय के पश्चात् अन्य सशोधको के लिखने पर उन्हे सूझ आई कि यथार्थ म कलि का प्रारम्भ ई० सन पूर्व 3202 से नही किन्तु 3102 से होता है तथा इस हिसाब स उक्त श्लोक म निर्दिष्ट समय ई० सन् के 638वें वर्ष से ऐक्य पाता है। इतिहास के अनुसार इस समय के आस पास उज्जयिनी मे किसी विक्रमादित्य का होना पूर्णतया असम्भव है, क्योकि कन्नौज का हर्षवर्धन ई० सन 606 से 648 तक निर्विवाद रूप से समग्र उत्तरी भारत का सम्राट था एव सब ऐतिहासिक प्रमाण इस पक्ष म है कि प्रभाकरन, राज्यवर्धन इन तीनो की विजय परम्परा से मालवे का स्वतन्त्र अस्तित्व ही इस समय तक पूर्णतया नष्ट हो चुका था और पूर्व तथा पश्चिम मालव दोनो कन्नौज-साम्राज्य के घटक प्रान्त बन गये थे। ऐसी अवस्था मे समय निर्देशक श्लोक उसके सीधे अर्थ के अनुसार एक निरगल प्रलाप से अधिक महत्त्व नही रखता तथा उस पर आधारित सब निष्कर्ष अतरिक्ष म लीन हो जाते है। किंतु जान पडता है कि हरिस्वामी को यशोधमन् की ही राजसभा मे बैठाने का बीडा डॉ० लक्ष्मणसरूप उठा चुके थे। अत उन्होने उनके उपरिनिर्दिष्ट दूसर लेख म इन कठिनाइयो का सामना इस श्लोक क विद्यमान पाठ को अशुद्ध बताकर उसके लिए केवल अपनी कल्पना से निम्नलिखित नवीन पाठ सुझाते हुए किया—

यदाब्दाना कलेर्जग्मु षट्त्रिंशच्छतकानि वै।
चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिद कृतम ॥

जिससे भाष्यरचना का समय ठीक सौ वर्ष पीछे ई० सन् 538 मे अर्थात् यशोधर्मन् के शासनकाल मे आ जाय। उन्होंने इस सम्बन्ध मे यशोधमन् का पक्षपात यह कहकर भी किया है कि हरिस्वामी के विक्रमादित्य का 'अवन्तिनाथ यह विशेषण केवल मालवे या मध्यभारत का आधिपत्य करने वाले यशोधर्मन् को ही लागू पडता है न कि द्वितीय चन्द्रगुप्त को, जो समग्र उत्तरी भारत का सम्राट् था।

वस्तुत अपने मत की सुलभता के लिए किसी प्राचीन ग्रन्थ में दिखने वाले

पाठ को केवल कल्पना के आधार पर बदलना शास्त्रीय संशोधन से सम्मत नहीं है। अच्छा होता कि डॉक्टर महोदय समय निर्देशक श्लोक को असमर्थित एवं अविश्वसनीय कहकर छोड़ देते। उनका यह कथन भी कि 'अवन्तिनाथ' यह विशेषण यशोधर्मन् के अतिरिक्त अन्य किसी विक्रमादित्य को लागू नहीं होता, कुछ महत्त्व नहीं रखता : 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। संवत् प्रवर्तक समझे जाने वाले मूल विक्रमादित्य का वर्णन सब प्राचीन कथाएं, इस बात को पूर्णतया ध्यान में रखते हुए कि वह समग्र भारत का सम्राट् था, 'अवन्तिनाथ' या तत्सदृश से ही मुख्यतया करती हैं, क्योंकि उनके अनुसार उसकी राजधानी उज्जयिनी थी। भोज को भी सर्वत्र 'धाराधीश' इसी रीति के अनुसार कहा जाता है। वैसे ही देखा जाय तो 'अवन्तिनाथ' विशेषण यशोधर्मन् के वर्णन में भी अव्याप्ति-दोष से युक्त है, क्योंकि देशपुर (मन्दसौर) इत्यादि अनेक स्थान जो कि उज्जयिनी से सौ मील से भी अधिक दूरी पर हैं, उसके आधिपत्य में थे। अथच, हरिस्वामी अपने आश्रयदाता का निर्देश केवल 'विक्रमादित्य' नाम से करते हैं, वे उसका कोई दूसरा नाम होना ध्वनित भी नहीं करते। यशोधर्मन् का इस, अथवा अन्य किसी, विक्रमादित्य से एकव्यक्तित्व मान लेने में और कई गम्भीर बाधाएं उपस्थित होती हैं। उसने उसके अब तक उपलब्ध हुए तीन शिलालेखों में, जिनमें मन्दसौर का स्तम्भगत ई० सन 532 का लेख अत्यंत विख्यात है, अपना, अपने पराक्रम का तथा अपने साम्राज्य-विस्तार का वर्णन बड़े-बड़े आत्मश्लाघात्मक विशेषणों से किया है, किंतु अपने को 'विक्रमादित्य' उपपदधारी कहीं ध्वनित भी नहीं किया है। यदि वह वस्तुतः 'विक्रमादित्य' उपपदधारी होता तो उसने जिस प्रकार अपने नाम के साथ 'राजाधिराज', 'परमेश्वर' इत्यादि विरुदों का उपयोग किया है उसी प्रकार 'विक्रमादित्य' उपपद का भी स्पष्ट रीति से किया होता। एवं यशोधर्मन् का हरिस्वामी के, अथवा अन्य किसी, विक्रमादित्य से विद्यमान अवस्था में ऐक्य सिद्ध नहीं हो सकता। डॉ० लक्ष्मणस्वरूप से पूर्व भी कुछ भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने अनेक प्रचलित आख्यायिकाओं के अनुसार कालिदास, मातृगुप्त, प्रवरसेन, इत्यादि व्यक्तियों से सम्बन्धित विक्रमादित्य का ऐक्य यशोधर्मन् से संस्थापित करने का प्रयत्न किया था। किंतु यशोधर्मन् के 'विक्रमादित्य' उपपदधारी होने के प्रमाण के अभाव में उनके यत्न में भी असफलता रही।

डॉ० लक्ष्मणस्वरूप द्वारा प्रस्तुत किए हुए पांच श्लोकों की, विशेषतः समय निर्देशक अंतिम श्लोक की, विश्वसनीयता अथवा अविश्वसनीयता का निर्णय करने वाला कोई स्वतन्त्र साधन इस लेखक के पास आज नहीं है। किंतु जो विवरण प्राप्त हुआ है, उससे इनकी विश्वसनीयता संदिग्ध अवश्य हो जाती है। श्री० सत्यव्रत सामश्रमी ने कलकत्ता से 'बिब्लिओथिका इण्डिका' ग्रन्थमाला द्वारा

तथा अन्य सशोधको ने अन्य स्थानो से शतपथभाष्य के जो सस्करण निकाले हैं, उनमे केवल पूर्वोक्त तीन श्लोक ही मिलत हैं, इन पाच श्लोको का पता नही है। उन सस्करणो के आधारभूत हस्तलिखित पोथियो मे कवीन्द्राचार्य के सग्रह की भी एक पोथी होना प्रतीत होता है जो कम से-कम तीन सौ वर्ष पुरानी होनी चाहिए तथा जिसकी विश्वसनीयता इस एक सौ बावन वर्ष पुरानी पोथी से अधिक होनी चाहिए। अर्थात् इन श्लोको को प्रस्तुत अवस्था मे असमर्थित ही मानना पडता है।

वस्तुस्थिति जो कुछ भी हो, हरिस्वामी का राग, जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है, मुख्य अर्थात् सवत्-प्रवर्तक माने जाने वाले 'विक्रमादित्य' की ओर ही होना प्रतीत होता है। और इस दृष्टि से विचार किया जाय तो उक्त समय निर्देशक श्लोक का अर्थ, उपस्थित पाठ को लेशमात्र भी परिवर्तित न करते हुए किंतु केवल पदच्छेद और अन्वय निम्नलिखित रीति मे करते हुए, अधिक समीचीन किया जा सकता है—

> यदादोनां (—यदाब्दानां) कलेर्जग्मु सप्त त्रिंशच्छतानि वै।
> चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिद कृतम्॥

(अन्वय—यदा कले अब्दाना त्रिंशच्छतानि, सप्त, अन्या चत्वारिंशत् समा च जग्मु वै तदा इद भाष्य कृतम्॥)

'सप्त' और 'त्रिशच्छतानि' इन पदो को पृथक् मानने पर समग्र वर्ष सख्या कलि के प्रारम्भ से 3047 होती है, 3740 नही। यह लेख लिखने के समय कलि वर्ष 5046 तथा विक्रम-सवत् का वर्ष 2001 चालू है। अर्थात् कलि वर्ष 3045 मे विक्रम-सवत् का प्रादुर्भाव हुआ था। इसी अर्थ के अनुसार हरिस्वामी अपने शतपथभाष्य की रचना विक्रम-सवत के तीसरे वर्ष के आस पास, अर्थात् सवत्-प्रवर्तक मूल विक्रमादित्य के ही शासनकाल म पूर्ण होना सूचित करते हैं।

विचाराधीन श्लोक का भिन्न अर्थ करने की जो नवीन युक्ति ऊपर सुझाई गई है, उसमे न तो किसी विद्यमान पाठ का ही गला घोटा गया है न सस्कृत व्याकरण के किसी नियम का ही भग किया गया है। श्लोक के रचयिता का भी अभिप्रेत अर्थ यही प्रतीत होता है। तो भी वर्तमान अवस्था मे यह कहना असम्भव है कि श्लोक मे इस अर्थ के अनुसार किया हुआ विधान वस्तुस्थिति पर आधारित है अथवा ज्योतिर्विदाभरण के समय निर्देश के सदृश केवल कल्पना से गणित की सहायता से किया गया है। यद्यपि मुझे इस विधान को निरस्त करने वाला कोई अन्तर्गत प्रमाण हरिस्वामी के भाष्य म अभी तक नही मिला है तो भी इस बात का विस्मरण नही किया जा सकता कि समय निर्देशक तथा अन्य चार श्लोक अब तक केवल एक ही पोथी मे उपस्थित है। यदि कालान्तर से

भाष्य की अन्य प्राचीन प्रतियां प्रकाश मे आयें तथा यह समय निर्देशक श्लोक अन्य प्रमाणो से अप्रामाणिक सिद्ध न होकर उनके द्वारा समर्थित हो तो सवत्-प्रवर्त्तक मुख्य विक्रमादित्य का अस्तित्व आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व होना सिद्ध करने मे वह सबसे बलवान् समकालिक प्रमाण ही बैठेगा।

इस विषय की विद्वानो द्वारा अधिक गवेषणा की आवश्यकता है, उसके पश्चात् ही किसी निश्चित तथा अतिम निर्णय पर पहुचा जा सकता है।

विक्रम

☐ श्री सियारामशरण गुप्त

युगसहस्र वर्षान्त-प्रसारित
काल-स्रोत के इस तट पर
विजयी विक्रम की गाथा मे
ध्वनित आज कवि का जो स्वर—,
मानस-क्षिप्रा की लहरो मे
उमग उठा वह उल्लासी,
उस सुदूर मे महाकाल के
पदस्पर्श का अभिलाषी,
नूतन साके के प्रभात मे
फहरा जो जयकेतु वहा,
बरसी जिस पर अरुण-कलश की
अभिषेकोदक - धारा - सी।
किस अनन्त मे है वह, उसकी
आती यह फहराहट भर,
युग सहस्र वर्षान्त-प्रसारित
काल-स्रोत के इस तट पर।

☐☐

राजशेखर व्यास

बहुत छोटी उम्र मे एक बहुत बडा नाम, और नाम से भी ज्यादा महत्वपूर्ण काम। अब तक लगभग बयालीस स अधिक कृतियो का लेखन, सयोजन-सपादन, ज्यादातर प्रकाशित, चर्चित।

ऐसी विधाओ पर कार्य जिन पर इस वय मे लोग सोच भी नही पाते है। सस्कृत, ज्योतिष, दशन, धर्म, आध्यात्म से लेकर माक्स, लेनिन कोई भी विषय तो छूटा नही राजशेखर व्यास से।

उग्र, भगत सिह प्रो० हृदय, प० व्यास, भगवतशरण उपाध्याय और प्रभाष जोशी पर महत्वपूण कार्य। शोध-अनुसधान। चर्चित कृतियो म—मेरी कहानी, इन्कलाब, उग्र के सात रग रत्न, विहान, कुण्डली कोष, कालिदास, चिन्तन, भगत सिह न कहा था, कालिदास और समकालीन, प्रभाष जोशी की कलम से वसीयतनामा, यादें, आवारा, उग्र के अग्रलेख, उग्र के पत्र और अब 'विक्रम'।

देशभर की सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओ मे अब तक सैकडो की सख्या मे लिख महत्वपूर्ण लेख प्राय सभी भाषाओ म अनुवादित होकर पहुँच रहे हैं। अकेले भगत सिह पर हिन्दी, अग्रेजी, पजाबी, मराठी, गुजराती मे लगभग 500 लेख प्रकाशित।

दूरदर्शन के प्रमुख हिन्दी कार्यक्रम 'पत्रिका' और 'साहित्यिकी के वर्षों चर्चित लेखक, प्रस्तोता। हिन्दी वीडियो मैग्जीन 'कालचक्र' मे भी सक्रिय भूमिका।

आज तक, आजकल मुक्त लेखन, कोई नौकरी नही की। वय जानना चाहेगे आप? पद्मभूषण स्व० प० सूर्यनारायण व्यास के सबसे छोटे सुपुत्र राजशेखर व्यास की वय है इस वक्त 28 वर्ष!